॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला

२२६

॥ श्रीः ॥

मनुस्मृतिः

'मणिप्रभा' हिन्दीटीकोपेता

मन्वर्थमुक्तावलीमनुसृत्य विशिष्टविमर्शेन

च प्रतिसंस्कृता

चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१

सुलभ संस्करण ५)]   १९५२   [राज संस्करण ६)

॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला
२२६

॥ श्रीः ॥

मनुस्मृतिः

सविमर्श 'मणिप्रभा' हिन्दीटीकासहिता

टीकाकारः—

श्रीगोपालदिगम्बरजैनसिद्धान्तमहाविद्यालय-(मोरैना-मध्यभारत) प्रधानाध्यापक-
'बिहार' राज्यान्तर्गत 'केसठ' (शाहाबाद) वास्तव्य प० श्रीरामस्वार्थमिश्रात्मज
व्याकरण-साहित्याचार्य-साहित्यरत्न-रिसर्चस्कालर-मिश्रोपाह्व-

पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री

प्राक्कथनलेखकः—

श्रीमान् आचार्य बदरीनाथ वर्मा

शिक्षामन्त्री (बिहारराज्य)

चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१

वि० संवत् २००९] [ई० सन् १९५२

प्रकाशकः—

जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,

चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज आफिस,

पो० बाक्स नं० ८, बनारस

The Chowkhamba Sanskrit Series Office.

P. O. Box 8, Banaras.

मुद्रकः—

विद्याविलास प्रेस,

बनारस-१

प्राक्कथन

आचार्य श्री बदरीनाथ वर्मा

शिक्षा तथा सूचना मन्त्री, बिहारराज्य

[MINISTER OF EDUCATION & INFORMATION, BIHAR.]

मैंने मनुस्मृतिकी हिन्दी टीका पण्डितवर श्री हरगोविन्द मिश्र शास्त्रीकृत देखी है। यह अपने ढङ्गकी नयी पुस्तक है। विद्वान् अनुवादकने अपने इस संस्करणमें कई विशेषताएँ समाविष्ट की हैं, जो साधारण पाठकोंके लिये बहुत उपयोगी हैं। हिन्दीमें 'मणिप्रभा' नामसे विशद टीका तो है ही, दुरूह स्थलोंमें भावार्थको और भी स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे 'विमर्श' द्वारा गूढार्थको सरल भाषामें समझानेका प्रयत्न किया गया है। किस श्लोक या किन श्लोकोंमें किस विशिष्ट विषयका प्रतिपादन किया गया है, इसको साधारण पाठककी दृष्टिमें स्पष्टकर देनेके लिये उपयुक्त शीर्षक भी लगा दिये गये हैं। आरम्भमें हिन्दीमें एक विषयानुक्रमणिका और अन्तमें श्लोकानुक्रमणिका लगाकर पुस्तककी उपादेयता और उपयोगिता विशेषरूपसे बढ़ा दी गयी है। यह ग्रन्थ केवल अनुवाद नहीं, पर मनुस्मृतिको समझने और कहाँ क्या वर्णित या प्रतिपादित है, इसको आसानीसे ढूंढ निकालनेकी कुञ्जी भी है जो

साधारण पाठकके लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज जब जनसाधारणमें संस्कृतका पठनपाठन ह्रासपर है और शिक्षित वर्ग भी संस्कृत नहीं जानते, ऐसी पुस्तकोंकी बड़ी आवश्यकता है, जिनसे संस्कृत नहीं जाननेवाले भी अपने धर्मग्रन्थोंका ज्ञान प्राप्त कर सकें और अपनी संस्कृतिकी रक्षा करनेमें समर्थ हो सकें। इसमें सन्देह नहीं कि पं० श्री हरगोविन्दशास्त्रीने बड़े परिश्रम और अध्यवसायसे इस ग्रन्थकी रचना की है। इसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं और अपने कार्यमें पर्याप्त सफलता प्राप्त करनेपर बधाईके भी। मुझे आशा है हिन्दीभाषी जनता इस ग्रन्थका उचित समादर करेगी और इसे अपने व्यवहारमें लाकर पण्डितजीको आवश्यक प्रोत्साहन देगी, जिससे वे और भी इस तरहके ग्रन्थरत्नोंका सम्पादन और अनुवादकर हिन्दूसमाजकी सेवा कर सकें।

पटना
२५-१२-५३

बदरीनाथ वर्मा

प्रस्तावना

सृष्टि का यह नित्य नियम है कि चौरासी लाख योनियोंमें-से किसी भी योनिमें उत्पन्न प्राणी अधिकसे अधिक सुख पाना चाहता है; उनमें-से प्रायः मनुष्ययोनि ही ऐसी है, जिसमें उत्पन्न होकर वह प्राणी पुण्य कर्मोंके द्वारा सुखसाधनका उपार्जन तथा मोक्षलाभ भी कर सकता है। शेष समस्त योनियोंमें तो प्राणियोंके कर्मों का क्षयमात्र होता है। सुख-दुःखका साधनभूत क्रमशः पुण्यापुण्य कर्मों का उपार्जन प्रायः नहीं होता। इनका उपार्जन तो एकमात्र मनुष्ययोनिमें ही होता है। इसी कारण महर्षियोंने इस योनि को सर्वश्रेष्ठ माना है। यथा—

'कदाचिल्लभते जन्म मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्।'

अन्यच—

'नरत्वं दुर्लभं लोके ....।' (अग्नि पुराण)

प्राणीके सुख-दुःखका कारण पूर्वकृत पुण्य-पाप अर्थात धर्म-अधर्म ही है, यही कारण है कि एकसमान ही व्यापारादि करनेवाले प्राणियोंमें-से कोई सफल तथा कोई असफल होता हुआ देखा जाता है। इसके अतिरिक्त पूर्वकृत किसी पुण्यातिशयसे उत्तम मनुष्य-योनिमें जन्म पाकर भी अनेक प्राणी अन्यान्य जघन्य कर्मोंके प्रभावसे दुःखी तथा किसी किसी अत्यन्त जघन्य कर्मके प्रभावसे घोड़ा-कुत्ता आदि तिर्यग्योनिमें जन्म पाकर भी अनेक प्राणी पूर्वकृत अन्यान्य पुण्य कर्मोंके प्रभावसे मानव-दुर्लभ भोगोपभोग साधनोंके मिलनेसे सुखी देखे जाते हैं; अत एव यह मानना पड़ता है कि प्राणीको पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है और ये ही पूर्वकृत पुण्य-अपुण्य कर्म दैव या भाग्य कहे जाते हैं। जैसा कहा भी है—

'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।'

अब यहां प्रश्न यह उठता है कि—किसको पुण्य तथा किसको अपुण्य कर्म माना जाय ?, इसका सरल एवं सर्वसम्मत उत्तर यह है कि वेद तथा स्मृतिमें विहित कर्म ही धर्म तथा तद्विरुद्ध कर्म अधर्म हैं। यथा—

'श्रुतिस्मृतिविहितं कर्म धर्मस्तद्विपरीतमधर्मः।'

और भी—

'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।'

(मनु० २।६)

वेदके शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्द ये ६ अङ्ग हैं। जैसा कहा भी है—

'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः ।
छन्दोविचितिरित्येतत्षडङ्गो वेद उच्यते ॥' इति ।

पाश्चात्य विद्वानोंके मतसे इन वेदाङ्गोंकी रचना लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व हुई थी। उन ६ अङ्गोंमें-से 'कल्प' को वेदका प्राण माना गया है, यथा—

'छन्दः पादौ शब्दशास्त्रञ्च वक्त्रं
कल्पः प्राणो ज्योतिषं चक्षुषी च ।
शिक्षा घ्राणं श्रोत्रमुक्तं निरुक्तं
वेदस्याङ्गान्याहुरेतानि षट् च ॥' इति ।

मार्कण्डेय पुराणके पूर्वभागके द्वितीयपादके ५१ वें अध्यायमें 'नक्षत्रकल्प, वेदकल्प, संहिताकल्प, आङ्गिरसकल्प और शान्तिकल्प' ये पांच प्रकारके कल्प कहे गये हैं। इनमें-से १ म नक्षत्रकल्पमें नक्षत्रोंके स्वामियोंका; २ य वेदकल्पमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-साधक ऋगादिके विधानका; ३ य संहिताकल्पमें मन्त्रोंके ऋषि छन्द तथा देवताओंका; ४ र्थ आङ्गिरसकल्पमें अभिचारविधिसे षट्कर्मोंका और ५ म शान्तिकल्पमें दिव्य, भौम तथा अन्तरिक्षसम्बन्धी उत्पातोंकी शान्तिका सविस्तर से वर्णन किया गया है।

'कल्प' से श्रौत, धर्म तथा गृह्यसूत्रोंका ग्रहण होता है; उनमें से श्रौतसूत्रोंमें अग्निहोत्र दर्शपौर्णमासादि याग, पशुयाग एवं सोमयागादि श्रौत (वैदिक) विषयोंका वर्णन है। धर्मसूत्रोंमें गृहस्थाश्रमधर्मोंके संक्षिप्त वर्णनके साथ-साथ ब्राह्मणादि चार वर्णों, ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमों तथा राजा-प्रजाओंके धर्मका वर्णन है। और गृह्यसूत्रोंमें गृहस्थाश्रमधर्मका विस्तार सहित वर्णन है। उक्त सूत्रोंद्वारा प्रतिपादित सब धर्मोंका स्मृतिग्रन्थोंमें आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त—इन तीन विभागोंमें अत्यन्त विस्तारके साथ प्रतिपादन किया गया है। महर्षि 'याज्ञवल्क्य' ने इन स्मृतियोंकी संख्या २० कही है। यथा—

'मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनाऽङ्गिराः ।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः[1] ॥' इति

(याज्ञ० स्मृति १।४-५)

---

१. 'प्रवर्तकाः' इति पाठान्तरम् ।

'देवल' ने भी इसी संख्याको स्वीकार किया है। यथा—

'मनुर्यमो वसिष्ठोऽत्रिर्दक्षो विष्णुस्तथाऽङ्गिराः।
उशना वाक्पतिर्व्यास आपस्तम्बोऽथ गौतमः॥
कात्यायनो नारदश्च याज्ञवल्क्यः पराशरः।
संवर्तश्चैव शङ्खश्च हारीतो लिखितस्तथा॥' इति।

'चतुर्वर्गचिन्तामणि' के दानखण्डके सप्तम प्रकरणमें शास्त्रदान विधिके प्रसङ्गमें 'हेमाद्रि' ने इसी विषयमें 'शङ्ख तथा लिखित' के निम्नाङ्कित वचनोंको उद्धृत किया है—

'तत्र धर्मशास्त्रप्रणेतृकथनद्वारा तदनुक्रममाहतुः शङ्खलिखितौ—स्मृतयो धर्मशास्त्राणि, तेषां प्रणेतारो मनुर्विष्णुर्यमदक्षाङ्गिरोऽत्रिबृहस्पत्युशनआपस्तम्बवसिष्ठकात्यायनपराशरव्यासशङ्खलिखितसंवर्तगौतमशातातपहारीतयाज्ञवल्क्यप्रचेतसादयः।

'आदि' शब्दाच्च बुधदेवलसोमप्रजापतिवृद्धशातातपपैठीनसिच्छागलेयच्यवनमरीचिवत्सपारस्करपुलस्त्यपुलहऋतु-ऋष्यश्रृङ्गात्रेयाणां ग्रहणम्।'

भविष्यपुराणोक्त—

'अष्टादशपुराणेषु यानि वाक्यानि पुत्रक!॥
तान्यालोच्य महाबाहो! तथा स्मृत्यन्तरेषु च।
मन्वादिस्मृतयो याश्च षट्त्रिंशत्परिकीर्तिताः॥
तासां वाक्यानि क्रमशः समालोच्य ब्रवीमि ते।'

इस वचनके अनुसार ३६ स्मृतियोंकी सङ्ख्या उपलब्ध होती है। उन स्मृतिकारोंके नाम 'पैठीनसि' ने इस प्रकार कहे हैं—

'तेषां मन्वङ्गिरोव्यासगौतमा लिखितो यमः।
वसिष्ठदक्षसंवर्तशातातपपराशराः॥
विष्ण्वापस्तम्बहारीताः शङ्खः कात्यायनो गुरुः।
प्रचेता नारदो योगी बौधायनपितामहौ॥
समन्तुः काश्यपो बभ्रुः पैठीनो व्याघ्र एव च।
सत्यव्रतो भरद्वाजो गार्ग्यः कार्ष्णाजिनिस्तथा॥
जाबालिर्जमदग्निश्च लौगाक्षिर्ब्रह्मसम्भवः।
इति धर्मप्रणेतारः षट्त्रिंशदृषयः स्मृताः॥' इति।

किन्तु भगवान् मनुने अठारह ही स्मृतिकारोंके नाम लिये हैं। यथा—

'विष्णुः पराशरो दक्षः संवर्तव्यासहारिताः।
शातातपो वसिष्ठश्च यमापस्तम्बगौतमाः॥

देवलः शङ्खलिखितौ भारद्वाजोऽशनोऽत्रयः।
शौनको याज्ञवल्क्यश्च दशाष्टौ स्मृतिकारिणः॥'[1]

परन्तु 'विष्णु' से 'याज्ञवल्क्य' तक अठारह नहीं, अपितु उन्नीस नाम होते हैं तथा एक स्वयं भगवान् मनु; इस प्रकार कुल बीस स्मृतिकार इस वचनानुसार सिद्ध होते हैं।

शिवधर्म, विष्णुधर्म, महाभारत तथा रामायणादिको भी भविष्यपुराणमें स्मृतिरूप ही माना है। यथा—

'अष्टादशपुराणानि रामस्य चरितं तथा।
विष्णुधर्मादिशास्त्राणि शिवधर्माश्च भारत॥
कार्ष्णञ्च पञ्चमं वेदं यन्महाभारतं स्मृतम्।
सौराश्च धर्मा राजेन्द्र मानवोक्ता महीपते॥
तथेति नाम येषाञ्च प्रवदन्ति मनीषिणः।' (अ० ४ श्लो० ८७-८९)

इनकी व्याख्या करते हुए 'बालम्भट्टी' कारने इन शास्त्रोंको स्मृतिरूपमें ही ग्रहण करनेको कहा है। यथा—

'तत्र तथेत्यस्य तद्वदविगीतमहाजनपरिगृहीतत्वेन प्रमाणं यत्तदपि स्मृतित्वेनैव ग्राह्यम्।' इति।

स्मृतियोंकी इन अठारह, बीस आदि सङ्ख्याओंकी परिसङ्ख्या न मानकर प्रदर्शनार्थ माननेसे परस्परमें कोई विरोध नहीं होता। यही बात योगी याज्ञवल्क्यके 'मन्वत्रि··· (१।४-५)' श्लोकोंकी व्याख्या करते हुए विज्ञानेश्वर भिक्षुने कही है। यथा—

'नेयं परिसङ्ख्या, किन्तु प्रदर्शनार्थमेतत्। अतो बौधायनादेरपि धर्मशास्त्रत्वमविरुद्धम्।' इति।

उक्त श्लोकद्वयकी व्याख्यामें 'बालम्भट्टी'कार भी 'मिताक्षरा'कार विज्ञानेश्वर भिक्षुके ही मतकी पुष्टि करते हैं। यथा—

'यत्तु षट्त्रिंशन्मतचतुर्विंशतिमतादि, तत्कैश्चिदेव परिगृहीतत्वाद्विगानाच्च न प्रमाणम्।' इति।

इन उपर्युक्त स्मृतियोंके अतिरिक्त 'अङ्गिरा' ने निम्नलिखित उपस्मृतियोंका नाम लिया है—

'जावालिर्नाचिकेतश्च छन्दोलौगाक्षिकश्यपौ।
व्यासः सनत्कुमारश्च शतद्रुर्जनकस्तथा॥

---

१. इदं वचनं साम्प्रतिकमनुस्मृतौ नोपलभ्यते, किन्तु चतुर्वर्गचिन्तामणौ दानखण्डे सप्तमप्रकरणे दृश्यते।

व्याघ्रः कात्यायनश्चैव जातूकर्ण्यः कपिञ्जलः ।
बौधायनः कणादश्च विश्वामित्रस्तथैव च ॥
उपस्मृतय इत्येताः प्रवदन्ति[1] मनीषिणः ।' इति ।

(या० १।४-५ की वालम्भट्टी)

इन स्मृतिग्रन्थोंकी मान्यता तथा तदनुसार आचरण केवल भारतमें ही नहीं, अपि तु श्याम, कम्बोज, जावा, वाली और सुमात्रा आदि द्वीपोंमें भी बहुत प्राचीनकालसे चली आ रही है ।

धर्ममूलक वेदोंके रहते स्मृतियोंकी रचनाका कारण यह हुआ कि 'कालक्रमके प्रभावसे भविष्यमें अधिकतम मानव वेदके गहन विषयको नहीं समझ सकेंगे' यह सोचकर त्रिकालदर्शी लोकपितामह ब्रह्माने अपने मानसपुत्र मनुको वेदोंका सारभूत धर्मका उपदेश एक लाख श्लोकोंमें दिया । तदनन्तर उन्होंने भी 'मानव, धर्मके इतने विस्तृत तत्त्वको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता' यह विचारकर उस ब्रह्मोपदिष्ट धर्मतत्त्व को पुनः संक्षिप्त किया और मरीच्यादि मुनियोंको उसका उपदेश दिया—

'इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥'

(मनु० १।५८)

वेदतत्त्वज्ञ ऋषियोंके द्वारा स्मृतियों की रचना करना श्री भर्तृहरि भी मानते हैं—

'स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः ।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकाशिताः ॥'

तदनन्तर धर्मतत्त्वजिज्ञासु मुनियोंके प्रश्न करनेपर भगवान् मनुकी आज्ञासे महर्षि भृगुने मनूक्त धर्मतत्त्वका स्मरणकर महर्षियोंको बतलाया—

'एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥
ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीदृषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥'

(मनु० १।५९-६०)

---

१. हेमाद्रौ दानखण्डे 'छन्दश्शतद्रु'स्थाने 'स्कन्दः शरभू' इति भिन्ने नामनी उपलभ्येते ।

सर्वज्ञ भगवान् मनुने जो कुछ जिसका धर्म कहा है, वह सब वेदोंमें कहा गया है—

'यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना प्रतिपादितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥'

(मनु० २।७)

शास्त्रकारोंने तो यहां तक कहा है कि 'मनुस्मृतिके विपरीत धर्मादिका प्रतिपादन करनेवाली स्मृति श्रेष्ठ नहीं है और वेदार्थके अनुसार रचित होनेसे मनुस्मृति की प्रधानता है—

'मनुस्मृतिविरुद्धा या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते ।
वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतेः ॥

यद्यपि—

'मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥'

(मनु० १।१)

इत्यादि वचनोंसे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थके रचयिता भगवान् मनु नहीं हैं, तथापि—

'स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ।'

(मनु० १।१०२)

तथा—

'एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥'

(मनु० १।५९)

इत्यादि वचनोंसे इस शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय मनूक्त होनेसे इस ग्रन्थका नाम "मनुस्मृति' असङ्गत नहीं कहा जा सकता । इसी बातकी पुष्टि याज्ञवल्क्य स्मृतिके अन्यतम टीकाकार विज्ञानेश्वर भिक्षुके निम्न वचनसे भी होती है—

'याज्ञवल्क्यशिष्यः कश्चित्प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यमुनिप्रणीतं धर्मशास्त्रं संक्षिप्य कथयामास, 'यथा मनुप्रणीतं भृगुः ।' (या० स्मृ० १।१ का अवतरण) ।

पुरुषार्थचतुष्टयप्रतिपादकत्व—

जहां अन्यान्य स्मृतियोंमें से किसीमें 'अर्थ' का प्रतिपादन किया गया है तो किसीमें 'काम' या 'धर्म' का; किन्तु एकमात्र इस मनुस्मृतिमें ही काम, अर्थ, मोक्ष तथा धर्मरूप चारों पुरुषार्थोंका विशद रूपसे प्रतिपादन किया गया है । यथा—**'द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ।'** (मनु० ४।१) के द्वारा प्रतिपादित 'काम' का—**'ऋतुकालाभि-**

गामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥' (मनु० ३।४५) इत्यादि वचनोंसे; **'अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम्।'** (मनु० ४।३) इत्यादि वचनोंद्वारा प्रतिपादित 'अर्थ' का—**'यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।'** (मनु० ४।३) तथा—**'ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा। सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥ कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा। त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा॥'** (मनु० ४५-६) इत्यादि वचनोंसे नियमन करके आगे—**'सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः। सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्येन्नाधर्मे कुरुते मनः॥** (मनु० १२।११८) से आरम्भकर—**एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥'** (मनु० १२।१२५) वचनोंसे आत्मज्ञानरूप मोक्षसाधक धर्मका अधर्म-निवृत्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है, अत एव यह मनुस्मृति ही 'काम, अर्थ, मोक्ष और धर्म' रूप चारों पुरुषार्थोंका प्रतिपादन करने वाली है।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें 'वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म, तथा सामान्य धर्म'—इस प्रकार साङ्गोपाङ्ग धर्मका विशदरूपसे प्रतिपादन किया गया है। इस बातको मनुभगवान्ने स्वयं कहा है। यथा—

'अस्मिन् धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः॥'

(मनु० १।१०७)

यही कारण है कि आचार्योंने तो इसकी सर्वश्रेष्ठता स्वीकार की ही है, साथ ही न्यायालयोंमें भी इस मनुस्मृतिके आधारपर विधि (कानून) बनाकर तदनुसार व्यवहार-निर्णय किया जाता है।

'धर्मशास्त्रन्तु वै स्मृतिः।'

'स्मृतिस्तु धर्मसंहिता' (अमर १।६।६)

तथा **'धर्मशास्त्रं स्यात्स्मृतिः धर्मसंहिता'** (अभिधानचिन्तामणि २।१६५)

इत्यादि वचन-प्रमाणसे स्मृतिग्रन्थोंको ही धर्मशास्त्र कहते हैं। इस बातको योगी याज्ञवल्क्यने भी अपनी स्मृतिमें **'मन्वत्रिविष्णु···धर्मशास्त्रप्रयोजकाः'** (१।४-५) वचनोंद्वारा स्वीकार किया है तथा 'मिताक्षरा' कार 'विज्ञानेश्वर भिक्षु'ने उक्त श्लोकोंकी व्याख्यामें उसे स्पष्ट किया है।

प्रत्येक अध्यायका विषय—

मनुस्मृतिके बारह अध्याय हैं। इनमें-से प्रथम अध्यायमें-संसारोत्पत्तिका, द्वितीय अध्यायमें-जातकर्मादि संस्कारविधि, ब्रह्मचर्य व्रतविधि और गुरुके अभिवादनविधिका; तृतीय अध्यायमें-ब्रह्मचर्य व्रतकी समाप्तिके बाद समावर्तन, पञ्चमहायज्ञ और नित्य श्राद्ध विधिका, चतुर्थ अध्यायमें-ऋत-प्रमृत आदि जीविकाओं के लक्षण तथा स्नातक (गृहस्थ) के नियमका; पञ्चम अध्यायमें-दूध-दही आदि भक्ष्य तथा प्याज लहसुन आदि अभक्ष्य पदार्थों और दशाहादिके द्वारा जनन-मरणाशौचमें ब्राह्मणादि द्विजातियोंकी तथा मिट्टी, पानी आदि के द्वारा द्रव्य एवं वर्तनोंकी शुद्धिका और स्त्रीधर्मका, षष्ठ अध्यायमें-वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमका, सप्तम अध्यायमें व्यवहार (मुकदमों) के निर्णय तथा करग्रहण आदि राजधर्मका, अष्टम अध्यायमें-साक्षियोंसे प्रश्नविधिका, नवम अध्यायमें-साथ तथा पृथक् रहने पर स्त्री तथा पुरुषके धर्म, धन आदि सम्पत्तिका विभाजन, द्यूत-विधि, चौरादि निवारण तथा वैश्य एवं शूद्रके अपने-अपने धर्मके अनुष्ठानका, दशम अध्यायमें-अम्बष्ठ आदि अनुलोमज तथा सूत-मागध-वैदेह आदि प्रतिलोमज जातियोंकी उत्पत्ति और आपत्तिकालमें कर्तव्य धर्मका, एकादश अध्यायमें पापकी निवृत्तिके लिए कृच्छ्र-सान्तपन-चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त विधिका और अन्तिम द्वादश अध्यायमें-कर्मानुसार तीन प्रकार की (उत्तम, मध्यम तथा अधम) सांसारिक गतियों, मोक्षप्रद आत्मज्ञान, विहित एवं निषिद्ध गुण-दोषों की परीक्षा, देशधर्म, जातिधर्म तथा पाखण्डिधर्मका, वर्णन किया गया है।

यथा—

'जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च ।
व्रतचर्योपचारं च स्नातस्य च परं विधिम् ॥
दाराभिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् ।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम् ॥
वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च ।
राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥
साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि ।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥
वैश्यशूद्रोपचारं च सङ्कीर्णानां च सम्भवम् ।
आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥
संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसम्भवम् ।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥
देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाखण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥'

(मनु० १।१११-११८)

राष्ट्रभाषा (हिन्दी) अनुवादका उद्देश्य—

इस ग्रन्थके हिन्दी अनुवाद भी यत्र तत्रसे प्रकाशित हुए हैं, किन्तु उनमें-से कुछ भावानुवाद मात्र हैं तो कुछ इतने संक्षिप्त हैं कि उनसे मनु भगवान् का आशय प्रायः बहुत-से स्थलोंमें विशद नहीं हो पाता। इसी उद्दश्यसे मैंने इस ग्रन्थका 'मणिप्रभा' नामक हिन्दी अनुवाद किया है। इसमें श्लोकोक्त शब्दोंके आधारपर ही अर्थ किया गया है और जहां उतनेसे ग्रन्थाशय विशद नहीं होता, वहां 'विमर्श' में कुल्लूकभट्ट' कृत (१)'मन्वर्थमुक्तावली' का आधार लेकर गूढाशयोंको पूर्णतया स्पष्ट किया गया है। क्षेपक श्लोकोंको भी तत्तत्स्थलोंमें [ ] इस चिह्नके मध्यमें रखकर उनका भी अनुवाद कर दिया गया है, जो प्रायः किसी भी पूर्व प्रकाशित मनुस्मृतिमें नहीं है।

अब तक इस ग्रन्थके जितने संस्करण संस्कृत या हिन्दीमें प्रकाशित हुए हैं, उनमें-से किसी संस्करणमें भी श्लोकोंके पहले उनका शीर्षक नहीं रहने से बिना पूर्ण अर्थ पढ़े उनमें प्रतिपादित विषयोंका परिज्ञान पाठकोंको सरलतासे नहीं होता था, इस बड़ी भारी कमी को प्रकृत संस्करणमें सर्वत्र श्लोकोंके पहले हिन्दीमें प्रतिपाद्य विषयको शीर्षक रूपमें देकर पूरा किया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थके अन्तिम भागमें श्लोकानुक्रमणिका तथा प्रारम्भमें हिन्दीमें सविस्तृत विषयसूची देकर ग्रन्थको सर्वतोभावेन उपयुक्त बनाया गया है। इन समस्त विषयोंके समाविष्ट होनेसे यद्यपि ग्रन्थका आकार आशातीत परिमाणमें बढ़ गया है, किन्तु उपयोगिताके आगे ग्रन्थाकारकी वृद्धिके कारण होनेवाले व्ययाधिक्यकी चिन्ता श्रीमान् श्रेष्ठिवर्य श्री जयकृष्णदास जी गुप्त महोदयने लेशमात्र भी नहीं की, एतदर्थ वे धन्यवादके पात्र हैं।

आभार-प्रदर्शन—

विहारराज्यके सूचना तथा शिक्षामन्त्री श्रीमान् सम्माननीय **आचार्य बदरीनाथ जी वर्मा** महोदयका विशेष आभार मानता हुआ मैं उनको अनन्तानन्त धन्यवाद-प्रदान करता हूं, जिन्होंने राज्यके उत्तरदायित्वपूर्ण अपने कार्योंमें सतत व्यस्त रहते हुए भी अपनी

---

(१)जिस प्रकार यह मनुस्मृति सब स्मृतियोंमें श्रेष्ठ है, उसी प्रकार इस ग्रन्थ की 'कुल्लूक भट्ट' कृत 'मन्वर्थमुक्तावली' नामकी व्याख्या समस्त संस्कृत व्याख्याओं में श्रेष्ठ है, क्योंकि इस व्याख्यामें मनूक्त आशयोंको श्रुति एवं अन्यान्य-स्मृतियोंके प्रमापक वचनोंका उद्धरण देकर स्पष्ट किया गया है तथा जहां-जहां मेधातिथि, गोविन्दराज आदि व्याख्याकारोंने मन्वभिमतके विपरीत व्याख्या की है, वहां-वहां 'मन्वर्थमुक्तावली' कारने उनका सप्रमाण खण्डन कर स्वमतस्थापन करते हुए गूढाशयोंको विशद कर दिया है। यही कारण है कि एकमात्र 'मन्वर्थमुक्तावली' का ही पठनपाठनादिमें जहां असाधारण प्रचार है, वहां अन्य संस्कृत व्याख्याओंका बहुत विद्वानोंको पता तक भी नहीं है।

गुणग्राहिता, सहृदयता एवं भारतीय संस्कृतिके प्रति अगाध स्नेहसे प्रेरित हो इस ग्रन्थका प्राक्कथन लिखनेका कष्ट उठा कर हमें अनुगृहीत किया है। साथ ही मैं पूज्य श्री प० गोपाल शास्त्री नेने (भूतपूर्व प्राध्यापक, राजकीय संस्कृत कालेज बनारस) का भी अतिशय आभारी हूं, जिनकी सम्पादित 'मन्वर्थमुक्तावली' सहित मनुस्मृतिका आधार मानकर ही इस 'मणिप्रभा' का सम्पादन मैंने किया है। कतिपय स्थलोंमें 'नेने' महोदयकी टिप्पणीसे भी मुझे बहुत कुछ सहायता मिली है।

इस ग्रन्थको सुसज्जित करने में विशेष सहायक अपने भ्रातृज चि० भरत मिश्र व्याकरणाचार्यको शुभाशीः देना भी मैं अपना अन्यतम कर्तव्य मानता हूं।

मुझे आशा एवं पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थके द्वारा सभी धार्मिक जन अपने-अपने कर्तव्यपथमें संलग्न होकर सदाचारपरायण रहते हुए अपनी भारतीय संस्कृतिकी रक्षाके साथ ही धर्माचरण करनेमें निरन्तर तत्पर हो पुण्यवर्द्धन करते रहेंगे।

अन्तमें आदरणीय विद्वानों एवं स्नेहास्पद छात्रोंसे मैं विनम्र शब्दोंमें निवेदन करता हूं कि पूर्वोक्त साधनोंसे सर्वतोभावेन इस ग्रन्थको परमोपयोगी बनानेका पूर्णतः प्रयत्न करनेपर भी मानवसुलभ दोषके कारण यदि कोई त्रुटि रह गयी हो तो वे मुझे क्षमाप्रादान करते हुए उन त्रुटियोंके विषयमें मुझे सूचित करेंगे, जिससे आगे संस्करणमें उनका सुधार कर दिया जाय। क्योंकि—

'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥'

मकरसंक्रान्ति
सं० २०१०

विदुषामनुचरः—
हरगोविन्द शास्त्री

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

[ ] कोष्ठबद्ध विषय क्षेपक श्लोकोंका समझना चाहिये ।

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

एकादश अध्याय

इति मनुस्मृतिस्थविषयानुक्रमणिका समाप्ता ।

मनूक्तधर्मशास्त्रस्य विषयाणामनुक्रमः ।
हरगोविन्दमिश्रेण कृतो विद्वन्मुदे भवेत् ॥ १ ॥
धन्वन्तरिजयन्त्यां हि द्विंविशतिमिते समे ।
पीयूषघटदेशोया दिश्यात्पूर्तिरियं मुदम् ॥ २ ॥

॥ श्रीः ॥

मनुस्मृतिः

'मणिप्रभा' भाषाटीकासहिता ।

प्रथमोऽध्यायः ।

[स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे
मनुप्रणीतान्विविधान् धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥]

शारदां सारदां शुभ्रां शङ्करं लोकशङ्करम् ।
नत्वा मनूक्तधर्माणां व्याख्यां कुर्वे 'मणिप्रभाम्' ॥ १ ॥

(अपरिमित तेजस्वी स्वयम्भू ब्रह्माको नमस्कार कर (मैं भृगु मुनि) मनुके कहे हुए विविध नित्य धर्मोंको कहूंगा ॥ १ ॥)

(विमर्श—यह 'मनुस्मृति' भगवान् मनुसे सुनकर भृगु मुनिने बनायी है (श्लो० ५९-६०) तथा उन्होंने ही इस रूपमें प्रश्नकर्ता महर्षियोंको इसे सुनाया है, इस कारण भगवान् मनुके अर्थप्रवचनकर्ता होनेपर भी ग्रन्थके रचयिता नहीं होनेसे अनेक स्थलोंपर (श्लो० ११८,……) 'भगवान् मनुने कहा है' आदि वचन असङ्गत नहीं होते तथा "जैसे मनूक्त वचन भृगु कहते हैं (यथा मनुनोक्तं भृगुः)" यह याज्ञवल्क्यस्मृतिके 'मिताक्षरा' टीकाकार विज्ञानेश्वर भट्टाचार्य्यका कथन भी सङ्गत होता है। "ब्रह्माके पुत्र बुद्धिमान् मनुने इस शास्त्रको रचा (स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्-श्लो० १०२)" इस वक्ष्यमाण वचनको भी, याज्ञवल्क्य महर्षिके शिष्यके द्वारा रचित स्मृति को 'याज्ञवल्क्यस्मृति' नामसे सर्वप्रसिद्ध होनेसे पूर्वापर विरुद्ध नहीं मानना चाहिये।)

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

महर्षि लोग एकाग्रचित्त तथा सुखपूर्वक बैठे हुए भगवान् मनुके पास जाकर

यथोचित (प्रश्नकर्ताके योग्य श्रद्धा-भक्ति आदिके साथ) प्रतिपूजन कर यह वचन बोले—॥ १ ॥

विमर्श—'एकाग्रचित्त तथा सुखासीन' विशेषण होनेसे मनु भगवान्‌का अनाकुल होकर उत्तर देने का निश्चय होता है। महर्षियोंके पहुँचनेपर मनुने उन अतिथियोंका आतिथ्य सत्कार किया, तदनन्तर वे महर्षि स्वयं प्रश्नकर्ता होनेसे उनका श्रद्धा एवं भक्तिके साथ यथावत् प्रतिपूजन किया। इस स्मृतिका विषय-धर्म, सम्बन्ध-उसके साथ मानव शास्त्रका प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव रूप और प्रयोजन-स्वर्ग-आदि (अर्थार्जन काम आदि) है।

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

हे भगवन्! सब वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) और अम्बष्टादि अनुलोमज, 'सूत' आदि प्रतिलोमज तथा भूर्जकण्टक आदि सङ्कीर्ण (१०।८—४०) जातियोंके यथोचित धर्मको क्रमशः कहनेके लिये आप योग्य हैं (अतः उन्हें कहिये) ॥ २ ॥

[जरायुजाण्डजानां च तथा संस्वेदजोद्भिदाम्।
भूतग्रामस्य सर्वस्य प्रभवं प्रलयं तथा ॥ २ ॥
आचारांश्चैव सर्वेषां कार्याकार्यविनिर्णयम्।
यथाकामं यथायोगं वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥ ३ ॥]

[गर्भज (पिण्डज—मनुष्य पशु आदि), अण्डज (सर्प, मछली, पक्षी आदि), स्वेदज (खटमल, जूं आदि), उद्भिज्ज (वृक्ष, लता आदि) समस्त जीवसमूहके जन्म तथा मृत्युको और (पूर्वोक्त) सबोंके कर्तव्य एवं अकर्तव्यके निश्चय तथा आचारों को यथायोग्य इच्छानुसार कहनेके लिये आप योग्य हैं; अतः कहिये ॥२-३॥]

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥

क्योंकि हे प्रभो! एक आप ही इस सम्पूर्ण अपौरुषेय, अचिन्त्य तथा अप्रमेय वेदके अग्निष्टोमादि यज्ञकार्य और ब्रह्मके जाननेवाले हैं ॥ ३ ॥

मनुका महर्षियोंको उत्तर देना—

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥ ४ ॥

महर्षियोंसे इस प्रकार पूछे गये अपरिमित ज्ञान—शक्तिवाले मनु उन सब महर्षियोंका सत्कार कर बोले—सुनिये ॥ ४ ॥

संसारोत्पत्ति-वर्णन—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥

यह संसार (प्रलयकालमें) तम (प्रकृति) में लीन, अज्ञेय (नहीं जान सकने योग्य), चिह्नरहित, प्रमाणादि तर्कोंसे हीन (अत एव) अविज्ञेय तथा सर्वत्र सोये हुए के समान था ॥ ५ ॥

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥

तब स्वयम्भू (स्वेच्छासे शरीरधारण करनेवाले), अव्यक्त—इन्द्रियोंके अगोचर (नेत्र आदि इन्द्रियोंसे नहीं किन्तु योगसे प्रत्यक्ष होने योग्य), अपरिमित सामर्थ्यवाले और अन्धकार दूर करनेवाले (प्रकृति-प्रेरक) भगवान् आकाशादि महाभूतोंको व्यक्त करते हुए प्रकट हुए ॥ ६ ॥

विमर्श—यहां यह शङ्का होती है कि महर्षियोंके धर्मविषयक प्रश्न करनेपर भगवान् मनुने अप्रासङ्गिक सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन क्यों किया? इस विषयमें 'मेधातिथि' तथा 'गोविन्दराज' का मत है कि "इस सम्पूर्णके वर्णनसे 'यह शास्त्र विशिष्ट प्रयोजनवाला है' यह सिद्ध होता है तथा ब्रह्मासे लेकर स्थावर तक संसारकी गतियां जो धर्म तथा अधर्मके कारण हैं, उनका यहां प्रतिपादन किया गया है (४।४१)। जीवकी धर्माधर्मके कारण इन गतियोंको देखकर धर्ममें मन लगाना चाहिये (११।२३) यह कहनेवाले हैं, अत एव अनन्तैश्वर्यका कारण धर्म और उससे प्रतिकूल अधर्म है, उसके ज्ञानके लिए महाप्रयोजनवाले इस मानवशास्त्रका अध्ययन करना चाहिये, यह इस अध्यायका अभिप्राय है।" मेधातिथि तथा गोविन्दराजके इस सिद्धान्तसे मुक्तावलीकार सहमत नहीं हैं, क्योंकि उनके मतमें धर्मका स्वरूप पूछनेपर धर्मका फल कहना असङ्गत ही है,......। इनके मतमें महर्षियोंके धर्मविषयक प्रश्न करनेपर संसारका कारण होनेसे ब्रह्मका प्रतिपादन

करना भी आत्मज्ञानके धर्मस्वरूप होनेसे असङ्गत नहीं है; क्योंकि मनु भगवान्ने धैर्य आदि को धर्मका लक्षण कहा है (६।२२), उक्त लक्षणमें 'विद्या' शब्दसे आत्मज्ञानका समावेश हो जाता है, महाभारतमें व्यास भगवान्ने भी आत्मज्ञानको धर्म स्वीकार किया है। तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिमें तो उसे 'परम धर्म' कहा है (या० स्मृ० १।८) यह सिद्धान्त व्यास तथा श्रुति में भी अभीष्ट है, विशेष जिज्ञासुओंको 'म० मु०' देखनी चाहिये।

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ ७ ॥

जो भगवान् (परमात्मा) अतीन्द्रिय (नेत्र आदि इन्द्रियोंसे अग्राह्य तथा योगसे ग्राह्य), सूक्ष्मस्वरूप, अव्यक्त, नित्य और सब प्राणियोंके आत्मा (अत एव) अचिन्त्य हैं; वे ही परमात्मा स्वयं प्रकट हुए ॥ ७ ॥

सर्वप्रथम जलकी उत्पत्ति—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥

उस परमात्माने अनेक प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि करनेकी इच्छासे ध्यानकर सबसे पहले जल की ही सृष्टि की और उसमें शक्तिरूपी बीजको छोड़ा ॥ ८ ॥

ब्रह्माकी उत्पत्ति—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

वह बीज सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशवाला, सुवर्ण (सोने) के समान शुद्ध अण्डा हो गया; उसमें सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए ॥ ९ ॥

'नारायण' शब्दकी निरुक्ति—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥

जलको 'नारा' कहते हैं, क्योंकि वह नर (रूप परमात्मा) की सन्तान है। वह 'नारा' (जल) परमात्माका प्रथम आश्रय (निवास स्थान) है, इस कारणसे परमात्मा 'नारायण' कहे जाते हैं ॥ १० ॥

[नारायणपरोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपात्र मेदिनी ॥ ४ ॥]

[अतिशय अन्धकार युक्त और अव्यक्त संसाररूपी व्यक्त वह अण्डा नारायणसे उत्पन्न हुआ, उस अण्डेके भीतर ये लोक और सात द्वीपोंवाली पृथ्वी थी ॥ ४ ॥]

ब्रह्मस्वरूपकथन—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

वह जो अत्यन्त प्रसिद्ध सबका कारण है, नित्य है, सत् तथा असत् स्वरूप है; उससे उत्पन्न पुरुष 'ब्रह्मा' कहे जाते हैं ॥ ११ ॥

अण्डेको दो खण्ड करना—

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवाऽऽत्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥ १२ ॥

वह ब्रह्मा उस अण्डेमें एक वर्ष (ब्रह्माके वर्षके प्रमाणसे = ३६० ब्रह्मदिन = एकतीस खर्व दस अर्ब चालिस करोड़ मानुष वर्ष; देखें श्लो० ६४–७२) तक निवास कर अपने ध्यानके द्वारा उस अण्डेको दो टुकड़े कर दिये ॥ १२ ॥

अण्ड-खण्डसे स्वर्गादिकी सृष्टि—

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥ १३ ॥

(और उन्होंने) उस अण्डेके उन दो टुकड़ों से स्वर्ग तथा पृथ्वी की सृष्टि की और बीचमें आकाश, आठ दिशाओं तथा जलका आश्रय अर्थात् समुद्रकी सृष्टि की ॥ १३ ॥

[वैकारिकं तैजसं च तथा भूतादिमेव च ।
एकमेव त्रिधाभूतं महानित्येव संस्थितम् ॥ ५ ॥
इन्द्रियाणां समस्तानां प्रभवं प्रलयं तथा ।]

[वैकारिक, तैजस तथा भूत (जीव आदि साधन) आदिकी सृष्टि की । तीन

खण्डमें विभक्त एक ही अण्डा 'महान्' कहलाया और सम्पूर्ण इन्द्रियों की उत्पत्ति तथा नाश की उस ब्रह्माने सृष्टि की ॥ ५ ॥]

मन तथा उससे पूर्व अहङ्कारकी सृष्टि—

उद्बबर्हाऽऽत्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।

मनसश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥

ब्रह्माने परमात्मासे सत्-असत् आत्मावाले 'मन' की सृष्टि की तथा मनसे पहले 'अहम्' (मैं) इस अभिमानसे युक्त एवं अपने कार्य को करनेमें समर्थ अहङ्कारकी सृष्टि की ॥ १४ ॥

'महत्' आदि तत्वोंकी सृष्टि

महान्तमेव चाऽऽत्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।

विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥

अहङ्कारसे पहले आत्मोपकारक 'महत्' तत्व (बुद्धि) की तथा सम्पूर्ण त्रिगुण (सत्व, रजस् और तमस् से युक्त) विषयों की और रूप-रस आदि विषयोंको ग्रहण करनेवाली नेत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रियों (२।९०-९१) की तथा पांच शब्दतन्मात्रादियों की सृष्टि की ॥ १५ ॥

[अविशेषान् विशेषांश्च विषयांश्च पृथग्विधान् ॥ ६ ॥]

[सृष्टिके सामान्य तथा विशेष विषयों की पृथक् २ सृष्टि भी उसी 'अहङ्कार' से की ॥ ६ ॥]

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम् ।

सन्निवेश्याऽऽत्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥

अनन्त शक्तिवाले उन ६ (अहङ्कार, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) के सूक्ष्म अवयवोंको उन्हींके अपने २ विकारोंमें मिलाकर सब प्राणियों की सृष्टि की ॥ १६ ॥

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ।

तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥ १७ ॥

प्रकृति युक्त उस ब्रह्म की मूर्तिके शब्दादि पांच तन्मात्राएं तथा अहङ्कार-ये

क्षः सूक्ष्म अवयव हैं तथा कर्मभावसे उसका आश्रय करते हैं, इसी कारणसे लोग ब्रह्मकी मूर्तिको 'शरीर' कहते हैं। (यही बात साङ्ख्य मतसे भी पुष्ट होती है[1]) ॥ १७ ॥

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।

मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥

विनाशरहित एवं सब भूतोंके कर्ता उस ब्रह्मसे अपने-अपने कर्मोंसे युक्त पञ्च-महाभूत आकाश आदि और सूक्ष्म अवयवोंके साथ मनकी सृष्टि हुई ॥ १८ ॥

विमर्श—पञ्चमहाभूतोंमेंसे आकाशका कर्म अवकाश देना, वायुका कर्म विनाश (वस्तुको इधरसे उधर स्थानान्तरित) करना, तेजका कर्म पाचन, जलका कर्म एकत्रीकरण और पृथ्वीका कर्म धारण करना है।

विनश्वर संसारकी उत्पत्ति

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।

सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥ १९ ॥

फिर विनाशरहित उस ब्रह्मसे महाशक्तियुक्त सात पुरुषों (महत्तत्त्व, अहङ्कार तथा शब्द आदि पञ्च तन्मात्राओं) की सूक्ष्म मूर्तिके अंशोंसे विनाशशील यह संसार उत्पन्न हुआ ॥ १९ ॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।

यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥

उन पञ्चमहाभूतोंके गुणोंको आगे-आगेवाले तत्त्व प्राप्त करते हैं, जो तत्त्व जितनी संख्याका पूरक है, उसके उतने गुण होते हैं ॥ २० ॥

विमर्श—'आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी' इन पांच महाभूतोंमें क्रमशः 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध'—इन पांच गुणोंमेंसे एक-एक अधिक बढ़ते जाते हैं, इस प्रकार—आकाशका शब्द, वायुके 'शब्द और स्पर्श' तेजके 'शब्द, स्पर्श और रूप' जलके 'शब्द' स्पर्श, रूप और रस' तथा पृथ्वीके 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध' गुण होते हैं। इस क्रमानुसार प्रथम 'आकाश'

---

१. तदाह साङ्ख्यकारिकायाम्—

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गुणश्च षोडशकः।

तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥" इति। (कारिका २२)

तत्त्वका एक, द्वितीय 'वायु' तत्त्वके दो, तृतीय 'तेज' तत्त्वके तीन, चतुर्थ 'जल' तत्त्व के चार और पञ्चम 'पृथ्वी' तत्त्वके पांच गुण होते हैं ।

प्रत्येक जातिके नाम-कर्मकी पृथक्-पृथक् सृष्टि—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

हिरण्यगर्भ उसी ब्रह्माने सबोंके नाम (यथा—'गो' जातिका 'गौ' और 'अश्व' जातिका 'अश्व', ...) और कर्म (यथा—'ब्राह्मण' का वेदाध्ययनादि, क्षत्रियोंका वेदाध्ययन तथा रक्षणादि, देखें श्लो० ८८-९१) तथा लौकिक व्यवस्था (यथा—कुम्हारका घटादि बनाना, बुनकरका कपड़ा बुनना, नापितका क्षौर करना आदि) को पहले वेद-शब्दोंसे ही जानकर पृथक् पृथक् बनाये ॥२१॥

देवगणादिकी सृष्टि—

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः ।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ २२ ॥

उस ब्रह्माने देव (इन्द्रादि), कर्मस्वभाव प्राणी, अप्राणी पत्थर आदि, साध्यगण और सनातन यज्ञ (अग्निष्टोमादि) की सृष्टि की ॥ २२ ॥

वेदत्रयकी सृष्टि—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ २३ ॥

उस ब्रह्माने यज्ञोंकी सिद्धिके लिये अग्नि वायु और सूर्यसे नित्य ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको क्रमशः प्रकट किया[१] ॥ २३ ॥

विमर्श—मनु भगवान्‌को वेदोंका अपौरुषेयत्व ही अभिमत है, पूर्व कल्पमें जो वेद थे, उन्हें ही परमात्मस्वरूप ब्रह्माने स्मृति गोचरकर अग्नि, वायु तथा सूर्यसे आकृष्टकर प्रकट किया ।

समयादिकी सृष्टि—

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा ।
सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च ॥ २४ ॥

---

१. तथा च श्रुतिः—"अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेदः" इति ।

फिर उस ब्रह्माने समय (निमेष, काष्ठा, कला, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि), उनके विभाग, नक्षत्र (अश्विनी, भरणी आदि २७ या २८), ग्रह (सूर्य-चन्द्रादि नव), नदी (यमुना, गङ्गा, गोदावरी आदि), समुद्र (क्षीरसमुद्र, दधिसमुद्र आदि सात), पर्वत, सम (समतल = बराबर), विषम (ऊँचा-नीचा) ॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

तप (प्राजापत्य आदि), वाणी, रति, इच्छा और क्रोधकी सृष्टि की तथा इन प्रजाओंकी सृष्टि करनेकी इच्छा करते हुए ब्रह्माने—॥ २५ ॥

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥

कर्मोंकी विवेचनाके लिये धर्म (अवश्य कर्तव्य यज्ञादि) और अधर्म (अवश्य त्याज्य प्राणि-हिंसादि) को पृथक्-पृथक् बतलाया तथा इन प्रजाओंको सुख एवं दुःख आदि (राग-द्वेष, शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि) द्वन्द्वोंसे संयुक्त किया अर्थात् धर्मसे सुख तथा अधर्मसे दुःख होता है यह प्रजाओंके लिये निश्चय किया ॥ २६ ॥

स्थूल तथा सूक्ष्मादिकी सृष्टि—

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥

पञ्चमहाभूतों (आकाश आदि) की विनाशशील जो पञ्चतन्मात्रायें (शब्द आदि) कही गयीं हैं, उन्हींके साथ पहले कहे गये तथा आगे कहे जानेवाले ये सब क्रमशः उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥

विमर्श—'अनुपूर्वशः' शब्दसे सूचमसे स्थूल, स्थूलसे स्थूलतर और स्थूलतरसे स्थूलतम आदि क्रम इष्ट है, इस कथनसे—'सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्माकी मानसिक सृष्टि कभी तत्त्वनिरपेक्ष भी हो सकती है' यह शङ्का भी उसके द्वारा ही इस सृष्टिकी उत्पत्ति कहनेसे दूर कर दी गयी है।

कर्मानुसारिणी सृष्टि—

यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।

स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥

उस ब्रह्माने जिस (व्याघ्र आदि जातिविशेष) को जिस कर्म (मारण आदि) में पहले लगाया था, बार-बार सृज्यमान (उत्पन्न होता हुआ) वह (जातिविशेष, अपने-अपने कर्मवश) उसी कर्मको करने लगा ॥ २८ ॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।

यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९ ॥

हिंसा (मारना—सिंह-व्याघ्रादिका), अहिंसा (मृग आदिका), मृदु, (दया, सरलता आदि—ब्राह्मणका), क्रूर अर्थात् कठोर (युद्ध-दण्ड आदि—क्षत्रियका), धर्म (गुरुशुश्रूषा आदि—ब्रह्मचारीका), अधर्म (मांस-भक्षण एवं मैथुन आदि—उसी ब्रह्मचारीका), सत्य (प्रायः देवोंका), और असत्य (प्रायः मानवोंका) को सृष्टिके प्रारम्भमें जिस जिसके लिये बनाया; वह वह बार-बार उसी उसीको अदृष्टवश स्वयं ही प्राप्त होने लगा ॥ २९ ॥

स्वयं स्व-स्व-कर्मप्राप्तिमें दृष्टान्त—

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।

स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥

जिस प्रकार ऋतु (वसन्त आदि) ऋतु-परिवर्तन होनेपर स्वयं ही अपने-अपने चिह्नों (पिक-कूजन, आम्र-मञ्जरी आदि) को प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार देहधारी (जीव) अपने-अपने कर्मों (हिंसा, अहिंसा आदि पूर्वश्लोकोक्त) को स्वयं ही प्राप्त करते हैं ॥ ३० ॥

ब्राह्मणादिवर्णोंकी सृष्टि—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥

लोक-वृद्धिके लिये ब्रह्माने मुख, बाहु, ऊरु और पैरसे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकी सृष्टि की ॥ ३१ ॥

स्त्री-पुरुषकी सृष्टि—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।

अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३२ ॥

वे ब्रह्मा अपने शरीरके दो भाग करके आधे भागसे पुरुष तथा आधे भागसे स्त्री हो गये, और उसी स्त्रीमें (मैथुन-धर्मसे) 'विराट्' संज्ञक पुरुषकी सृष्टि की ॥३२॥

मनुकी उत्पत्ति—

तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

(मनु भगवान् ऋषियोंको सम्बोधितकर कहते हैं कि) हे महर्षिश्रेष्ठ ब्राह्मणों ! उस 'विराट्' पुरुषने तपस्या करके जिसको उत्पन्न किया, उसे इस संसारका रचयिता मुझे (मनुको) जानो ॥ ३३ ॥

दश प्रजापतियोंकी उत्पत्ति—

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

प्रजापतियोंकी सृष्टि करनेका इच्छुक मैंने अत्यन्त कठिन तपश्चर्याकर पहले दश प्रजापतियों (महर्षियों) की सृष्टि की ॥ ३४ ॥

दश प्रजापतियोंके नाम—

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥

(उन प्रजापतियोंके ये नाम हैं--) मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद ॥ ३५ ॥

पुनः सात मनुओं तथा देवोंकी सृष्टि--

एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥

महातेजस्वी इन दश प्रजापतियों (महर्षियों) ने सात अन्य मनुओं, ब्रह्मासे पहले नहीं उत्पन्न किये गये देवों उनके वासस्थानों (स्वर्ग आदि) तथा अपरिमित तेजस्वी महर्षियोंकी सृष्टि की ॥ ३६ ॥

यक्ष आदिकी सृष्टि--

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।

नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥
विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥ ३८ ॥
किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहङ्गमान् ।
पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥
कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥ ४० ॥

यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सराएं, असुर (विरोचन आदि), नाग (वासुकि आदि), सर्प, सुपर्ण (गरुड़), और पितृगण (आज्यप आदि); बिजली, वज्र, बादल, रोहित (सीधा इन्द्रधनुष), इन्द्रधनुष (सामान्यतः टेढ़ा इन्द्रधनुष), उल्का, निर्घात (आकाश-पृथ्वीके बीचमें होनेवाला उत्पातसूचक शब्दविशेष), धूमकेतु (पुच्छलतारा), और अनेक प्रकारके ऊँची-नीची (छोटी-बड़ी) ताराओं (ध्रुव तथा अगस्त्य आदि); किन्नर, वानर, अनेक प्रकार की मछलियां, पक्षी, पशु (गौ आदि), मृग (हरिण आदि), व्याल (सिंह-व्याघ्र आदि हिंसक जीव) और दोनों ओर (ऊपर-नीचे) दांतवाले पशुओं; कृमि (बहुत छोटे कीड़े), कीट (कृमिसे कुछ बड़े कीड़े), पतङ्ग (फतिङ्गे-उड़नेवाले कीड़े), जूँ, मक्खी, खटमल, सब प्रकारके दंश तथा मच्छड़ और अनेक प्रकारके स्थावर (लता, वृक्ष आदि) की सृष्टि की ॥ ३७-४० ॥

[यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।
यथायुगं यथादेशं यथावृत्ति यथाक्रमम् ॥ ७ ॥]

[(प्राणियोंके) कर्म, समय, बुद्धि (ज्ञान), शास्त्र, युग, देश, आचार तथा कर्मके अनुसार (उस ब्रह्माने सृष्टि की) ॥ ७ ॥]

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥

इस प्रकार इन महात्माओं (मरीचि आदि (श्लो० ३६) दश प्रजापतियों)

ने मेरे आदेशसे तपोबलद्वारा इन स्थावर तथा जङ्गम प्राणियोंकी सृष्टि उनके कर्मके अनुसार की ॥ ४१ ॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

(मनु भगवान् महर्षियोंसे कहते हैं कि-) इस संसारमें जिस जीवका जो कर्म पूर्वाचार्योंने कहा है, उसे तथा उन जीवोंके क्रम को आपलोगोंसे मैं कहूंगा ॥४२॥

जरायुज जीवके लक्षण—

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥

पशु (गौ आदि), मृग (हरिण आदि), व्याल (सिंह आदि हिंसक जीव), ऊपर-नीचे (दोनों ओर) दांतवाले राक्षस, पिशाच और मनुष्य; ये सब जरायुज अर्थात् गर्भसे उत्पन्न होनेवाले जीव हैं ॥ ४३ ॥

अण्डज जीवके लक्षण—

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।
यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥

पक्षी, सर्प, मगर, मछली, कछुए तथा इस प्रकारके जो स्थलचर तथा जलचर जीव हैं; वे सब 'अण्डज' हैं ॥ ४४ ॥

स्वेदज जीवकी गणना—

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम् ॥ ४५ ॥

दंश, मच्छर , जूँ , मक्खी, खटमल और इस प्रकारके जो अन्य जीव (लिक्षा अर्थात् लीख आदि) हैं; वे सब 'स्वेदज' हैं (गर्मी या पसीनेसे उत्पन्न होते हैं) ॥ ४५ ॥

उद्भिज्ज तथा ओषधि जीव—

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

बीज तथा शाखासे लगनेवाले लता तथा वृक्ष आदि (यथा—आम, अमरूद, गुलाब आदि) स्थावर जीव 'उद्भिज्ज' हैं। फलके पकनेपर जिनका पौधा नष्ट हो जाता है और जिनमें बहुत फल-फूल लगते हैं; वे (यथा—लौकी, सेम, काशीफल, धान, चना आदि) जीव 'ओषधि' कहलाते हैं ॥ ४६ ॥

वनस्पति तथा वृक्षके स्वरूप—

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥

बिना फूल लगे फलनेवाले (यथा—बड़, गूलर, पाकर, पीपल आदि) को 'वनस्पति' और फूल लगनेके बाद फलनेवाले (यथा—आम, जामुन, अमरूद, आमड़ा आदि) को 'वृक्ष' कहते हैं ॥ ४७ ॥

विमर्श—अप्राकृत होनेसे यह श्लोक नामकोषके समान संज्ञा-संज्ञि बोधक नहीं है, किन्तु पूर्व कथन ("........क्रमयोगं च जन्मनि'-श्लो० ४२) के लिये है; इस प्रकार 'वृक्ष' के दो रूप हैं।

गुच्छ, गुल्म, तृण, प्रतान तथा वल्लीका स्वरूप—

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ४८ ॥

'गुच्छ' (जड़से लतासमूहवाले, यथा—मल्लिका आदि), 'गुल्म' (एक जड़से अनेक होनेवाले, यथा-ईख, सरपत्ता, कास आदि), 'तृण' (घास, यथा-उलप आदि), 'प्रतान' (सूतके समान रेशेवाले, यथा-करेला, कद्दू, काशीफल आदि) और 'वल्ली' (भूमिसे वृक्षादिके सहारे चढ़नेवाले, यथा-गुडूची आदि); ये सब बीज तथा शाखा (डाल) से लगते हैं ॥ ४८ ॥

वृक्षादिमें अन्तश्चेतना तथा सुखादिका होना—

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥

पूर्व जन्मके कर्मोंके कारण अत्यधिक तमोगुणसे युक्त ये 'वृक्ष' आदि अन्तश्चेतनावाले (भीतरमें चेतनायुक्त होने पर भी उसे बाहर किसीसे प्रकट करनेमें असमर्थ) तथा सुख-दुःखसे युक्त हैं ॥ ४९ ॥

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ।

घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ५० ॥

(मनु भगवान् महर्षियोंसे कहते हैं कि–) जन्म–मरणादिसे भयङ्कर तथा सर्वदा विनाशशील इस संसार (प्राणियों के जगत्) में ब्रह्मा से लेकर स्थावरतक की गतियों को मैंने कहा ॥ ५० ॥

ब्रह्माका अन्तर्धान होना—

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।

आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥ ५१ ॥

अचिन्त्य सामर्थ्यवाले ब्रह्मा इस प्रकार (श्लो० ५–४७) मेरी (मनुकी) तथा समस्त स्थावर एवं जङ्गम जीवोंकी सृष्टिकर प्रलयकालसे सृष्टिकालको नष्ट करते हुए अपनेमें अन्तर्धान हो गये ॥ ५१ ॥

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।

यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ ५२ ॥

जब वे ब्रह्मा जागते (संसारकी सृष्टि–स्थितिकी इच्छा रखते) हैं, तब यह संसार (श्वास–प्रश्वास तथा भोजनादिके द्वारा) चेष्टा करता है; और जब वे (ब्रह्मा) सोते (संसारकी सृष्टि तथा स्थितिकी निवृत्ति अर्थात् नाशकी इच्छा करते) हैं, तब यह संसार नष्ट हो जाता है। (इसी को क्रमशः सर्ग तथा प्रलय कहते हैं) ॥ ५२ ॥

प्रलयकालमें जीवोंकी अनुत्पत्ति तथा चेष्टाशून्यता —

तस्मिन्स्वपति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः ।

स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥

स्वस्थ (सर्वकर्मरहित) होकर उस ब्रह्माके सोनेपर अपने-अपने कर्मोंके द्वारा शरीरको प्राप्त करनेवाले देहधारी उन (अपने-अपने कर्मों) से निवृत्त हो जाते (देह को धारण नहीं करते) हैं और उनका मन भी ग्लानिको प्राप्त करता (सब इन्द्रियोंके साथ चेष्टाशून्य हो जाता) है ॥ ५३ ॥

महाप्रलयका स्वरूप—

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ।

तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ५४ ॥

जब एक ही समयमें सब प्राणी उस परमात्मामें लीन हो जाते हैं, तब ये सम्पूर्ण जीव निवृत्त (सर्वव्यापारशून्य) होकर (मानो) सुखसे सोते हैं ॥ ५४ ॥

जीवका निर्गमन—

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः ।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥ ५५ ॥

जब यह जीव तम (अज्ञान) का आश्रयकर इन्द्रियोंके साथ बहुत समय-तक रहता और अपना कर्म (श्वास-उच्छ्वास आदि) नहीं करता है, तब वह अपने शरीरसे (बाहर) निकल जाता है ॥ ५५ ॥

जीवका देहान्तर धारण करना—

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च ।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥ ५६ ॥

जब यह जीव अणुमात्रक ('पुर्यष्टक'से युक्त) होकर स्थिरताशील (वृक्ष आदि) तथा गमनशील (मनुष्य आदि) के बीजमें प्रवेश करता है, तब ('पुर्यष्टक'से युक्त होकर कर्मके अनुसार) स्थूल देहको धारण करता है ॥ ५६ ॥

विमर्श—भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, वायु, तथा अविद्या; ये 'पुर्यष्टक'[1] हैं।

जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थासे संसारको जिलाना व नष्ट करना—

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥

विनाशरहित वह ब्रह्म अपनी जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थाओंसे संसारको जिलाता (सृष्टि करता) और नष्ट करता है ॥ ५७ ॥

इस शास्त्रका प्रचार क्रम—

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः ।

---

१. तदुक्तं सनन्दनेन—

"भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः ।
अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं 'पुर्यष्ट' मृषिसत्तमैः ॥" इति (म० मु०) ।

विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ५८ ॥

(मनु भगवान् महर्षियोंसे कहते हैं कि—) उस ब्रह्माने इस शास्त्रको बनाकर पहले मुझे (मनुको) पढ़ाया और मैंने मरीचि आदि महर्षियोंको पढ़ाया ॥५८॥

विमर्श—यहां यह शङ्का हो सकती है कि जब इस शास्त्रको ब्रह्माने मनुको पढ़ाया तब यह मानवशास्त्र कैसे कहलाया ?। इस विषयमें यह उत्तर दिया जाता है कि—मनुको ब्रह्माने विधि-निषेध रूप शास्त्राशयका अध्यापन कराया और मनुने उसका प्रतिपादन करनेवाला यह ग्रन्थ इस रूपमें बनाया। कुछ विद्वानोंका यह भी मत है कि यद्यपि इस ग्रन्थके कर्ता ब्रह्मा हैं, तथापि उनसे मनुने इसका ज्ञान प्राप्त कर स्वरूप तथा अर्थके साथ मरीचि आदिके लिये प्रकाशित किया, अत एव यह मानव (मनुरचित) शास्त्र कहलाया, जैसे वेदके अपौरुषेय होनेपर भी 'कठ-शाखा' आदिका व्यवहार होता है। यह भी कहा जाता है कि ब्रह्माने एक लक्ष[1] पद्योंमें इस शास्त्रकी रचनाकर मनुको पढ़ाया था, उसे मनुने संक्षिप्तकर मरीचि आदि शिष्योंको पढ़ाया, अतः इस शास्त्रको मनुरचित कहना असङ्गत नहीं है।

भृगुसे इस शास्त्रको सुननेका कथन—

एतद् वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।

एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ ५९ ॥

ये भृगु मुनि यह सम्पूर्ण शास्त्र आप लोगों (महर्षियों) को सुनावेंगे; (क्योंकि) इस मुनि (भृगु) ने इस सम्पूर्ण शास्त्रको मुझसे प्राप्त किया (पढ़ा) है ॥ ५९ ॥

भृगुके द्वारा इस शास्त्रका कथन—

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः।

तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

इस प्रकार मनुसे आदेश प्राप्त किये हुए भृगु मुनिने प्रसन्न-चित्त होकर उन महर्षियोंसे कहा—"सुनिये" ॥ ६० ॥

मन्वन्तरका वर्णन—

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड् वंश्या मनवोऽपरे।

सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥ ६१ ॥

१. "तथा च नारदः-'शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थः' इति स्मरति स्म" इति। (म०मु०)

इस स्वायम्भुव (ब्रह्माके पुत्र) मनुके वंशमें उत्पन्न महात्मा तथा पराक्रमी अन्यान्य ६ मनुओंने अपनी-अपनी प्रजाओंकी सृष्टि की ॥ ६१ ॥

उन ६ मनुओंके नाम—

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥

(उन ६ मनुओंके नाम ये हैं)—स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और महातेजस्वी वैवस्वत (सूर्यपुत्र) ॥ ६२ ॥

स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्याऽऽपुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥

महातेजस्वी स्वायम्भुव आदि इन सात मनुओंने अपने-अपने अधिकारकालमें इस सम्पूर्ण चराचर जगत्को उत्पन्नकर इसका पालन किया ॥ ६३ ॥

[कालप्रमाणं वक्ष्यामि यथावत्तन्निबोधत]

[समयके परिमाणको कहूंगा, उसे आपलोग यथाविधि मालूम करें ॥ ८ ॥]

दिनरातका परिमाण—

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

१८ निमेष (पलक गिरनेका समय-विशेष) की १ काष्ठा, ३० काष्ठाकी १ कला, ३० कलाका १ मुहूर्त (२ घटी = ४८ मिनिट) और ३० मुहूर्तकी १ दिन-रात (६० घटी = २४ घण्टे) होती है ॥ ६४ ॥

विमर्श—'नामलिङ्गानुशासन' (अमरकोष) के रचयिता 'अमरसिंह'ने "३० कला = १ काष्ठा, ३० काष्ठा = १ क्षण, १२ क्षण = १ मुहूर्त होता है"[1] ऐसा कहा है।

सूर्यद्वारा दैव-मानुष दिन-रातका विभाजन—

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥

---

१. तद्यथा—"अष्टादश निमेषास्तु काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला । तास्तु त्रिंशत्क्षणस्ते तु मुहूर्तो द्वादश स्त्रियाम् ॥" इति (अ० को० १।४।११)

सूर्य मानुष (मनुष्योंकी) तथा दैव (देवताओंकी) दिन-रातका विभाग करता है, उनमें जीवोंके सोनेके लिये रात तथा कार्य करनेके लिये दिन होता है ॥

पितरोंकी दिन-रातका परिमाण—

पित्र्ये राव्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६६ ॥

(मनुष्योंके) १ मास अर्थात् ३० दिनकी पितरोंकी १ दिन-रात होती है, उसमें दो पक्षों (पखवारों) का विभाग है अर्थात् दो पक्षोंका १ मास होता है; उन दोनों (पक्षों) में कृष्णपक्ष (पितरोंके) काम करने (जागने) तथा शुक्लपक्ष (पितरोंके) सोनेके लिये है ॥ ६६ ॥

विमर्श—कृष्णपक्ष तथा शुक्लपक्ष—इन दोनों पक्षों का मनुष्योंका १ मास होता है और यही पितरोंकी १ दिन-रात होती है इनमें कृष्णपक्ष पितरोंका दिन तथा शुक्लपक्ष पितरोंकी रात होती है।

देवोंकी दिन-रातका परिमाण—

दैवे राव्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥

१ वर्ष (मनुष्योंके १२ मास) की देवों की १ दिन-रात होती है, उसमें उत्तरायण (मकरसे मिथुन तक सूर्यका सङ्क्रमणकाल) देवोंका दिन और दक्षिणायन (कर्कसे धनुतक सूर्यका सङ्क्रमणकाल) देवोंकी रात होती है ॥६७॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

(भृगु महर्षियोंसे कहते हैं कि)—ब्रह्माके दिनरातका और चारों (सत्य त्रेता, द्वापर और कलि) युगोंका जो परिमाण है, उसे आपलोग संक्षेपसे सुनें—॥

सत्ययुगका परिमाण—

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ ६९ ॥

४००० दिव्य (देवोंके) वर्ष 'सत्ययुग' का काल-परिमाण है और ४००-४०० दिव्य वर्ष उस सत्ययुगके सन्ध्या तथा सन्ध्यांशका परिमाण है ॥ ६९ ॥

विमर्श—यहां 'सन्ध्या' शब्दका युगका 'पूर्वसन्धिकाल' तथा 'सन्ध्यांश' शब्दका युगके अन्तिम 'सन्धि-काल' अर्थ है। उसका मध्यवर्तीकाल युगका काल होता है। यहां पर 'वर्ष' शब्द क्रमप्राप्त दिव्य वर्षका वाचक है[1]। इस प्रकार ४०००+४००+४००=४८०० दिव्यवर्ष × ३६० = १७२८००० मानुष वर्ष 'सत्ययुग' का परिमाण होता है।

त्रेता, द्वापर तथा कलियुगका परिमाण—

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥

सत्ययुगकी सन्धि (पूर्व सन्धिकाल) और सन्ध्यांश (अन्तिम सन्धिकाल) के सहित क्रमशः (सत्ययुगके कालपरिमाणमेंसे १०००-१००० तथा) सत्ययुग के सन्ध्या और सन्ध्यांशमेंसे १००-१०० (युगमें १००० × सन्ध्या १०० × सन्ध्यांश १०० = १२००) वर्ष प्रत्येकमें क्रमशः कम करनेसे त्रेता, द्वापर और कलिका कालपरिमाण होता है ॥ ७० ॥

विमर्श—सन्ध्या-सन्ध्यांश सहित सत्ययुग-काल-परिमाण ४८०० दिव्यवर्ष-१२०० = ३६०० दिव्य वर्ष (या ३६०० × ३६० = १२९६००० मानुष वर्ष) 'त्रेता युग' का कालपरिमाण है। त्रेताका कालपरिमाण ३६०० दिव्यवर्ष-१२०० = २४०० दिव्यवर्ष (या २४०० × ३६० = ८६४००० मानुष वर्ष) 'द्वापर' युगका काल परिमाण है और द्वापरका कालपरिमाण २४०० दिव्यवर्ष-१२०० = १२०० दिव्यवर्ष (या १२०० × ३६० = ४३२००० मानुष वर्ष) 'कलियुग' का कालपरिमाण है।

---

१. "युगस्य पूर्वा सन्ध्या, उत्तरश्च सन्ध्यांशः। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

तत्प्रमाणैः शतैः 'सन्ध्या' पूर्वा तत्राभिधीयते।
सन्ध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि यः ॥
सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तम।
युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञकः ॥

वर्षसङ्ख्या चेयं दिव्यमानेन, तस्यैवानन्तरप्रकृतत्वात्।

दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम्।
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे ॥

इति विष्णुपुराणवचनाच्च" इति। (म० मु०)

इस प्रकार ४८०० दिव्यवर्ष (१७२८००० मानुष वर्ष) सत्ययुग, ३६०० दिव्यवर्ष (१२९६००० मानुष वर्ष) त्रेतायुग, २४०० दिव्यवर्ष (८६४००० मानुष वर्ष) द्वापरयुग, और १२०० दिव्यवर्ष (४३२००० मानुष वर्ष) 'कलियुग' का परिमाण होता है।

देव युगका परिमाण—

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥

जो यह (मनुष्योंके) चारों युगोंका कालपरिमाण बतलाया गया है, वह १२००० दिव्यवर्ष (चारों युगोंका मिलित काल) देवोंका एक युग होता है ॥ ७१ ॥

विमर्श—चतुर्युगमान १२००० दिव्यवर्ष (१२०००×३६०=३७,२०००० मानुष वर्ष) देवोंके १ युगका काल परिमाण है।

ब्रह्माकी दिन-रातका परिमाण—

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥ ७२ ॥

देवोंके १००० युग ब्रह्माके दिनका कालपरिमाण और उतना ही रातका काल परिमाण जानना चाहिये ॥ ७२ ॥

विमर्श—देवोंके १००० युग, १२००० दिव्यवर्ष × १००० = १,२०,०००,००० दिव्यवर्ष अथवा १,२०,००,००० दिव्यवर्ष × ३६० = ४,३२,००,००,००० मानुष वर्ष 'ब्रह्माके दिन' का परिमाण है और इतना ही रात्रिका परिमाण है; इस प्रकार १२००० × २००० = २,४०,००,००० दिव्य वर्ष अथवा २,४०,००,००० दिव्य वर्ष × ३६० = ८,६४,००,००,००० मानुष वर्ष 'ब्रह्माकी दिन रात (अहोरात्र) का परिमाण है।

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ७३ ॥

देवोंके उक्त १००० युगका ब्रह्माका पुण्य दिन और उतने ही परिमाण की ब्रह्माकी पुण्य रात्रि होती है। (जैसा पूर्व श्लोकमें स्पष्ट कर चुके हैं); उसे जो लोग जानते हैं, वे अहोरात्रके ज्ञाता कहे जाते हैं ॥ ७३ ॥

१ निमेष	पलक गिरनेका समय	४/६ विपल या ८/४५ सेकेण्ड
१८ ,,	१ काष्ठा	८ ,, ,, २ १/५ ,,
३० काष्ठा	१ कला	४ पल ,, १ मिनट ३६ से०
३० कला	१ मुहूर्त	२ घटी ,, ४८ मिनट
३० मुहूर्त	१ अहोरात्र	६० ,, ,, २४ घण्टे
१५ अहोरात्र	१ पक्ष (मानुष)	
२ पक्ष	१ मास ,,	१ अहोरात्र (पित्र्य)
६ मास	१ अयन ,,	१ दिन या रात्रि (दिव्य)
१२ मास	१ वर्ष ,,	१ अहोरात्र ,,
३६० अहोरात्रदिव्य	३६० ,, ,,	१ वर्ष ,,
४००० दिव्यवर्ष	१४४०००० मानव वर्ष	सत्ययुगका मुख्य मान
४०० ,,	१४४००० ,,	,, की सन्ध्याका ,,
४०० ,,	१४४००० ,,	,, के सन्ध्यांशका ,,
४८०० ,,	१७२८०००० ,,	,, का पूर्ण ,,
३००० ,,	१०८०००० ,,	त्रेताका मुख्य ,,
३०० ,,	१०८००० ,,	,, की सन्ध्याका ,,
३०० ,,	१०८००० ,,	,, के सन्ध्यांशका ,,
३६०० ,,	१२९६००० ,,	,, का पूर्ण ,,
२००० ,,	७२०००० ,,	द्वापर का मुख्य ,,
२०० ,,	७२००० ,,	,, की सन्धिका ,,
२०० ,,	७२००० ,,	,, के सन्ध्यांशका ,,
२४०० ,,	८६४००० ,,	,, का पूर्ण ,,
१००० ,,	३६०००० ,,	कलिका मुख्य ,,
१०० ,,	३६००० ,,	,, की सन्धिका ,,
१०० ,,	३६००० ,,	,, के सन्ध्यांशका ,,
१२०० ,,	४३२००० ,,	,, का पूर्ण ,,
१२००० ,,	४३२०००० ,,	चतुर्युगका ,, ,,
१२०००×७१ ,,	३०६७२०००० ,,	मन्वन्तरका ,,
१२०००×१०००=	४३२००००००० ,,	ब्रह्माके दिन या रात्रिका ,,
१२०००००० ,,		,, अहोरात्रका ,,
२४०००००० ,,	८६४००००००० ,,	

ब्रह्माद्वारा मनको सृष्ट्यर्थ लगाना—

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते ।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥

वे ब्रह्मा अपने अहोरात्रके अन्तमें जागते और अपने मनको भूलोक आदि की सृष्टिमें लगाते हैं अथवा सत्-असत्-रूप मन अर्थात् महत्तत्त्वकी सृष्टि करते हैं ॥ ७४ ॥

मनसे आकाशकी सृष्टि—

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ७५ ॥

भू आदि लोकत्रयकी सृष्टि करनेकी इच्छासे प्रेरित मन सृष्टि करता है, उससे आकाश उत्पन्न होता है, उस आकाशका गुण 'शब्द' है' ऐसा महर्षि कहते हैं ॥ ७५ ॥

आकाशसे वायुकी सृष्टि—

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥ ७६ ॥

विकारोत्पादक उस आकाशसे सर्वविध गन्धोंको धारण करनेवाली, पवित्र एवं शक्तिशाली वायु उत्पन्न होती है; वह (वायु) 'स्पर्श' गुणवाली मानी गयी है॥७६॥

वायुसे तेजकी सृष्टि—

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥

विकारोत्पादक वायुसे भी देदीप्यमान एवं अन्धकारनाशक ज्योति (तेज = प्रकाश) उत्पन्न होती है, वह 'रूप' गुणवाली कही गयी है ॥ ७७ ॥

तेजसे जल तथा जलसे भूमिकी सृष्टि—

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥

विकारजनक ज्योति (तेज) से 'रस' गुणवाला 'जल' उत्पन्न होता है, पुनः

जलसे 'गन्ध' गुणवाली भूमि उत्पन्न होती है। ये भूत (आकाश-वायु-ज्योति-जल-भूमि) सृष्टिकी आदिके हैं ॥ ७८ ॥

[परस्परानुप्रवेशाद्धारयन्ति परस्परम् ।
गुणं पूर्वस्य पूर्वस्य धारयन्त्युत्तरोत्तरम् ॥ ८ ॥]

[वे परस्परके अनुप्रवेश एक दूसरेसे सम्बद्ध होनेसे पूर्व-पूर्व (आकाश आदि तत्त्वों) के गुणों को आगे-आगेवाले (वायु आदि तत्त्व) धारण करते हैं ॥ ८ ॥]

विमर्श—पूर्व-पूर्वके गुणोंको आगे-आगे वाले तत्त्वों के द्वारा धारण करनेसे 'आकाशका शब्द, वायु के स्पर्श तथा शब्द; ज्योति (तेज) के शब्द, स्पर्श और रूप; जलके शब्द, स्पर्श, रूप और रस; तथा पृथ्वी के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण होते हैं।

मन्वन्तरका परिमाण—

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥

जो पहले (श्लो० ७१) १२००० दिव्य वर्ष (मनुष्यों के चारों युगों के परिमाण = ४३, २०, ००० वर्ष) का 'देवोंका युग' कहा गया है, उससे इकहत्तर गुना कालपरिमाणको इस शास्त्रमें 'मन्वन्तर' कहा गया है ॥ ७९ ॥

विमर्श—इस प्रकार १२००० दिव्य वर्ष = १ दैव युग = ४३,२०,००० मानुष वर्ष या मानुष चतुर्युग परिमाण × ७१ = ८,५२,००० दिव्य वर्ष, = ७१ दैव युग = ३०, ६७,२०, ००० मानुष वर्ष एक 'मन्वन्तर' का कालपरिमाण होता है।

मन्वन्तर आदिकी असङ्ख्यता—

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

मन्वन्तर, सृष्टि और प्रलय; ये सभी असङ्ख्य हैं। दिव्य स्थान वासी ब्रह्मा क्रीडा करते हुएके समान इस संसार की सृष्टि बारबार करते हैं ॥ ८० ॥

विमर्श—यद्यपि पुराणादि ग्रन्थोंमें १४ मन्वन्तरोंका वर्णन मिलता है, तथापि सृष्टि एवं प्रलयके असङ्ख्य होनेसे मन्वन्तर को भी असङ्ख्य कहा गया है, इस प्रकार आवृत्त सृष्टि तथा प्रलय भी असङ्ख्य हैं। आप्तधर्मा ब्रह्माके सुखजनक क्रीडा करना अनुचित होनेसे 'इव' शब्दसे मानो क्रीडा करते हुएके समान यह उल्लेख किया गया है। निष्प्रयोजन सृष्टिमें ब्रह्मा का प्रवृत्त होना उसी प्रकार

लीलामात्र है, जिस प्रकार सभास्थलमें व्याख्यान देते हुए व्यक्तिका हस्तसञ्चालन करना तथा ताली बजाना आदि है।

सत्ययुगमें धर्मकी परिपूर्णता—

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते॥ ८१॥

सत्ययुगमें सब धर्म तथा सत्य चतुष्पाद (चार पैरों-वाला अर्थात् सर्व प्रकार से स्थिर) था। अधर्मके द्वारा किसीको विद्या या धन आदिकी प्राप्ति नहीं होती थी॥

विमर्श—भगवान् वृष (बैल) को धर्म कहने से उसकी पूर्णतया स्थिति चार पैरोंके विना नहीं हो सकती, अतः यहां धर्मको चार पैरोंवाला कहकर उसकी स्थिरता का प्रतिपादन किया है अथवा तप, ज्ञान, यज्ञ और दान को धर्मका पाद रूप मानकर सत्ययुगकी स्थिरता चारोंपैरोंके होनेसे प्रतिपादित की गयी है, यहां सब धर्मोंमें श्रेष्ठ होनेसे 'सत्य' का अलग निर्देश किया गया है।

त्रेता आदि युगोंमें उत्तरोत्तर धर्मका ह्रास—

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः॥ ८२॥

अन्य त्रेता आदि तीन युगोंमें अधर्मसे धन-विद्यादिके उपार्जन (या वेद) से यज्ञ आदि धर्म प्रत्येक युगमें क्रमशः १-१ पादसे हीन हो गया तथा चोरी, असत्य और कपटसे आवृत होकर १-१ पाद कम होता गया॥ ८२॥

सत्ययुग आदिमें मनुष्योंकी पूर्णायु—

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः॥ ८३॥

सत्ययुगमें मनुष्य नीरोग, सर्वविध सिद्धियों तथा अर्थोंसे युक्त और ४०० वर्षकी आयुवाले होते हैं। तथा त्रेता आदि शेष तीन युगों (त्रेता, द्वापर और कलि) में उन (मनुष्यों) की आयु १-१ चरण (चतुर्थांश अर्थात् १००-१०० वर्ष) कम होती जाती है॥ ८३॥

विमर्श—इस प्रकार सत्ययुगमें ४०० वर्ष, त्रेतामें ३०० वर्ष, द्वापरमें २०० वर्ष तथा कलियुगमें १०० वर्ष मनुष्यों की आयु होती है। मनुष्योंकी आयुका यह परिमाण सामान्यतः कहा गया है, अत एव वह पुण्यातिशयसे अधिक तथा पापा-

तिशयसे कम भी हो सकती है, जैसा कि वर्तमानमें मनुष्योंकी औसत आयु ५० से ऊपर नहीं होती; इसी कारण वाल्मीकि रामायणमें भगवान् रामचन्द्रके ११००० वर्षोंतक राज्य करने का तथा पुराणोंमें भगीरथ, सगर, रावण, आदिके हजारों वर्ष पर्यन्त तपस्या करने का वर्णन असङ्गत नहीं होता।

युगानुसार मनुष्योंकी आयु आदिका होना—

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।

फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥

वेदोंमें कही गयी मनुष्यों की आयु, कर्मोंके फल तथा ब्राह्मण = ऋषि आदि के प्रभाव (वरदान या शाप आदि) युगोंके अनुसार होते हैं ॥ ८४ ॥

युगानुसार धर्मका होना—

अन्ये कृतयुगे(२) धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।

अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

सत्य युगमें दूसरे धर्म हैं तथा त्रेता, द्वापर और कलि में दूसरे २ धर्म हैं; इस प्रकार युगके अनुसार धर्मका ह्रास होता रहता है ॥ ८५ ॥

विमर्श—यहां धर्म शब्द यागादिका वाचक नहीं है, अपि तु पदार्थके गुणका वाचक है, जैसे सत्ययुगमें मनुष्यकी आयुका ४०० वर्ष होना तथा त्रेतामें ३०० वर्ष, इत्यादि।

पूर्वोक्तविषयका स्पष्टीकरण—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।

द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥

सत्य युगमें तप, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलिमें केवल दानको महर्षियों ने प्रधान धर्म कहा है ॥ ८६ ॥

युगोंकी ब्राह्मादि संज्ञा—

[ब्राह्मं कृतयुगं प्रोक्तं त्रेता तु क्षत्रियं युगम्।

---

१. तदुक्तम्—"दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।
………रामो राज्यमचीकरत् ॥" इति (वा० रा० १।१।१००

२. धर्मशब्दो न यागादिवचन एव किं तर्हि पदार्थगुणमात्रे वर्तते। अन्ये पदार्थानां धर्माः प्रतियुगं भवन्ति यथा चतुर्वर्षशतायुष्ट्वमित्यादि।

वैश्यो द्वापरमित्याहुः शूद्रः कलियुगः स्मृतः ॥ ६ ॥]

[सत्ययुग ब्राह्म (ब्राह्मण), त्रेता क्षत्रिय, द्वापर वैश्य और कलि शूद्र कहे गये हैं ॥ ६ ॥]

ब्राह्मणादिके लिये पृथक् २ कर्मोंकी सृष्टि—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥

उस महातेजस्वी ब्रह्माने इस सम्पूर्ण सृष्टिकी रक्षाके लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके अलग-अलग कर्मोंकी सृष्टि की ॥ ८७ ॥

ब्राह्मणके कर्म—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥

(वेद) पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ कराना, करना, दान देना और लेना; इन कर्मोंको ब्राह्मणोंके लिये बनाया ॥ ८८ ॥

क्षत्रियोंके कर्म—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥

प्रजा (तथा आर्त आदि) की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, (वेद) पढ़ना, विषय (गीत-नाच आदि उपभोग्य कर्म वा वस्तुओं) में आसक्ति नहीं रखना; संक्षेपमें इन कर्मोंको क्षत्रियोंके लिये बनाया ॥ ८९ ॥

वैश्योंके कर्म—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥

पशुओंकी रक्षा (पालन-पोषण, क्रय-विक्रयादि) करना, दान देना, यज्ञ करना, (वेद) पढ़ना, व्यापार करना, व्याजलेना और खेती करना; इन कर्मोंको वैश्योंके लिये बनाया ॥ ९० ॥

शूद्रके कर्म—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥

ब्रह्माने इन (ब्राह्मण आदि तीनों) वर्णोंकी अनिन्दक रहते हुए सेवा करना ही शूद्रोंके लिये प्रधान कर्म बनाया ॥ ९१ ॥

विमर्श—दान आदि कर्म भी शूद्रोंको वर्जित नहीं है, किन्तु ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंकी सेवा ही उसका प्रधान कर्म है, यह बतलानेके लिये यहां पर 'एक' शब्द कहा गया है, अतः उक्त 'एक' शब्दको सङ्ख्यार्थक न मानकर प्रधानार्थक मानना चाहिये।

सर्वाङ्गोंमें मुखकी श्रेष्ठता—

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।

तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ९२ ॥

ब्रह्माने पुरुषको अन्य जीवोंसे श्रेष्ठ बतलाया, उसमें भी पुरुषके नाभिसे ऊपरके भाग (अङ्ग) को पवित्र बतलाया और नाभिसे ऊपरके भागसे भी अधिक पवित्र मुखको बतलाया ॥ ९२ ॥

वर्णोंमें ब्राह्मणकी श्रेष्ठता—

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।

सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

(ब्रह्माके) मुखसे उत्पन्न होनेसे, (क्षत्रियादि तीनों वर्णोंकी अपेक्षा पहले उत्पन्न होनेके कारण) ज्येष्ठ होनेसे और वेदके धारण करनेसे धर्मानुसार ब्राह्मण ही सम्पूर्ण सृष्टिका स्वामी (सबमें श्रेष्ठ) होता है ॥ ९३ ॥

ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मणोत्पत्तिकथन—

तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत्।

हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥

स्वयम्भु उस ब्रह्माने हव्य (देव-भाग) तथा कव्य (पितृ-भाग) को पहुंचानेके लिये और सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षाके लिये तपस्या कर सर्वप्रथम ब्राह्मणको ही अपने मुखसे उत्पन्न किया ॥ ९४ ॥

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।

कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥ ९५ ॥

जिस (ब्राह्मण) के मुख से देवतालोग हव्यको तथा पितर लोग कव्यको खाते हैं, उस (ब्राह्मण) से अधिक श्रेष्ठ कौन प्राणी होगा ? ॥ ९५ ॥

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥

भूतों (पृथ्वी आदि पांच महाभूतों) में प्राणी (प्राणधारी जीव) श्रेष्ठ हैं, प्राणियोंमें बुद्धिजीवी (बुद्धिसे काम करनेवाले जीव) श्रेष्ठ हैं, बुद्धिजीवियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं ॥ ९६ ॥

ब्रह्मज्ञानीकी श्रेष्ठता—

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥

ब्राह्मणोंमें भी विद्वान् श्रेष्ठ हैं, विद्वानोंमें कृतबुद्धि (शास्त्रोक्त कर्तव्यमें बुद्धि रखनेवाले) श्रेष्ठ हैं, कृतबुद्धियोंमें अनुष्ठान (शास्त्रोक्त कर्तव्यके अनुसार आचरण) करनेवाले श्रेष्ठ हैं और उनमें भी ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं ॥ ९७ ॥

[तेषां न पूजनीयोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
तपोविद्याविशेषेण पूजयन्ति परस्परम् ॥ १० ॥
ब्रह्मविद्भ्यः परं भूतं न किंचिदिह विद्यते ॥]

[तीनों लोकोंमें कोईभी ब्रह्मज्ञानियों का पूज्य नहीं है ॥ तपोविद्याविशेषसे वे आपसमें पूजते हैं ॥ १० ॥ इससे सिद्ध होता है कि—ब्रह्मज्ञानियोंसे बड़ा इस संसारमें कुछभी नहीं है ॥]

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

केवल ब्राह्मणकी उत्पत्ति ही धर्मकी नित्य देह है; क्योंकि धर्मके लिये उत्पन्न वह (ब्राह्मण) मोक्षलाभके योग्य होता है ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९ ॥

उत्पन्न होता हुआ वह ब्राह्मण पृथ्वी पर श्रेष्ठ माना जाता है; क्योंकि वह धर्मकी रक्षाके लिये समर्थ होता है ॥ ९९ ॥

समस्त सम्पत्तिका स्वामी ब्राह्मण—

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥

पृथ्वीपर जो कुछ भी है, वह सब कुछ ब्राह्मणका है अर्थात् ब्राह्मण उसे अपने धनके समान मानता है। ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न तथा कुलीन होनेके कारण वह सब धन (ग्रहण करने) का अधिकारी होता है ॥ १०० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥

ब्राह्मण अपना ही (अन्नादि) खाता है, अपना ही (वस्त्र आदि) पहनता है, अपना ही (धनादि) दान करता है तथा दूसरे व्यक्ति ब्राह्मणकी दयासे सब (अन्न आदि पदार्थों) का भोग करते हैं ॥ १०१ ॥

इस शास्त्रकी रचनाका उद्देश्य तथा प्रशंसा—

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ।
स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

सर्वशास्त्रज्ञाता स्वयम्भूपुत्र मनुने उस ब्राह्मण तथा शेष (क्षत्रिय आदि तीन वर्णों) के कर्मज्ञानके लिये इस शास्त्रको बनाया ॥ १०२ ॥

इसको पढ़नेका अधिकारी ब्राह्मण—

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येन केनचित् ॥ १०३ ॥

विद्वान् ब्राह्मणको यह धर्मशास्त्र यत्नपूर्वक तथा (अधिकारी) शिष्योंको यथायोग्य पढ़ाना चाहिये, अन्य कोई (क्षत्रियादि तीनों वर्ण) इस शास्त्रको नहीं पढ़ावें ॥१०३॥

विमर्श—इस धर्मशास्त्रके अध्ययन के लिये क्षत्रिय तथा वैश्यको भी अधिकार है, किन्तु व्याख्यान या अध्यापन करनेका उन्हें (क्षत्रिय तथा वैश्य को) अधिकार नहीं है। यह वचन उक्तानुवादमात्र है ऐसा मेधातिथिका मत है, किन्तु वह द्विजमात्रको यह शास्त्र पढना चाहिये तथा ब्राह्मण मात्रको पढ़ाना तथा इसका व्याख्यान करना चाहिये यह अर्थ अपेक्षित होनेसे ठीक नहीं है। 'तीनों वर्णोंको अध्ययन करना चाहिये' (१०।१) यह अग्रिम वचन भी वेद-विषयक है, अतः 'ब्राह्मणको ही यह धर्मशास्त्र पढाना चाहिये' इस अर्थके आवश्यक होनेसे इस वचनको अनुवादमात्र मानना मेधातिथिका दुराग्रह ही है, यह मन्वर्थमुक्तावलीकारका मत है।

यहां 'अध्येतव्यम्' (पढ़ना चाहिये) पदमें 'तव्यत्' प्रत्यय 'अर्ह' (योग्य) अर्थमें ही हुआ है, 'विधि' में नहीं, अतः यह वचन 'अर्थवाद' (प्रशंसापरक) है, 'विधिपरक' नहीं। जैसे 'राजभोजनाः शालयः' (राजाका भोज्य पदार्थ चावल है) इस वाक्यमें 'शालि' भोजनका राजातिरिक्तके लिये निषेध नहीं किया जाता, अपि तु 'शालि' (चावल) की प्रशंसा मात्र की जाती है; वैसे ही 'नान्येन केनचित्, (दूसरे किसीको नहीं पढाना चाहिये) इस वाक्यके द्वारा भी ब्राह्मणातिरिक्तके लिये निषेध नहीं किया गया है, किन्तु वह ब्राह्मण सब वर्णोंमें श्रेष्ठ है और यह शास्त्र भी सब शास्त्रोंमें श्रेष्ठ है, अतः वैसे सर्व श्रेष्ठ ब्राह्मणको ही इस शास्त्रका अधिकारी होना अभीष्ट माना गया है, सामान्य व्यक्तिको नहीं। अतः व्याकरण-न्याय-मीमांसादिके अध्ययनसे परिपक्व बुद्धिवाले एवं प्रयत्नशील व्यक्तिको ही इस शास्त्रके प्रवचनका अधिकार है, अन्य व्यक्तिको चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो इसका अधिकारी होना शास्त्रकारको अभीष्ट नहीं है। इस कारण यहांपर 'अध्ययन' से 'श्रवण' करना लक्षित होता है, विद्वान् होना ही इस शास्त्रके लिये उपयोगी है। ...., अतः 'द्विजमात्रका इस शास्त्रमें अधिकार है' यह पूज्यपाद नेनेशास्त्री का मत है।

इस शास्त्रके अध्ययनका फल—

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः।
मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥

इस शास्त्रको पढ़ता हुआ इसके अनुसार नित्य व्रतानुष्ठान करनेवाला ब्राह्मण मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म-दोषोंसे लिप्त नहीं होता अर्थात् उक्त दोषोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १०४ ॥

पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान्।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥ १०५ ॥

वह (इस शास्त्रको पढ़ता हुआ) ब्राह्मण (श्राद्ध आदि में भोजन समयमें बैठनेसे पङ्क्तिको दूषित करनेवाले ब्राह्मणोंसे दूषित हुई) पङ्क्तिको, अपने कुलमें उत्पन्न हुए (पिता आदि) तथा उत्पन्न होनेवाले (पुत्र आदि) सात पीढ़ियों तक के वंशजोंको पवित्र करता है और सम्पूर्ण पृथ्वीको भी (सत्पात्र होनेसे) ग्रहण करने के योग्य होता है ॥ १०५ ॥

[यथा त्रिवेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा।
अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता ॥ ११ ॥]

[तीनों वेदोंके अध्ययनके समान इस धर्मशास्त्र का अध्ययन है, स्वर्ग के इच्छुक ब्राह्मण को अवश्य ही इसका अध्ययन करना चाहिये ॥ ११ ॥]

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम् ।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥

स्वस्त्ययन (अभीष्टार्थके अविनाशका स्थान अर्थात् प्राप्त करानेवाला) यह धर्मशास्त्र बुद्धिवर्द्धक, यशोवर्द्धक, आयुर्वर्द्धक और मोक्षका साधक है ॥ १०६ ॥

अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम् ।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥

इस धर्मशास्त्रमें सम्पूर्ण धर्म, कर्मोंके गुण तथा दोष और चारों वर्णोंके सनातन आचार बतलाये गये हैं ॥ १०७ ॥

आचारकी प्रधानता—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥ १०८ ॥

वेदों तथा स्मृतियोंमें कहा गया आचार ही श्रेष्ठ धर्म है, आत्महिताभिलाषी द्विजको इस (आचारके पालन) में प्रयत्नवान् होना चाहिये ॥ १०८ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ १०९ ॥

आचारभ्रष्ट ब्राह्मण वेदके फलको नहीं प्राप्त करता और आचारवान ब्राह्मण सम्पूर्ण वेदोक्त फलका भागी होता है ॥ १०९ ॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

इस प्रकार आचारसे धर्मलाभ देखकर महर्षियोंने तपस्याके श्रेष्ठ मूल आचार का ग्रहण किया ॥ ११० ॥

इस शास्त्रकी अध्यायानुसार विषयसूची—

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च ।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥

संसारकी उत्पत्ति (प्रथमाध्यायका विषय); संस्कारविधि (जातकर्म आदि

षोडश संस्कारोंका विधान), ब्रह्मचर्य आदि व्रतका आचरण और गुरुका अभिवादन सेवन आदि उपचार (द्वितीयाध्यायका विषय); ब्रह्मचर्य व्रतको समाप्तकर गुरुकुलसे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके पूर्व स्नानरूप संस्कार विशेषका श्रेष्ठ विधान ॥

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् ।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम् ॥ ११२ ॥

विवाह, आठ प्रकारके (३।२७–३४) विवाहोंके लक्षण, महायज्ञ (वैश्वदेव आदि पञ्च महायज्ञ—३।७०) का विधान, श्राद्धकी नित्य विधि (तृतीयाध्यायका विषय) ॥ ११२ ॥

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च ।
भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥

जीविकाओं (ऋत, अमृत, प्रमृत, आदि—४।५–६) के लक्षण, गृहाश्रमियों (गृहस्थों) के नियम (चतुर्थाध्यायका विषय) भक्ष्य (भक्षण करने योग्य अन्न दुग्ध दही आदि) और अभक्ष्य (लहसुन, मांस, उच्छिष्ट आदि), शौच (मृत्युके बाद ब्राह्मणादिकी दशाह कर्मादि द्वारा शुद्धि], जल-मिट्टी आदिके द्वारा द्रव्योंकी शुद्धि—॥ ११३ ॥

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च ।
राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥ ११४ ॥

स्त्रियोंका धर्मोपाय (पञ्चमाध्यायका विषय); वानप्रस्थ-धर्म, यति-धर्म (मोक्ष), संन्यास-धर्म (षष्ठाध्यायका विषय); राजाका सम्पूर्ण धर्म (सप्तमाध्यायका विषय); कर्तव्य अर्थात् व्यवहार (लिये तथा दिये गये ऋण) का विशेष निर्णय ॥ ११४ ॥

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि ।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११५ ॥

साक्षियों (गवाहों) से प्रश्न करने (विवाद विषयक प्रश्न पूछने या जिरह करने) का विधान (अष्टमाध्यायका विषय), पत्नी और पतिका (संयुक्त एवं पृथक् रहने पर) धर्म, विभाग (बटवारा अर्थात् हिस्सेको यथायोग्य अधिकारियोंको बांटने) का धर्म, द्यूत (जुआ) तथा शरीरस्थ कण्टकके समान चोर (डाकू, जेबकट, विष देकर यात्री आदिका धन लेनेवाले आदि) का निवारण ॥ ११५ ॥

वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च संभवम् ।

आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ११६ ॥

वैश्य तथा शूद्रोंका अपना-अपना धर्मानुष्ठान (नवमाध्यायका विषय); वर्ण-सङ्कर (भिन्न-भिन्न जातिवाले स्त्री पुरुषोंके संभोगसे सन्तान—१०।८-४०) की उत्पत्ति, आपत्तिकालमें जीविका-साधनोपदेश (दशमाध्यायका विषय); प्रायश्चित्तका विधान (एकादशाध्यायका विषय);—॥ ११६ ॥

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवम् ।

निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥

वर्णानुसार तीन प्रकारकी (उत्तम, मध्यम और अधम) सांसारिकगति, मोक्षदायक आत्मज्ञान, विहित तथा निषिद्ध कर्मोंके गुण-दोषोंकी परीक्षा,— ॥

देशधर्माञ्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।

पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ ११८ ॥

देश-धर्म (किसी देश-विशेषमें नियत धर्म-विशेष), जाति-धर्म (ब्राह्मणादि जाति-विशेषके लिये नियत धर्मविशेष), पाखण्डियों (वेद तथा धर्मशास्त्रोंके प्रतिकूल आचरण करने वालों) के समुदायोंका धर्म (द्वादशाध्यायका विषय), इस शास्त्र में मनु भगवान् ने कहा है ॥ ११८ ॥

प्रथमाध्यायका उपसंहार—

यथेदमुक्तवाञ्छास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ।

तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—पूर्व कालमें मेरे पूछनेपर भगवान् मनुने इस शास्त्रको जैसा मुझसे कहा था, वैसा ही आपलोग भी मुझसे इस धर्मशास्त्रको मालूम करें ॥ ११९ ॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् संसारोत्पत्तिवर्णनम् ।

श्रीगणेशकृपादृष्ट्या 'प्रथमे' पूर्णतामगात् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयाध्यायः

धर्मसामान्य का लक्षण—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) धर्मात्मा एवं रागद्वेषसे रहित विद्वानों-द्वारा सर्वदा सेवित और हृदयसे अच्छी तरह जाना गया जो धर्म है, उसे (तुमलोग) सुनो ॥ १ ॥

सकाम कर्म का निषेध वेदादि प्राप्ति की काम्यता—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

कर्म-फलकी इच्छा करना श्रेष्ठ नहीं, किन्तु इच्छाका अभाव (त्याग) भी नहीं है । वेदका स्वीकार (ज्ञान) और वेदोक्त कर्म करना भी इच्छा से ही होता है ॥२॥

व्रतोंकी सङ्कल्पमूलकता—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

इच्छा सङ्कल्प-मूलक (इच्छाका मूल सङ्कल्प ही) है, यज्ञ सङ्कल्पसे होते हैं और सब व्रत एवं (चतुर्थाध्यायमें वक्ष्यमाण) यम आदि सङ्कल्पसे ही होते हैं ॥ ३ ॥

क्रियाकी काम-सापेक्षता—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

इस संसारमें इच्छाके विना किसी मनुष्यका कोई काम कभी भी नहीं देखा जाता है । मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब इच्छाकी चेष्टा है (इच्छाके द्वारा ही करता है) ॥ ४ ॥

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥

उन (शास्त्रोक्त) कर्मोंमें अच्छी तरह नियत मनुष्य मोक्षको प्राप्त करता है और इस संसारमें इच्छानुसार सब कर्मोंको प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

[असद्वृत्तस्तु कामेषु कामोपहतचेतनः ।
नरकं समवाप्नोति तत्फलं न समश्नुते ॥ १ ॥
तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रोक्तं यथाविध्युपपादितम् ।
काम्यं कर्मेह भवति श्रेयसे न विपर्ययः ॥ २ ॥]

[यदि तृष्णासे नष्ट बुद्धिवाला ईप्सित विषयोंके लिये अवैधानिक अर्थात् यथेच्छ आचरण करता है, तो वह नरक जाता है, और उसे ईप्सित फल भी नहीं मिलता है ॥ १ ॥ इसलिये श्रुति और स्मृतिसे बताया हुआ काम्य कर्म यथाविधि करनेसे कल्याणके लिये होता है, अन्यथा नहीं ॥ २ ॥]

धर्मके प्रमाण—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

सब वेद, उन्हें (वेदोंको) जाननेवालों (मनु आदि) की स्मृति और, ब्राह्मणत्व आदि तेरह प्रकारके शील[1] या राग-द्वेष-शून्यता, महात्माओंका आचरण और अपने मनकी प्रसन्नता (जहाँ धर्मशास्त्रोंमें अनेक पक्ष कहे गये हैं, वहाँ जिस पक्षवाले विधानको स्वीकार करनेमें अपना मन प्रसन्न हो); ये सब धर्मके मूल हैं ॥ ६ ॥

धर्मोंकी वेदमूलकता—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

मनुने जिस किसी (ब्राह्मण आदि) का जो धर्म कहा है, वह सब धर्म वेदोंमें कहा गया है । वे मनु सब वेदोंके अर्थोंके ज्ञाता हैं (अथवा-वह सब ज्ञानस्वरूप है ॥ ७ ॥

---

१. "तदुक्तं हारीतेन—'ब्रह्मण्यता, पितृभक्तिता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता, मृदुता, अपारुष्यं, मित्रता, प्रियवादित्वं, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्यं, प्रशान्ति'श्चेति त्रयोदशविधं शीलम्" इति (म० मु०)॥

धर्म-निश्चयके विषयमें विद्वानोंके कर्तव्य—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥

विद्वान् मनुष्य वेदार्थज्ञानोचित सम्पूर्ण-शास्त्र-समूहको व्याकरण-मीमांसादिके ज्ञानरूपी नेत्रोंसे सब देखकर (विचारकर) वेद-प्रमाणसे अपने कर्तव्य धर्मको निश्चयकर अनुष्ठान करे ॥ ८ ॥

श्रुति-स्मृत्युक्त धर्मके अनुष्ठानका फल—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

वेदों और स्मृतियोंमें कहे गये धर्मका अनुष्ठान (पालन) करता हुआ मनुष्य इस संसारमें यश पाता है और धर्मानुष्ठानजन्य स्वकर्मादिके अनुत्तम सुखको पाता है (अतएव वेद-स्मृति-प्रतिपादित धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये) ॥ ९ ॥

श्रुति और स्मृतिका परिचय—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ १० ॥

(ऋक् आदि) वेदको श्रुति तथा (मनु आदिके द्वारा कथित) धर्मशास्त्रको स्मृति जानना चाहिये, वे सभी विषयोंमें प्रतिकूल तर्कके योग्य नहीं हैं (उनके किसी विषयमें प्रतिकूल तर्क नहीं करना चाहिये, क्योंकि उन दोनों (श्रुति = वेद और स्मृति = धर्मशास्त्र) से ही धर्म प्रादुर्भूत हुआ है) ॥ १० ॥

नास्तिक-निन्दा—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥

जो मनुष्य तर्कशास्त्रके आधारपर उन दोनों (वेद और स्मृति) का अपमान करे, नास्तिक एवं वेदनिन्दक वह मनुष्य सज्जनोंके द्वारा बहिष्कृत करने योग्य है ॥ ११ ॥

धर्मके चतुर्विधलक्षण—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

वेद, स्मृति, आचार और मनकी प्रसन्नता (किसी विषयमें जहाँ एकाधिक पक्ष बतलाये गये हों , वहाँ जिस पक्षके ग्रहण करनेमें अपने मनकी प्रसन्नता हो); ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण हैं ॥ १२ ॥

श्रुति-स्मृतिके विरोधमें श्रुतिकी प्रामाणिकता—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥

अर्थ और काम (इच्छा) में अनासक्त मनुष्योंके लिये धर्मका उपदेश किया जाता है, धर्मके जिज्ञासुओंके लिये वेद ही मुख्य प्रमाण है ॥ १३ ॥

श्रुति-द्वयके विरोधमें दोनोंकी प्रामाणिकता—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ १४ ॥

जहाँ पर श्रुतिद्वय (दो वेदवचनों) का परस्परमें विरोध होता हो, वहाँपर वे दोनों ही वचन धर्म हैं, क्योंकि मनु आदि विद्वानोंने उन दोनोंको ही सम्यक् (उत्तम) ज्ञान बतलाया है ॥ १४ ॥

श्रुति-द्वय-विरोधका दृष्टान्त—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

"सूर्यके उदय होनेपर, सूर्यके उदय नहीं होनेपर (जब पूर्व दिशा लालिमा-युक्त हो जाय तथा कहीं २ एक-दो तारे भी दृष्टिगोचर हो रहे हों तब) और अध्युषित कालमें (न तो सूर्योदय ही हुआ हो और न तो तारे ही दृष्टिगोचर हो रहे हों; ऐसे समयमें) सर्वथा यज्ञ (अग्निहोत्र-सम्बन्धी हवन) करना चाहिये" ये तीनों वैदिक श्रुतियाँ हैं (यहाँ उक्त तीनों समय परस्परमें सर्वथा विरुद्ध हैं, अतएव इस प्रकारका द्वैध अर्थात् विकल्प वचन आनेपर उक्त तीनों समयोंमेंसे किसी भी समयमें यज्ञ (अग्निहोत्र-सम्बन्धी हवन करना धर्मशास्त्रके अनुकूल ही है) ॥ १५ ॥

[श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु यथास्मृति ।
तस्मात्प्रमाणं मुनयः प्रमाणं प्रथितं भुवि ॥ ३ ॥

धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः श्रेष्ठानां साहसं तथा।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानाः सीदन्त्यपरधर्मजाः ॥ ४ ॥]

[मुनि लोग सब वेदोंका साक्षात्कार करते हैं, और अन्य लोग स्मृतिके अनुसार वेदों की कल्पना करते हैं; इसलिये सभी लोगों में मुनि लोगही प्रमाण हैं, और वेही प्रमाण तथा पृथ्वीमें ख्यात हैं ॥ ३ ॥ 'सूर्यके उदित या अनुदित रहने पर हवन किया जाय' इत्यादि धर्मोंमें व्यतिक्रम (किसी को कुछ करते तो किसी को कुछ करते) देखा गया है; और श्रेष्ठ लोगों का साहस भी (यही कल्याणकारी है तो यही कल्याणकारी है ऐसा कहना भी) देखा गया है। इसलिये इनको अच्छी तरह समझ कर (स्वस्य च प्रियमात्मनः) इसके अनुसार चलने वाले कल्याण पाते हैं। और जो इनमें द्वैध देखकर अन्य धर्मका अवलम्बन करते हैं, वे 'परधर्मो भयावहः' के अनुसार क्लेश पाते हैं ॥ ४ ॥]

वैदिक संस्कारसे संस्कृत ही इस धर्मशास्त्रका अधिकारी—

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

गर्भाधान संस्कारसे आरम्भकर अन्त्येष्टि (मरण) संस्कार पर्यन्त वेदमन्त्रोंके द्वारा पहलेसें ही जिसके संस्कार का विधान है, उसी (द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का इस शास्त्र (शास्त्रके पढ़ने तथा सुननेमें) अधिकार है; दूसरे किसी (चाण्डाल या शूद्रादि) का नहीं (अध्यापन के लिये अध्ययन करनेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको ही है, यह बात पहले (१।१०३ में) ही कह आये हैं) ॥१६॥

ब्रह्मावर्त देश—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

सरस्वती तथा दृषद्वती; इन दो देव-नदियोंके मध्यका जो देश है, उसे देव-निर्मित (देव-नदी-निर्मित) "ब्रह्मावर्त" कहते हैं ॥ १७ ॥

सदाचारका लक्षण—

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

उस देशमें ब्राह्मणादि वर्णों और अम्बष्ठ-रथकार आदि वर्णसङ्कर जातियोंका कुलपरम्परागत (आधुनिक नहीं) जो आचार है, वही "सदाचार" कहा जाता है ॥ १८ ॥

[विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्थादिष्टकारणे ।
स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषा संभवश्रुतिः ॥ ५ ॥]

[प्रत्यक्ष विषयोंसे इष्ट सम्पादनके लिये जो (चार्वाकों की) वेद विरुद्ध और सज्जन निन्दित स्मृति है, वह श्रुति मूलक नहीं है, अतः उसे नहीं मानना चाहिये। किन्तु वेदमूलक जो यह स्मृति है उसे ही मानना चाहिये ॥ ५ ॥]

कुरुक्षेत्रादि ब्रह्मर्षि देश—

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल (पञ्जाब या कान्यकुब्ज अर्थात् कन्नौजका [समीपवर्ती भाग) और शूरसेन देश; यह "ब्रह्मर्षि देश" ब्रह्मावर्तसे कुछ कम उसके बादमें है ॥ १९ ॥

उन देशोंके ब्राह्मणोंसे आचार-शिक्षा-ग्रहणोपदेश—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

इन देशों (श्लो० १७ तथा १९ में कथित) में उत्पन्न ब्राह्मणोंसे पृथ्वीपर सब मनुष्य अपने २ चरित्र सीखें (वहाँके निवासी ब्राह्मण जैसा कहें तथा स्वयं आचरण करें, वैसा ही पृथ्वीमात्रके मनुष्य करें) ॥ २० ॥

मध्यदेश—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

(उत्तर-दक्षिण भागसे क्रमशः) हिमालय और विन्ध्याचलके बीच, विनशन (सरस्वती नदीके अन्तर्धान होनेका देश कुरुक्षेत्र) के पूर्व और प्रयागके पश्चिमका देश "मध्यदेश" कहा गया है ॥ २१ ॥

आर्यावर्त देश—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

(पूर्व-पश्चिम भागसे क्रमशः) पूर्व समुद्र तथा पश्चिम समुद्र और उन्हीं दोनों पर्वतों (हिमाचल और विन्ध्याचल) के मध्य स्थित देशको पण्डितलोग "आर्यावर्त" देश कहते हैं ॥ २२ ॥

यज्ञिय और म्लेच्छ देश—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥

जहाँ पर काला मृग स्वभावसे ही (कहीं अन्यत्रसे लाकर रखा या छोड़ा गया नहीं) विचरण करता है, वह "यज्ञिय" (यज्ञके योग्य) देश है; इसके अतिरिक्त "म्लेच्छदेश" है ॥ २३ ॥

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः ॥ २४ ॥

द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, वे चाहे इन देशोंमें उत्पन्न हों चाहे अन्यत्र कहीं भी उत्पन्न हों) इन देशोंका आश्रय करें अर्थात् इन देशोंमें निवास करें परन्तु शूद्र तो वृत्तिके लिये कहीं भी निवास करे ॥ २४ ॥

वर्णादि-धर्म—

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) मैंने आपलोगोंसे धर्मके कारण तथा सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्तिको संक्षेपमें कहा। अब वर्ण-धर्मोंको (१ वर्ण-धर्म, २ आश्रम-धर्म, ३ वर्णाश्रम-धर्म, ४ गौण-धर्म और ५ नैमित्तिक धर्मोंको) सुनो ॥ २५ ॥

विमर्शः—१. वर्ण-धर्म—ब्राह्मण आदि वर्णमात्रके आश्रयसे प्रवृत्त होनेवाला धर्म; यथा—यज्ञोपवीत आदि। २. आश्रम-धर्म—ब्रह्मचर्य आदि आश्रममात्रसे प्रवृत्त होनेवाला धर्म; यथा—भिक्षा-वृत्ति तथा दण्ड-धारण आदि। ३. वर्णाश्रम-

धर्म—ब्राह्मण आदि वर्ण तथा ब्रह्मचर्य आदि आश्रम—इन दोनोंके आश्रयसे प्रवृत्त होनेवाला धर्म; यथा-मौञ्जी मेखला तथा पालाश-पैप्पल (पलाशका और पीपल का दण्ड आदि । ४. गुण-धर्म—गुणोंके आश्रयसे प्रवृत्त होनेवाला धर्म; यथा-अभिषिक्त राजाका प्रजापालन आदि और ५. नैमित्तिक धर्म-एक निमित्तके आश्रयसे प्रवृत्त होनेवाला धर्म; यथा-प्रायश्चित्त विधान आदि[1]।

वैदिक मन्त्रोंसे द्विजोंके संस्कारका विधान—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

इस लोकमें तथा मृत्युके बाद परलोकमें पवित्र करनेवाला ब्राह्मणादि वर्णोंका गर्भाधान आदि शरीर-संस्कार पवित्र वेदोक्त मन्त्रोंसे करना चाहिये ॥ २६ ॥

संस्कारका पापक्षय कारणत्व—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

गर्भ-शुद्धिकारक हवन, चूडाकरण (मुंडन) और मौञ्जीबन्धन (यज्ञोपवीत) संस्कारोंसे द्विजोंके वीर्य एवं गर्भसे उत्पन्न दोष नष्ट होते हैं ॥ २७ ॥

स्वाध्यायादिका मोक्षकारणत्व—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

वेदाध्ययनसे, मधु-मांसादिके त्यागरूप व्रत अर्थात् नियमसे, प्रातः-सायं-कालीन हवनसे, त्रैविद्य-नामक व्रतसे, ब्रह्मचर्यावस्थामें देवर्षि-पितृ-तर्पण आदि

---

१. "तदुक्तं भविष्यपुराणे—
वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम् । वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ॥
वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । वर्णाश्रमः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ! ॥
यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते । स खल्वाश्रमधर्मस्तु भिक्षादण्डादिको यथा ॥
वर्णत्वमाश्रमत्वञ्च योऽधिकृत्य प्रवर्तते । स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्जीया मेखला यथा ॥
यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते । यथा मूर्द्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् ॥
निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा ॥
इति (म० मु०)

क्रियाओंसे, गृहस्थावस्थामें पुत्रोत्पादनसे, (३।६८-७० में वक्ष्यमाण ब्रह्मयज्ञ आदि) महायज्ञोंसे और ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंसे ब्रह्म-प्राप्तिके योग्य यह शरीर बनाया जाता है ॥ २८ ॥

नव-जात बालकोंका जातकर्म संस्कार—

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥

नाभिच्छेदन (नार काटने) के पहले पुरुषका 'जातकर्म' संस्कार किया जाता है और सोना, घी तथा मधु (शहद) का (अपने गृह्योक्त) मन्त्रोंसे (इन नवोत्पन्न बच्चोंको) प्राशन कराया जाता है ॥ २९ ॥

नाम-करणसंस्कार—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

जन्मसे दशवें ('शङ्ख' के मतसे ग्यारहवें) या बारहवें दिन उस बालकका 'नामकरण' संस्कार किया जाता है । (उन दिनोंमें नहीं करनेपर ज्योतिःशास्त्रमें [1]कहे गये शुभ तिथि, मुहूर्त और गुणयुक्त नक्षत्रमें 'नामकरण' किया जाता है ॥ ३० ॥

प्रत्येक वर्णके नामकरणका पृथक् २ वर्णन—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणका मङ्गल-सूचक शब्दसे युक्त, क्षत्रियका बल-सूचक शब्दसे युक्त, वैश्यका धन-वाचक शब्दसे युक्त और शूद्रका निन्दित-शब्दसे युक्त 'नामकरण' करना चाहिये ॥ ३१ ॥

---

१. तदुक्तं मुहूर्तचिन्तामणौ—

"तज्जातकर्मादि शिशोर्विधेयं पर्वाख्यरिक्तोनतिथौ शुभेऽह्नि ।
एकादशे द्वादशकेऽपि घस्रे मृदुध्रुवक्षिप्रचरोडुषु स्यात् ॥" इति (५।११)

विशेषविवरणं मुहूर्तचिन्तामणेः पीयूषधाराटीकायां ग्रन्थान्तरेषु च द्रष्टव्यं जिज्ञासुभिरिति ।

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणका 'शर्मा' शब्दसे युक्त, क्षत्रियका रक्षा-शब्दसे युक्त, वैश्यका पुष्टि-शब्दसे युक्त और शूद्रका प्रेष्य (दास) शब्दसे युक्त उपनाम (उपाधि) करना चाहिये ॥ ३२ ॥

विमर्शः—क्रमशः इनका उदाहरण-ब्राह्मण का यथा-शुभ शर्मा, मङ्गलदेव, क्षत्रिय का यथा-बलवर्मा, विजय प्रतापवर्मा······ वैश्यका यथा-वसुभूति, कुबेरदत्त,······और शूद्रका यथा-दीनदास,···[1] ॥ ३२ ॥

स्त्रियोंका नामकरण—

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥

स्त्रियोंका नाम सुखपूर्वक उच्चारण करने योग्य, अक्रूर तथा स्पष्ट अर्थवाला, मनोहर, मङ्गलसूचक, अन्तमें दीर्घ अक्षर (स्वर) वाला और आशीर्वादसे युक्त अर्थवाला करना चाहिये (यथा-यशोदा, शान्ता, सुषमा, मनोरमा,······) ॥३३॥

बालकोंको प्रथमबार घरसे बाहर निकालना और अन्नप्राशन संस्कार—

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ३४ ॥

चौथे मासमें बालकोंको (सर्वप्रथम) घरसे बाहर निकालना चाहिये (इस संस्कारमें मुख्यतः सूर्य भगवान् का दर्शन कराना उचित है) और छठें मासमें अन्नप्राशन कराना चाहिये; अथवा जैसा कुलाचार हो, वैसे ही उक्त संस्कारोंको कराना चाहिये ॥ ३४ ॥

संस्कारका समय—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥

**१. तथा च यमः—"शर्म देवश्च विप्रस्य वर्म त्राता च भूभुजः ।
भूतिर्दत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत् ॥" इति
विष्णुपुराणेऽपि—"शर्मवद्ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम् ।
गुप्त दासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः" इति म० मु० ॥**

सभी द्विजाति बालकोंका 'चूडाकरण' (मुण्डन) संस्कार वेदके अनुसार पहले या तीसरे वर्ष (अथवा कुलाचारानुकूल समय) में कराना चाहिये ॥ ३५ ॥

उपनयन संस्कारका समय—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण-बालकका गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रिय-बालकका गर्भसे ग्यारहवें वर्षमें और वैश्य-बालकका गर्भसे बारहवें वर्षमें 'उपवीत' (यज्ञोपवीत) संस्कार कराना चाहिये ॥ ३६ ॥

अधिक ज्ञानादिप्राप्तिके लिये प्रतिवर्णके यज्ञोपवीतका अन्य समय—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥

वेदाध्ययन और ज्ञानाधिक्य-प्राप्ति आदि तेजके लिये ब्राह्मण-बालकका गर्भसे पाँचवें वर्षमें; हाथी, घोड़ा और पराक्रम आदि प्राप्तिके लिये क्षत्रिय-बालकका गर्भसे छठे वर्षमें और अधिक धन तथा खेती आदिकी प्राप्तिके लिये वैश्य-बालकका गर्भसे आठवें वर्षमें 'यज्ञोपवीत' संस्कार कराना चाहिये ॥ ३७ ॥

यज्ञोपवीत संस्कारका अन्तिमकाल—

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

सोलह वर्षतक ब्राह्मणकी, बाईस वर्षतक क्षत्रियकी और चौबीस वर्षतक वैश्यकी सावित्रीका उल्लङ्घन नहीं होता। (अतः उक्त अवस्था होनेके पहले ही तीनों वर्णोंका यज्ञोपवीत संस्कार हो जाना चाहिये) ॥ ३८ ॥

व्रात्य लक्षण—

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥

इसके बाद यथासमय (ब्राह्मण १६, क्षत्रिय २२ और वैश्य २४ वर्ष तक) उपवीत (यज्ञोपवीत) संस्कारसे रहित ये तीनों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) सावित्री से पतित (भ्रष्ट) तथा शिष्टोंसे निन्दित होकर "व्रात्य" कहलाते हैं ॥३९॥

व्रात्यके साथ व्यवहार-त्याग आवश्यक—

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥

अपवित्र (श्लो० ३८ में कथित यज्ञोपवीत-समय बीत जानेपर प्रायश्चित्त-ग्रहण-पूर्वक यज्ञोपवीत-धारण नहीं किये हुए) इन व्रात्योंके साथ आपत्तिमें भी कभी वेदाध्ययन और विवाहादि सम्बन्धको ब्राह्मण नहीं करे ॥ ४० ॥

ब्रह्मचारियोंके लिये कृष्ण-मृग-चर्मादि धारण—

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणादि तीनों वर्णके ब्रह्मचारी (दुपट्टेके स्थानपर) कृष्णमृग, रुरुमृग और बकरेके चमड़ेको; (धोती एवं कौपीनके स्थानपर) सन, क्षौम (रेशम) और भेंड़के बाल (ऊन) के बने कपड़ोंको क्रमशः धारण करें ॥ ४१ ॥

मेखला—

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ ४२ ॥

त्रिगुणित (तिगुनी), बराबर (मोटी-पतली नहीं) और चिकनी मूंजकी बनी मेखलाको ब्राह्मण ब्रह्मचारी, मौर्वी (धनुषकी डोरी या मूर्वा नामक तृण-विशेष) की बनी मेखलाको क्षत्रिय ब्रह्मचारी और सनकी रस्सीकी बनी मेखलाको वैश्य ब्रह्मचारी धारण करे ॥ ४२ ॥

मौञ्जी आदि मेखलाका प्रतिनिधि—

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ४३ ॥

मुञ्ज आदिके नहीं मिलनेपर कुश, अश्मन्तक (तृण विशेष या मक्षिका) और बल्वज (बबई नामकी घास) की बनी हुई (त्रिगुण, बराबर और चिकनी) मेखलाको ब्राह्मणादि ब्रह्मचारी क्रमशः धारण करें ॥ ४३ ॥

यज्ञोपवीत—

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।

शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणका यज्ञोपवीत कपास (कपासकी रूई के बने सूत) का, क्षत्रियका यज्ञोपवीत सनके बने सूत का और वैश्यका यज्ञोपवीत भेंड़के वाल (ऊन) के बने सूतका ऊपरकी ओर से (दक्षिणावर्त) बँटा (ऐंठा) हुआ तीन लड़ीका होना चाहिये ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ ४५ ॥

धर्मानुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारीको बेल या पलाश (ढाक) का, क्षत्रिय ब्रह्मचारीको वट या खैरका और वैश्य ब्रह्मचारीको पीलु या गूलरका दण्ड धारण करना चाहिये ॥ ४५ ॥

विमर्श—यद्यपि मनु भगवान्ने 'ऊर्ध्ववृतं त्रिवृत्' (ऊपरकी) ओर अर्थात् दक्षिणावर्त बंटा हुआ तिगुना यज्ञोपवीतका प्रत्येक वर्णके लिये विधान किया है, तथापि ऊपरकी ओर तिगुना बँटकर नीचेकी ओर अर्थात् वामावर्त फिर तिगुना बंटना चाहिये इस प्रकार ऊपर-नीचे (क्रमशः दक्षिणावर्त तथा वामावर्त बँटनेपर वह नौ सूत्र का यज्ञोपवीत छन्दोगपरिशिष्ट तथा देवल स्मृतिके अनुसार होना चाहिये।

दण्डमान—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥ ४६ ॥

प्रमाणानुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारीका दण्ड केशतक, क्षत्रिय ब्रह्मचारी का दण्ड ललाटतक और वैश्य ब्रह्मचारीका दण्ड नाकतक लम्बा होना चाहिये ॥ ४६ ॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥

(उन ब्राह्मणादि ब्रह्मचारियोंके वे) दण्ड सीधे, विना कटे हुए, देखनेमें

---

१. तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—
"ऊर्ध्वं तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्।
त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते ॥"
देवलोऽप्याह—"यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नव तन्तवः ॥" इति (म० मु०)

सुन्दर, लोगोंमें भय नहीं पैदा करनेवाले (मोटापन आदिके कारण उन्हें देखकर किसी को भय नहीं हो; ऐसे), छिलकों के सहित और विना जले हुए होने चाहिये ॥ ४७ ॥

सूर्योपस्थानादिके बाद भिक्षावृत्ति—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

(ब्राह्मणादि ब्रह्मचारियोंको) ईप्सित (श्लो० ४५ में वर्णित विकल्पमें से जो सुलभ या रुचिकर हो वह) दण्ड धारणकर सूर्य का उपस्थान तथा अग्निकी प्रदक्षिणा कर विधि-पूर्वक भिक्षा मांगनी (भिक्षार्थ याच करना) चाहिये ॥ ४८ ॥

भिक्षा-विधि—

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

उपनीत (यज्ञोपवीत संस्कारसे युक्त) ब्राह्मण ब्रह्मचारीको 'भवत्' शब्दका वाक्यके पहले उच्चारण कर (यथा-'भवति भिक्षां देहि'), क्षत्रिय ब्रह्मचारीको 'भवत्' शब्दका वाक्यके मध्यमें उच्चारण कर (यथा-'भिक्षां भवति देहि') और वैश्य ब्रह्मचारीको 'भवत्' शब्दका वाक्यके अन्तमें उच्चारण कर (यथा-'भिक्षां देहि भवति') भिक्षा-याचना करनी चाहिये ॥ ४९ ॥

सर्व प्रथम भिक्षा किन २ से मांगे—

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ५० ॥

(उक्त ब्राह्मणादि ब्रह्मचारी) मातासे, बहनसे अथवा सगी मौसीसे या जो निषेधके द्वारा अपमान न करे (अवश्य भिक्षा दे), उससे सर्व प्रथम भिक्षा मांगनी चाहिये ॥ ५० ॥

भिक्षाद्रव्य की भोजन-विधि—

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ५१ ॥

अपनेको तृप्त करने योग्य भिक्षा एकत्रित कर निष्कपट हो (गुरुजी अच्छे

अन्न अर्थात् भोज्य पदार्थोंको अपने लिये ले लेंगे, इस कपट भावनासे अच्छे भोज्य पदार्थको निकृष्ट भोज्य पदार्थसे बिना छिपाये) गुरु के सामने भिक्षामें प्राप्त हुए अन्नको निवेदनकर (उन की आज्ञा पानेके बाद) आचमन कर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके उस अन्नको भोजन करे ॥ ५१ ॥

पूर्व आदि दिशाओंकी ओर मुख कर काम्य-भोजन-फल—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥ ५२ ॥

हितकर अन्नको आयुके लिये पूर्वकी ओर यशके लिये दक्षिणकी ओर धनके लिये पश्चिमकी ओर और सत्यके लिये उत्तर की ओर मुखकर भोजन करना चाहिये ॥ ५२ ॥

[सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥ ६ ॥]

[द्विजको सायं-प्रातः भोजन करनेका विधान स्मृतियोंमें वर्णित है, बीचमें भोजन नहीं करना चाहिये (तीन बार भोजन नहीं करना चाहिये)। यह विधि अग्निहोत्रके समान (पुण्यप्रद) है ॥ ६ ॥]

भोजनके आदि-अन्तमें आचमन-विधान—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥ ५३ ॥

द्विज नित्य (ब्रह्मचर्यावस्थाके बाद भी) सावधान हो, तीन आचमन कर भोजन करना आरम्भ करे तथा भोजन करनेके बाद भी (तीन) आचमन करे और सम्यक् प्रकारसे (शास्त्रानुसार) जलसे ६ छिद्रों (दो नाक, दो आंख और दो कान) का स्पर्श करे ॥ ५३ ॥

श्रद्धासे अन्न-भोजनका विधान—

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ ५४ ॥

भोजनके पदार्थका "यह प्राणार्थक" ऐसा ध्यान करे और उसकी निन्दा नहीं करते हुए सब अन्नको खा जाय (जूठा न छोड़े), उसे देखकर मनको प्रसन्न रखे

और 'मुझे यह अन्न सर्वदा प्राप्त हो' इस प्रकार उसका प्रतिनन्दन करे ॥ ५४ ॥

श्रद्धा एवं अश्रद्धासे भोजन करनेका सदसत्फल—

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ५५ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे पूजित (सत्कृत अर्थात् अभिनन्दित) अन्न सामर्थ्य और वीर्यको देता है तथा अपूजित (निन्दित अर्थात् निन्दा करते हुए खाया हुआ) अन्न उन दोनों (सामर्थ्य और वीर्य) को नष्ट करता है ॥ ५५ ॥

भोजन-विषयक अन्य नियम—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥ ५६ ॥

उच्छिष्ट (जूठा) अन्न किसीको न दे तथा स्वयं भी न खावे, बीचमें (प्रातः-सायं भोजनके बीचमें अर्थात् तीन बार) न खावे, बहुत अधिक न खावे और जूठे मुंह (विना आचमन या कुल्ला किये) कहीं न जावे ॥ ५६ ॥

अधिक भोजनका निषेध—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यके लिये अहितकर तथा लोक-निन्दित है; इस कारण उसे (अधिक भोजन करने को) छोड़ देना चाहिये ॥ ५७ ॥

आचमनके योग्य एवं अयोग्य तीर्थ—

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ५८ ॥

ब्राह्मण सर्वदा ब्राह्मतीर्थसे, प्रजापति अथवा दैवतीर्थसे आचमन करे; पितृ-तीर्थसे कभी भी आचमन न करे। (उक्त तीर्थों के लक्षण श्लो० ५९ में वर्णित हैं) ॥ ५८ ॥

ब्रह्म आदि तीर्थोंके लक्षण—

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।

कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५६ ॥

हाथके अँगूठेके पास 'ब्राह्मतीर्थ', कनिष्ठा अंगुलीके मूलके पास 'प्रजापति तीर्थ', अङ्गुलियोंके आगे 'दैवतीर्थ' और अङ्गूठे तथा प्रदेशिनी (तर्जनी) अङ्गुलीके बीच पितृतीर्थ होता है ॥ ५९ ॥

आचमन-विधि—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥

पहले तीन बार आचमन कर दो बार मुखको (ओष्ठ बन्दकर अंगुष्ठ मूलसे) स्पर्श करे और ६ छिद्रों (नाक, नेत्र और कान के २-२ छिद्रों) का, हृदयका और शिरका जलसे स्पर्श करे ॥ ६० ॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥ ६१ ॥

पवित्रताका इच्छुक धर्मात्मा पुरुष ठंडे और फेन-रहित जलसे ब्राह्म आदि तीर्थों (श्लो॰ ५८) से एकान्तमें पूर्व या उत्तर मुख बैठकर सर्वदा (ब्रह्मचर्य-त्यागके बाद भी भोजनान्तमें) आचमन करे ॥ ६१ ॥

आचमनमें प्रत्येक वर्णके लिये जल-प्रमाण—

हृद्गाभिः पूयते विप्रः, कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु, शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ६२ ॥

(आचमन-कालमें) ब्राह्मण हृदय तक, क्षत्रिय कण्ठतक, वैश्य मुखतक पहुंचे हुए तथा शूद्र ओष्ठको स्पर्श किये हुए जलसे शुद्ध होता है ॥ ६२ ॥

उपवीती (सव्य) आदिके लक्षण—

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीन आवीती, निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥

द्विज दाहिना हाथ उठाकर पहने गये (बाँयें कन्धेके ऊपरसे दाहिनी काँखके नीचे लटकते हुए) यज्ञोपवीत होनेपर "उपवीती" (सव्य), बाँया हाथ उठाकर पहने गये (दाहिने कन्धेके उपरसे बाँयें काँखके नीचे लटकते हुए) यज्ञोपवीत होनेपर

"प्राचीनावीती" (अपसव्य) और (मालाकी तरह) कण्ठमें लटकते हुए यज्ञोपवीत होनेपर 'निवीती' कहलाता है ॥ ६३ ॥

पूर्व मेखलादिके नष्ट होनेपर दूसरे का ग्रहण—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ६४ ॥

मेखला, मृग-चर्म, पालाशादि दण्ड, यज्ञोपवीत और कमण्डलुके नष्ट होनेपर उन्हें जलमें छोड़कर मन्त्रपूर्वक दूसरा धारण करना चाहिये ॥ ६४ ॥

केशान्त संस्कारका समय—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥

गर्भसे सोलहवें वर्षमें ब्राह्मणका, बाईसवें वर्षमें क्षत्रियका और चौबीसवें वर्षमें वैश्यका "केशान्त" संस्कार (ब्रह्मचर्यावस्थामें धारण किये केशका छेदन) कराना चाहिये ॥ ६५ ॥

विना मन्त्रके स्त्रियोंके संस्कारका विधान—

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

शरीर-संस्कारके लिये पूर्वोक्त समय और क्रम से स्त्रियों के सब संस्कारको विना मन्त्रके ही करना चाहिये ॥ ६६ ॥

स्त्रियोंके यज्ञोपवीतादि का निषेध तथा वेदमन्त्रोंसे विवाहसंस्कारका विधान—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥

स्त्रियोंका विवाह संस्कार ही वैदिक संस्कार (यज्ञोपवीतरूप), पति-सेवा ही गुरुकुल-निवास (वेदाध्ययनरूप) और गृह-कार्य ही अग्निहोत्र कर्म कहा गया है। (अत एव उनके लिये यज्ञोपवीत, गुरुकुल-निवास और अग्निहोत्र कर्म करने की शास्त्राज्ञा नहीं है) ॥ ६७ ॥

[अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सायमुद्वासमेव च ।
कार्यं पत्न्या प्रतिदिनमिति कर्म च वैदिकम् ॥ ७ ॥]

[अग्निहोत्रकी सेवा, सायंकाल पतिके कार्योंमें सहयोगदान स्त्रियोंको प्रतिदिन करना चाहिये, यही उनका वैदिक कर्म है ॥ ७ ॥]

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥

(भृगुमुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि) द्विजोंके द्वितीय जन्मका व्यञ्जक उपनयन-विधितक पुण्य-वर्द्धक संस्कारको मैंने कहा, अब उनके दूसरे कर्तव्योंको तुम लोग सुनो ॥ ६८ ॥

यज्ञोपवीत संस्कारके बाद कर्तव्य—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥

गुरु शिष्यका यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे शौच-पवित्रता (५।१३६), आचार-स्नान-क्रिया आदि, अग्नि-कार्य (समिधाको लाना तथा प्रातः-सायंकाल हवन करना) और सन्ध्योपासन कर्मको सिखलावे ॥ ६९ ॥

वेदाध्ययन-विधि—

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥ ७० ॥

अध्ययन करनेवाला, शास्त्रोक्त विधिसे आचमन किया हुआ ब्रह्माञ्जलि (श्लो० ७१ में वक्ष्यमाण) बांधकर हलके (कौपीन आदि लघु) वस्त्रको पहना हुआ और जितेन्द्रिय शिष्य पढ़नेके योग्य होता है ॥ ७० ॥

ब्रह्माञ्जलिका लक्षण—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥

वेद पढ़नेके पहले और बादमें शास्त्रोक्त (श्लो० ७२ में वक्ष्यमाण) विधिसे गुरुके दोनों चरणोंको स्पर्श करना और हाथ जोड़कर पढ़ना ही "ब्रह्माञ्जलि" कहलाता है ॥ ७१ ॥

गुरुके अभिवादनकी विधि—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।

सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो, दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ७२ ॥

हाथोंको हेरफेर कर गुरुके चरणोंका स्पर्श करना चाहिये, दाहिने हाथसे गुरुका दाहिना चरण और बाँयें हाथसे गुरुका बाँयाँ चरण स्पर्श करना (छूकर प्रणाम करना) चाहिये ॥ ७२ ॥

विमर्श—गुरुकी वन्दना करनेमें दाहिने हाथसे गुरुका दाहिना पैर तथा बाँयें हाथसे गुरुका बाँयाँ पैर स्पर्श करते समय हाथको (१) उतान रखना चाहिये अर्थात् तलहथीको ऊपरकी ओर करके गुरुके चरणोंका स्पर्श करना चाहिये। उसमें भी दाहिने हाथको ऊपर तथा बाँयें हाथको उसके नीचे रखना चाहिये।

अध्ययनका आरम्भ तथा समाप्ति—

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः।

अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥ ७३ ॥

अध्ययन करनेवाले शिष्यसे आलस्य-हीन गुरु सर्वदा (प्रतिदिन, अध्ययन आरम्भ करनेके पहले) 'भो अधीष्व' अर्थात् 'हे शिष्य ! पढो' ऐसा कहकर अध्ययन आरम्भ करावे तथा (अन्तमें) 'विरामोऽस्तु' अर्थात् 'अब पढना समाप्त हो' ऐसा कहकर अध्ययनको समाप्त करे ॥ ७३ ॥

वेदाध्ययनके आद्यन्तमें प्रणवोच्चारण—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।

स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं, पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ७४ ॥

शिष्यको वेदारम्भ (वेदपढ़नेके प्रारम्भ) में और अन्तमें "ॐ" शब्दका उच्चारण करना चाहिये। पहले 'ॐ' शब्दका उच्चारण नहीं करनेसे अध्ययन धीरे २ नष्ट हो जाता है तथा अन्तमें 'ॐ' शब्दका उच्चारण नहीं करनेसे वह नहीं ठहरता (स्थिर नहीं होता) है ॥ ७४ ॥

तीन प्राणायामके बाद प्रणवोच्चारण-विधान—

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।

प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति ॥ ७५ ॥

---

१. यदाह पैठीनसिः—"उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्येन सव्यं पादावभिवादयेत्।" इति (म मु०)।

कुशासनपर पूर्वाभिमुख बैठा हुआ द्विज शिष्य दोनों हाथमें ग्रहण किये हुए (कुशनिर्मित) पवित्रोंसे शुद्ध हो तथा तीन प्राणायामोंसे (अकारादि लघु मात्रा-वाले १५ अक्षरोंके उच्चारण-कालके बराबर 'प्राणायाम-काल' जानना चाहिये) शुद्ध होकर बादमें 'ॐ' शब्दके उच्चारण करनेके योग्य होता है ॥ ७५ ॥

प्रणव तथा व्याहृतियोंकी उत्पत्ति—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥ ७६ ॥

ब्रह्माने ऋक् आदि तीनों वेदोंसे क्रमशः "अ, उ, म" इन तीनों अक्षरोंको तथा "भूः, भुवः, स्वः" इन तीनों व्याहृतियोंको निकाला है ॥ ७६ ॥

सावित्री की उत्पत्ति—

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ७७ ॥

परमेष्ठी ब्रह्माने ऋक् आदि तीनों वेदोंसे "तत्" इस सावित्रीका १-१ पाद निकाला है ॥ ७७ ॥

सावित्री-जपका फल—

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

इस अक्षर (ॐ) को तथा तीनों व्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वः) के सहित सावित्री ("तत्") को दोनों सन्ध्याओं (प्रातः-सायंकाल) में जपता हुआ वेद-वित् द्विज वेदके पुण्यसे युक्त होता है ॥ ७८ ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥

इन तीनों (१. प्रणव—"ॐ", २. व्याहृति—"भूः, भुवः, स्वः" और ३. सावित्री—"तत्") को बाहर (पवित्र तथा एकान्त स्थानमें) प्रतिदिन एक सहस्र बार एक मास तक जपनेवाला द्विज-कांचलीसे सर्पके समान-बड़े पापसे भी छूट जाता है ॥ ७९ ॥

सावित्री-जप नहीं करनेसे दोष—

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।
ब्रह्मक्षत्रियविट्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

इन तीन ऋचाओं (१. प्रणव—"ॐ" २. व्याहृति—"भूः, भुवः स्वः" और ३. सावित्री—"तत्") तथा समयपर की जानेवाली क्रियाओं (अग्नि होत्र आदि कर्मों) से हीन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सज्जनोंमें निन्दाको प्राप्त करता है ॥ ८० ॥

प्रणवादि की प्रशंसा—

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥

ॐ कार-पूर्विका (जिनके पहले 'ॐ' कार है, ऐसी) ये तीनों महा-व्याहृतियां (भूः, भुवः, स्वः अविनश्वर ब्रह्मकी प्राप्ति करानेसे) अव्यय (नाश-रहित) हैं और त्रिपदा सावित्री वेदोंका मुख (आदि भाग) है; अथवा ब्रह्म-प्राप्तिका द्वार है ॥ ८१ ॥

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥

जो प्रतिदिन निरालस होकर तीन वर्ष तक 'ॐ' कार-सहित महाव्याहृतियों का जप करता है, वह वायुरूप (स्वेच्छानुसार सर्वत्र गमन करनेवाला) और ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है ॥ ८२ ॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म, प्राणायामाः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥ ८३ ॥

केवल एक अक्षर (ॐ) ही (ब्रह्म-प्राप्तिका साधक होनेसे) सर्वश्रेष्ठ है, तीन प्राणायाम ही (चान्द्रायण आदि व्रतोंसे भी) श्रेष्ठ तप है, सावित्रीसे श्रेष्ठ कोई दूसरा मन्त्र नहीं है और मौन की अपेक्षा सत्य-भाषण श्रेष्ठ है ॥ ८३ ॥

प्रणव की प्रशंसा—

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः ।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥

वेद-विहित हवन तथा यज्ञ आदि क्रियायें स्वरूपसे तथा अपना २ फल देकर नष्ट हो जाती हैं, (एकमात्र) अक्षर (ॐ) ही दुष्कर ब्रह्म एवं प्रजापति है अर्थात् ॐकारके द्वारा ही ब्रह्म-प्राप्ति होती है ॥ ८४ ॥

मानस जपकी सर्वश्रेष्ठता—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।

उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ८५ ॥

विधि-यज्ञों (अमावास्या तथा पूर्णिमा आदि तिथियोंमें किये जानेवाले यज्ञों) से जपयज्ञ (गायत्री अर्थात् प्रणवादिका जपरूप यज्ञ) दश गुना श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है और मानस जप सहस्र गुना श्रेष्ठ है ॥ ८५ ॥

विमर्श—'वाचिक, उपांशु तथा मानस' भेदसे 'जप-यज्ञ' तीन प्रकारका होता है; उसमें—स्पष्ट स्वरोंसे, पदों एवं वर्णों से उच्चारण कर किये हुए जपको 'वाचिक' जप कहते हैं। जिस जपमें वर्णादि का धीरे २ उच्चारण करनेसे कुछ ओष्ठ हिलते हों तथा थोड़ा-थोड़ा सुनायी पड़े, उस जपको 'उपांशु' जप कहते हैं तथा बुद्धिसे पद-वर्ण आदिका विचार कर अर्थ-ज्ञान पूर्वक किये जानेवाले जपको 'मानस' जप कहते हैं। (१)

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ८६ ॥

दर्श-पौर्णमास (अमावास्या एवं पूर्णिमाको किये जानेवाले) आदि विधि यज्ञोंके सहित भी (पञ्च-महायज्ञान्तर्गत) जो चार पाक-यज्ञ हैं, वे भी जप-यज्ञके सोलहवें भागके बराबर नहीं हैं ॥ ८६ ॥

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।

---

१. तदुक्तं हारीतस्मृतौ—

"त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य तत्त्वं निबोधत ।
वाचिकश्चाप्युपांशुश्च मानसश्च त्रिधाकृतिः। त्रयाणामपि यज्ञानां श्रेष्ठः स्यादुत्तरोत्तरः॥
यदुच्चनीचोच्चारितैः शब्दैः स्पष्टपदाक्षरैः। मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा जपयज्ञस्तु वाचिकः॥
शनैरुच्चारयेन्मन्त्रं किञ्चिदोष्ठौ प्रचालयेत् ।
किञ्चिच्छ्रवणयोग्यः स्यात्स उपांशुर्जपः स्मृतः ॥
धिया पदाक्षरश्रेण्या अवर्णमपदाक्षरम् ।
शब्दार्थचिन्तनाभ्यां तु तदुक्तं मानसं स्मृतम् ॥" ३ इति ४।४०-४४

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥

ब्राह्मण जपसे ही सिद्धिको पाता है, इसमें सन्देह नहीं है, अन्य कुछ करे या न करे, वह जपमात्रसे ही ब्रह्ममें लीन हो जाता है तथा सबका मित्र बन जाता है ॥

इन्द्रिय-संयम—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

विद्वान् चित्तको आकर्षित करनेवाले विषयोंमें भ्रमण करनेवाली इन्द्रियोंका संयम (वशमें) करनेका वैसा प्रयत्न करे, जैसे इधर-उधर भागनेवाले घोड़ेको सारथि अपने वशमें रखनेका प्रयत्न करता है ॥ ८८ ॥

ग्यारह इन्द्रियां—

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) पूर्व विद्वानोंने जिन ग्यारह इन्द्रियों को बतलाया है, उन्हें अच्छी तरह क्रमसे कहता हूँ ॥ ८९ ॥

प्रथम दश इन्द्रियोंके नाम—

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥

कान, चर्म, नेत्र, जीभ, पांचवी नाक, गुदा, लिङ्ग; हाथ, पैर और दशवीं वाणी, ये दश इन्द्रियां कही गयी हैं ॥ ९० ॥

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियका विभाग—

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥

(इनमें) कान आदि पांच इन्द्रियां "ज्ञानेन्द्रिय" हैं और गुदा आदि पांच इन्द्रियां "कर्मेन्द्रिय" हैं ॥ ९१ ॥

ग्यारहवीं इन्द्रिय मन—

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥

दोनों प्रकारकी इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय) के गुणवाली मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है, इसके जीत लेने (वशमें कर लेने) पर वे दोनों पाँच २ इन्द्रियां (५ ज्ञानेन्द्रियां और ५ कर्मेन्द्रियां) जीत ली जाती हैं ॥ ९२ ॥

इन्द्रिय-संयमसे सिद्धि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥

इन्द्रियोंके विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि) में आसक्त होकर मनुष्य अवश्य ही दोषभागी होता है और इन (इन्द्रियों) को वशमें करके सिद्धिको प्राप्त करता है ॥ ९३ ॥

विषयोपभोगसे इच्छाकी पूर्ति न होनेका दृष्टान्त—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

विषयोंके उपभोगसे इच्छा कभी शान्त (पूरी) नहीं होती, बल्कि घीसे अग्निके समान वह इच्छा फिर बढ़ती ही जाती है ॥ ९४ ॥

विषयोपभोगकी अपेक्षा उनकी उपेक्षाकी श्रेष्ठता—

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

जो मनुष्य इन सब विषयोंको प्राप्त कर ले और जो मनुष्य सब विषयोंका त्याग कर दे, उन दोनोंमें सब विषयोंको प्राप्त करनेवाले मनुष्यकी अपेक्षा सब विषयोंका त्याग करनेवाला मनुष्य श्रेष्ठ है ॥ ९५ ॥

इन्द्रियसंयमके उपाय—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

विषयोंमें आसक्त इन्द्रियां सर्वदा ज्ञानसे जिसप्रकार रोकी जा सकती हैं, उस प्रकार विषयोंको विना सेवन किये नहीं रोकी जा सकतीं (अतः विषयोंके दोषज्ञान आदिके द्वारा बहिरिन्द्रियोंको वशमें करे) ॥ ९६ ॥

अनियमित मनकी विकारहेतुता—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥

दुष्ट स्वभाववाले (सर्वदा विषय भोगकी भावनामें आसक्त) मनुष्यकी वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तपस्यायें कभी सिद्ध नहीं होती है ॥ ९७ ॥

जितेन्द्रियका स्वरूप—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥

जो मनुष्य (प्रशंसा या निन्दाकी बातको) सुनकर, (चिकने एवं कोमल रेशमी वस्त्रादि तथा रूखे कम्बलादिको) छूकर, (सुन्दर या कुरूपको) देखकर, (स्वादयुक्त या स्वादहीन वस्तुको) खाकर, और (सुगन्धित तथा दुर्गन्धित वस्तुको) सूंघकर न तो प्रसन्न होता है और न खिन्न होता है; उसे "जितेन्द्रिय' जानना चाहिये ॥ ९८ ॥

एक भी इन्द्रियके असंयमसे प्रज्ञाहानि—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ९९ ॥

यदि सब इन्द्रियोंमें से एक भी इन्द्रिय विषयासक्त रहती है तो उससे उस मनुष्य की बुद्धि वैसे नष्ट हो जाती है, जैसे चमड़ेके बर्तन (मशक आदि) के एक भी छिद्रसे सब पानी बहकर नष्ट हो जाता है ॥ ९९ ॥

इन्द्रियसंयमकी सर्वपुरुषार्थहेतुता—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

बहिरिन्द्रियसमूह तथा मनको वशमें करके उपायसे अपने शरीरको कष्ट नहीं देता हुआ मनुष्य सम्पूर्ण पुरुषार्थों को सिद्ध करे ॥ १०० ॥

सन्ध्योपासन की अवधि—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥

प्रातःकाल के सन्ध्योपासन कर्ममें एकासनसे खड़ा होकर सूर्योदय तक सावित्री का जप करता रहे तथा सायं कालका सन्ध्योपासन कर्म अच्छी तरह ताराओंके उदय होने तक बैठकर करे। (शास्त्रोंमें दो घड़ीका सन्ध्याकाल कहा गया है[1]) ॥

विमर्श—यहां पर प्रातःकाल आसनसे उठकर खड़ा होकर तथा सायंकाल आसनपर बैठकर गायत्री जपका विधान जो किया गया है, उसमें गायत्री जपके प्रधान होनेसे आसन (प्रातःकाल खड़ा होकर तथा सायंकाल बैठकर जप करना) गौण है। मेधातिथिने आसनको ही प्रधान माना है। विशेष ज्ञानके लिये 'काशी सं० सिरीज' नं० ११४ संख्या में प्रकाशित मनुस्मृति की मन्वर्थमुक्तावली पर 'नेने' शास्त्रिकृत टिप्पणी देखनी चाहिये।

सन्ध्योपासनसे पापनाश—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥

प्रातःकालकी सन्ध्यामें (एकासनसे) बैठकर जप करता हुआ मनुष्य रात्रिमें किये हुए पापों को नष्ट करता है, तथा सायंकालकी संन्ध्यामें बैठकर जप करता हुआ मनुष्य दिनमें किये हुए पापोंको नष्ट करता है ॥ १०२ ॥

प्रातःसायं सन्ध्योपासनके अभावमें शूद्र तुल्य बहिष्कार—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥

जो (द्विज) प्रातःकाल तथा सायंकाल सन्ध्योपासन कर्म नहीं करता है, वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज कर्मोंसे (अतिथिसत्कारादि कर्मसे भी) बहिष्कृत करने योग्य है ॥ १०३ ॥

अशक्तिमें सावित्री मात्रका भी जप—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥ १०४ ॥

बनमें (बगीचा, फुलवाड़ी, उपवन आदि एकान्त स्थानमें) जाकर (नदी,

---

१. तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—
"ह्रास वृद्धौ तु सततं दिवसानां यथाक्रमम्।
सन्ध्यां मुहूर्तमात्रन्तु ह्रासे वृद्धौ च सा स्मृता ॥" इति (या० स्मृ०)

तालाब, वापी आदिके) जलके समीपमें जितेन्द्रिय तथा एकाग्रचित्त होकर नित्य विधिको करने का इच्छुक द्विज सावित्रीका भी अध्ययन (जप) करे । (यह ब्रह्मयज्ञका स्वरूप है, विशेष वेदाध्ययन करनेमें असमर्थ द्विजको इतना तो करना आवश्यकही है) ॥ १०४ ॥

अनध्यायमें भी अवर्जनीय कार्य—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधेऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ १०५ ॥

शिक्षा आदि वेदाङ्गोंमें, नित्य किये जानेवाले ब्रह्मयज्ञरूप स्वाध्यायमें और हवनकर्ममें अनध्यायकृत निषेध नहीं है । (४ अध्यायोक्त अनध्यायमें भी इन्हें करना चाहिये) ॥ १०५ ॥

नित्यकर्ममें अनध्यायका अभाव—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो, ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥

पूर्वोक्त नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है, उसे (मनु आदि महर्षियोंने) ब्रह्मयज्ञ कहा है । ब्रह्मरूपी आहुतिमें हवन किया गया अध्ययनरूप अनध्यायका वषट्कारभी पुण्य ही होता है ॥ १०६ ॥

जपयज्ञसे इष्टसिद्धि—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येषु पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥

जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा पवित्र होकर एक वर्ष तकभी विधिपूर्वक वेदाध्ययन करता है, उसे यह सर्वदा दूध, दही, घृत तथा मधु देता है, (जिनसे वह देवों तथा पितरोंको तृप्त करता है और वे सब इच्छा तथा जपयज्ञको पूर्ण करनेवाले होते हैं[1]) ॥ १०७ ॥

---

१. अत एव याज्ञवल्क्यः—

"मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेद्द्विजः ।
पितॄन् मधुघृताभ्याञ्च ऋचोऽधीते हि योऽन्वहम् ॥" (या० स्मृ० १।४२)

इत्युपक्रम्य वेदचतुष्टयस्य पुराणानां जपस्य च देवपितृतृप्तिफलमुक्त्वा शेषे—
"ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः ।" (या० स्मृ० १।४७) इत्युक्तत्वात् ।

समावर्तनतक होमादि कर्तव्य—

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः॥ १०८॥

जिसका यज्ञोपवीत संस्कार हो गया है, ऐसा द्विज समावर्तनकाल (वेदाध्ययन समाप्तकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेसे पूर्वकाल) तक प्रातःकाल तथा सायंकाल समिधाका अग्निमें त्याग अर्थात् हवन, भिक्षावृत्ति (२।४९), पृथ्वीपर शयन (खाट-चारपाईपर सोने या चढ़ने तकका सर्वथा निषेध है) और गुरुहित कार्य (गुरुके लिये जल, पुष्प आदि लाकर हिताचरण) को करे॥ १०८॥

पढ़ाने योग्य शिष्य—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः॥ १०९॥

आचार्य पुत्र, सेवा करनेवाला[1], अन्य विषयकी शिक्षा देनेवाला[2], धर्मात्मा, पवित्र, बान्धव, ज्ञानके ग्रहण धारणमें समर्थ, धन देनेवाला[3], हिताभिलाषी और स्वजातीय; ये दश (गुरुके द्वारा) धर्मानुसार पढ़ाने योग्य हैं॥ १०९॥

प्रश्नादिके विना तत्व कथनका निषेध—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥ ११०॥

वेदतत्वको जानता हुआ भी विद्वान् बिना पूछे किसीसे (तत्वज्ञानको) न कहे (अशुद्धोच्चारण करनेपर भी किसीको न टोके, किन्तु यदि शिष्य अशुद्धोच्चारण करे तो उसे अवश्यही टोके और ठीक २ बतलावे), अन्यायसे (भक्ति-श्रद्धा आदिका त्यागकर) पूछने परभी (तत्वज्ञानको) न कहे, किन्तु जड़के समान आचरण करे॥ ११०॥

उक्त निषेधके नहीं पालन करनेसे हानि—

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति॥ १११॥

१-२-३. तदुक्तं नीतिकृद्भिः—
"गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थी नोपपद्यते॥" इति।

अधर्मसे पूछने परभी जो कहता है या अधर्मसे जो पूछता है, उन दोनोंमें से एक (व्यतिक्रम करने वाला) मर जाता है, अथवा उसके साथमें बैर हो जाता है ॥ १११ ॥

धर्मादिके अभावमें विद्यादानकी निष्फलता—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

जिस शिष्यमें धर्म तथा अर्थ न हो अथवा शिक्षानुरूप सेवावृत्ति न हो; ऊसरमें उत्तम बीजके समान उस शिष्यमें विद्यादान न करे ॥ ११२ ॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥

वेदज्ञ विद्वान् विद्याके साथमें (बिना किसीको पढ़ाये) ही भले मर जाय, किन्तु घोर आपत्तिमें भी अपात्र शिष्यको न पढ़ावे ॥ ११३ ॥

ब्राह्मणसे विद्या का कथन—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ११४ ॥

विद्या (विद्याकी अधिष्ठात्री देवी) ने ब्राह्मणके पास आकर कहा कि— 'मैं तुम्हारा कोष (खजाना) हूं, मेरी रक्षा करो (मेरी निन्दा करने वालेके लिये मुझे मत दो, इससे मैं अत्यन्त वीर्यवती होउंगी (बनूँगी)–॥ ११४ ॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ११५ ॥

और जिसे तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो; विद्यारूपी कोष की रक्षा करनेवाले अप्रमादी उस ब्राह्मणके लिये मुझे कहो (उसे पढ़ावो)" ११५

बिना पढ़ाये वेद ग्रहणका निषेध—

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

स्वयं अभ्यासार्थ वेदाध्ययन करते हुए या दूसरे शिष्यको पढ़ाते हुए

वेदको गुरुकी आज्ञाके बिना ही जो ग्रहण करता (स्वयं पढ़ लेता) है; वह ब्रह्मकी चोरी करनेका दोषी होकर नरकगामी होता है ॥ ११६ ॥

अध्यापकों की मान्यता—

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव च ।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥

जिस (गुरु) से लौकिक (अर्थशास्त्रादिविषयक), वैदिक (वेदविषयक) और आध्यात्मिक (ब्रह्मविषयक) ज्ञान प्राप्त करे; उसे (बहुत मान्योंके मध्यमें) पहले प्रणाम करे ॥ ११७ ॥

विमर्श—इन तीनों गुरुओंमें से प्रथमकी अपेक्षा द्वितीयको तथा द्वितीयकी अपेक्षा तृतीयको श्रेष्ठ समझना चाहिये ।

[जन्मप्रभृति यत्किंचिच्चेतसा धर्ममाचरेत् ।
तत्सर्वं विफलं ज्ञेयमेकहस्ताभिवादनात् ॥ ८ ॥]

मनुष्य जन्मसे लेकर जो कुछ धर्म चित्तसे करता है, वह सब एक हाथसे अभिवादन करनेसे निष्फलहो जाता है। (अत एव दोनों हाथोंसे गुरुका चरण-स्पर्श कर (२।७२) प्रणाम करना चाहिये) ॥ ८ ॥]

अविहिताचारकी निन्दा—

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ११८ ॥

केवल सावित्री मात्रका ज्ञाता शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला ब्राह्मण मान्य है, किन्तु निषिद्ध अन्नादि खानेवाला सब कुछ बेचनेवाला तीनों वेदोंका ज्ञाताभी ब्राह्मण मान्य नहीं है ॥ ११८ ॥

गुर्वादिके आसनादिपर बैठनेका निषेध तथा उठकर प्रणाम करने का विधान—

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

बड़ों (गुरु, माता, पिता आदि पूज्यजनों) की शय्या (खाट, गद्दी, आदि) और आसन (चटाई, कुर्सी, चौकी आदि) पर स्वयं न बैठे तथा स्वयं आसनपर बैठा होतो (गुरुजनों) के आनेपर उठकर उन्हें प्रणाम करे ॥ ११९ ॥

वृद्धोंके प्रणाम करनेमें कारण—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥

युवा मनुष्योंके प्राण वृद्ध लोगोंके आने पर ऊपर चढ़ते हैं और अभ्युत्थान तथा प्रणाम करनेसे वह युवा पुरुष उन्हें पुनः प्राप्तकर लेता है ॥ १२० ॥

बड़ों को प्रणाम करनेका फल—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ १२१ ॥

उठकर सर्वदा वृद्धजनोंको प्रणाम तथा उनकी सेवा करनेवाले मनुष्यकी आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं ॥ १२१ ॥

अभिवादनकी विधि—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ १२२ ॥

वृद्धजनोंको प्रणाम करता हुआ अभिवादन ("अभिवादये" इस शब्द) के बाद "मैं अमुक नामवाला हूं" ("अभिवादयेऽमुकनामाऽहंभोः") ऐसा कहे॥१२२॥

उक्त अभिवादन विधिके अनभिज्ञों तथा स्त्रियोंकी अभिवादन विधि—

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥ १२३ ॥

जो (संस्कृतज्ञान हीन होनेसे) पूर्वोक्त नामोच्चारण सहित अभिवादन विधिको नहीं जानते हैं, उनको तथा सब स्त्रियों को "मैं नमस्कार करता हूं" ऐसा कहकर विद्वान् मनुष्य अभिवादन करे ॥ १२३ ॥

अभिवादन में स्वनामके अन्तमें "भोः" शब्दका कथन—

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥ १२४ ॥

अभिवादनमें अपने नामके बाद "भोः" शब्दका उच्चारण करे (यथा—अभिवादये शुभशर्माहं भोः !,........) । ऋषियोंने 'भोः' शब्दको नामोंका स्वरूप कहा है ॥ १२४ ॥

प्रत्यभिवादनविधि—

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥ १२५ ॥

(गुरु आदि श्रेष्ठ जन) अभिवादन करनेपर ब्राह्मणसे 'हे सौम्य! आयुष्मान् होवो' (आयुष्मान् भव सौम्य!) ऐसा कहे तथा अभिवादन कर्ताके नामके अन्तिम अक्षरके पूर्ववाले अकार (आदि) स्वरको प्लुतोच्चारण करे (यथा—"आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्त ३......। इसी प्रकार अभिवादन कर्ता क्षत्रिय और वैश्योंसे भी कहे) ॥ १२५ ॥

विमर्शः—नामके अन्तमें अकार स्वर होनेका नियम न होनेसे तद्भिन्न स्वरका भी प्लुतोच्चारण[1] करना चाहिये। क्षत्रिय तथा वैश्यके नामान्तस्वरके उक्त प्लुतोच्चारण का नियम पाक्षिक[2] है।

शूद्रों तथा स्त्रियोंके नामके विषयमें उक्त प्लुतोच्चारण का सर्वथा निषेध[3] ही है। गोविन्दराजादिके मत 'मन्वर्थमुक्तावली' में देखना चाहिये ॥

विद्वान्को मूर्खाभिवादनका निषेध—

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥

जो ब्राह्मण अभिवादनके बाद प्रत्यभिवादन (शास्त्रसम्मत अभिवादनका आशीर्वादरूप प्रत्युत्तर) भी नहीं जानता हो, विद्वान् ब्राह्मण उसका अभिवादनभी न करे, क्योंकि जैसा शूद्र है, वैसाही वह (शास्त्रसम्मत प्रत्यभिवादन विधिका अनभिज्ञ ब्राह्मण) भी है ॥ १२६ ॥

प्रतिवर्णसे कुशलप्रश्नविधि—

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥

---

१. "वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः"। (पा० सू० ८।२।८२) इत्यधिकृत्य "प्रत्यभिवादेऽशूद्रे" (पा० सू० ८।२।८३) इति प्लुतत्वविधानात्।

२. "प्लुतो राजन्यविशां वा" इति कात्यायनवचनात् क्षत्रवैश्ययोः पाक्षिकत्वम् ॥

३. पूर्वोक्तसूत्रे 'अशूद्रे' इति प्रतिषेधात् "स्त्रियामपि निषेधः" इति कात्यायनस्मरणाच्च।

मिलनेवाले ब्राह्मणसे कुशल, क्षत्रियसे अनामय वैश्यसे क्षेम तथा शूद्रसे आरोग्य पूछे ॥ १२७ ॥

दीक्षितके नामोच्चारणका निषेध—

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥

यज्ञादिमें दीक्षा लिये छोटे को भी नाम लेकर नहीं पुकारे, किन्तु धर्मज्ञ पुरुष 'भो' या 'भवत्' (आप) शब्दका प्रयोग कर इस (यज्ञादिमें दीक्षित छोटे) से भी बातचीत करे ॥ १२८ ॥

परस्त्रीके नामोच्चारणका निषेध—

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

जो दूसरेकी स्त्री हो तथा उससे अपना किसी प्रकारका यौनसम्बन्ध न हो (वह बहन आदि न हो), उससे भाषण करते समय 'आप या सुन्दरि या बहन' (भवति !, सुन्दरि ! भगिनि !) कहे ॥ १२९ ॥

विमर्श—उक्त शब्दोंसे सम्बोधित कर भाषण करे । अविवाहित कन्यादिके लिये उक्त नियम नहीं है, अतः भानजो, भतीजी आदिको 'आयुष्मति या वत्से' आदि शब्दोंसे सम्बोधित कर भाषण करना चाहिये ।

छोटे मामा आदिके अभिवादनका निषेध—

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

(आये हुए) छोटे मामा, चाचा, श्वशुर, ऋत्विज् और गुरुओंसे उठकर 'मैं अमुक नामवाला हूँ' ('असावहम्'—'असौ' पद 'नामग्रहणके लिये आया है) ऐसा कहे ॥ १३० ॥

विमर्श—सम्बन्धमें श्रेष्ठ रहने पर भी वयमें मामा आदि छोटे हो सकते हैं, इसी प्रकार ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध होनेके कारण हुए गुरु भी वयमें छोटे हो सकते हैं, इस लिये 'गुरु' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

मौसी आदिकी गुरुपत्नीके समान पूज्यता—

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।

संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥

मौसी, मामी, सास और फूआ (बुआ-पिताकी बहन) गुरुस्त्रीके समान (अभिवादनादिसे) पूजनीय हैं; वे सभी गुरुस्त्री-जैसी हैं ॥ १३१ ॥

भौजाई आदिकी अभिवादनविधि—

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि ।

विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ॥ १३२ ॥

अपने बड़े भाईकी स्त्रीका प्रतिदिन चरणस्पर्शकर अभिवादन करना चाहिये और जातिवालों (पिताके पक्षवाले चाचा आदि) तथा सम्बन्धियों (माताके पक्षवाले मामा आदि तथा श्वशुर आदि) की स्त्रियोंका परदेशसे आकर (या प्रवाससे वे आवें तब) अभिवादन करना चाहिये ॥ १३२ ॥

मौसी आदिकी पूज्यता तथा माताकी पूज्यतमता—

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ।

मातृवद् वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥ १३३ ॥

मौसी, फूआ तथा बड़ी बहनमें माताके समान वर्ताव करे, किन्तु माता उनसे श्रेष्ठ है ॥ १३३ ॥

विमर्श—"मातृष्वसा"···(श्लो० १३१) से ही मौसी आदिकी गुरुस्त्रीके तुल्य पूज्यता कहनेसे यहां पुनरुक्ति होनेकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि मौसी आदिकी अपेक्षा माताकी अधिक श्रेष्ठता बतलानेके लिये या माता मौसी आदिके द्वारा आज्ञा पानेपर प्रथम माताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अथवा मौसी आदिकी पूज्यता (श्लो० १३१) से कहकर यहां स्नेहादि वृत्तिका अतिदेश करनेके लिये इस श्लोकका कथन समझना चाहिये।

नागरिक आदिके साथ मैत्रीकालका वर्णन—

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।

त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥

अपने नागरिकों या ग्रामवासियोंके साथ दश वर्ष; गीत, चित्र आदिके कलाविदोंके साथ पांच वर्ष; श्रोत्रियों (वैदिकों) के साथ तीन वर्ष सख्यभाव समझना चाहिये (उक्त कालतक बड़ाई-छोटाईका व्यवहार नहीं रखना चाहिये, किन्तु समान—मित्रवत्—व्यवहार रखना चाहिये और उक्त समयके बाद बड़े-छोटेका

व्यवहार रखना चाहिये) और अपने कुलवालोंके साथ थोड़े समयका अन्तर रहने-पर भी बड़ाई-छोटाईका व्यवहार रखना चाहिये ॥ १३४ ॥

सौ वर्षके क्षत्रिय द्वारा दशवर्षीय ब्राह्मणकी पूज्यता—

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥ १३५ ॥

दश वर्षके ब्राह्मण और सौ वर्षके क्षत्रियको (परस्परमें) पिता-पुत्र समझना चाहिये, उनमें ब्राह्मण क्षत्रियका पिता (पिताके समान पूज्य) होता है ॥ १३५ ॥

धन, बन्धु आदिकी उत्तरोत्तर मान्यता—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥

न्यायोपार्जित धन, चचा आदि बन्धु, अवस्था (उम्र), श्रुति और स्मृतिमें कथित कर्म तथा विद्या; ये ५ मान्यताके स्थान (पद) हैं। ये क्रमशः उत्तरोत्तर (पूर्वकी अपेक्षा पर अर्थात् धनसे बन्धु, बन्धुसे वय, वयसे कर्म और कर्मसे विद्या) श्रेष्ठ हैं ॥ १३६ ॥

उक्त वचनका अपवाद—

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ १३७ ॥

तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) में (श्लो० १३६) से पूर्वोक्त पांच मान्य स्थानोंमेंसे आगेवालेकी अपेक्षा पहलेवाला यदि अधिक हो तो आगेवाले द्वारा पहलेवाला ही मान्य है तथा नब्बे वर्षसे अधिक आयुवाला शूद्र ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंका मान्य है ॥ १३७ ॥

विमर्श—धन और बन्धुरूप प्रथम दो गुणोंसे युक्त पुरुष वयमें अधिक पुरुषका मान्य होता है; धन, बन्धु तथा अवस्था इन तीन गुणोंसे युक्त पुरुष श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कर्मसे युक्त पुरुषका मान्य होता है; इसी प्रकार धन, बन्धु, आयु और श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कर्मसे युक्त पुरुष विद्यारूप पांचवें गुणसे युक्त पुरुषका मान्य है अर्थात् विद्या आदि गुणसे युक्त पुरुषोंमेंसे अधिक गुणवाला पुरुष थोड़े गुणवाले पुरुषका मान्य है ।

रथी आदिके लिये मार्ग देना—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।

स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ १३८ ॥

रथ (गाड़ी, एक्का, तांगा, बग्गी आदि) पर बैठे हुए, नब्बे वर्षसे अधिक आयुवाले, रोगी, बोझ लिये हुए, स्त्री, स्नातक, राजा, वर (दुलहा) को मार्ग देना चाहिये ॥ १३८ ॥

सबको स्नातकके लिये मार्ग देना—

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥

पूर्वोक्त (श्लो० १३८ से) रथी आदि पुरुषोंके स्नातक तथा राजा मान्य हैं (रथी आदिको स्नातक तथा राजाके लिये मार्ग देना चाहिये) और स्नातक तथा राजामेंसे राजाका स्नातक मान्य है (राजाको स्नातकके लिये मार्ग देना चाहिये)॥

आचार्यका लक्षण—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

जो ब्राह्मण, शिष्यका यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे कल्प (यज्ञविद्या) तथा रहस्यों (उपनिषदों) के सहित वेदशाखा पढ़ावे, उसे "आचार्य" कहते हैं ॥१४०॥

उपाध्यायका लक्षण—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

जो ब्राह्मण वेदके एकदेश (मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग) को तथा वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्दःशास्त्र) को जीविकाके लिये पढ़ाता है; उसे "उपाध्याय" कहते हैं ॥ १४१ ॥

गुरुका लक्षण—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

जो शास्त्रानुसार गर्भाधानादि संस्कारोंको करता है और अन्नादिके द्वारा बढ़ाता (पालन-पोषण करता) है; उस ब्राह्मणको "गुरु" (यहां पर "गुरु" शब्दसे पिताका ग्रहण है) कहते हैं ॥ १४२ ॥

ऋत्विक् का लक्षण—

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ १४३ ॥

जो (ब्राह्मण) वृत होकर (वरण—सङ्कल्प पूर्वक पादपूजनादि कराकर) अग्न्याधान (आहवनीय आदि अग्निको उत्पन्न करने का कर्म), पाकयज्ञ (अष्टकादि) और अग्निष्टोम आदि यज्ञों को करता है, उसे "ऋत्विक्" कहते हैं ॥ १४३ ॥

अध्यापक की प्रशंसा—

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥ १४४ ॥

जो दोनों कानोंको अवितथ (ठीक २ अर्थात् स्वरादि दोषहीन) वेदसे परिपूर्ण करता (वेद सुनाता-पढ़ाता) है, उसे माता-पिताके समान समझना चाहिये और उससे कभी भी बैर नहीं करना चाहिये ॥ १४४ ॥

उपाध्याय, आचार्य तथा पितासे माताकी श्रेष्ठता—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

दश उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता और सहस्र पिताओंकी अपेक्षा माता गौरवमें अधिक है ॥ १४५ ॥

विमर्श—यहां यज्ञोपवीत संस्कारके साथ सावित्री मात्रका उपदेश देनेवाला 'आचार्य' इष्ट है, अत एव अग्रिम (१४६) श्लोकसे इस श्लोक का विरोध नहीं होता है ।

पितासे आचार्य की श्रेष्ठता—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥

पैदा करनेवाले पिता और ब्रह्मज्ञानोपदेशक (आचार्य) इन दोनों में से ब्रह्मज्ञान देनेवाला (आचार्य) श्रेष्ठ है, क्योंकि (ब्रह्मज्ञानरूपी फलवाला होनेसे) ब्रह्मजन्म (यज्ञोपवीतसंस्कार) ही ब्राह्मणके लिये इस लोक तथा परलोकमें कल्याणप्रद है॥ १४६ ॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ १४७ ॥

कामके वशीभूत होकर माता-पिता जिस (बालकको) उत्पन्न करते हैं, उसकी उत्पत्तिको पश्वादि-साधारण समझना चाहिये, क्योंकि वह माताकी कुक्षिमें अङ्ग-प्रत्यङ्गको प्राप्त करता है ॥ १४७ ॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा ॥ १४८ ॥

(परन्तु) वेदका पारङ्गत आचार्य उस बालक की जिस जातिको विधिपूर्वक उत्पन्न करता है; वह जाति सत्य, अजर तथा अमर है। (क्योंकि सविधि यज्ञोपवीत संस्कार होनेपर वेदाध्ययन द्वारा उसके अर्थका ज्ञान प्राप्त करनेसे निष्काम होकर वह मोक्षका अधिकारी होता है) ॥ १४८ ॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥

जो थोड़ा या बहुत वेदोपदेशके द्वारा उपकार करता है, उसे भी उस वेदोपदेशक्रियाके कारण 'गुरु' जानना चाहिये ॥ १४९ ॥

बालकभी आचार्य पिताके समान—

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥ १५० ॥

वेदश्रवणके योग्य जन्म (यज्ञोपवीत संस्कार) करनेवाला और अपने धर्मका उपदेश देनेवाला बालक भी ब्राह्मण धर्मानुसार वृद्ध का पिता होता है ॥ १५० ॥

उक्त विषयमें आङ्गिरसका दृष्टान्त—

अध्यापयामास पितॄञ्शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इतिहोवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥

अङ्गिरसका विद्वान् पुत्रने अपने चाचा तथा (अवस्थामें) बड़े भाइयों को पढ़ाया, इसलिये उनको 'पुत्र' शब्दसे सम्बोधित किया ॥ १५१ ॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।

देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥

इस पर क्रोधयुक्त होकर उन्होंने उसके अर्थ ('पुत्र'-शब्दार्थ)को देवताओंसे पूछा तो उन देवताओंने मिलकर (एकमत होकर) कहा कि-"अङ्गिरस पुत्रने तुम लोगोंको जो 'पुत्र' कहा है, वह न्याययुक्त है ॥ १५२ ॥

उक्त विषयमें कारण—

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १५३ ॥

अज्ञानी ही बालक होता है (केवल थोड़ी आयुवाला ही नहीं) और वेदमन्त्रों को पढ़ानेवाला ही 'पिता' होता है; क्योंकि प्राचीन मुनियोंने भी अज्ञानी को बालक तथा वेदमन्त्रोपदेशकको पिता कहा है—॥ १५३ ॥

अवस्थादिकी अपेक्षा वेदज्ञानसे श्रेष्ठता—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १५४ ॥

'वर्षोंसे (अधिक वर्षोंकी आयु होनेसे), पके हुए बालोंसे, धन से, अधिक बान्धवों से कोई बड़ा नहीं होता; (किन्तु) जो साङ्ग वेदोंका ज्ञाता है, वही बड़ा है, ऐसा ऋषियोंने कहा है ॥ १५४ ॥

वर्णके क्रमसे ज्ञानादिकी श्रेष्ठता—

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥

ब्राह्मणों की विद्यासे, क्षत्रियों की बल (शक्ति) से, वैश्योंकी धनसे और शूद्रोंकी जन्मसे श्रेष्ठता होती है ॥ १५५ ॥

अवस्था की अपेक्षा ज्ञान द्वारा वृद्धत्व—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६ ॥

बाल पक जाने मात्रसे कोई बड़ा नहीं होता; किन्तु युवा पुरुष भी यदि विद्वान् हो, तो उसे ही देवता लोग वृद्ध (बड़ा-बूढ़ा) कहते हैं ॥ १५६ ॥

मूर्ख की निन्दा—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७ ॥

लकड़ी का हाथी चमड़े का मृग और मूर्ख ब्राह्मण ये तीन केवल नाम मात्र धारण करते हैं ॥ १५७ ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ १५८ ॥

जैसे स्त्रियोंमें नपुंसक निष्फल है, जैसे गायोंमें गाय निष्फल है और जैसे अज्ञानीमें दान निष्फल है; वैसे ही वेदज्ञान हीन ब्राह्मण निष्फल है" ॥ १५८ ॥

शिष्योंसे मधुर भाषण—

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥

धर्माभिलाषी पुरुष (आचार्य, गुरु आदि) को शिष्योंकी अहिंसा (८।९९ के अनुसार अल्पतम ताडनादि) के द्वारा ही कल्याणार्थ उपदेश (अध्यापनादि) करना चाहिये तथा मीठा और मधुर वचन बोलना चाहिये ॥ १५९ ॥

वचन तथा मनके संयमसे वेदान्त फलकी प्राप्ति—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

जिसके वचन तथा मन सर्वदा शुद्ध एवं वशीभूत हैं, वही वेदान्तके सम्पूर्ण फलोंको प्राप्त करता है ॥ १६० ॥

परद्रोहादि का निषेध—

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥

स्वयं दुःखित होते हुए भी दूसरे किसी को दुःख न दे, दूसरे का अपकार करने का विचार न करे और जिस वचनसे कोई दुःखित हो, ऐसा स्वर्ग प्राप्तिका बाधक वचन न कहे ॥ १६१ ॥

अपमान होने परभी क्षमा करना—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

ब्राह्मण विषके समान सम्मानसे सर्वदा घबड़ाता रहे (सम्मानमें न प्रेम करे) तथा अमृतके समान अपमानकी सर्वदा आकाङ्क्षा करे (अपमान करनेपर क्षमा करे । इस श्लोकसे ब्राह्मणको मानापमानमें सहिष्णुता धारण करनेका विधान किया गया है) ॥ १६२ ॥

अपमानके सहनेमें कारण—

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

अपमानित (अपमान होने परभी क्षमा करनेवाला) मनुष्य सुख पूर्वक सोता है, सुख पूर्वक जागता है तथा सुख पूर्वक इस लोकमें विचरण (विहार) करता है और अपमान करनेवाला (मनुष्य उस पापसे) नष्ट हो जाता है ॥ १६३ ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥

इस क्रमसे संस्कृत (जातकर्मसे लेकर उपनयन तक संस्कार प्राप्त) द्विज गुरुके समीप (गुरुकुल) में वास करता हुआ वेदग्रहणके लिये (वक्ष्यमाण— आगे कहा जानेवाला) तपका संग्रह करे ॥ १६४ ॥

तपो-व्रतादिके द्वारा सरहस्य वेदाध्ययन—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥ १६५ ॥

द्विजको शास्त्रोक्त विधिसे बतलाये गये तप तथा अनेक प्रकारके व्रतों (नियम- श्लो० ७०, ७५, इत्यादिमें कथित) से रहस्य (उपनिषदों) के साथ सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करना चाहिये ॥ १६५ ॥

वेदाभ्यासकी श्रेष्ठता—

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १६६ ॥

तपस्याको (भविष्यमें) करनेवाला ब्राह्मण सर्वदा वेदका ही अभ्यास करे, क्योंकि ब्राह्मणके लिये वेदाध्ययनही इस लोकमें उत्कृष्ट तप कहा जाता है ॥१६६॥

वेदाभ्यास की प्रशंसा—

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायः शक्तितोऽन्वहम् ॥ १६७॥

पुष्प मालाको धारण करता हुआभी (ब्रह्मचर्यावस्थामें पुष्प माला पहनने का निषेध है, तथापि वैसा करता हुआ भी) जो ब्राह्मण प्रतिदिन शक्तिके अनुसार स्वाध्याय (वेदाभ्यास) करता है, वह नखके अग्र भाग तक (सिरसे पैरके नखाग्र भाग तक अर्थात् सम्पूर्ण शरीरमें) श्रेष्ठ तपस्याको तपता (करता) ही है ॥ १६७ ॥

वेदाभ्यासके विना अन्य शास्त्राभ्यासका निषेध—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

जो द्विज वेदका विना अध्ययन किये ही दूसरे शास्त्र (अर्थशास्त्र आदि) में परिश्रम करता है, वह जीता हुआ ही वंशसहित (पुत्र-पौत्रादिके साथ) शीघ्र शूद्रत्वको प्राप्त करता है ॥ १६८ ॥

विमर्श—वेदका विना अध्ययन किये ही स्मृति तथा वेदाङ्गोंके अध्ययन करनेमें उक्त दोष नहीं है, अत एव "वेदका विना अध्ययन किये वेदाङ्ग तथा स्मृतियोंको छोड़कर अन्य विद्या (राजनीति, अर्थशास्त्र आदि) का अध्ययन न करे' ऐसा शङ्ख तथा लिखितका वचन है।[1]

द्विजत्वनिरूपण—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥

वेदवाक्यानुसार द्विजका प्रथम जन्म मातासे, द्वितीय जन्म यज्ञोपवीत संस्कारसे और तृतीय जन्म ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंकी दीक्षासे होता है।

विमर्श—यहां प्रथम, द्वितीय और तृतीय जन्मका कथन द्वितीय जन्म (द्विजत्व)

---

१. 'अत एव शङ्खलिखितौ—न वेदमनधीत्यान्यां विद्यामधीयीतान्यत्र वेदाङ्गस्मृतिभ्यः" इति।' इति (म० मु०)।

की प्रशंसाके लिये है; क्योंकि द्विज ही यज्ञ दीक्षाग्रहणमें अधिकारी होता है ॥१६९॥

द्वितीय जन्ममें आचार्य-पिता तथा सावित्री-माता—

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥

पूर्व श्लोकोक्त उन तीनों जन्मोंमें द्विजका यज्ञोपवीतसे चिह्नित जो द्वितीय जन्म होता है, उसमें इसकी माता सावित्री (गायत्री) तथा पिता आचार्य हैं। (इस प्रकार माता तथा पिताके द्वारा यज्ञोपवीत संस्कारमें द्विजत्व रूप द्वितीय जन्म होता है) ॥ १७० ॥

विना यज्ञोपवीत संस्कारके द्विजकर्मका अनधिकार—

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात् ॥ १७१ ॥

मनु आदि महर्षि वेदोपदेश करनेके कारण आचार्यको पिता कहते हैं, क्योंकि इसे (ब्राह्मण-बालक को) यज्ञोपवीत संस्कारके पहले किसी श्रौत तथा स्मार्त कर्मको करनेका अधिकार नहीं है ॥ १७१ ॥

यज्ञोपवीतके पूर्व वेदमन्त्रोच्चारण का निषेध—

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

ब्राह्मणादि विना यज्ञोपवीत संस्कार हुए श्राद्धकर्मके अतिरिक्त कर्ममें वेदमन्त्र का उच्चारण न करे; क्योंकि वह जब तक वेदमें अधिकारी (यज्ञोपवीत संस्कार युक्त) नहीं होता, तब तक वह (द्विज) शूद्रके समान है ॥ १७२ ॥

यज्ञोपवीत संस्कार युक्तका वेदाधिकार—

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

यज्ञोपवीत संस्कार होनेपर व्रतों का (हवनके लिये समिधा का लाना, दिनमें सोनेका निषेध) वेदका उपदेश तथा ग्रहण (अध्ययन) क्रमशः विधिपूर्वक इष्ट है। (अतः यज्ञोपवीतके पहले इनका उपदेशादि नहीं करना चाहिये) ॥ १७३ ॥

गोदानादि व्रतमें यज्ञोपवीतोक्त दण्डादिधारण—

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला ।

योदण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

ब्रह्मचारीके लिये जो जो चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और वस्त्र यज्ञोपवीतमें बतलाये गये हैं (श्लो० ४१-४७), इनको उसे (गोदानादि) व्रतोंमें भी ग्रहण करना चाहिये ॥ १७४ ॥

तपोवृद्धिके लिये नियम पालन—

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

गुरुके समीपमें निवास करता हुआ ब्रह्मचारी इन्द्रिय-समूहको वशमें करके अपनी तपोवृद्धि के लिये नियमोंका पालन करे ॥ १७५ ॥

नित्य स्नान, तर्पण तथा हवनादि—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।

देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥

ब्रह्मचारी नित्य स्नानकर देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण; शिव और विष्णु आदि देव-प्रतिमाओं का पूजन तथा प्रातः एवं सायंकाल हवन करे॥१७६॥

विमर्श—गौतमने ब्रह्मचारीके लिये जो स्नान-निषेध किया है, वह सुख पूर्वक (जल क्रीडादिके साथ) स्नान विषयक निषेध है; इसीसे "नाप्सु श्लाघमानः स्नायात्" अर्थात् 'जलमें श्लाघापूर्वक स्नान न करे, ऐसा कहा है, विष्णुने तो प्रातः-सायं दो बार स्नान करनेको[1] कहा है।

ब्रह्मचारीके त्याज्य कर्म—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।

शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥

(ब्रह्मचारी) मधु (शहद), मांस, सुगन्धित (कर्पूर, कस्तूरी आदि) पदार्थ, फूलोंकी माला, रस (गन्ना जामुन आदिका सिरका आदि), स्त्री, अँचार आदि और जीवों की हिंसा (किसी प्रकार जीवों को कष्ट पहुँचाना) छोड़ दे ॥ १७७ ॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।

कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥

---

१. "कालद्वयमभिषेकाग्निकार्यकरणमप्सुदण्डवन्मज्जनम्" इति, (म० मु०)

(ब्रह्मचारी) सिरसे पैरतक (सर्वाङ्गमें) तैलकी मालिश या उबटन लगाना, आंखोंमें अञ्जन लगाना, जूता और छाता धारण करना, काम (विषयाभिलाष) क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना छोड़ दे ॥ १७८ ॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथा नृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ १७६ ॥

(ब्रह्मचारी) जुआ, लोगोंके साथ निरर्थक बकवाद, दूसरों की निन्दा, असत्य, अनुरागसे स्त्रियों को देखना तथा उनका आलिङ्गन करना और दूसरों को हानि पहुंचाना छोड़ दे ॥ १७९ ॥

इच्छासे वीर्यपात करने का निषेध—

एकः शतीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥

(ब्रह्मचारी) सर्वत्र अकेला ही सोवे, (इच्छा पूर्वक) वीर्यपात न करे; क्योंकि इच्छा पूर्वक वीर्यपात करता हुआ (ब्रह्मचारी) अपने व्रतसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ १८० ॥

स्वप्नमें वीर्यपात होनेपर स्नानादि कार्य—

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ १८१ ॥

(ब्रह्मचारी) विना इच्छाके स्वप्नमें वीर्यपात हो जानेपर स्नान तथा सूर्यका पूजनकर तीन बार "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्—" मन्त्रका जप करे ॥ १८१ ॥

आचार्यके लिये जलादिलाना—

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

(ब्रह्मचारी) पानीका घड़ा, फूल (देवपूजनके लिये), गोबर, मिट्टी और कुशोंको आचार्यकी आवश्यकताके अनुसारही लावे । (एक बारही अत्यधिक लाकर सञ्चय न करे) और प्रतिदिन भिक्षा (भोजनके लिये) मांगे ॥ १८२ ॥

भिक्षायोग्य गृह—

वेदज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।

ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥

वेदाध्ययन तथा पञ्चमहायज्ञोंसे अहीन (इनको नित्य करनेवाले) और अपने कर्ममें श्रेष्ठ लोगोंके घरोंसे जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षा लावे ॥ १८३ ॥

गुरुके कुल तथा अपनी ज्ञाति आदिमें भिक्षा याचना-निषेध—

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

(ब्रह्मचारी) गुरुके कुलमें, अपनी जाति वालोंमें, कुल बान्धव (मामा, मौसा आदि) में भिक्षा-याचना न करे । यदि भिक्षा योग्य दूसरे घर नहीं मिलें तो पूर्व-पूर्वका त्यागकर दे (योग्य गृहके अभावमें कुलबान्धवमें, उसके अभावमें अपनी जाति वालोंमें और उसके भी अभावमें गुरुके कुल (सपिण्ड) में भिक्षा-याचना करे) ॥ १८४ ॥

योग्य गृहाभावमें सम्पूर्ण ग्राममें भिक्षा याचना—

सर्वं वाऽपि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥

अथवा पूर्वोक्त (श्लो० १८३-१८४) योग्य गृहोंके अभावमें मौन धारणकर तथा पवित्र होकर पूरे ग्राममें भिक्षा-याचना करे, किन्तु महापातकियों (९।२३५) के घरोंको छोड़ दे । (उनके यहां भिक्षा-याचना कदापि न करे) ॥ १८५ ॥

समिधा का लाना तथा प्रातः-सायं हवन करना—

दूरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि ।
सायम्प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

दूरसे समिधा लाकर खुले स्थानमें (जहां छप्पर आदि न हों) उन्हें रख दे और उन समिधाओंसे प्रातःकाल तथा सायंकाल हवन करे ॥ १८६ ॥

भिक्षा-याचना तथा हवनके त्यागसे अवकीर्णिव्रत करना—

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥

नीरोग रहता हुआ भी ब्रह्मचारी यदि विना भिक्षा मांगे तथा विना हवन किये सात दिन तक रहे, तो 'अवकीर्णि'-व्रत (११।११८) करे ॥ १८७ ॥

भिक्षा-याचनाके बिना भोजन निषेध—

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती ।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥

ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षावृत्ति करे, किसी एकके अन्नका भोजन न करे। भिक्षान्न भोजन करनेसे ब्रह्मचारी की वृत्ति उपवासके समान कही गयी है ॥१८८॥

[न भैक्ष्यं परपाकः स्यान्न च भैक्ष्यं प्रतिग्रहः ।
सोमपानसमं भैक्ष्यं तस्माद् भैक्षेण वर्तयेत् ॥ ६ ॥

[भिक्षान्न दूसरेके द्वारा पकाया गया और प्रतिग्रह (दान) लेना नहीं माना जाता, भिक्षान्न सोमपानके समान है, इस कारणसे (ब्रह्मचारी) भिक्षावृत्ति करे ॥]

भैक्षस्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य हुतस्य च ।
यांस्तस्य ग्रसते ग्रासांस्ते तस्य क्रतुभिः समाः ॥ १० ॥]

[आगमसे शुद्ध, प्रोक्षित (जल छिड़के हुए) तथा हवन किये हुए भिक्षान्नके जिन ग्रासोंको ब्रह्मचारी खाता है; वे ग्रास यज्ञोंके समान हैं ॥]

पूर्वोक्त निषेधका अपवाद—

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद् व्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥

देवतोद्देश्यक कर्म (यज्ञादि) में सम्यक् प्रकारसे निमन्त्रित (ब्राह्मण) ब्रह्मचारी व्रतके योग्य एवं मधु-मांसादिसे वर्जित एक व्यक्तिके भी अन्नको भोजन करे तथा पितरोंके उद्देश्यवाले कर्म (श्राद्धादि) में सम्यक् प्रकारसे निमन्त्रित (ब्राह्मण) ब्रह्मचारी ऋषितुल्य मधु-मांसादिसे वर्जित एक मनुष्यके अन्नको भी भोजन करे; इस प्रकार इस (ब्रह्मचारी) का व्रत नष्ट नहीं होता है ॥ १८९ ॥

विमर्श—"व्रतमस्य न लुप्यते" इस मनुवचनको देखते हुए विश्वरूपने "ब्रह्मचारीके लिये इस मनुवचनके द्वारा विधान किया गया है" ऐसी व्याख्या की है; किन्तु उक्त वचन वास्तव में एकान्न-भोजन-निषेधक होनेसे ब्रह्मचारीके लिये मांस-भक्षणका विधायक नहीं है।

ब्राह्मण ब्रह्मचारीके लिये ही उक्त नियम—

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।

राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

पूर्वोक्त यह कर्म (यज्ञ या श्राद्धमें सम्यक् निमन्त्रित होकर एक मनुष्यके अन्नको भोजन करनेका विधान) केवल ब्राह्मण ब्रह्मचारीके लिये ही विहित है, क्षत्रिय तथा वैश्य ब्रह्मचारीके लिये यह विधान (यज्ञ या श्राद्धमें निमन्त्रित होकर एक मनुष्यके अन्नको भोजन करनेका नियम) नहीं है ॥ १९० ॥

अध्ययन तथा आचार्य-हितमें तत्परता—

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

आचार्यके कहनेपर अथवा नहीं कहनेपर भी ब्रह्मचारी अध्ययन और आचार्यके हितमें सर्वदा प्रयत्नशील रहे ॥ १९१ ॥

गुरुकी आज्ञाका पालन—

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ १९२ ॥

शरीर, वचन, बुद्धि, इन्द्रिय और मनको वशीभूतकर हाथ जोड़कर गुरुके मुखको देखता हुआ स्थित होवे (बैठे नहीं, किन्तु खड़ा रहे)—॥ १९२ ॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥ १९३ ॥

और सर्वदा दुपट्टेके बाहर दाहिना हाथ रखे, सदाचारसे युक्त और अच्छी तरह संयत रहे (वस्त्रसे शरीरको ढका रखे, नंगे शरीर न रहे) तथा "बैठो" ऐसा गुरुके कहनेपर उन (गुरु) के सामने बैठे ॥ १९३ ॥

गुरुसे कम अन्नवस्त्रादिका रखना आदि—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १९४ ॥

सर्वदा गुरुकी अपेक्षा अन्न (भोज्य पदार्थ), वस्त्र तथा वेषको हीन रखे और गुरुके सोकर उठनेके पहले उठे तथा सोनेके बाद सोवे ॥ १९४ ॥

गुरुके आज्ञापालनका प्रकार—

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत् ।

नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥ १९५ ॥

गुरुकी आज्ञाका स्वीकार या उनसे सम्भाषण (बातचीत) स्वयं सोए हुए, आसनपर बैठे हुए, खाते हुए, खड़े हुए या मुख फेरे (गुरुके सामने पीठ किये) हुए न करे ॥ १९५ ॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।

प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥ १९६ ॥

किन्तु गुरुके आसनपर बैठे रहनेपर स्वयं आसनसे उठकर, खड़े रहनेपर सामने जाकर, आते रहनेपर कुछ आगे (पासमें) बढ़कर और दौड़ते रहनेपर दौड़कर गुरुकी आज्ञाको स्वीकार करे या उनसे सम्भाषण (बातचीत) करे-॥१९६॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।

प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥

और गुरुके पराङ्मुख (पीठ फेरे रहने) पर उनके सामने जाकर, दूर रहनेपर स्वयं समीप जाकर, सोये (लेटे) रहनेपर तथा निकटस्थ रहनेपर प्रणामकर (नम्र होकर—झुककर) उन (गुरु) की आज्ञाको स्वीकार करे तथा उनके साथ सम्भाषण करे ॥ १९७ ॥

गुरुके समीप नीचे आसन रखना तथा चाञ्चल्यका निषेध—

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।

गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥

गुरुके समीप इस (ब्रह्मचारी) का आसन सर्वदा (गुरुकी अपेक्षा) नीचा रहे और (वह ब्रह्मचारी) गुरुके सामने मनमाने (अस्तव्यस्त) आसनसे न बैठे ॥

गुरुके नामग्रहण तथा चेष्टादिके अनुकरण करनेका निषेध—

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।

न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥

(ब्रह्मचारी) परोक्षमें भी गुरुके केवल (उपाध्याय, आचार्य, गुरु आदि उत्तम एवं योग्य उपाधियोंसे रहित) नामको उच्चारण न करे तथा उनके गमन, भाषण तथा चेष्टा आदिका अनुकरण (नकल) न करे ॥ १९९ ॥

[परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन।
दुष्टानुचारी च गुरोरिह वाऽमुत्र चेत्यधः ॥ ११ ॥]

[गुरुके परोक्षमें 'शिष्टता' पूर्वक गुरुका नामोच्चारण करे तथा प्रत्यक्षमें किसी प्रकार भी गुरुके नामका उच्चारण न करे। गुरुके विषयमें दुष्टाचरण करनेवाला (शिष्य) इस लोक तथा परलोकमें अधोगति पाता है ॥ ११ ॥]

गुरुनिन्दा सुननेका निषेध—

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ २०० ॥

जहां गुरुकी बुराई (गुरुमें वर्तमान दोषोंका वर्णन) या निन्दा (गुरुमें नहीं रहनेवाले दोषोंका कथन) होती हो, वहां ब्रह्मचारी कान बन्द कर ले या वहांसे अन्यत्र चला जाय ॥ २०० ॥

गुरुकी बुराई आदि करनेका फल—

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥ २०१ ॥

शिष्य गुरुके परिवाद (बुराई—उनके दोषोंका कहना) से गधा, निन्दा (गुरुमें नहीं रहनेवाले दोषोंका झूठमूठ कहना) से कुत्ता, धनका भोग करनेसे कृमि (विष्ठादि स्थित छोटा २ कीड़ा) मत्सर (गुरुकी उन्नतिको असहन करना) से कीट (यह कृमिसे कुछ बड़ा होता है) होता है ॥ २०१ ॥

स्वयं गुरुपूजा-विधान आदि—

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

शिष्य स्वयं दूर रहकर (किसी अन्य मनुष्यके द्वारा), स्वयं क्रुद्ध होकर (झुंझलाटसे) और स्त्रीके समीप बैठकर गुरुकी पूजा न करे तथा सवारी (रथ, गाड़ी, पालकी आदि) और आसनपर बैठा हुआ शिष्य उससे उतरकर गुरुको प्रणाम करे ॥ २०२ ॥

विमर्श—पहले (श्लो० ११९) "शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्' इस वचनमें शय्या और आसनपर स्थित होनेपर उठकर अभिवादन करनेके

विधानसे यहां पुनरुक्तिकी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इस (श्लो० २०२) में यान और आसनसे उतरकर अभिवादन करनेका विधान है ॥ २०२ ॥

प्रतिकूलादि वायुमें गुरुके साथ बैठनेका निषेध आदि—

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

प्रतिवात (प्रतिकूल वायु अर्थात् गुरुकी ओरसे शिष्यकी ओर आनेवाली हवा) तथा अनुवात (अनुकूल वायु अर्थात् शिष्यकी ओरसे गुरुकी ओर जानेवाली हवा) में गुरुके साथ न बैठे तथा जहां गुरु नहीं सुन सकते हों, वहां कुछ भी (गुरु या दूसरेके विषयमें कोई बात) न कहे ॥ २०३ ॥

बैलगाड़ी आदिमें गुरुके साथ बैठना—

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च ।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊंटगाड़ी, छतके ऊपर, बड़ी दरी आदि बिछौना, शीतलपाटी, बेंत या ताड़ आदिकी चटाई, पत्थर, लकड़ीका तख्ता और नावपर शिष्य गुरुके साथ बैठ सकता है ॥ २०४ ॥

गुरुके गुरुमें गुरुतुल्य आचरण—

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

गुरुके गुरुके पासमें गुरुके समान आचरण करे और गुरुके समीपमें रहता (निवास करता) हुआ शिष्य (ब्रह्मचारी) गुरुकी आज्ञाके विना (माता, चचा आदि गुरुजनोंका अभिवादन न करे ॥ २०५ ॥

विद्यागुरु आदिमें आचरण—

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥

उपाध्याय आदि अन्य (आचार्यको छोड़कर दूसरे) विद्यागुरुओंमें; चाचा मामा, मौसा आदि स्वबन्धुओंमें, अधर्मका निषेध करनेवालों (धर्मोपदेश करनेवाले) में तथा हितके उपदेश देनेवालोंमें गुरुके समान आचरण करे ॥ २०६ ॥

विद्यादिमें श्रेष्ठ आदि लोगोंके साथ आचरण—

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।

गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥

विद्या-तप आदिके द्वारा श्रेष्ठ लोगोंमें, अवस्थामें अपनेसे बड़े गुरु पुत्रमें और गुरुके आत्मीय बान्धवोंमें (शिष्य) गुरुके समान आचरण करे ॥ २०७ ॥

छोटे गुरुपुत्रादिके साथ आचरण—

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

गुरुका पुत्र अवस्थामें अपनेसे छोटा (कम आयुवाला) हो, समान (या बराबर) हो, अध्ययन या अध्यापन करता हो, यज्ञकर्ममें ऋत्विक् हो, या अऋत्विक् रूपमें यज्ञ-दर्शनके लिये आया हो तो वह गुरुके समान (यजमानका) पूज्य है ॥२०८॥

गुरुपुत्रमें अभ्यङ्गादिका निषेध—

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।
न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥

शिष्य गुरुपुत्रके शरीरमें उबटन लगाना, स्नान कराना, उसका जूठा भोजन करना और पैर धोना; इन कर्मोंको न करे ॥ २०९ ॥

गुरुकी सवर्ण स्त्रियोंके साथ व्यवहार—

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः ।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥

गुरुकी सवर्ण स्त्रियां गुरुके समान पूजनीय हैं और असवर्ण स्त्रियां प्रत्युत्थान तथा नमस्कार मात्रसे ही पूज्य हैं ॥ २१० ॥

गुरुस्त्रियोंमें अभ्यङ्गादिका निषेध—

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥

गुरुकी स्त्रियों को, तेलकी मालिश, स्नान कराना, उबटन लगाना, उनका बाल झाड़ना, या फूल आदिसे उसका शृङ्गार करना; इन कर्मोंको (शिष्य) न करे ॥

युवा शिष्यको युवती गुरुस्त्रीका पादस्पर्शनिषेध—

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥

बीस वर्षकी अवस्थावाला (युवक) गुण-दोषका ज्ञाता शिष्य गुरुकी युवती

स्त्रीके चरणको स्पर्शकर अभिवादन न करे। (अलगसे ही मस्तक झुकाकर अभिवादन करे) ॥ २१२ ॥

उक्त निषेधमें स्त्रीस्वभाव कारण—

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ ११३ ॥

स्त्रियोंका यह स्वभाव है कि इस जगत्में शृङ्गारचेष्टाओंके द्वारा व्यामोहितकर पुरुषोंमें दूषण उत्पन्न कर देती हैं, अत एव विद्वान् पुरुष स्त्रियोंके विषयमें असावधानी नहीं करते हैं (किन्तु सर्वदा उनसे अलग ही रहते हैं) ॥ २१३ ॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥

स्त्रियां काम तथा क्रोधके वशीभूत मूर्ख या विद्वान् पुरुषको भी कुमार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये समर्थ होती हैं ॥ २१४ ॥

माता-बहन आदिके साथ एकान्तवासका निषेध—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥

पुरुष (युवतो) माता, बहन तथा पुत्रीके साथ कभी एकान्तमें न रहे; क्योंकि बलवान् इन्द्रिय-समूह विद्वान्को भी अपने वशमें कर लेता है ॥ २१५ ॥

युवती गुरुपत्नीकी अभिवादनविधि—

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

युवा शिष्य युवती गुरुपत्नीको "अमुक नामवाला" मैं अभिवादन करता हूं (अभिवादये शुभशर्माहं भोः !.......) कहकर पृथ्वीपर (उसका पादस्पर्श न कर) विधिपूर्वक अभिवादन करे ॥ २१६ ॥

प्रवाससे लौटकर गुरुपत्नी का चरणस्पर्शपूर्वक अभिवादन—

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥

सत्पुरुषोंके धर्मको स्मरण करता हुआ शिष्य प्रवाससे लौटकर गुरुपत्नीका चरण-स्पर्श करके तथा प्रतिदिन विना चरणस्पर्श किये ही अभिवादन करे ॥

गुरुसेवाका फल—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

जिस प्रकार खनित्र (कुदाल—जमीन खोदने का अस्त्र) से (जमीन) को खोदता हुआ मनुष्य पानी को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार गुरुसेवा करनेवाला शिष्य गुरुकी विद्याको भी प्राप्त कर लेता है ॥ २१८ ॥

ब्रह्मचारीके तीन प्रकार तथा ग्रामवास निषेध—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥ २१६ ॥

ब्रह्मचारी (शिखासहित) मुण्डन करावे, जटायुक्त रहे (बिलकुल बाल न बनवावे) या केवल शिखामात्र रखे (शिखा को छोड़ शेष बाल बनवा ले) और इस ब्रह्मचारी को किसी स्थानमें सोते रहनेपर न तो सूर्योदय हो और न तो सूर्यास्त हो। (सूर्योदय तथा सूर्यास्तके पहले ब्रह्मचारी ग्रामसे बाहर जाकर अपना सन्ध्योपासन तथा अग्निहोत्रादि नित्यकृत्य करे) ॥ २१९ ॥

उक्त कर्मके भङ्ग होनेपर प्रायश्चित्त—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

इच्छापूर्वक (रुग्णादि अवस्थामें नहीं) ब्रह्मचारीके सोते रहनेपर यदि सूर्योदय हो जाय तो वह गायत्री जप करता हुआ दिनभर उपवास करे (और रातमें भोजन करे) और भ्रमसे (बिना जाने सोते रहनेपर) यदि सूर्यास्त हो जाय तो वह गायत्री जप करता हुआ आगे वाले दिनमें उपवास करे (और रातमें भोजन करे) ॥ २२० ॥

विमर्श—"सूर्योदयके बाद सोकर उठा हुआ ब्रह्मचारी सावित्री जप करता हुआ दिनमें उपवास करे और सोते रहनेपर सूर्यास्त होनेसे सावित्री जप करता हुआ रात्रिमें उपवास करे"[1] ऐसा गौतमके कहनेसे मनूक्त वचनका विरोध होता है, (क्योंकि मनु भगवान् दोनों अवस्थाओंमें दिनमें जप तथा उपवास और रात्रिमें भोजन करनेका विधान करते हैं और गौतमके वचनसे सूर्याभ्युदित (प्रथमपक्षमें)

१. "सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेदहरभुञ्जानोऽभ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन् सावित्रीम्" इति गौतमवचनम्।

ब्रह्मचारीके लिये दिनमें जपोपवास तथा अभ्यस्तमित (द्वितीय पक्षमें) ब्रह्मचारीके लिये रातमें जपोपवास करनेका विधान है) ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। मनूक्तव्याख्याके सन्देहावस्थामें दूसरे मुनिके अर्थ या अन्वय का आश्रय न कर मनुके द्वारा केवल 'जप' मात्रका विधान होनेसे संन्देहोपस्थितिमें उक्त गौतम-वचनसे सावित्रीके जपका ही ग्रहण करना है, किन्तु दोनों पक्षोंमें स्पष्ट कहे गये दिनोपवास विधायक मनु-वचनको अन्यथा नहीं करते, अत एव अभ्यस्तमित (दूसरे अवस्थामें) ब्रह्मचारीके लिये मनु तथा गौतमके वचनोंको विकल्प रूपसे ग्रहण करना चाहिये। अभ्युदित (प्रथमावस्थामें) वाले ब्रह्मचारीके लिये दोनों ऋषियों का ऐक्यमत्य है।

उक्त प्रायश्चित्त न करनेपर दोष—

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥

जिस ब्रह्मचारीके सोते रहनेपर सूर्योदय या सूर्यास्त हो जाय और वह ब्रह्मचारी उक्त प्रायश्चित्त (श्लो० २२०) न करे तो बड़े पापसे युक्त होता है (अतः उसे उक्त प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये) ॥ २२१ ॥

सन्ध्योपासन की आवश्यकता—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

आचमनकर पवित्र तथा सावधान ब्रह्मचारी पवित्र स्थानमें सावित्रीको जपता हुआ दोनों समय सन्ध्याका विधिपूर्वक अनुष्ठान करे ॥ २२२ ॥

स्त्री-शूद्रादिके भी उत्तम कार्यको करना—

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत्।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

स्त्री या शूद्र भी जिस किसी अच्छे कामको करते हों, उसे तथा शास्त्रानुकूल कर्मोंमेंसे जो कर्म रुचिकर हो, उन्हें भी सावधान होकर करे ॥ २२३ ॥

(भिन्न २ आचार्योंके मतसे त्रिवर्गका स्वरूप—)

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

कोई आचार्य (कामहेतुक होनेसे) धर्म तथा अर्थको, कोई आचार्य (सुख हेतुक होनेसे) काम तथा अर्थको, कोई आचार्य (अर्थ और कामके उपायभूत,

होनेसे) धर्मको और कोई आचार्य (धर्म तथा अर्थका साधन होनेसे अर्थको ही श्रेय (कल्याण कारक) मानते हैं; किन्तु (पुरुषार्थताके कारण) त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) ही श्रेय है, ऐसा निश्चय है। (यह भोगाभिलाषियोंके लिये उपदेश है, मोक्षाभिलाषियोंके लिये तो मोक्ष ही श्रेय है, यह आगे कहेंगे) ॥२२४॥

आचार्यादिके अपमानका निषेध—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२५ ॥

आचार्य, पिता, माता, सहोदर बड़ा भाईका अपमान दुःखित होकर भी न करे तथा विशेषतः ब्राह्मण तो कदापि न करे—॥ २२५ ॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ २२६ ॥

(क्योंकि) आचार्य परमात्माकी, पिता प्रजापतिकी, माता पृथिवीकी और सहोदर बड़ा भाई अपनी मूर्ति है। (अत एव देवरूप इन आचार्यादिका अपमान नहीं करना चाहिये) ॥ २२६ ॥

माता पितासे उद्धार पाना असम्भव—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥

मनुष्योंके उत्पन्न होनेमें (गर्भधारण प्रसववेदना तथा पालनरक्षण, वर्द्धन, संस्कार तथा वेद-वेदाङ्गादिका अध्यापनादि कर्मद्वारा) माता-पिता जिस कष्टको सहते हैं, सैकड़ों वर्षों (या अनेक जन्मों) में भी उसका बदला चुकाना अशक्य है-॥२२७॥

माता, पिता और आचार्यकी तुष्टिसे तपःपूर्णता—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

इस कारण माता, पिता और आचार्यका नित्य प्रिय करे (उन्हें सन्तुष्ट करे) उन तीनोंके सन्तुष्ट होनेपर सब तप (चान्द्रायणादि व्रत) पूरा होता है (उन व्रतोंका फल प्राप्त होता है) ॥ २२८ ॥

माता-पितादिकी आज्ञाके विना अन्यधर्माचरणका निषेध—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥

उन तीनों (माता, पिता और आचार्य) की शुश्रूषा श्रेष्ठ तप कहा जाता है। उन तीनोंसे विना आज्ञा पाये किसी दूसरे धर्मका आचरण न करे ॥ २२९ ॥

माता आदि तीनों लोकादिका स्वरूप—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २३० ॥

वे (माता, पिता और आचार्य) ही तीनों (भूः, भुवः, स्वः) लोक हैं; वे ही तीनों आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, और वानप्रस्थाश्रम) हैं; वे ही तीनों वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) हैं और वे ही तीनों अग्नि (गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि) हैं ॥ २३० ॥

विमर्श—यहां पर माता, पिता और आचार्यको तीनों लोकोंकी प्राप्तिका कारण होने से लोकत्रयका, गार्हस्थ्यादि आश्रमोंका दाता होनेसे तीनों आश्रमों का, तीनों वेदोंके जपका फलोपाय होनेसे तीनों वेदोंका और तीनों अग्नियों द्वारा सम्पादनीय यज्ञोंका फल दाता होनेसे तीनों अग्नियोंका आरोप उनमें किया गया है।

माता, पिता और आचार्यरूप त्रेताग्निकी श्रेष्ठता—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥

पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु (आचार्य) आहवनीयाग्नि हैं, यह (माता, पिता और आचार्य रूप) अग्नित्रय अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ २३१ ॥

माता, पिता और आचार्यकी सेवाका फल—

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥ २३२ ॥

इन तीनों (माता, पिता और आचार्य) में प्रमाद हीन (ब्रह्मचारी तथा) गृहस्थ तीनों लोकोंको जीत लेता है और अपने शरीरसे देदीप्यमान होता हुआ सूर्यादि देवताओंके समान स्वर्गमें आनन्द करता है ॥ २३२ ॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३ ॥

माताकी भक्तिसे मृत्युलोकको, पिताकी भक्तिसे मध्यम (अन्तरिक्ष) लोकको और आचार्यकी सेवासे ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है ॥ २३३ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।

अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥

जिसने इन तीनों (माता, पिता और आचार्य) का आदर किया, उसने सब धर्मोंका आदर किया (उसके लिये सब धर्म फल देनेवाले होते हैं) जिसने उन तीनोंका अनादर किया, उसकी (श्रुति-स्मृति-विधि-विहित) सब क्रियायें निष्फल होती हैं ॥ २३४ ॥

माता आदिकी सेवाका प्राधान्य—

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ २३५ ॥

जब तक वे तीनों (माता, पिता और आचार्य) जीते रहें, तब तक किसी अन्य धर्मको स्वेच्छासे (विना उनकी आज्ञा पाये) न करे, किन्तु उन्हींकी प्रिय एवं हितमें तत्पर रहते हुए नित्य सेवा करे ॥ २३५ ॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

उन (माता, पिता और आचार्य) की सेवाके अविरुद्ध उनकी आज्ञासे जो कुछ परलोकके लिये कार्य करे; उसे मन, वचन और कर्मसे उनके लिये अर्पित करे (उनसे निवेदन करे) ॥ २३६ ॥

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥

इन तीनों (माता, पिता और आचार्य की सेवा) में ही मनुष्य का सम्पूर्ण (श्रुति-स्मृति-विहित) कृत्य परिपूर्ण हो जाता है । यही (माता आदिकी सेवा ही) मनुष्यका श्रेष्ठ (साक्षात् सब पुरुषार्थका साधक) धर्म है और अन्य (अग्निहोत्रादि) धर्म उपधर्म हैं ॥ २३७ ॥

नीच आदिसे भी विद्यादिका ग्रहण—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥

श्रद्धा युक्त होकर अपनी अपेक्षा नीच व्यक्ति (शूद्र) से भी श्रेष्ठ विद्या (जिसकी शक्ति अनेक बार देखी गयी हो, ऐसी गारुडादि विद्या) को सीखना चाहिये । चाण्डाल (पूर्व जन्मके किसी दुष्कृत-विशेषसे चाण्डलताको प्राप्त जातिस्मरत्व आदि विहित योग प्रकर्षवाले आत्मज्ञानी चाण्डाल) से भी

उत्कृष्ट धर्म (मोक्षोपायभूत आत्मज्ञान) को प्राप्त करना चाहिये तथा अपनेसे नीच कुलसे भी (शुभ लक्षणोंसे युक्त) स्त्रीरत्नको (विवाहके लिये) ग्रहण करना चाहिये ॥ २३८ ॥

विमर्श—अत एव 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा नीच शूद्रसे भी बारबार श्रद्धापूर्वक मोक्षधर्म ज्ञानकी प्राप्त करना चाहिये'[1] कहा है। मेधातिथि का कथन है कि—"श्रुति-स्मृति-विहित धर्मकी अपेक्षा अन्य लौकिक धर्म (व्यवस्था) चाण्डाल भी कहे तो उसे मानना चाहिये, यदि चाण्डाल भी 'इस स्थानपर बहुत देर तक मत रुको, इस पानीमें स्नान मत करो' आदि वचन कहे तो उसे मानना चाहिये" (वह चाण्डालोक्त वचन भी एक प्रकारका धर्म अर्थात् व्यवस्था है और मनूक्त 'धर्म' शब्द 'व्यवस्था' अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है"[2]। चाण्डालको वेदार्थज्ञानोपदेशका अविधान होनेसे तज्जन्य मोक्षज्ञानका अभाव होना ही यद्यपि सिद्धान्त-सिद्ध है, तथापि पुण्यातिशयादिसे कुल्लूकभट्टके कथनानुसार पूर्वजन्मगत जातिस्मरणादिके द्वारा मोक्षधर्म (आत्मज्ञान) का होना संभव होनेपर भी ब्राह्मणादिसे उसका ज्ञान प्राप्त करना उत्तम जान पड़ता है, स्फुटताके लिये म० मु० देखिये।

विष आदिसेभी अमृत आदिकी ग्राह्यता—

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥

विषसे (यदि विषमें अमृतयुक्त हो तो उस विषसे) भी अमृतको, बालकसे भी सुभाषितको, शत्रुसे सदाचारको और अपवित्रसे भी सुवर्ण (सोना) को लेना चाहिये ॥ २३९ ॥

स्त्री, रत्न आदिकी सबसे ग्राह्यता—

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ २४० ॥

स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शौच, सुभाषित और अनेक प्रकारके शिल्प (कला-कौशल चित्र-लेखनादि) सबसे लेना चाहिये ॥ २४० ॥

---

१ "······प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात्क्षत्रियाद्वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णं श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यम्।' न श्रद्धिनं प्रति जन्ममृत्युविशेषता।" इति म० मु०।

२. मेधातिथिस्तु—श्रुतिस्मृत्यपेक्षया परो धर्मो लौकिकः। धर्मशब्दो व्यवस्थायामपि युज्यते। यदि चाण्डालोऽपि—'अत्र देशे मा चिरं स्थाः, मा चास्मिन्नम्भसि। इति वदति तमपि धर्ममनुतिष्ठेत्।" इति (म० मु०)।

आपत्तिकालमें अब्राह्मणसे अध्ययन करना—

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥

आपत्तिकालमें अब्राह्मण (ब्राह्मणके अभावमें क्षत्रिय और क्षत्रियके अभावमें वैश्य) से भी ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करे तथा अध्ययन काल तक ही उक्त उस अब्राह्मण[1] गुरुका अनुगमन और शुश्रूषा करे ॥ २४१ ॥

विमर्श—ब्राह्मण आपत्तिकालमें अब्राह्मण द्विजसे अध्ययन करनेके समयमें उक्त गुरुका पादप्रक्षालन तथा उच्छिष्टभोजन न करे तथा अध्ययनके बाद विद्वान् होनेसे उक्त ब्रह्मचारी अब्राह्मण द्विज रूप अध्यापकका गुरु कहा जाता है, अत एव अध्ययनके बाद अनुगमन तथा सेवाका निषेध किया गया है ॥ २४१ ॥

अब्राह्मणादि गुरुके पास आत्यन्तिक वासनिषेध—

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥

उत्तम गति (मोक्ष) को चाहनेवाला ब्रह्मचारी साङ्ग वेदके ज्ञाता भी अब्राह्मण (क्षत्रिय और वैश्य) गुरुके पास तथा साङ्ग वेदके नहीं जाननेवाले ब्राह्मण गुरुके पास आत्यन्तिक वास (जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यावस्थामें रहना) न करे ॥ २४२ ॥

आत्यन्तिक वासमें रुचि होनेपर—

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥

यदि गुरुकुलमें ही नैष्ठिक ब्रह्मचर्यरूप आत्यन्तिक वास (जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वास करना) की इच्छा हो तो शरीर छूटने (मरने) तक सावधान होकर गुरुकी परिचर्या (सेवा) करे ॥ २४३ ॥

गुरुकुलमें आत्यन्तिक वाससे ब्रह्मलोक प्राप्ति—

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ २४४ ॥

जो ब्रह्मचारी शरीर छूटने (मरने) तक गुरुकी सेवा करता है, वह ब्राह्मण

---

१. 'गुरुत्वमपि यावदध्ययनमेव क्षत्रियस्याह व्यासः—
'मन्त्रदः क्षत्रियो विप्रैः शुश्रूषानुगमादिना ।
प्राप्तविद्यो ब्राह्मणस्तु पुनस्तस्य गुरुः स्मृतः ॥'' इति (म० मु०)

शीघ्र ही विनाश रहित (नित्य) ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है ॥ २४४ ॥

व्रतसमाप्ति कालमें गुरुदक्षिणा—

न पूर्वं गुरुवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

धर्मज्ञ (ब्रह्मचारी) पहले (अध्ययनकालमें) गुरुका कोई उपकार (गौ, वस्त्र, धनादि को देकर) न करे (स्वयं प्राप्त होनेपर तो देवे ही[1])। व्रतपूर्तिकालमें (समावर्तन संस्कार निमित्तक) स्नान करनेके पहले गुरुसे आज्ञा पाया हुआ ब्रह्मचारी (गुरुके लिये किसी धनिक[2] व्यक्तिसे याचनाकर) यथाशक्ति गुरुदक्षिणा दे ॥२४५॥

क्षेत्र, सुवर्ण आदि गुरुदक्षिणा—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम्।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥

उक्त (व्रतसमाप्तिका स्नानकर गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेका इच्छुक) ब्रह्मचारी भूमि, सुवर्ण, गौ, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, शाक और कपड़ोंको देकर गुरुकी प्रसन्नताको प्राप्त करे ॥ २४६ ॥

विमर्श—अपनी शक्तिके अनुसार उक्त सब वस्तुओंको दे या पृथक् किसी एक वस्तुको ही दे। विकल्प पक्षमें अन्य वस्तुओंके अभावमें छाता और जूता—दोनों ही (एक नहीं) दे। यह सब दिङ्मात्र निर्देश है, शक्ति होनेपर अन्य वस्तु भी दी जासकती है, क्योंकि अधिकसे अधिक देनेपर भी शिष्य गुरुके ऋणसे मुक्त नहीं हो सकता। यदि कुछ न दे सके तो केवल शाक[3] ही देकर उस शिष्यको गुरुकी प्रसन्नता प्राप्त करनी चाहिये।

आचार्य के मरनेपर गुरुपुत्रादिमें गुरुतुल्य व्यवहार—

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद् वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥

---

१. एतदर्थं रघुवंशस्य पञ्चमसर्गस्थो रघुकौत्सयोः कथाभागो द्रष्टव्यः।

२. तथा चापस्तम्बः—"मदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एव ताः स एव ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यव्रतम्।" इति।

३. "तथा च लघुहारीतः—

'एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणी भवेत् ॥"

असम्भवे शाकमपि दद्यात्।" इति म० मु०।

आचार्यके मरनेपर गुणयुक्त गुरुपुत्रमें, गुरुपत्नीमें और गुरुके सपिण्ड (सात पीढ़ी तकके परिवार) में गुरुके समान व्यवहार करे ॥ २४७ ॥

उक्त गुरुपुत्रादिके अभावमें कर्तव्य—

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान्।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

इन (विद्वान् गुरुपुत्र, गुरुपत्नी और गुरु के सपिण्ड) के नहीं रहनेपर आचार्य की अग्नि-समाधिके समीप ही स्नान, आसन, तथा विहारसे युक्त ब्रह्मचारी अग्नि-शुश्रूषा (प्रातः-सायं विधिवत् अग्निहोत्र) करता हुआ अपने शरीर को साधे (ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनावे) ॥ २४८ ॥

जीवनपर्यन्त गुरुकुल सेवाका फल—

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(आचार्यके मरने पर भी) गुरु पुत्रादिसे लेकर अग्नितक की शुश्रूषा करनेवाला अखण्डित व्रतवाला जो ब्राह्मण नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका आचरण करता है, वह उत्तम स्थान (ब्रह्मपद-मोक्ष) को पाता है और फिर इस संसारमें (कर्मवशसे) जन्म को नहीं पाता है ॥ २४९ ॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् संस्कारादिकवर्णनम्।
भागीरथ्याः कृपादृष्ट्या द्वितीये पूर्णतां गतम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः।

ब्रह्मचर्य पालन की अवधि—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥

ब्रह्मचारी गुरुके समीपमें ३६ वर्ष (प्रतिवेदके क्रमसे १२-१२ वर्ष) तक या उसका आधा १८ वर्षतक (प्रतिवेदके हिसाबसे ६=६ वर्ष तक) अथवा उसका चतुर्थांश ९ वर्षतक (प्रतिवेदके हिसाबसे ३—३ वर्षतक) अथवा वेदोंके ग्रहण

(अध्ययन) करनेकी अवधितक तीनों वेदोंका अध्ययनरूप व्रत (ब्रह्मचर्यपालन व्रत) करे ॥ १ ॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥

ब्रह्मचारीको चाहिये कि अखण्डित ब्रह्मचर्य को धारण करते हुए तीनो वेदोंको (अपने २ वेदकी शाखाओंके सहित तीनों वेदों को) उतना न कर सके तो दो वेदों को (अपने २ वेदकी शाखाओंके सहित दोनों वेदों को) उतना भी नहीं कर सके तो एक वेद को (अपने वेदकी शाखाके साथ एक वेद को) ही मन्त्र-ब्राह्मण-क्रमसे अध्ययन कर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे ॥ २ ॥

विमर्श—यद्यपि मनुने पुरुषशक्त्यनुसार तीनों विकल्पोंमें श्रेष्ठ उभयस्नातक का ही वर्णन किया है, किन्तु स्मृत्यन्तरमें अन्य भी स्नातक-भेदका वर्णन मिलता है; यथा—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्या-व्रतस्नातक । उनमें—(१) जिसने केवल वेदाध्ययन को समाप्त किया वह विद्यास्नातक, (२) जिसने केवल व्रतको समाप्त किया वह व्रतस्नातक और (३) जिसने विद्या तथा व्रत दोनों को समाप्त किया, वह विद्याव्रतस्नातक[1] है । इस प्रकार स्नातकके तीन भेद वर्णित हैं ॥

वेद पढ़े हुए ब्रह्मचारी का पिता आदि द्वारा पूजन—

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥

अपने धर्मसे प्रसिद्ध, पितासे (पिताके अभावमें आचार्यसे) ब्रह्मदाय (ब्रह्म-भाग अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिसाधक वेद) को ग्रहण किये हुए माला पहने हुए तथा श्रेष्ठ आसनपर बैठे हुए ब्रह्मचारी की पूजा पिता या आचार्य गोदुग्ध आदिके मधुपर्कसे करे ॥ ३ ॥

समावर्तनके बाद विवाह—

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

---

१. तथा च हारीतः—"त्रयः स्नातका भवन्ति, विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्च" इति । यः समाप्य वेदमसमाप्य व्रतानि समावर्तते स विद्यास्नातकः । यः समाप्य व्रतान्य-समाप्य वेदं समावर्तते स व्रतस्नातकः । उभयं समाप्य समावर्तते यः स विद्याव्रतस्नातकः इति (म० मु०) ।

गुरुसे आज्ञा पाया हुआ द्विज अपनी गृह्योक्त विधिसे (व्रत-समाप्ति-सूचक) स्नान कर अपने समान वर्णवाली (३।५-११) शुभ लक्षणोंसे युक्त कन्याके साथ विवाह करे ॥ ४ ॥

असपिण्डादि कन्याका विवाहयोग्यत्व—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥

जो कन्या माताके या पिताके सपिण्ड (सात पीढीतक) की न हो और पिताके गोत्रकी न हो; ऐसी कन्या द्विजातियोंके स्त्रीकर्म (अग्न्याधानादि यज्ञकर्म तथा मैथुनकर्म) के लिये श्रेष्ठ होती है ॥ ५ ॥

विवाहमें निन्दित कुल—

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

गौ, बकरी, भेड़, धन तथा अन्नसे अधिक समृद्धि वाले भी आगे कहे हुए (३।७) दश कुलों (वंशों) का विवाह-सम्बन्ध में त्याग करना चाहिये ॥ ६ ॥

उक्त दश त्याज्यकुलोंके नाम—

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ७ ॥

(वे त्याज्य दश कुल ये हैं—) १. जातकर्म आदि संस्कारसे हीन, २. जिस कुलमें पुत्र उत्पन्न नहीं होता हो तथा सदा कन्या ही उत्पन्न होती हो, ३. जो वेदोंके पठन-पाठन से हीन हो, ४. जिस कुलके पुरुषोंके शरीरमें अधिक रोम हों; ५. जिस कुलमें राजयक्ष्मा ६. मन्दाग्नि, ७. मूर्च्छा (मृगी), ८. श्वेत कुष्ठ और १०. गलित कुष्ठ रोग हों या हुए हों (उस कुलकी कन्याके साथ विवाह न करे) ॥७॥

कपिला आदि कन्या विवाहके अयोग्य—

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ८ ॥

कपिल (भूरे) वर्णवाली, अधिक (या कम) अङ्गोंवाली (यथा—छः अङ्गुलियोंवाली; या चार या तीन आदि अङ्गुलियोंवाली आदि), नित्य रोगिणी रहनेवाली, बिलकुल रोमसे रहित, या बहुत अधिक रोमवाली अधिक बोलनेवाली और भूरी २ आखोंवाली कन्यासे विवाह न करे ॥ ८ ॥

नक्षत्र आदिके नामवाली कन्या विवाहके अयोग्य—

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥

नक्षत्र, पेड़, नदी, म्लेच्छ, पहाड़, पक्षी, सर्प, दूत या दासी-इनके नामोंवाली तथा भयङ्कर नामवाली कन्यासे विवाह न करे। (क्रमशः उदा०-नक्षत्र-आर्द्रा, रेवती; वृक्ष-धात्री, कदली; नदी-गङ्गा, यमुना, गोदावरी आदि; म्लेच्छ-चण्डाली, श्वपची आदि; पहाड़-विन्ध्याचली आदि; पक्षी-कोकिला, सारिका, मैना, मयूरी आदि; सर्प-नागी आदि; दास या दासी चेटी, दासी आदि; भयङ्कर-डाकिनी, पिशाची, आदि)॥

[नातिस्थूलां नातिकृशां न दीर्घां नातिवामनाम्।
वयोऽधिकां नाङ्गहीनां न सेवेत्कलहप्रियाम् ॥ १ ॥]

[बहुत मोटी, बहुत दुबली-पतली, बहुत लम्बी, बहुत छोटी अर्थात् नाटी, अवस्थामें अधिक, किसी अङ्ग (कान, आंख अङ्गुलि आदि) से हीन (या अधिक) और झगड़ा करनेवाली कन्यासे विवाह न करे] ॥ १ ॥

कन्याके शुभ लक्षण—

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥ १० ॥

जो किसी अङ्ग (कान, नाक, आंख आदि) से हीन न हो (बहरी, नकटी, कानी, लूली लँगड़ी आदि न हो), सुन्दर नामवाली हो (यथा—चन्द्रानना, दमयन्ती, शकुन्तला आदि), हंस तथा हाथी के समान चलनेवाली (हंसगामिनी तथा गजगामिनी) हो; सूक्ष्म रोम, बाल तथा पतले २ दांतों वाली हो और सुकुमार शरीरवाली हो; ऐसी कन्या से विवाह करे ॥ १० ॥

भाईसे रहित आदि कन्या विवाहके अयोग्य—

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥

जिस कन्याको भाई न हो और जिस कन्याको माता-पिताका ज्ञान न हो, उस कन्याके साथ (क्रमशः) पुत्रिका धर्मकी शङ्कासे विद्वान् पुरुष विवाह न करे ॥ ११ ॥

विमर्श—"अपुत्रोऽनेन विधिना·····(९।१२७)" इस मनूक्त वचनके या "अभिसन्धिमात्रात्पुत्रिकेत्येके" इस गोतमोक्त वचनके अनुसार केवल शर्तकरनेसे भी 'पुत्रिका' होती है। 'जिसके पिताका ज्ञान नहीं हो, ऐसी कन्यासे भी विवाह न करे'

इस अर्थमें भी कुछ विद्वान् 'पुत्रिका' धर्मकी शङ्कासे उक्त कन्यासे विवाह करनेका निषेध मानते हैं। इस विषयमें गोविन्दराजका मत है कि—"भिन्न-भिन्न पिता-वाली कन्याका भाई होसकनेके कारण 'जिसका विशेष रूपसे पिताका ज्ञान न हो, उस कन्याके साथ पुत्रिका की शङ्कासे ही विवाह न करे"। मेधातिथिका मत है कि—"जिस कन्याका भाई नहीं हो, 'पुत्रिका' धर्मकी आशङ्कासे उस कन्याके साथ विवाह न करे"। पिताका ज्ञान न हो या मर गया हो (तो भी विवाह न करे)। 'पिताके रहने पर उसीके कथनसे 'पुत्रिका' धर्मका ज्ञान होनेसे भाईसे रहित कन्याके साथ भी विवाह करे"। मन्वर्थमुक्तावलीकारका मत है कि 'वा' शब्दके विकल्पार्थक होनेसे "जिस कन्याके पिताका विशेषतः ज्ञान न हो, जारज होनेकी आशङ्कासे तथा अधर्मकी आशङ्कासे उस कन्याके साथ भी विवाह न करे।" इस श्लोकका 'नेने' शास्त्रिसम्मत सारांश यह है कि—"जिसका पिता न हो, उसके साथ विवाह न करे। कदाचित् पिताने इस कन्याका 'पुत्रिका' धर्म न कर दिया हो, इस आशङ्कासे अर्थात् 'पुत्रिका' धर्मकी शङ्कासे ऐसी कन्याके साथ भी विवाह न करे। पिताके विदेशस्थ रहनेपर या मर जानेपर माता या सपिण्ड (गोत्रके लोग) 'पुत्रिका' रूपमें कन्याको देनेका शर्त करते हैं, अतः पिताके ज्ञान हो जानेपर-"यह कन्या पुत्रिका रूपमें दी गयी है या नहीं यह आशङ्का ही नहीं होती। तथा यदि पिता न हो तब उस कन्याके साथ विवाह न करे"।

सवर्णा स्त्रीकी श्रेष्ठता—

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः॥ १२॥

द्विजातियोंके वास्ते प्रथम विवाहके लिये सवर्णा (अपने वर्णकी—अन्तर्जातीय नहीं) स्त्री श्रेष्ठ मानी जाती है। कामके वशीभूत होकर (दूसरे विवाहके लिये) प्रवृत्त पुरुषोंकी ये (३।१३) स्त्रियां क्रमशः श्रेष्ठ (अनुलोम क्रमसे) मानी जाती हैं॥

अन्यवर्णज स्त्रियोंके साथ विवाह—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥ १३॥

शूद्र पुरुषकी शूद्रा (शूद्रवर्णोत्पन्ना) वैश्य पुरुषकी वैश्य तथा शूद्र वर्णोंमें उत्पन्ना, क्षत्रिय पुरुषकी वैश्य, शूद्र तथा क्षत्रिय वर्णोंमें उत्पन्ना और ब्राह्मण पुरुषकी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा ब्राह्मण वर्णोंमें उत्पन्ना स्त्री हो सकती है॥ १३॥

हीन वर्णोत्पन्न स्त्रीसे विवाहनिषेध—

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते॥ १४॥

(किन्तु—३।१२-१३ के द्वारा विहित होनेपर तथा सवर्णा स्त्रीके नहीं मिलनेसे) आपत्तिमें पड़े हुए भी ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये किसी इतिहास-आख्यानादिमें शूद्रा भार्याका विधान नहीं है ॥ १४ ॥

विमर्श—पहले (३।१२-१३) सवर्णानुक्रमसे विवाहका विधान कर यह निषेध प्रतिलोमक्रमसे विवाहविषयक समझना चाहिये । इतना ही नहीं—इस श्लोकका निषेधक वचन ब्राह्मण-क्षत्रियके लिये उनके दोषाधिक्यप्रदर्शनार्थ है, आगे (३।१५) में 'द्विजातयः' बहुवचन निर्देशसे द्विजातिमात्र-ब्राह्मण-क्षत्रियके अतिरिक्त वैश्यके लिये भी निषेध समझना चाहिये ।

हीन वर्णोत्पन्नाके साथ विवाहसे कुलकी शूद्रता—

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥ १५ ॥

(सवर्णाके साथ विवाहकर) शूद्राके साथ विवाह करनेवाले द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) सन्तान-सहित (उसमें उत्पन्न पुत्र-पौत्रादि सहित) कुलोंको शूद्रत्व प्राप्त करा देते हैं (शूद्र बना डालते हैं) । अतः द्विजमात्रको हीनवर्णोत्पन्नास्त्री के साथ विवाह कदापि भी नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

शूद्राके साथ विवाह करने में मतान्तर—

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥

अत्रि तथा उतथ्यपुत्र (गौतम) ऋषि का मत है कि—शूद्राके साथ विवाह करनेवाला(ब्राह्मण) पतित हो जाता है, शौनक ऋषिका मत है कि-शूद्रामें सन्तान उत्पन्न करनेसे (क्षत्रिय[1]) पतित हो जाता है और भृगु ऋषिका मत है कि—शूद्रामें सन्तान उत्पन्न करनेसे (वैश्य[2]) पतित हो जाता है ॥ १६ ॥

विमर्श—मेधातिथि तथा गोविन्दराजके मतमें ऋतुकालमें गमन करनेसे सन्तानोत्पत्ति होनेसे, तथा सन्तानोत्पादन होनेपर ही उक्त मनुवचन द्वारा पतितभावका विधान होनेसे शूद्राके साथ ऋतुकालमें द्विजको संभोग नहीं करना चाहिये । विशेष स्पष्टीकरणके लिये म० मु० देखनी चाहिये ।

---

१. "शूद्रायां सुतोत्पत्त्या पतति" इति शौनकस्य मतमेतत्क्षत्रियविषयम् इति (म० मु०) ।

२. "शूद्रासुतोत्पत्त्या पतति" इति भृगोर्मतम्, एतद्वैश्यविषयम्' इति (म०मु०)

ब्राह्मणके लिये शूद्राके साथ सम्भोग का निषेध—

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥

ब्राह्मण पुरुष शूद्रा (शूद्रवर्णोत्पन्न स्त्री) को शय्यापर बिठाकर (उसके साथ सम्भोगकर) नरकको जाता है और उसमें सन्तानोत्पादन करके तो ब्राह्मणत्वसे ही भ्रष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

शूद्रा पत्नीद्वारा यज्ञादिकी निष्फलता—

दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु।
नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥ १८ ॥

जिस (द्विज) के यहां देवकार्य (अग्निहोत्र, यज्ञादि), पितृकार्य (श्राद्ध) और अतिथि-भोजनादि शूद्रा स्त्रीके द्वारा सम्पादित होते हैं; उसके हव्य तथा कव्यको (क्रमशः) देवता तथा पितर नहीं भोजन करते हैं और उस अतिथि-भोजन से उत्पन्न स्वर्गादिको भी वह नहीं प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

विमर्श—आगे (९।८७) सवर्णा पत्नीके सन्निहित रहते शूद्रा पत्नीके द्वारा यज्ञादिका निषेध है और इस श्लोकमें सवर्णा पत्नीके सन्निहित नहीं रहनेपर भी उसके द्वारा यज्ञादिका निषेध है, अतः दोनों वचनोंको भिन्न २ अवस्थामें प्रयुक्त होनेसे पुनरुक्तिकी शङ्का नहीं करनी चाहिये।

शूद्रापति-की शुद्धिका भी अभाव—

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥

शूद्राका अधरपान करनेवाले तथा उसके श्वाससे दूषित ब्राह्मणकी और उसमें उत्पन्न सन्तान की शुद्धि नहीं होती है ॥ १९ ॥

विवाहके आठ भेद—

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान्।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि)—मरनेपर तथा इस लोकमें चारों वर्णोंका हिताहित (भला-बुरा) करनेवाले स्त्रियोंके आठ प्रकारके विवाहोंको संक्षेपसे (तुमलोग) सुनो ॥ २० ॥

पूर्वोक्त अष्टविध विवाहोंके नाम—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और आठवां बहुत तुच्छ पैशाच; (ये आठ प्रकारके स्त्री-विवाह हैं) ॥ २१ ॥

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।
तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२ ॥

(भृगु मुनि पुनः महर्षियोंसे कहते हैं कि)—जिस वर्णका जो विवाह धर्म युक्त है, जिस विवाहके जो गुण दोष हैं और उक्त विवाहसे सन्तान उत्पन्न होनेपर जो गुण-दोष हैं; उन सबको तुम लोगोंसे कहूंगा ॥ २२ ॥

उक्त विवाहोंमेंसे वर्णानुसार विधान—

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणके लिये प्रथम ६ प्रकारके विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व); क्षत्रियके लिये अन्त वाले ४ प्रकारके विवाह (आसुर, गान्धर्व, पैशाच और राक्षस); और वैश्य तथा शूद्रके लिये 'राक्षस' रहित ३ प्रकारके विवाह (आसुर, गान्धर्व और पैशाच) का विधान है ॥ २३ ॥

प्रतिवर्णके लिये धर्मयुक्त विवाह—

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

ब्राह्मणके लिये प्रथम ४ चार विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, और प्राजापत्य); क्षत्रियके लिये एक 'राक्षस' विवाह; और वैश्य तथा शूद्रके लिये एक 'आसुर' विवाहको विद्वानोंने प्रशस्त बतलाया है ॥ २४ ॥

विमर्श—पूर्व श्लोकमें विहित भी 'आसुर तथा गान्धर्व' विवाहोंको ब्राह्मणोंके लिये; 'आसुर गान्धर्व तथा पैशाच विवाहों को क्षत्रियोंके लिये और' गान्धर्व तथा पैशाच' विवाहों को वैश्यों तथा शूद्रोंके लिये इस वचनमें नहीं कहनेसे ब्राह्मणादि वर्णोंके लिये इस श्लोकमें नहीं कहे गये तथा पूर्व श्लोक (३।२३) में कहे गये उन विवाहोंको निकृष्ट माना गया है; इस कारण प्रशस्त (इस श्लोकोक्त) विवाहके अभावमें ब्राह्मणादिको अप्रशस्त (इस-३।२३ श्लोकोक्त) विवाहोंको भी करना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी निकृष्टविवाहका त्याग समझना चाहिये।

पैशाच तथा आसुर विवाह की निन्दा—

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥

अन्तवाले ५ प्रकारके विवाहों (प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) मेंसे ३ प्रकारके विवाह (प्राजापत्य, गान्धर्व और राक्षस) धर्मयुक्त हैं। दो (आसुर और पैशाच) अधर्मयुक्त हैं, अतः आसुर और पैशाच विवाहोंको कभी भी नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

विमर्श—इस श्लोकका अर्थ मन्वर्थमुक्तावलीमें इस प्रकार है—'यहां पर पैशाच विवाहके प्रतिषेध' होने से उपर्युक्त पांच प्राजापत्यादि विवाहों का ग्रहण है; उनमेंसे प्राजापत्य, गान्धर्व और राक्षस विवाह धर्मयुक्त हैं। इनमें प्राजापत्य विवाह क्षत्रियके लिये अप्राप्त था, उसका विधान किया है, ब्राह्मणके लिये (प्राजापत्य विवाह) पहलेसे विहित था, अतः उसीका अनुवाद किया गया है। गान्धर्व-विवाह चारों (वर्णों) के लिये विहित होनेसे उसका भी अनुवाद है। राक्षस विवाह भी वैश्य तथा शूद्रके लिये विहित है। क्षत्रियकी जीविका करने वाले भी ब्राह्मणको आसुर तथा पैशाच विवाह नहीं करना चाहिये। 'कदाचन' अर्थात् कभी भी इस सामान्य वचनसे चारों वर्णों के लिये (आसुर तथा पैशाच विवाह का) निषेध है। यहां पर जिस वर्ण के लिये जिस विवाहकी विधि तथा निषेध है, उसके लिये उस विवाहका विकल्प, विहित विवाहके असम्भव होने पर जानना चाहिये' ॥

अनेक अनुवादकोंने इन तीनों श्लोकों (३।२३-२५) के अर्थ मन्वर्थमुक्तावली के विरुद्ध मनमाना किये हैं, जो अप्रामाणिक एवं निराधार होनेसे उपेक्षणीय हैं।

क्षत्रियके लिये पृथक् २ या मिश्र विवाह—

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥

अथवा पूर्वोक्त दोनों पैशाच तथा राक्षस विवाह अलग २ या 'मिश्र' (मिले हुए) क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त कहे गये हैं ॥ २६ ॥

विमर्श—जब स्त्री-पुरुषके परस्पर अनुराग पूर्वक संवादसे विवाह करनेवाला पुरुष युद्धादिके द्वारा विरुद्ध पक्षको जीतकर उस कन्याके साथ विवाह करता है, तब उन गान्धर्व तथा राक्षस विवाहको 'मिश्र' कहते हैं।

'ब्राह्म' विवाहका लक्षण—

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ २७ ॥

(अब पूर्वोक्त (३।२१) आठ प्रकारके विवाहोंके क्रमसे लक्षण कहते हैं) वेद पढ़े हुए सदाचारी वरको स्वयं बुलाकर, उसकी पूजाकर और वस्त्र–भूषणादिसे दोनों (कन्या–वर) को अलङ्कृत कर कन्यादान करना धर्मयुक्त 'ब्राह्म' विवाह है ॥ २७ ॥

'दैव' विवाहका लक्षण—

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥

ज्योतिष्टोमादि यज्ञमें विधिपूर्वक कर्म करते हुए ऋत्विक्के लिये (वस्त्रालङ्कारादिसे) अलङ्कृत कन्याका दान करने को (मुनिलोग) धर्मयुक्त 'दैव' विवाह कहते हैं ॥ २८ ॥

'आर्ष' विवाहका लक्षण—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥

गो–मिथुन (गाय और बैल–दोनों) या गाय अथवा बैल (दोनोंमेंसे कोई एक एक या दो दो) यज्ञादि धर्म कार्य करने या कन्याको देनेके लिये वर से लेकर (मूल्य या धन–लाभकी दृष्टिसे लेकर नहीं) विधिपूर्वक कन्यादान करना धर्मयुक्त 'आर्ष' विवाह कहा गया है (इस गो मिथुनादिग्रहणके विषयमें ३।५३ का विमर्श देखें) ॥ २९ ॥

'प्राजापत्य' विवाहका लक्षण—

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥

"तुम दोनों (वधू–वर) साथमें धर्माचरण करो" ऐसा वचन कहकर तथा (वस्त्रालङ्कारादिसे उनका) पूजनकर कन्यादान करना 'प्राजापत्य' विवाह कहा गया है ॥ ३० ॥

'आसुर' विवाहका लक्षण—

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

जातिवालों (कन्याके पिता, चाचा इत्यादि) तथा कन्याके लिये यथाशक्ति धन देकर स्वेच्छासे कन्याका स्वीकार करना 'आसुर विवाह' कहा गया है ॥ ३१ ॥

विमर्श—एक अनुवादकारने 'ज्ञातिभ्यः' (जातिवालोंके लिये) शब्दका 'वरके माता-पिता आदि' और 'कन्याप्रदानं' शब्दका 'कन्यादान' अर्थ किया है, वह मन्वर्थमुक्तावली टीकाके सर्वथा विरुद्ध है, उसमें 'ज्ञातिभ्यः' शब्दकी "कन्याया· ज्ञातिभ्यः पित्रादिभ्यः" (कन्याके जाति वाले अर्थात् पिता आदिके लिये) तथा 'कन्याप्रदानं' शब्दकी "कन्याया आप्रदानमादानं स्वीकारः" (कन्याका आदान—ग्रहण अर्थात् स्वीकार) यह स्पष्ट व्याख्या की गयी है।

'गान्धर्व' विवाहका लक्षण—

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥ ३२ ॥

कन्या और पुरुषके इच्छानुसार परस्पर स्नेहसे संयोग (आलिङ्गनादि) वा मैथुन होना 'गान्धर्व' विवाह कहा गया है ॥ ३२ ॥

'राक्षस' विवाहका लक्षण—

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥

कन्याके पक्षवालोंको मारकर या उनका अङ्गच्छेदनादिकर और गृह या द्वारादिको तोड़कर ('हा पिताजी ! मैं बलात्कार से अपहृत हो रही हूं' इत्यादि) चिल्लाती तथा रोती हुई कन्याका बलात्कारसे हरण करके लाना 'राक्षस' विवाह कहा गया है ॥ ३३ ॥

'पैशाच' विवाहका लक्षण—

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥

सोई हुई, मद आदिसे व्याकुल और अपने शीलकी रक्षा करनेमें प्रमादयुक्त कन्याके साथ विवाह (मैथुन) करना अत्यन्त निन्दित आठवाँ 'पैशाच' विवाह कहा गया है ॥ ३४ ॥

जलदान पूर्वक ब्राह्मणका विवाह—

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणका विवाह जलदानपूर्वक (कन्या का हाथ ग्रहण कर पिता आदिके द्वारा जल लेकर सङ्कल्प के साथ) ही होता है और अन्य क्षत्रिय आदि वर्णोंका विवाह पारस्परिक इच्छाके द्वारा वचनमात्रसे भी हो सकता है ॥ ३५ ॥

योऽयस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः ।
सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) हे ब्राह्मणों ! इन (आठ प्रकारके) विवाहोंमें जिस विवाहका जो गुण मनुने कहा है, उसे मुझसे तुमलोग सुनो ॥ ३६ ॥

ब्राह्म विवाहका गुण—

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् ।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितॄन् ॥ ३७ ॥

ब्राह्म विवाहविधि (३।२७) द्वारा विवाहित कन्यासे उत्पन्न पुण्यात्मा पुत्र अपने वंशकी दश पीढ़ी पहलेवाले तथा दश पीढ़ी आगे (भविष्य) वाले वंशजों को और अपनेको अर्थात् १० + १० + १ = २१ पीढ़ियोंके वंशजोंको पापसे छुड़ा देता है ॥

दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाहोंके गुण—

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ।
आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षट् षट् कायोढजः सुतः ॥ ३८ ॥

'दैव विवाह' विधि (३।२८) से विवाहित कन्याका पुण्यात्मा पुत्र पूर्व तथा आगेवाले सात सात पीढ़ी के वंशजों को तथा अपनेको (कुल पन्द्रह पीढ़ी के वंशजोंको); 'आर्ष विवाह' विधि (३।२९) से विवाहित कन्याका पुण्यात्मा पुत्र पूर्व तथा आगेवाले तीन तीन पीढ़ी के वंशजोंको तथा अपनेको (कुल सात पीढ़ीके वंशजोंको) और 'प्राजापत्य विवाह' विधि (३।३०) से विवाहित कन्या का पुण्यात्मा पुत्र पूर्व तथा आगेवाले छः–छः पीढ़ी के वंशजों को तथा अपने को (कुल तेरह पीढ़ीके वंशजोंको) पापसे छुड़ा देता है ॥ ३८ ॥

ब्राह्मादि चार विवाहों की श्रेष्ठ सन्तान—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्व्यशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥

पूर्वोक्त ब्राह्म आदि चार (ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य) विवाहोंमें ही क्रमशः ब्रह्मतेजवाले और सज्जनों से माननीय पुत्र होते हैं ॥ ३९ ॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ४० ॥

(३।३७ में उक्त वे पुत्र) सौन्दर्य और सात्विक गुणों से युक्त, धनवान्,

यशस्वी, पर्याप्त (इच्छानुसार अर्थात् काफी वस्त्र, गन्धानुलेपन तथा अन्नादि) भोगवाले और धर्मात्मा होकर सौ-वर्ष (पूर्णायु होकर) जीते हैं ॥ ४० ॥

आसुर आदि चार विवाहोंकी निकृष्ट सन्तान—

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥ ४१॥

शेष बचे हुए चार (आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) विवाहविधिसे विवाहित कन्या के पुत्र क्रूर, असत्य बोलनेवाले और वेद या ब्राह्मणोंके तथा यज्ञादि धार्मिक कर्मोंके विरोधी होते हैं ॥ ४१ ॥

विवाहोंका संक्षिप्तमें फल—

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत्॥ ४२॥

अनिन्दित स्त्री-विवाहोंसे अनिन्दित तथा निन्दित स्त्री-विवाहोंसे निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है, अत एव निन्दित स्त्री-विवाहोंका सर्वथा त्याग करना चाहिये ॥ ४२ ॥

सवर्णा कन्याके साथ विवाह विधि—

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि॥ ४३॥

सवर्णा (समान जातिवाली) कन्याका शास्त्रानुसार पाणिग्रहण (विवाह) संस्कार करने का विधान है असवर्णा (भिन्न जातिवाली) कन्याओंके विवाह कर्ममें यह (३।४४) विधि है—॥ ४३ ॥

असवर्णा कन्याके साथ विवाहविधि—

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने॥ ४४॥

ब्राह्मण वरके साथमें विवाह करनेवाली क्षत्रिय वर्णकी कन्या ब्राह्मणके हाथमें ग्रहण किये हुए बाणका एक भाग ग्रहण करे, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वरके साथमें विवाह करनेवाली वैश्य वर्णकी कन्या ब्राह्मण तथा क्षत्रियके हाथमें ग्रहण किये हुए कोड़ा (चाबुक) का एक भाग ग्रहण करे और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वरके साथमें विवाह करनेवाली शूद्र वर्णकी कन्या ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वरके कपड़े-का एक भाग ग्रहण करे ॥ ४४ ॥

ऋतुकालमें पर्वभिन्न दिनोंमें स्त्री-सम्भोग—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥

स्व-स्त्रीके साथ प्रेम करनेवाला पुरुष स्त्रीके ऋतुमती होनेके बाद शुद्ध होनेपर सम्भोग करे तथा रतिकी इच्छासे पर्व दिनों (अमावास्या, पूर्णिमा आदि) को छोड़कर अन्य दिनोंमें स्त्री-सम्भोग करे ॥ ४५ ॥

ऋतुकालकी अवधि—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥

रजो (शोणित) दर्शनके दिनसे सोलह रात्रियां (दिन-रात) स्त्रियोंका स्वाभाविक ऋतुकाल है, उनमें सज्जनोंके द्वारा निन्दित (समागमके अयोग्य) प्रथम चार दिन (दिन-रात) भी सम्मिलित हैं ॥ ४६ ॥

स्त्री-सम्भोगमें निन्दित समय—

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥

उन (३।४६) सोलह रात्रियोंमें प्रथम चार, ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियां (अर्थात् छः रात्रियां स्त्रीसम्भोगके लिये) निन्दित हैं, शेष दश रात्रियां (स्त्री-सम्भोगके लिये) श्रेष्ठ मानी गयी हैं ॥ ४७ ॥

सम दिनोंमें पुत्रोत्पत्ति—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥

पूर्वोक्त (३।४६) दश रात्रियोंमेंसे युग्म (सम अर्थात् छठी, आठवीं इत्यादि) रात्रियोंमें (स्त्री-समागम करनेसे) पुत्रोत्पत्ति होती है तथा विषम (पाचवीं, सातवीं, नवीं इत्यादि) रात्रियोंमें (स्त्री-समागम करनेसे) कन्याकी उत्पत्ति होती है, अत एव पुत्रेच्छुक पुरुष सम रात्रियोंमें ऋतुकालमें (३।४६-४७) स्त्री-गमन करे ॥ ४८ ॥

पुत्रादिकी उत्पत्तिमें अन्य कारण—

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥

पुरुषके वीर्य अधिक होनेपर (विषम रात्रियोंमें भी) पुत्र; स्त्रीबीज अर्थात् रजके अधिक होनेपर (समरात्रियोंमें भी) कन्या; और पुंबीज तथा स्त्रीबीजके समान होनेपर नपुंसक या पुत्र पुत्री दोनों की उत्पत्ति होती है और दोनोंके बीजके क्षीण या कम होने पर गर्भ ही नहीं रहता ॥ ४९ ॥

विमर्श—अत एव वीर्यवर्द्धक आहारादिके द्वारा वीर्यकी वृद्धि तथा आहार के लाघवके द्वारा स्त्रीबीजकी अल्पता मालूमकर पुत्रार्थी पुरुषको युग्म रात्रियोंमें ही सम्भोग करना चाहिये।

वानप्रस्थमें भी ऋतुगमन—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्रतत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥

पूर्व निन्दित (३।४७) छः रात्रियों (प्रथम चार, ग्यारहवीं तथा तेरहवीं) को तथा अन्य किन्हीं आठ रात्रियोंको छोड़कर (पर्ववर्जित अर्थात् अमावास्या पूर्णिमादिको छोड़कर) शेष दो (६+८=१४; १६-१४=२) रात्रियोंमें स्त्री-सम्भोग करता हुआ मनुष्य जिस किसी (वानप्रस्थ) आश्रममें निवास करता हुआ भी अखण्डित ब्रह्मचारी ही होता है ॥ ५० ॥

विमर्श—वानप्रस्थमें स्त्री-सम्भोग करनेका अर्थ मन्वर्थमुक्तावलीकारके अनुसार किया गया है। मेधातिथिका मत है कि-"यत्र तत्राश्रमे वसन्" अर्थात् 'जिस किसी आश्रममें निवास करता हुआ' वचन अनुवादमात्र है, क्योंकि गृहस्थाश्रमके अतिरिक्त शेष तीनों (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास) आश्रमोंमें जितेन्द्रिय रहनेका विधान होनेसे उक्तवचन वानप्रस्थाश्रममें स्त्रीसम्भोगपरक नहीं है।" गोविन्दराजका मत है कि—"यत्र तत्राश्रमे वसन्" (जिस किसी आश्रममें रहता हुआ) इस वचनसे तथा पुत्रार्थीके स्त्री-सम्भोग करनेका विषय प्रस्तुत होनेसे और पुत्रके महोपकारक होनेसे उत्पन्न हुए पुत्रकी मृत्यु हो जानेपर गृहस्थाश्रमसे भिन्न आश्रममें रहनेवाले भी पुत्रार्थी पुरुषको उक्त दो रात्रियोंमें स्त्री-सम्भोग करनेका विधायक उक्त वचन है" वास्तविक विचारणा करनेपर तो यही निष्कर्ष निकलता है कि—उक्त वचन ब्रह्मचर्यका महत्त्वसूचक अर्थवाद (प्रशंसापरक) वाक्य है, अत एव गृहस्थाश्रमसे भिन्न आश्रममें रहनेवालेको नियमित रूपसे अखण्ड ब्रह्मचारी ही रहना चाहिये।

वरसे कन्याशुल्क (मूल्य) ग्रहणका निषेध—

न कन्यायाः पिता विद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥ ५१ ॥

वरसे धन लेनेमें दोषको जाननेवाला कन्याका पिता (वरसे या वरपक्षवालोंसे) थोड़ा भी धनादि (कन्यादानके निमित्त) न लेवे, क्योंकि लोभसे धनको ग्रहण करता हुआ मनुष्य सन्तानको बेचनेवाला होता है ॥ ५१ ॥

स्त्रीधन लेनेका निषेध—

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥ ५२ ॥

जो (पति या पतिके पिता आदि) बान्धव स्त्रीके धन (स्त्री या पुत्रीको दिये गये) दास, सवारी, वस्त्र, आभूषणादि को मोहसे लेते हैं; वे पापी अधोगतिको जाते हैं ॥ ५२ ॥

आर्ष विवाहमें उक्त गोमिथुन लेनेका निषेध—

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोऽप्येवं महान्वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३ ॥

कोई आचार्य आर्ष विवाहमें गोमिथुन (एक गाय और एक बैल) कन्यादान तथा यज्ञादिके वास्ते) लेनेको कहते हैं (३।२९), वह असत्य है, क्योंकि इस प्रकार थोड़ा या अधिक धन लेना विक्रय (कन्याका बेचना) ही है ॥ ५३ ॥

विमर्श—गोविन्दराजका मत है कि—"एकं गोमिथुनं (३।२९) श्लोक मनुका मत नहीं है"। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि 'वरसे गोद्वय लेकर कन्यादान करना, ही मनुसम्मत 'आर्ष विवाहका लक्षण है (३।२९), ऐसा नहीं माननेपर मनुसम्मत कोई लक्षण ही 'आर्ष विवाह'का नहीं होगा। यदि यह कहें कि उक्त लक्षण (३।२९) दूसरे किसी आचार्य का है (इसीसे प्रकृत श्लोक (३।५३) की सङ्गति होती है) तो ऐसा (एकं गोमिथुनं (३।२९) श्लोक दूसरे किसी आचार्यका) माननेसे मनुके मतसे 'आर्ष विवाह' का कोई लक्षण नहीं होगा इस कारणसे तथा आर्षादि अष्टविध विवाहों और आर्षविवाहविधिसे विवाहित स्त्रीकी सन्तानके गुणोंको कहते हुए मनुका अपने मतसे आर्षविवाहके लक्षण नहीं कहनेसे उनकी असामर्थ्य सूचक न्यूनता प्रकट होती है जो सर्वथा असम्भव एवं अनुचित है।

मेधातिथिने तो पूर्वापर-विरोध (३।२९ तथा ३।५३ का परस्पर विरोध) का उद्घाटन तथा निराकरण ही नहीं किया। अतः कुल्लूकभट्टने इस प्रकारसे इस श्लोककी व्याख्या की है—"आर्ष विवाहमें गोमिथुन ग्रहण करनेको शुल्क उत्कोच (घूस या फीस या मूल्य) रूप कोई २ आचार्य कहते हैं। (परंतु) मनुका यह मत नहीं है, शास्त्रनियमित जातिसंख्याक ग्रहण शुल्क (उत्कोच) नहीं है,

शुल्कमें मूल्यकी अधिकता या न्यूनता (कमी) अनुपयुक्त है, वह तो बेचना ही होगा; परन्तु 'आर्ष विवाहके सम्पन्न होनेके लिये अवश्य कर्तव्य (तत्सम्बद्ध) यागसिद्ध्यर्थं या कन्याके लिये दानार्थं शास्त्रीय धर्मार्थं ही (उक्त गोमिथुन) ग्रहण किया जाता है। हां लोभसे धन ग्रहण करना शास्त्रमर्यादाविरुद्ध शुल्क (घूस या मूल्य) ही होगा। इसी कारण 'लोभसे शुल्क लेता हुआ……' (गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन—३।५१) वचन द्वारा लोभसे शुल्क लेने की मनुने निन्दा की है। अत एव 'पूर्वापरके विचारसे आर्ष विवाहमें धर्मार्थ (विवाहादि यागके लिये या कन्याको देने के लिये) गोमिथुन ग्रहण करना चाहिये, अपने भोगार्थ नहीं' यह अपना मत मनुने कहा है।"

कन्यार्थ द्रव्य लेना भी शुल्क नहीं—

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ ५४ ॥

कन्याकी प्रीतिवास्ते वर (या वरपक्षवालों) से दिये गये धनको यदि कन्याके पिता या जातिवाले (स्वयं) नहीं लेते हैं (अपि तु वह धन कन्याको ही दे देते हैं) तो वह (धनग्रहण) भी कन्या विक्रय नहीं है वह तो केवल उसपर दयामात्र है॥

कन्याको वस्त्राभूषणसे अलङ्कृत करना—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ ५५ ॥

अपना अधिक कल्याण चाहनेवाले कन्याके पिता, भाई, पति और देवरको चाहिये कि वे सदा (विवाहके बाद भी) कन्याका पूजन (आदर-सत्कार) करें तथा वस्त्राभुषणोंसे उसें अलङ्कृत करें ॥ ५५ ॥

कन्याके आदर तथा अनादरके फल—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ ५६ ॥

जिस कुलमें स्त्रियोंकी पूजा (वस्त्र, भूषण तथा मधुर वचनादि द्वारा आदर-सत्कार) होती है, उस कुलपर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुलमें इन (स्त्रियों) की पूजा नहीं होती उस कुलमें सब कर्म निष्फल होते हैं (अत एव स्त्रियोंका अनादर कभी नहीं करना चाहिये) ॥ ५६ ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥ ५७ ॥

जिस कुलमें जामि[1] (स्त्री, पुत्रवधू, बहन, भानजी, कन्या आदि) शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जिस कुलमें ये शोक नहीं करतीं (प्रसन्न रहती) हैं, वह कुल सर्वदा उन्नति करता है ॥ ५७ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥

जिस गृहको ये जामियां (स्त्री, पुत्रवधू, बहन, भानजी, कन्या आदि) अनादर पाकर शाप देती हैं, वह गृह कृत्या (अभिचारकर्म-मारण, मोहन, उच्चाटनादि) से हतके समान सब ओरसे (धन, धान्य, परिवार आदिके सहित) नष्ट हो जाता है ॥

उत्सवादिमें स्त्रियोंकी विशेष पूजनीयता—

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥

इस कारण उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको (कौमुदी आदि) सत्कार तथा (यज्ञोपवीत आदि) उत्सवोंके अवसरोंपर इन स्त्रियोंका वस्त्र, भूषण और भोजनादिसे विशेष आदर-सत्कार करना चाहिये ॥ ५९ ॥

दम्पतिकी सन्तुष्टिका फल—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥

जिस कुलमें स्त्रीसे पति तथा पतिसे स्त्री सन्तुष्ट रहती है, उस कुलमें अवश्य ही सर्वदा कल्याण होता है ॥ ६० ॥

स्त्रीको अलङ्कारादिसे सन्तुष्ट नहीं करनेका फल—

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥

यदि स्त्री वस्त्राभूषण आदि से रुचिकर नहीं होती है तो वह पतिको आनन्दित नहीं करती और हर्षित नहीं होनेसे वह पति गर्भाधान करनेमें प्रवृत्त (समर्थ) नहीं होता है ॥ ६१ ॥

---

१. "मेधातिथि-गोविन्दराजौ तु 'नवोढादुहितृस्नुषाद्या जामयः' इत्याहतुः" इति (म० मु०)। अमर-हेमचन्द्र-हलायुध-मेदिनीकार-विश्वादयः कोषकारास्तु याभिः (यामिः) 'स्वसृकुलस्त्रियोः' इत्याहुः। शाश्वतस्तु 'तत्र कुलबालिकाया-श्चेत्याह।

[यदा भर्ता च भार्या च परस्परवशानुगौ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि सङ्गतम् ॥ २ ॥]

[जब पति और स्त्री परस्पर वशीभूत होकर एक दूसरेका अनुगामी होते हैं; तब (उस घरमें) धर्म, अर्थ और काम (ये तीनों ही पुरुषार्थ) एकत्रित हो जाते हैं ॥ २ ॥]

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥

वस्त्र-भूषणादिके द्वारा स्त्रीके प्रसन्न रहनेपर वह सम्पूर्ण कुल (पत्नीकी सन्तुष्टताके कारण परपुरुष का सम्बन्ध नहीं होनेसे) सुशोभित होता है तथा उस (स्त्री) के (वस्त्र-भूषणादिसे) प्रसन्न नहीं रहनेपर वह सम्पूर्ण कुल (पत्नीके प्रसन्न नहीं रहनेके कारण परपुरुष संसर्ग आदिसे) मलिन हो जाता है ॥ ६२ ॥

कुलके नीच बनानेवाले कर्म—

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ६३ ॥

('आसुर' आदि) शास्त्रनिन्दित विवाहोंसे, जातकर्मादि संस्कारोंके लोप होने (नहीं करने) से, वेदाध्ययन छोड़ देनेसे, और ब्राह्मणोंके अतिक्रमण (आदर, सत्कार नहीं) करनेसे श्रेष्ठ कुल भी नीच हो जाता है ॥ ६३ ॥

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः।
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

चित्रकारी आदि शिल्पकलासे, धनका (व्याज आदि पर) व्यवहार करनेसे, केवल शूद्रा (शूद्रवर्णोत्पन्न स्त्री) की सन्तानसे, गौ के (घोड़ा, रथ, हाथी आदिके भी) खरीदने-बेचनेका व्यापार करनेसे, खेतीसे, राजाकी नौकरीसे—॥ ६४ ॥

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम्।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥ ६५ ॥

—यज्ञ करनेके अनधिकारियों (पतित, शूद्रादि) को यज्ञ करानेसे, श्रौत-स्मार्त कर्मोंमें नास्तिक्य (वेद-स्मृति-प्रतिपादित यज्ञादि कर्मोंमें विश्वास नहीं करने) से और वेद-मन्त्र-हीन होनेसे अच्छे कुल भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

कुलको उच्च बनानेवाले कर्म—

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ ६६ ॥

वेद-मन्त्रोंसे (अर्थ-सहित वेदमन्त्रोंके पठन-पाठनसे) उन्नत, थोड़े धनवाले भी कुल श्रेष्ठ कुलोंकी गणनामें माने जाते हैं और बहुत प्रसिद्धिको प्राप्त करते हैं ॥

पञ्चमहायज्ञका अनुष्ठान—

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥

(अब वैवाहिक कर्मका वर्णन समाप्तकर गृहस्थके लिये कर्तव्य पञ्चमहायज्ञादियोंमें, से पञ्चमहायज्ञकी कर्तव्यताको प्रथम कहते हैं—गृहस्थाश्रमीको चाहिये कि वह) विवाह-समयकी अग्निमें विधिपूर्वक गृह्यकर्म (प्रातः-सायं हवन आदि कर्म), पञ्चमहायज्ञ (३ । ७०) और (प्रतिदिन कार्यमें आनेवाला) पाक भी उसी अग्निसे करे ॥ ६७ ॥

पाँचहिंसास्थान—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥

गृहस्थके लिये चुल्ही, चक्की (जांता), झाड़ू , ओखली-मुसल और जलका घट—ये पांच पापके स्थान हैं ; इन्हें व्यवहृत करता हुआ गृहस्थ पापसे बंधता (पापभागी होता) है ॥ ६८ ॥

पञ्चसूनाके निवृत्त्यर्थ पञ्चमहायज्ञानुष्ठान—

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥

उन सबों (३ । ६८ में उक्त पञ्चपापों) की निवृत्तिके लिये महर्षियोंने पञ्चमहायज्ञ करनेका विधान गृहस्थाश्रमियोंके लिये बतलाया है ॥ ६९ ॥

पञ्चमहायज्ञोंका नामतः निर्देश—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥

वेदका अध्ययन और अध्यापन करना 'ब्रह्मयज्ञ' है, तर्पण करना 'पितृयज्ञ'

है, हवन करना 'देवयज्ञ' है, बलिवैश्वदेव करना 'भूतयज्ञ' है तथा अतिथियोंको भोजन आदिसे सत्कार करना 'नृयज्ञ' है ॥ ७० ॥

पञ्चमहायज्ञसे पञ्चपापमुक्ति—

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥

यथाशक्ति इन पञ्चमहायज्ञों (३ । ७०) को नहीं छोड़नेवाला गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी द्विज 'पञ्चसूना' ('पांचपाप'–३ । ६८) के दोषोंसे युक्त नहीं होता है ॥

देवता अतिथ्यादिको सन्तुष्ट नहीं करनेसे निन्दा—

देवताऽतिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न सजीवति ॥ ७२ ॥

जो गृहस्थाश्रमी देवताओं (तथा भूतों), अतिथियों, माता-पिता आदि वृद्धजनों (तथा सेवकों), पितरों और अपनेको अन्नादिसे सन्तुष्ट नहीं करता है, वह श्वास लेता हुआ भी नहीं जीता है (मरे हुए के समान है) ॥ ७२ ॥

मतान्तरसे पञ्चमहायज्ञ—

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥

अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत और प्राशित—इन्हें अन्य मुनिलोग 'पञ्चमहायज्ञ' कहते हैं ॥ ७३ ॥

अहुत आदिकी व्याख्या—

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्मचं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥

जप करना 'अहुत', हवन करना 'हुत', भूतबलि देना 'प्रहुत', ब्राह्मणपूजा करना 'ब्राह्महुत' और पितृतर्पण करना 'प्राशित' कहा गया है ॥ ७४ ॥

असमर्थावस्थामें ब्रह्मयज्ञ तथा हवन आवश्यक—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि ।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥

(निर्धनता आदिके कारण) अतिथि-भोजन आदि करानेमें असमर्थ द्विजको इस संसारमें स्वाध्याय (ब्रह्मयज्ञरूप वेदपाठ) और देवकर्म (हवन) अवश्य

करना चाहिये; क्योंकि दैव-कर्म (हवन) को करता हुआ द्विज इस चराचर जगत्को धारण (पोषण) करता है ॥ ७५ ॥

हवनसे वृष्टि आदि—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥

विधिपूर्वक अग्निमें छोड़ी हुई आहुति सूर्यको प्राप्त करती है, सूर्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न, और अन्नसे प्रजायें होती हैं (इस प्रकार प्रजाओंकी उत्पत्तिका मूल कारण हवन ही है, अतः प्रतिदिन विधिपूर्वक हवन करना चाहिये) ॥ ७६ ॥

गृहस्थाश्रमकी प्रशंसा—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥

जिसप्रकार प्राण-वायुका आश्रयकर सब जीव जीते हैं, उसीप्रकार गृहस्थका आश्रयकर सभी आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम) चलते हैं ॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥

जिसकारणसे तीनों आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम) वाले गृहस्थाश्रमीसे ही ज्ञान (वेदाध्ययन) तथा अन्नको प्राप्त करते हैं, इसकारण गृहस्थाश्रमी ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ७८ ॥

स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ७९ ॥

अक्षय स्वर्ग तथा ऐहिक सुख (इस लोकमें होनेवाला स्त्री-सम्भोग एवं धनादि ऐश्वर्य भोगरूप सुख) चाहने वाला मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक गृहस्थाश्रमका आश्रय करना चाहिये, दुर्बल (अस्थिर मन आदि) इन्द्रियवाले व्यक्तिके द्वारा यह गृहस्थाश्रम धारण करने योग्य नहीं है ॥ ७९ ॥

ऋषि आदिकी पूजाकी कर्तव्यता—

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ८० ॥

ऋषि, पितर (पूर्वज), देवता, भूत, और अतिथि—ये लोग

गृहस्थसे (अपनी सन्तुष्टिकी) आशा रखते हैं, अतः शास्त्रज्ञानीको उनके लिये यह (३ । ८१) करना चाहिये ॥ ८० ॥

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितॄन्श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

वेदपाठसे ऋषियोंकी, विधिपूर्वक हवनसे देवताओंकी, श्राद्धोंसे पितरोंकी, अन्नसे मनुष्यों (अतिथियों) की और बलिकर्मसे भूतोंकी पूजा (तृप्ति–सन्तुष्टि) करनी चाहिये ॥ ८१ ॥

नित्यश्राद्ध—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

(गृहस्थाश्रमी) अन्नादि (तिल, व्रीहि, धान्य), से या जलसे, दूध, मूल और फलोंसे पितरोंको सन्तुष्ट करता हुआ (यथासम्भव) प्रतिदिन श्राद्ध करे ॥

पितृश्राद्धमें ब्राह्मणभोजन—

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके ।
न चैवात्राशयेत्कञ्चिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥ ८३ ॥

पञ्चयज्ञमें पितरोंके उद्देश्यसे (अधिक सम्भव नहीं होने पर कमसे कम) एक भी ब्राह्मणको भोजन करावे, वैश्वदेवके उद्देश्यसे ब्राह्मणको भोजन नहीं भी करावे (तो कोई हानि नहीं) ॥ ८३ ॥

बलिवैश्वदेव कर्म—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥

ब्राह्मण (यहां 'ब्राह्मण' शब्दसे द्विजमात्र विवक्षित है) गार्हस्थ्य अग्निमें सिद्ध (पकाये हुए) वैश्वदेव (सर्वदेवके निमित्त) अन्नका विधिपूर्वक प्रतिदिन (३ । ८५-८६ में वक्ष्यमाण) देवताओंके उद्देश्यसे हवन करे— ॥ ८४ ॥

बलिवैश्वदेव कर्मके देवता—

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥

—पहले अग्निके उद्देश्यसे, फिर सोमके उद्देश्यसे, फिर सम्मिलित उन दोनों (अग्नि और सोम) के उद्देश्यसे, फिर धन्वन्तरिके उद्देश्यसे— ॥ ८५ ॥

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।
सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥

—फिर क्रमशः कुहू, अनुमति, प्रजापति, द्यावापृथवीके उद्देश्यसे और अन्तमें स्विष्टकृत्के उद्देश्यसे हवन करे ॥ ८६ ॥

विमर्श—"स्वाहाकारप्रदानहोमः" इस कात्यायन-वचनके अनुसार क्रमशः 'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, धन्वन्तरये स्वाहा; कुह्वै स्वाहा,.........मन्त्रोंको उच्चारण करते हुए हवन करना चाहिये ॥

बलिको देनेकी विधि—

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७ ॥

इस तरह सम्यक् प्रकार (देवताओंका ध्यान करते हुए अनन्यचित्त होकर) हवनकर पुरुषोंके सहित 'इन्द्र, अन्तक (यम), अप्पति (वरुण) और इन्दु (सोम)' के लिये पूर्वादि दिशाओंमें प्रदक्षिण क्रमसे (पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर-इस क्रमसे) बलि दे—॥ ८७ ॥

विमर्श—पूर्वदिशामें—इन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः, दक्षिणदिशामें—यमाय नमः, यमपुरुषेभ्यो नमः; पश्चिमदिशामें—वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः और उत्तरदिशामें सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः—इन मन्त्रोंका उच्चारण-कर प्रत्येकके लिये पूर्वादि दिशाओंमें बलि देनी चाहिये । यद्यपि "इन्द्रान्तकाप्प-तीन्दुभ्यः" इस मनुवचनके अनुसार 'इन्द्र, अन्तक, अप्पति और इन्दु' शब्दोंके अन्तमें 'नमः' शब्द जोड़कर 'इन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः ; अन्तकाय नमः, अन्तकपुरुषेभ्यो नम ;...मन्त्रोंको उच्चारणकर पूर्वादिदिशाओंमें बलि देना युक्तियुक्त है और 'अन्तक' अप्पति तथा इन्दु' का पर्याय क्रमशः 'यम' वरुण तथा सोम' शब्दका हवनमन्त्रमें उच्चारण करना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता ; तथापि 'यमाय यमपुरुषेभ्यो वरुणाय वरुणपुरुषेभ्यः सोमाय सोमपुरुषेभ्य इति प्रतिदिशम् (अ० खं० २)' इस बह्वृच गृह्योक्त वचनके अनुसार 'अन्तक, अप्पति तथा इन्दु' पर्यायभूत 'यम, वरुण तथा सोम' शब्दोंको ग्रहण करना शास्त्रविरुद्ध नहीं है ।)

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥

—द्वारपर मरुत् (वायु) के लिये, जलमें अप् (जल) के लिये, ओखलि-मूसलपर वनस्पतियोंके लिये (बलि) दे—॥ ८८ ॥

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद् भद्रकाल्यै च पादतः ।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥

—वास्तुपुरुषके मस्तकप्रदेशपर उत्तरपूर्व (ईशान कोण) में श्रीके लिये, उसी (वास्तुपुरुष) के पैरकी ओर दक्षिण-पश्चिम (नैर्ऋत्य कोण) में भद्रकालीके लिये, वास्तुके मध्यमें ब्रह्मा तथा वास्तोष्पतिके लिये बलि दे— ॥ ८९ ॥

विमर्श—किसी २ आचार्यका मत है कि—'उच्छीर्षक' शब्दसे गृहशय्या विवक्षित है, अतः गृहशय्याके मस्तकप्रदेश तथा पादप्रदेशकी ओर क्रमशः श्री और भद्रकालीके लिये बलि देनी चाहिये ।

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चारिभ्य एव च ॥ ९० ॥

—गृहके ऊपर (आकाश) की ओर विश्वेदेवोंके लिये, दिवाचर (दिनमें विचरण करनेवाले) जीवोंके लिये तथा नक्तञ्चारि (रात्रिमें विचरण करनेवाले) जीवोंके लिये बलि दे— ॥ ९० ॥

"दिवाचारिभ्यो दिवा" (अ० खं० २) इस बह्वृच-वचनके अनुसार दिनमें दिवाचारी जीवोंके लिये तथा रात्रिमें नक्तञ्चर जीवोंके लिये बलि देवे ।

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये ।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥

—मकानके ऊपरी छतपर या बलिदेनेवाले की पीछेकी तरफ भूमिपर सर्वात्मक जीवके लिये बलि देवे तथा (इन बलियोंको देनेके बाद) बचे हुए सब अन्नको दक्षिण दिशामें पितरोंके लिये स्वधा बलि देवे ॥ ९१ ॥

विमर्श—पितरोंको अपसव्य[1] (२ । ६३) होकर 'स्वधान्त'[2] वाक्यका ("ॐपितृभ्यः स्वधा" इस प्रकार) उच्चारणकर बलि देना चाहिये ।

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ ९२ ॥

शेष अन्नको पात्रसे निकालकर कुत्ता, पतित, चण्डाल, पापजन्य (कुष्ठ या यक्ष्मा आदि) रोगवाला, कौवा, कीड़ा—इनके लिये धीरेसे (जिससे अन्न धूलि आदिसे नष्ट नहीं हो) रख देवे ॥ ९२ ॥

१.-२. तदुक्तं वह्वृचगृह्ये—"स्वधा पितृभ्य इति प्राचीनावीती शेषं दक्षिणा निनयेत्" इति (अ० १ खं० २), इति (म० मु०)

बलि-वैश्वदेवका फल—

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्ति पथर्जुना ॥ ९३ ॥

जो ब्राह्मण इस प्रकार (३ । ८५-९१ में उक्त) सब जीवोंकी नित्य (प्रतिदिन) पूजा करता है, वह प्रकाशमय सर्वोत्तम स्थान (ब्रह्मपद-मोक्ष) को सीधे मार्गसे जाता है ॥ ९३ ॥

भिक्षादान—

कृत्वैतद् बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणे ॥ ९४ ॥

इस प्रकार (३ । ८५-९१) बलिकर्मको समाप्तकर पहले अतिथि (यदि कोई आया हो तब उस) को भोजन करावे और विधि-पूर्वक ब्रह्मचारी, संन्यासी तथा भिक्षुकको भिक्षा देवे ॥ ९४ ॥

विमर्श—भिक्षाका परिमाण कमसे कम एक ग्रास[2] होना चाहिये, संभव हो तो अधिक भी दे सकते हैं ।

भिक्षादानका फल—

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद्गुरोः ।
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥ ९५ ॥

गृहस्थ द्विज गुरुके लिये गौको देकर जो फल प्राप्त करता है, वह फल विधिपूर्वक (ब्रह्मचारी आदिके लिये) भिक्षा देकर प्राप्त करता है ॥ ९५ ॥

---

१. पूर्व—इन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः । दक्षिण—अन्तकाय नमः, अन्तकपुरुषेभ्यो नमः । पश्चिम—वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः । उत्तर—सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः । द्वारपर—मरुते नमः, जलमें—अद्भ्यो नमः । मूसल ओखलपर-वनस्पतिभ्यो नमः, गृहशय्या का शिरः प्रदेश में भूमिपर, वास्तुपुरुषका शिरःप्रदेश इशानकोणमें-श्रियै नमः, गृहशयनके पादप्रदेशमें भूमिपर, वास्तुपुरुषका पादप्रदेश नैर्ऋत्यकोणमें-भद्रकाल्यै नमः, गृहमध्यमें—ब्रह्मणे नमः, वास्तोष्पतये नमः, गृहाकाश प्रदेशमें—विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः । गृहाकाशप्रदेशमें (दिनमें)—दिवाचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः, गृहाकाशप्रदेश में (रात्रिमें)—नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः । गृहके छतपर या बलिदाताके पीछे पृष्ठदेशकी ओर भूमिपर-सर्वात्मभूतये नमः । दक्षिण दिशामें (अपसव्यहोकर शेषबलि—पितृभ्यः स्वधा

२. "ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षा" इति शातातपवचनात्' अग्रे ग्रासमात्रभिक्षाया मनुनाप्युक्तत्वाच्च (३ । ७३) ।

सङ्कल्पपूर्वक भिक्षादान—

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम्।
वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ९६ ॥

पर्याप्त (भरपूर) अन्नके अभावमें ग्रासमात्र भिक्षाको भी (व्यञ्जन आदिसे संस्कृतकर अर्थात् सुस्वादु बनाकर) तथा उतने अन्नके भी अभाव होनेपर जलसे भरे हुए पात्रको ही (फल-फूल आदिसे सत्कृतकर) वेदके तत्त्वार्थके ज्ञाता ब्राह्मणके लिये ('स्वस्ति' कहलवाकर) देवे ॥ ९६ ॥

अपात्रको दान देने का फल—

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम्।
भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः ॥ ९७ ॥

अज्ञानी मनुष्यके द्वारा वेद तथा वेदार्थ-ज्ञानसे हीन ब्राह्मणके लिये देवों तथा पितरोंके उद्देश्यसे दिये गये हव्य तथा कव्य नष्ट हो जाते हैं (वे देवों तथा पितरोंको नहीं मिलते हैं) ॥ ९७ ॥

सत्पात्रको दान देनेका फल—

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥ ९८ ॥

विद्या तथा तपसे समृद्ध (बढ़े हुए) ब्राह्मणके मुखरूपी अग्निमें हवन किया हुआ (उक्त रूप श्रेष्ठ ब्राह्मणको खिलाया गया) अन्न आदि दुस्तर (कठिनतासे पार करने योग्य) रोग, राजभय, शत्रुभय, आदिसे तथा बड़े पापसे भी छुड़ा देता है ॥ ९८ ॥

[अनर्हते यद्ददाति न ददाति यदर्हते।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद्धनी धर्मान्न हीयते ॥ ३ ॥

[जो धनी (दानकर्ता) योग्य तथा अयोग्यका ज्ञान नहीं होनेके कारण जो कुछ अन्नादि अयोग्यके लिये देता है तथा योग्यके लिये नहीं देता, वह धनी धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता अर्थात् उसका देना निष्फल नहीं होता ॥ ३ ॥

कालेन्यायागतं पात्रे विधिवत्प्रतिपादितम्।
ददाति परमं सौख्यमिह लोके परत्र च ॥ ४ ॥

समयपर न्यायानुसार आया हुआ अग्रिम श्लोक में वक्ष्यमाण अन्नादि

पात्रमें विधिपूर्वक दियागया इस लोकमें तथा परलोकमें भी उत्तम सुखको देता है ॥ ४ ॥

प्रतिग्रहेण शुद्धेन शस्त्रेण क्रयविक्रयात् ।
यथाक्रमं द्विजातीनां धनं न्यायादुपागतम् ॥ ५ ॥]

क्रमशः द्विजका (ब्राह्मणका) शुद्ध प्रतिग्रह अर्थात् दानसे, (क्षत्रिय का) शस्त्रसे अर्थात् युद्धादिमें शत्रुपक्षको पराजित करनेसे तथा (वैश्यका) क्रय-विक्रय अर्थात् व्यापारमें खरीदने-बेचनेसे आया हुआ धन न्यायसे आया हुआ (उपार्जित) होता है ॥ ५ ॥

अतिथिसत्कार—

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥

घरपर आये हुए अतिथिके लिये आसन, पैर धोनेके लिये जल, शक्तिके अनुसार व्यञ्जनादिसे संस्कृत (स्वादिष्ट) अन्न विधिपूर्वक (३ । १०६) सत्कारकर देना चाहिये ॥ ९९ ॥

अतिथिकी पूजा नहीं करनेका फल—

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥ १०० ॥

शिलोञ्छ वृत्तिसे रहते हुए तथा पञ्चाग्निमें नित्य हवन करते हुए भी द्विजके घरपर अपूजित (आनेपर भी अतिथिसत्कारको अप्राप्त) ब्राह्मण उन सब (शिलोञ्छ तथा पञ्चाग्नि-हवनके फलों) को ले लेता है ॥ १०० ॥

विमर्श—किसानके खेत काटकर अन्न ले जानेके बाद उस खेतमें-से एक-एक दाना (बालें या फलियां नहीं) चूंगकर उस अन्नसे जीविका-निर्वाह करना 'शिलोञ्छ' कहलाता है। गार्हपत्य, दाक्षिण, आहवनीय आवसथ्य, और सभ्य—ये 'पञ्चाग्नि' हैं।

अन्नादिके अभावमें अतिथिसत्कार—

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥

तृण (घास—आसन एवं शयनके लिये), भूमि (बैठने के लिये), जल (पीने तथा पैर धोनेके लिये) और मधुर वचन—ये चारों तो सज्जनोंके घरसे

कभी दूर नहीं होते (सदैव विद्यमान रहते हैं, अत एव अन्नादिके अभावमें इन्हींके द्वारा अतिथियोंका सत्कार करना चाहिये) ॥ १०१ ॥

अतिथिका लक्षण—

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥

(गृहस्थके घर) एक रात ठहरनेवाला ब्राह्मण 'अतिथि' कहा गया है क्योंकि आने तथा ठहरनेकी तिथि (समय) का निश्चय नहीं रहनेसे वह 'अतिथि' ('न विद्यते तिथिर्यस्य सः' इस विग्रहसे) कहा जाता है ॥ १०२ ॥

विमर्श—इस श्लोकमें आये हुए 'एकरात्र' पदसे केवल एक रात्रिका ही ग्रहण नहीं करना चाहिये, अपितु उस 'एकरात्र' पदको उपलक्षण मानकर 'एक साम या एक दिन ठहरनेवाला' ऐसा अर्थ करना चाहिये। इसी प्रकार 'ब्राह्मण' पदसे भी ब्राह्मणमात्रका ग्रहण न कर उपलक्षणतया 'द्विज' या मनुष्यमात्रका ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा जो रात्रि में नहीं टिकने वाला होगा या ब्राह्मण नहीं होगा; उसे 'अतिथि' नही माना जायेगा। उक्तार्थ स्वीकार करनेपर ही जो श्लो० १०५ की टिप्पणीमें लिखित विष्णुपुराणके वचनसे भी दिनमें आनेवालेको भी 'अतिथि' माना गया है तथा श्लो० ११०, की मन्वर्थमुक्तावलीके अनुसार क्षत्रिय गृहीका ब्राह्मण तथा क्षत्रिय; वैश्य गृहीका ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अतिथि माना गया है, ये दोनों वचन सङ्गत होते हैं।

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिक तथा ।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ १०३ ॥

एक ग्रामवासी, विचित्र-कथाओं तथा परिहासोंके द्वारा जीविकाभिलाषी अर्थात् जीविका करनेवाले ऐसे भार्या तथा अग्निसे युक्त विप्रको भी 'अतिथि, नहीं समझना चाहिये ॥ १०३ ॥

लोभवश दूसरेके यहां भोजनेच्छाका निषेध—

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥

जो निर्बुद्धि गृहस्थ आतिथ्य (अतिथि-सत्कार) के लोभसे दूसरे ग्राममें जाकर परान्न-भोजन करता है, उस परान्न-भोजनके कारण मरकर अन्न देने-वाले यहां पशु होता है ॥ १०४ ॥

[परपाकान्नपुष्टस्य सततं गृहमेधिनः ।
दत्तमिष्टं तपोऽधीतं यस्यान्नं तस्य तद्भवेत् ॥ ६ ॥]

[सर्वदा दूसरेके अन्नसे पुष्ट (भोजनार्थ दूसरे दूसरे गावोंमें जा-जाकर आतिथ्य ग्रहण करनेवाले) गृहस्थका दान, यज्ञ, तप, और वेदादि का स्वाध्याय, जिसका अन्न है ; उसे प्राप्त होता है ॥ ६ ॥]

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना ।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत् ॥ १०५ ॥

गृहस्थ सायंकाल घरपर आये हुए अतिथिको मना न करे तथा वह समयपर (घरवालोंके भोजन करनेके पहले) या असमयपर (घरवालोंके भोजन करनेके बाद) आवे, परन्तु विना भोजन किये वहां नहीं (जिसके यहां ठहरे, उसको वह गृहस्थ भोजन अवश्य करावे) रहे ॥ १०५ ॥

विमर्श—इसी वास्ते विष्णुपुराणमें कहा है कि—'दिनमें अतिथिके विमुख (विना भोजनकिये या विना कुछ पाये निराश होकर) लौट जानेपर जो पाप होता है, उसके अठगुना पाप रातको अतिथिके विमुख होकर लौट जानेसे होता है'[1]।

अतिथिको विना दिये श्रेष्ठ पदार्थोंको खानेका निषेध—

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् ॥ १०६ ॥

जो अतिथि को नहीं खिलाया जावे ऐसा घी, दूध मिठाई आदि पदार्थ स्वयं भी नहीं खावे। अतिथिका पूजन (भोजनादिसे आदर-सत्कार) करना धन, आयु, यश तथा स्वर्गका निमित्त (कारण) होता है ॥ १०६ ॥

बहुत अतिथियोंके आनेपर यथायोग्य सत्कार—

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥

बहुत अतिथिओं के एक साथ आनेपर आसन, विश्रामस्थान, शय्या (चारपाई, चौकी, पलंग आदि), अनुगमन (पीछे २ चलना) और सेवा—ये सब सत्कार बड़ोंका अधिक, मध्यमश्रेणिवालोंका मध्यम तथा निम्न श्रेणिवालों का कम करना चाहिये ॥ १०७ ॥

---

१. अत एव विष्णुपुराणे—"दिवाऽतिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप ।
तदेवाष्ट गुणं प्रोक्तं सूर्योढे विमुखं गते ॥" इति (म०मु०)।

अतिथ्यर्थ पुनः बनाये गये भोज्यपदार्थसे बलिका निषेध—

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिरव्राजेत् ।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥ १०८ ॥

वैश्वदेव कर्मके निवृत्त होनेपर यदि दूसरा अतिथि आ जाय तो उसके लिये भी यथाशक्ति अन्न (यदि बचा नहीं हो तो पुनः तैयार कर) देना चाहिये, किन्तु दुबारा बलि करने की आवश्यकता नहीं है ॥ १०८ ॥

भोजन प्राप्तिके लिये अपने कुल गोत्रका कथन-निषेध—

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥

ब्राह्मण भोजन प्राप्ति के लिये अपने कुल तथा गोत्रको न कहे (मैं ब्राह्मण हूं, मुझे भोजन करा दीजिये, इत्यादि वचन न कहे), क्योंकि भोजन प्राप्त करनेके लिये अपने कुल तथा गोत्रको कहनेवाला विप्र वमन किये पदार्थको खानेवाला कहा जाता है ॥ १०९ ॥

ब्राह्मणके क्षत्रिय आदि अतिथि नहीं—

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११० ॥

ब्राह्मणके (घर आये हुए) क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मित्र, बान्धव और गुरु 'अतिथि' नहीं कहे जाते हैं ॥ ११० ॥

विमर्श—क्षत्रियादिकी अपेक्षा ब्राह्मणके श्रेष्ठ होनेसे, मित्र तथा बान्धवों (समान जातीयवालों) के अपना सम्बन्धी होनेसे गुरुके प्रभु होनेसे वे 'अतिथि' नहीं होते । इसीप्रकार क्षत्रियके यहां आया हुआ ब्राह्मण तथा क्षत्रिय 'अतिथि' समझा जाता है, किन्तु वैश्य शूद्र और सखादि 'अतिथि' नहीं समझे जाते, एवं वैश्य के यहां आये हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य 'अतिथि' समझे जाते हैं, किन्तु शूद्र तथा सखा आदि 'अतिथि' नहीं समझे जाते ॥

क्षत्रियादिको बादमें भोजन कराना—

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत् ।
भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

यदि क्षत्रिय अतिथि-धर्मसे (अतिथिके समयमें तथा अतिथिके समान दूसरे ग्रामसे आनेके कारण) ब्राह्मणके घर आ जावे तो उसे भी ब्राह्मण अतिथिको भोजन करानेके बाद भोजन करावे ॥ १११ ॥

वैश्य तथा शूद्रको भृत्योंके साथ भोजन कराना—

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥

इसी प्रकार ब्राह्मणके घर यदि वैश्य तथा शूद्र भी अतिथि-धर्मसे (अतिथिके समय तथा ग्रामान्तरसे आनेके कारण) आ जावें तो उन्हें भी दया-प्रदर्शन करता हुआ भृत्योंके साथ (ब्राह्मण अतिथि तथा अतिथि-धर्मसे आये हुए क्षत्रियको भोजन कराने बाद तथा गृह-दम्पति के भोजन करनेसे पहले) भोजन करावे ॥ ११२ ॥

गृहागत मित्रादिको भोजन कराना—

इतरानपि सख्यादीन्सम्प्रीत्या गृहमागतान् ।
प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥ ११३ ॥

भोजनके समयमें आये हुए मित्रादिको यथाशक्ति श्रेष्ठ अन्न (अपने तथा) स्त्री के साथमें भोजन करावे, गुरुके प्रभु (समर्थ) होनेके कारण उनको भोजन करानेका समय-निर्देश नहीं किया गया है; अतः उन्हें (गुरुको) जब इच्छा हो तभी भोजन करावे ॥ ११३ ॥

नवोढा, कुमारी आदिको पहले भोजन कराना—

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥ ११४ ॥

नव विवाहित वधू (पुत्रादिकी पत्नी तथा अपनी पुत्री), कुमारी (अविवाहित कन्या), रोगी और गर्भिणी स्त्री—इन्हें अतिथियोंके भी पहले विना विचारे ('अतिथियोंके पहले इन्हें कैसे भोजन कराऊं' ऐसा विचार छोड़कर) भोजन करावे ॥

पहले स्वयं भोजनका निषेध—

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते विचक्षणः ।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५ ॥

जो गृहस्थ इन (अतिथि ब्राह्मणसे लेकर भृत्यतक कथित लोगों) को भोजन नहीं देकर भोजनके क्रमविरोध दोषको नहीं जानता हुआ पहले (स्वयं) भोजन करता है, वह (अपनी मृत्युके बाद) कुत्ते गीधोंके द्वारा अपनेको खाया जाता हुआ नहीं जानता है अर्थात् मरनेके बाद उसे (अतिथि आदिके पहले

भोजन करनेवाले गृहस्थको) मरनेके बाद कुत्ते गीध आदि खाते हैं ॥ ११५ ॥

गृहस्थ-दम्पतिको सबके बाद भोजन करना—

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥

अतिथि ब्राह्मण, स्वजातीय, भृत्य (दास, दासी आदि) के भोजन कर लेनेपर बादमें शेष अन्नको गृहस्थ दम्पती (स्त्री-पुरुष) भोजन करें ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥

देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों, पितरों, गृहस्थित शालग्रामादि प्रतिमाओं की पूजा (देवर्षिपितृतर्पण, अतिथ्यादि-भोजन, प्रतिमादि-पूजन) कर गृहस्थ शेष बचे हुए अन्नको भोजन करे ॥ ११७ ॥

केवल अपने लिये भोजन-बनानेका निषेध—

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥

जो (देवता आदिको न देकर) केवल अपने लिये भोजनका पाक करता (करके खाता) है, वह केवल पापको भोगता है, क्योंकि यज्ञ (पञ्चयज्ञ) से बचा हुआ अन्न सज्जनोंका अन्न कहा गया है ॥ ११८ ॥

[यद्यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे।
तत्तद् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥ ७ ॥]

[गृहस्थको संसारमें जो २ अत्यन्त अभिलषित हो, घरमें जो प्रिय हो, उनको अक्षय होनेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य उन २ वस्तुओंको गुणवान् के लिये देवे ॥ ७ ॥]

गृहागत राजादिका पूजन—

राजर्त्विक्स्नातकगुरून्प्रियश्वशुरमातुलान्।
अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः ॥ ११९ ॥

राजा, ऋत्विज् (यज्ञ करानेवाले वेदपाठी), स्नातक, गुरु, जामाता (दामाद-पुत्रीपति), श्वशुर और मामा—इनको एक वर्षके बाद अपने (गृहस्थके) घर जानेपर मधुपर्क-विधिसे पूजन करना चाहिये ॥ ११९ ॥

राजा तथा स्नातककी पूजामें संकोच—

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ।
मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥ १२० ॥

यदि राजा तथा स्नातक (एक वर्षके बाद भी) यज्ञमें आवें तो मधुपर्क से उनकी पूजा करे और यदि यज्ञमें नहीं आये हों तो मधुपर्कसे उनकी पूजा नहीं करे ॥

विमर्श—जामाता तथा श्वशुर आदि (ऋत्विक्, आचार्य, चाचा, मामा आदि) यज्ञ समयसे भिन्न अवसर पर भी यदि एक वर्षके बाद आवें तो उनकी पूजा मधुपर्कसे करें तथा एक वर्षके भीतर यज्ञ और विवाहके अवसरपर ही सब लोगों की मधुपर्कसे पूजा करें[1]।

स्त्रियोंके द्वारा अमन्त्रक बलि देना—

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

स्त्री सायंकालमें पक्व (पके हुए) अन्नको विना मन्त्रोच्चारण किये (इन्द्राय नमः इत्यादि मन्त्रोंको विना कहे) ही बलि देवे । सायंकाल और प्रातःकाल बलिवैश्वदेव कर्म करनेका यह शास्त्रोक्त विधान है ॥ १२१ ॥

अमावस्याको पार्वणश्राद्ध—

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान् ।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥ १२२ ॥

(अब पूर्व (३।११२) प्रतिज्ञात श्राद्धप्रकरणका आरम्भ करते हैं—) अग्निहोत्री विप्र (द्विज) अमावस्याको पितृयज्ञ पूराकर प्रतिमास अमावस्याको 'पिण्डान्वाहार्यक' नामके श्राद्धको करे ॥ १२२ ॥

माससे श्राद्ध—

पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः ।
तच्चामिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः ॥ १२३ ॥

विद्वान् लोग पितरोंके मासिक श्राद्धको 'अन्वाहार्य' कहते हैं, उसे श्रेष्ठ (दुर्गन्धि आदिसे वर्जित) मांससे करना चाहिये ॥ १२३ ॥

[न निर्वपति यः श्राद्धं प्रमीतपितृको द्विजः ।
इन्दुक्षये मासि मासि प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः ॥ ८ ॥]

[जिसका पिता मर गया हो, ऐसा जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) अमावस्याको प्रतिमास श्राद्ध (पिण्डान्वाहार्य) नहीं करता है, वह द्विज प्रायश्चित्ती होता है ॥ ८ ॥]

---

१. तदाह गौतमः—"ऋत्विगाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलादीनामुपस्थाने मधुपर्कः । संवत्सरे पुनर्यज्ञविवाहयोरर्वाक् राज्ञः श्रोत्रियस्य च॥" इति । (म०मु०)

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः।
यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) उस श्राद्धमें जो श्रेष्ठ ब्राह्मण भोजन करानेके योग्य हैं तथा जो वर्जनीय (त्याग करनेके योग्य) हैं; तथा जितनी संख्यामें एवं जिन अन्नोंसे भोजन करानेके योग्य हैं; उन सबको मैं कहूंगा ॥१२४॥

भोजनीय ब्राह्मणों की संख्या—

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥

गृहस्थ देवकार्यमें दो ब्राह्मणोंको तथा पितृश्राद्धमें तीन ब्राह्मणोंको अथवा उन दोनों कार्योंमें १-१ ब्राह्मणको ही भोजन करावे, धनवान् भी अधिक विस्तार (ब्राह्मण-संख्यामें वृद्धि) न करे ॥ १२५ ॥

ब्राह्मणभोजनमें विस्तारका निषेध—

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः।
पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥ १२६ ॥

सत्कार, देश, काल, शुद्धता और ब्राह्मण-सम्पत्ति (उत्तम ब्राह्मणोंकी प्राप्ति) इन पांचोंको विस्तार (अधिक संख्यामें ब्राह्मणोंको भोजन कराना) नष्ट करता है; अत एव अधिक संख्यामें ब्राह्मणोंको भोजन नहीं करावे ॥ १६ ॥

पार्वणश्राद्धकी अवश्य कर्तव्यता—

प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये।
तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥ १२७ ॥

यह पितृश्राद्ध 'प्रेतकृत्या' कहलाता है, अमावस्याको उसके करनेमें लगे हुए द्विजको लौकिक प्रेतकृत्या अर्थात् स्मार्त (स्मृति शास्त्रोक्त) पिताका उपकारक क्रिया पुत्र-पौत्रादिके रूपमें प्राप्त होती है ॥ १२७ ॥

हव्य तथा कव्यको श्रोत्रियके लिये देना—

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥

दाता गृहस्थ हव्य (देवतोद्देश्यक अन्न) तथा कव्य (पितृ-उद्देश्यक अन्न) श्रोत्रिय (वेदका ज्ञाता) ब्राह्मणको ही देवे। अत्यन्त श्रेष्ठ ब्राह्मणके लिये दिया गया (दान—हव्य-कव्यादि) उत्तम फलवाला होता है ॥ १२८ ॥

श्रोत्रिय की प्रशंसा—

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत् ।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहूनपि ।। १२६ ।।

देवों और पितरोंके कार्य (क्रमशः यज्ञादि तथा श्राद्ध) में एक भी विद्वान् (वेदमन्त्रोंका ज्ञाता) ब्राह्मणको गृहस्थ भोजन करावे तो (उससे) बहुत अधिक फलको (वह) प्राप्त करता है तथा वेदमन्त्रोंको नहीं जाननेवाले अनेक ब्राह्मणोंको भी देने (देवयज्ञ तथा पितृश्राद्धमें भोजन कराने) से (वह दाता) फलको नहीं प्राप्त करता है ॥ १३० ॥

श्रोत्रियकी परीक्षा—

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ।। १३० ।।

गृहस्थ दूरसे ही वेदतत्त्वके ज्ञाता ब्राह्मणकी (पिता पितामह अर्थात् बाप-दादा आदिकी जानकारीके द्वारा) परीक्षा करे । वह (वेदतत्त्वज्ञाता ब्राह्मण) हव्य-कव्य-दानका तीर्थ (पात्र) स्वरूप अतिथि कहा गया है ॥ १३० ॥

दश लाख ब्राह्मणोंसे एक विद्वान् ब्राह्मणकी श्रेष्ठता—

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते ।
एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ।। १३१ ।।

जिस श्राद्धमें हजारगुना हजार (दस लाख) विना पढ़े हुए ब्राह्मण भोजन करते हैं, वहां यदि वेदपढ़नेवाला एक ही ब्राह्मण भोजनकर सन्तुष्ट हो तो उन दस लाख भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंके योग्य होता (उनके बराबर फलको देता) है ॥ १३१ ॥

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च ।
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः ।। १३२ ।।

ज्ञानसे श्रेष्ठ ब्राह्मणको ही कव्य तथा हव्य देना (श्राद्ध तथा यज्ञमें भोजन कराना, दान देना) चाहिये । क्योंकि रक्तसे लिप्त हाथ रक्तके द्वारा (धोनेसे) शुद्ध (साफ) नहीं होता है, (किन्तु निर्मल पानीसे धोनेपर ही रक्तादि-दूषित हाथ शुद्ध होता है; अत एव विद्वान् ब्राह्मणको ही भोजन करानेसे श्राद्धादिका फल मिल सकता है, अन्यथा नहीं) ॥ १३२ ॥

मूर्ख ब्राह्मणको भोजन करानेका फल—

यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलष्टर्ययोगुडान्॥ १३३॥

वेदमन्त्रको नहीं जाननेवाला ब्राह्मण हव्य (यज्ञ) तथा कव्य (श्राद्ध) में जितने ग्रासोंको खाता है, श्राद्धकर्ता (उक्त कर्मोंमें उस मूर्ख ब्राह्मणको भोजन करानेवाला) मरनेपर उतने ही गरम २ शूलर्ष्टि (दोतरफा धारवाला अस्त्र-विशेष) और लोहेके पिण्डोंको खाता है (अतः मूर्ख ब्राह्मणको श्राद्धमें भोजन नहीं कराना चाहिये)॥ १३३॥

विमर्श—मनु भगवान्‌ने उक्त वचनों (३।१२८-१३३) के द्वारा यज्ञ तथा श्राद्ध कर्ममें मूर्ख ब्राह्मणोंको भोजन कराना सर्वथा निष्फल बतलाया है, अत एव कोई यज्ञकर्ता या श्राद्धकर्ता व्यक्ति अपने नाम कमाने (प्रसिद्धि प्राप्त करने) के लिये सैकड़ों-सहस्रों ब्राह्मणोंको भले ही भोजन कराकर आत्मसन्तोषका अनुभव कर ले, किन्तु मनु भगवान्‌के उक्त वचनोंके अनुसार यज्ञ कर्ता या-श्राद्धकर्ताको यज्ञ या श्राद्धका फल कदापि भी नहीं मिलेगा। इस कारणसे अब ब्राह्मणोंको भी समय रहते ही सावधान होकर विद्वान् बनना चाहिये, अन्यथा अब अधिक दिनों तक उनकी पोल-पट्टी नहीं चल सकेगी।

ब्राह्मणोंका ज्ञाननिष्ठ आदि होना—

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथाऽपरे।
तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथाऽपरे॥ १३४॥

कोई ब्राह्मण ज्ञाननिष्ठ (आत्मज्ञानी होते हैं) कोई तपोनिष्ठ (प्राजापत्यादि तपस्यामें आसक्त) होते हैं, कोई तप तथा स्वाध्याय (वेदपाठ) में निष्ठ आसक्त होते हैं और कोई कर्मनिष्ठ होते हैं॥ १३४॥

ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मणको हव्य-दान—

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि॥ १३५॥

उन ज्ञाननिष्ठ (आत्मज्ञानी) ब्राह्मणोंके लिये कव्य दान (पितरोंके उद्देश्यसे अन्नदान—भोजनादि) करना चाहिये और हव्य दान (देवताओंके उद्देश्यसे अन्नदान—भोजनादि) उन चारों (३।१३४) के लिये करना चाहिये॥ १३५॥

अश्रोत्रियो पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः॥ १३६॥

जिसका पिता वेदज्ञाता नहीं है और पुत्र वेदज्ञाता है, अथवा जिसका पिता वेदज्ञाता है और पुत्र वेदज्ञाता नहीं है—॥ १३६ ॥

ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता।
मन्त्रसम्पूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥

उन दोनों (३।१३६) में-से जिसका पिता वेदज्ञाता है, वही (स्वयं वेदज्ञाता नहीं होनेपर भी) श्रेष्ठ है तथा दूसरा (जिसका पिता वेदज्ञाता नहीं है, किन्तु वह स्वयं वेदज्ञाता है; वह) पठित वेदमन्त्रोंकी पूजाके लिये सत्कार करने योग्य है ॥ १३७ ॥

विमर्श—प्रथम तथा द्वितीय पद्य (३।१३६ में कथित) क्रमशः पुत्र–विद्यापरक तथा पितृविद्यापरक हैं, अतः वचनभङ्गीसे 'जो श्रोत्रिय-पुत्र है तथा स्वयं भी श्रोत्रिय है, उसे ही हव्य-कव्य-दान करना चहिये' यह सिद्धान्त है। जो श्रोत्रियका पुत्र तो है, परन्तु स्वयं श्रोत्रिय नहीं है उसे हव्य-कव्य-दान करनेका शास्त्रादेश नहीं है; क्योंकि पहले "श्रोत्रियायैव देयानि···" (३।१२८) वचनसे श्रोत्रियको ही हव्य–कव्य–दान करनेका वचन आ चुका है, इस प्रकार "दूरादेव परीक्षेत···" (३।१३०) यह वचन विद्याके अतिरिक्त आचार आदिकी परीक्षाके लिये कहा गया है, ऐसा मन्वर्थमुक्तावलीकारका आशय जानना चाहिये।

श्राद्धमें मित्रादिको भोजन करानेका निषेध—

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः।
नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेद् द्विजम् ॥ १३८ ॥

श्राद्ध (तथा यज्ञ) में मित्रको भोजन नहीं करावे, धनके द्वारा मित्रताको बढ़ावे। जिस (वेदज्ञाता) को न शत्रु और न मित्र समझे, उस (ब्राह्मण) को ही श्राद्ध (तथा यज्ञ) में भोजन करावे ॥ १३८ ॥

श्राद्ध तथा यज्ञ में मित्रोंको भोजन कराना निष्फल—

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च।
तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ॥ १३९ ॥

जिसका कव्य (पितरोंके उद्देश्यसे किया हुआ श्राद्ध) तथा हव्य (देवोंके उद्देश्यसे किया गया यज्ञादि) मैत्री–प्रधान है अर्थात् जिस श्राद्ध तथा यज्ञमें मुख्यतः मित्रोंको भोजन कराया जाता है, उस कव्य तथा हव्य (श्राद्ध तथा यज्ञ) का परलोकमें कोई फल नहीं है (परलोक–प्राप्त्यर्थ श्राद्ध तथा यज्ञमें मित्रोंको प्रधानतः भोजन कराना या दान देना निष्फल है) ॥ १३९ ॥

य: सङ्गतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः।
स स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः॥ १४०॥

जो मनुष्य मोहवश (शास्त्रज्ञानके नहीं होनेसे) श्राद्धके द्वारा मित्रता करता है, श्राद्धमित्र (श्राद्धके लिये ही मित्रता का निर्वाह करने वाला) वह नीच ब्राह्मण स्वर्गसे भ्रष्ट होता है (उसे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती) ॥ १४० ॥

सम्भोजनी साऽभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः।
इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि॥ १४१॥

हव्य-कव्यमें की गयी संभोजनी (अनेक मित्रादिका एक साथ भोजन करना अर्थात् जिसे गोठ, दावत, ज्यौनार आदि कहते हैं; वह), पैशाची (पिशाचके धर्मवाली) दक्षिणा (दानक्रिया भोजनादि) कही गयी है और जैसे अन्धी गौ एक घरसे दूसरे घरमें नहीं जा सकती, वैसे ही वह दक्षिणा भी इसी लोकमें फल देनेवाली है (परलोकमें नहीं) ॥ १४१ ॥

अविद्वान्‌को श्राद्धमें दानादि निष्फल—

यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम्।
तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम्॥ १४२॥

जैसे ऊषर भूमिमें बीजको बोनेवाला (गृहस्थ-किसान) फल नहीं पाता है, वैसे ही वेदाध्ययनसे हीन ब्राह्मणको हविर्दानकरके दानकर्ता श्राद्धके फलको नहीं पाता है ॥ १४२ ॥

विद्वान्‌को दिये गयेकी सफलता—

दातॄन्प्रतिग्रहीतॄंश्च कुरुते फलभागिनः।
विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च॥ १४३॥

विधिपूर्वक हव्य-कव्यको विद्वान्‌के लिये देनेवाला व्यक्ति इस लोकमें भी दाता (दान देनेवाला) और प्रतिगृहीता (दान देनेवाला)—दोनोंको फलभागी बनाता है ॥ १४३ ॥

वेदज्ञाताके अभावमें मित्रको भोजन—

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम्।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम्॥ १४४॥

(हां, विद्वान् वेदज्ञाताके नहीं मिलनेपर) श्राद्धमें मित्रको भोजन करावे,

किन्तु विद्वान् भी शत्रुको नहीं (भोजन करावे), क्योंकि शत्रुको भोजन कराया गया हविष्य परलोक में निष्फल होता है ॥

वेदपारंगत विद्वान्‌को प्रयत्न पूर्वक भोजन—

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् ।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥

मन्त्र-ब्राह्मण-शाखाको पढ़े हुए ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, वेदोंका पारगामी (सम्पूर्ण वेद को पढ़े हुए) सब शाखाओंको पढ़े हुए ऋत्विज्, वेदोंको पढ़कर समाप्त किये विद्वान् ब्राह्मणको प्रयत्नपूर्वक श्राद्धमें भोजन करावे ॥ १४५ ॥

एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः ।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ १४६ ॥

पूर्वोक्त (३।१४५) ब्राह्मणोंमें से एक भी ब्राह्मण पूजित होकर श्राद्धमें भोजन करे तो श्राद्धकर्ताके पुत्रादि सात पीढ़ी तक पितर अक्षय तृप्तिको पाते हैं ॥

विमर्श—पिता, पितामह, प्रपितामह—ये तीन पिण्डभागी पितर, लेपभागी चतुर्थ आदि तीन पितर तथा स्वयम् (३+३+१=७)। यहां पुत्र पदसे श्राद्धकर्ता विवक्षित है।

एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

(भृगुमुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) हव्य तथा कव्यके दानका यह पहला कल्प (मुख्य शास्त्र-विधान) कहा गया है। (इस मुख्य विधानके अभावमें) सज्जनोंसे अनुष्ठित (किया गया) अनुकल्प (गौण अर्थात् अप्रधान शास्त्र-विधान) यह है (जो आगे कहा गया है) ॥ १४७ ॥

नाना आदिको श्राद्धमें भोजन—

मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥ १४८ ॥

नाना, मामा, भानजा (बहनका पुत्र), श्वशुर, गुरु, दौहित्र (धेवता—पुत्रीका पुत्र), जामाता, बान्धव, (मौसी तथा फूआ आदि का पुत्र,) ऋत्विज् तथा यज्ञकर्ता—इन दशोंको श्राद्धमें (मुख्य वेदज्ञाता नहीं मिलनेपर) भोजन करावे ॥ १४८ ॥

देवकार्यमें ब्राह्मणपरीक्षाका निषेध—

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।
पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥

धर्मात्मा पुरुष देवकार्यमें ब्राह्मणकी परीक्षा (३।१३० के अनुसार विशेष छान-बिन) न करे, किन्तु पितृकर्म (पितरनिमित्तक श्राद्ध) में तो प्रयत्न-पूर्वक ब्राह्मणकी परीक्षा (अवश्य) करे ॥ १४९ ॥

[तेषामन्ये पङ्क्तिदूष्यास्तथाऽन्ये पङ्क्तिपावनाः ।
अपाङ्क्तेयान्प्रवक्ष्यामि कव्यानर्हान्द्विजाधमान् ॥ ९ ॥]

[भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि) उन ब्राह्मणोंमें कुछ पङ्क्तिदूष्य (पङ्क्तिमें भोजन करनेसे दूषित करनेवाले) और कुछ पंक्तिपावन (पंक्ति में भोजन करने से पवित्र करनेवाले) ब्राह्मण होते हैं। कव्य (पितृ श्राद्ध निमित्तक अन्न) के अयोग्य उन निम्न श्रेणिवाले अपाङ्क्तेय (पंक्तिको दूषित करनेवाले) ब्राह्मणोंको मैं कहूंगा ॥ ९ ॥]

अपाङ्क्तेय ब्राह्मण—

ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः ।
तान्हव्यकव्योर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥

जो (ब्राह्मण) चोर, पतित (११ अध्यायोक्त), नपुंसक तथा नास्तिकका व्यवहार करनेवाले हैं; उन ब्राह्मणोंको मनुने हव्य (देवकार्य) तथा कव्य (पितृ-कार्य—श्राद्ध) में अयोग्य बतलाया है—॥ १५० ॥

जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा ।
याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ॥ १५१ ॥

वेदको नहीं पढ़ता हुआ ब्रह्मचारी, दुर्बल—दूषित चमड़े वाला (मेधातिथि के मतसे खल्वाट—जिसके शिरमें बाल न हो वह, तथा लाल (भूरे) बालों वाला या दूषित चमड़ेवाला), जुआरी (स्वयं जुआ खेलनेवाला), बहुतोंको यज्ञ करानेवाला, इन सबको श्राद्धमें भोजन न करावे ॥ १५१ ॥

चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥ १५२ ॥

वैद्य, मन्दिर का पुजारी (वेतन लेकर मन्दिरोंमें पूजाकी जीविका करनेवाला),

एकवार भी मांस बेचनेवाला और व्यापार कर्मसे जीनेवाला,—इन ब्राह्मणोंको हव्य तथा कव्य (देव कार्य तथा पितृश्राद्ध) में भोजन न करावे ॥ १५२ ॥

प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः ।
प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्धुषिस्तथा ॥ १५३ ॥

राजा तथा ग्राम का प्रेष्य (चपरासी आदि—जो राजा या गामाध्यक्षादिसे वेतन लेकर उनकी आज्ञानुसार इधर उधर जाता है), निन्दित नखवाला, काले दाँतवाला, गुरुके विरुद्ध आचरण करनेवाला, अग्निहोत्र नहीं करनेवाला, व्याज (सूद) लेकर जीविका चलानेवाला—॥ १५३ ॥

यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ।
ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥

राजयक्ष्मा (क्षय) का रोगी, पशु-पालन (बकरी भेंड़ आदिके पालन) की जीविकावाला, परिवेत्ता (३।१७१), पञ्चमहायज्ञ (३।७०) से हीन तथा देवताओंका निन्दक, ब्राह्मणसे विरोध रखनेवाला, परिवित्ति (३।१७१), चन्दा लेकर जीविका चलानेवाला—॥ १५४ ॥

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च ।
पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥

नर्तक (नृत्य करनेवाला), स्त्रीसम्भोगसे व्रतभ्रष्ट ब्रह्मचारी (तथा संन्यासी), शूद्रा (शूद्रजात्युत्पन्न स्त्री) का पति, विधवा-विवाहसे उत्पन्न, काणा, जिसके घरमें स्त्रीका उपपति (जार, रखेल) रहता हो वह—॥ १५५ ॥

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा ।
शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥

वेतन लेकर पढ़ानेवाला, वेतन देकर पढ़नेवाला, शूद्र का शिष्य (व्याकरण आदि शास्त्रको पढ़ा हुआ), शूद्रका गुरु (व्याकरण आदि शास्त्र पढ़ानेवाला), रूखा बोलनेवाला, कुण्ड, गोलक (जारसे उत्पन्न सधवा स्त्रीका पुत्र 'कुण्ड' तथा जारसे उत्पन्न विधवाका पुत्र गोलक ३।१७४)—॥ १५६ ॥

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा ।
ब्राह्मैर्यौनैश्च सम्बन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ॥ १५७ ॥

निष्कारण माता, पिता और गुरुका (शुश्रूषादिका) त्याग करनेवाला,

पतितोंके साथ ब्राह्म (वेदशास्त्राध्ययन आदि ब्रह्मविषयक) तथा यौन (कन्या विवाहादि योनिविषयक) सम्बन्ध रखनेवाला—॥ १५७ ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।
समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥ १५८ ॥

घरमें आग लगानेवाला, विष (जहर) देनेवाला, कुण्ड (३।१७४) के अन्नको खानेवाला, सोमलताको बेचनेवाला, (जहाज आदिसे) समुद्रयात्रा करनेवाला, बन्दी (भाट—प्रशंसासम्बन्धी कविता पढ़नेवाला), तेल पेरनेवाला, झूठा गवाही देनेवाला—॥ १५८ ॥

विमर्श—देवलके कथनानुसार 'कुण्डाशी' शब्दसे केवल 'कुण्ड' (जारसे उत्पन्न सधवा-पुत्र) का अन्न खानेवाला ही अर्थ नहीं अपेक्षित है, किन्तु 'कुण्डाशी' शब्दसे 'गोलक' (जारसे उत्पन्न विधवा-पुत्र) का अन्न खानेवाला अर्थ भी अपेक्षित है। यही अर्थ मन्वर्थमुक्तावलीकारको भी इष्ट है[1]।

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा।
पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी ॥ १५९ ॥

पिताके साथ (शास्त्रीय या लौकिक विषयमें) निरर्थक झगड़नेवाला, जुआ खेलानेवाला (स्वयं जुआ खेलना नहीं किन्तु नहीं जाननेके कारण दूसरोंको खेलानेवाला), मदिरा पीनेवाला, कोढ़ी, (अनिर्णीत होनेपर भी) महापातक (११।५४) से अभिशप्त (निन्दित), कपटपूर्वक धर्मकर्ता, गन्ने आदिका रस बेचनेवाला-॥ १५९॥

धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रेदिधिषूपतिः।
मित्रध्रुग्द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥

धनुष और बाणको बनानेवाला, अग्रेदिधिषू (बड़ी बहनके अविवाहित रहने पर विवाहित छोटी बहन[2]) का पति, मित्रद्रोही, द्यूतशालाका अध्यक्ष (जिसे 'नालदार' कहते हैं तथा जिसे दांव पर जीते हुए द्रव्यमें से प्रतिरुपया शायद दो पैसा मिलता है), पुत्रके द्वारा पढ़ाया गया पिता—॥ १६० ॥

---

१ प्रदर्शनार्थत्वात्कुण्डस्येति गोलकस्यापि ग्रहणम्। तथा च देवलः—

"अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलकः।
यस्तयोरन्नमश्नाति स 'कुण्डाशी'ति कथ्यते ॥" इति। (म० मु०)

२. "तथा च लौगाक्षिः—

'ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामुह्यतेऽनुजा।
सा चाग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता ॥' इति। (म० मु०)

विमर्श—'गोविन्दराजने "भ्रातुर्मृतस्य भार्यायाम् (३।१७३)" श्लोकसे अग्रेदिधिषू' ही वृत्तिवश 'अग्रे' पदका लोपकर 'दिधिषूपति' कहा जायेगा, उसी का यहां (३।१७३ में उक्त) ग्रहण होता है" ऐसा कहा है।

भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा।
उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥ १६१ ॥

अपस्मार (मूर्छा) का रोगी, गण्डमालाका रोगी, श्वेतकुष्ठ (चरक) का रोगी, चुगलखोर, उन्मादी (पागल), अन्धा, वेदका निन्दक—॥ १६१ ॥

हस्तिगोऽश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति।
पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥

हाथी, घोड़ा तथा ऊंटको शिक्षित करने (सिखाने) वाला, ज्योतिषी, चिड़ियोंको (स्वयं क्रीडाके लिये या बेचनेके लिये) पालनेवाला, युद्धकी शिक्षा देनेवाला—॥ १६२ ॥

स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः।
गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥

(बहनेवाले झरना, तालाब, नहर या नदी आदिके बांध या पुलको तोड़कर दूसरी तरफ लेजानेवाला, तथा उन (नदी, नहर आदिके प्रवाहको रोकनेवाला) घर बनाने की जीविकावाला घरोंका ठेकेदार या राजमिस्त्री आदि), दूत, (वेतन लेकर) पेड़ोंको लगानेवाला—॥ १६३ ॥

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च।
हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ १६४ ॥

कुत्तोंसे क्रीडा करनेवाला, बाज पक्षीसे जीविका करनेवाला, कन्याको (संभोगादिसे) दूषित करनेवाला, हिंसक, सूदसे जीविका चलानेवाला, गण-यज्ञ (विनायकशान्ति आदि) करानेवाला—॥ १६४ ॥

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा।
कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च ॥ १६५ ॥

आचरणसे हीन (गुरु-पिता आदिके आनेपर अभ्युत्थान प्रणामादि सदाचार पालन नहीं करनेवाला), नपुंसक (धर्मकार्य आदिमें उत्साहहीन), सदा याचना करनेवाला, (अन्य वृत्तिके संभव होने पर भी स्वयं) किसानी (खेती) करनेवाला, हाथीपांव का रोगी (जिसके पैर बहुत मोटे हाथी पैरके समान हो जाते हैं), किसी कारणसे सज्जनोंसे निन्दित—॥ १६५ ॥

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा।
प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः॥ १६६॥

भेंड़े तथा भैंसेकी जीविका करनेवाला, विधवाका पति, धन लेकर मुर्देको बाहर निकालने या फेंकनेवाला, इनको प्रयत्न-पूर्वक (देवयज्ञ तथा पितृश्राद्धमें छोड़ देना चाहिये ॥ १६६ ॥

एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान्द्विजाधमान्।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत्॥ १६७॥

इन (३।१५०-१६६) निन्दित, अपाङ्क्तेय (पङ्क्तिको दूषित करनेवाले) और द्विजोंमें अधम (नीच) ब्राह्मणोंको विद्वान् मनुष्य दोनों (हव्य-देवयज्ञ तथा कव्य-पितृश्राद्ध) में वर्जित करे (नहीं भोजन करावे) ॥ १६७ ॥

मूर्ख ब्राह्मणको हविर्दान की निष्फलता—

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति।
तस्मै हव्यं न दातव्यं नहि भस्मनि हूयते॥ १६८॥

जैसे तृणकी अग्नि (हविष्य डालने अर्थात् हवन करने पर) बुझ जाती है (और उसमें हवन करना व्यर्थ होता है), वैसे ही वेदाध्ययनसे हीन ब्राह्मण है, अत एव उसे देवतोद्देश्यसे हविर्दान नहीं करना चाहिये, क्योंकि भस्ममें हवन नहीं किया जाता है ॥ १६८ ॥

विमर्श—"श्रोत्रियायैव देयानि" (३।१२८) वचनसे ही यद्यपि वेदाध्ययन हीन ब्राह्मणके लिये हविर्दानका निषेध कहा जा चुका है, तथापि स्तेनादिके समान इसे (वेदज्ञानहीनको) भी पङ्क्तिदूषकता बतलानेके लिये यह वचन फिरसे कहा गया है। अन्याचार्योंका यह मत है कि—"यदि वेदमन्त्रज्ञाता ब्राह्मण शारीरिक (काणत्व आदि) पङ्क्तिदूषक दोषोंसे युक्त हो तो उसे 'यम' दोषहीन बतलाते हैं, और वह पङ्क्तिपावन ही होता है" इस वसिष्ठ-वचनानुसार[1] 'देवकार्यमें मूर्खका ही त्याग करना चाहिये और वेदाध्ययनशील काण (काना एक आंखसे हीन) आदि दोषयुक्त ब्राह्मणका त्याग नहीं करना चाहिये, इसीलिये यह वचन (३।१६८) कहा गया है।

---

१. "……अत एव वशिष्ठः—
'अथ चेन्मन्त्रविद्युक्तः शारीरः पङ्क्तिदूषणैः।
अदूष्यं तं यमः प्राह पङ्क्तिपावन एव सः॥" इति। (म० मु०)

अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलोदयः।
दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६९ ॥

(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि—) पङ्क्तिदूषक (पांतको दूषित करने वाले ३।१५०-१६७) ब्राह्मणोंको (हव्य-कव्यका) दान देनेके बाद जो फलोदय होता है, उसे कहूंगा ॥ १६९ ॥

पङ्क्तिदूषकके लिये दानादिकानिषेध—

अव्रतैर्यद् द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा।
अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ १७० ॥

वेदाध्ययन व्रतसे हीन, परिवेत्ता (३।१७१) आदि तथा अन्य अपाङ्क्तेय (पङ्क्तिदूषक स्तेन आदि ३।१५०-१६७) ब्राह्मण जो (हव्य-कव्य) भोजन करते हैं; उस (हव्य-कव्य) को राक्षस भोजन करते हैं (वह श्राद्धादि कार्य निष्फल होता है, अतः इनको श्राद्धादि में भोजन कराना नहीं चाहिये) ॥ १७० ॥

परिवेत्ता तथा परिवित्तिका लक्षण—

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १७१ ॥

जो छोटा भाई बड़े भाई के अविवाहित रहते अग्निहोत्र नहीं लेने पर ही अपना विवाह तथा अग्निहोत्र ग्रहण कर लेता है, वह (छोटा भाई) 'परिवेत्ता' तथा बड़ा भाई 'परिवित्ति' कहलाता है ॥ १७१ ॥

परिवेत्ता आदिको असत्फलप्राप्ति—

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ १७२ ॥

१ परिवेत्ता तथा २ परिवित्ति, ३ जिस (कन्या) से विवाह होता है वह, ४ कन्यादान करनेवाला और ५ याजक (उस विवाहमें हवनादि करनेवाला ब्राह्मण) ये पांचों नरकको जाते हैं ॥ १७२ ॥

दिधिषूपतिका लक्षण—

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥ १७३ ॥

मृत पतिके सन्तानाभावके कारण वक्ष्यमाण (९।५९-६१) वचनानुसार,

धर्मसे नियुक्त भार्यामें जो कामवश अनुरक्त (आलिङ्गन-चुम्बनादिमें प्रवृत्त) होता है, उसे 'दिधिषूपति' जानना चाहिये ॥ १७३ ॥

कुण्ड तथा गोलक पुत्रका लक्षण—

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ॥ १७४ ॥

परायी स्त्रीमें 'कुण्ड' तथा 'गोलक'—ये दो पुत्र उत्पन्न होते हैं, पतिके जीते रहनेपर (सधवासे) जार (उपपति) के द्वारा उत्पन्न पुत्र 'कुण्ड' और पतिके मरनेपर (विधवासे जारके द्वारा उत्पन्न पुत्र 'गोलक' (कहलाता) है ॥१७४॥

कुण्डाशीका लक्षण—

[उत्पन्नयोरधर्मेण हव्यकव्ये च नैत्यके ।
यस्तयोरन्नमश्नाति स कुण्डाशी द्विजः स्मृतः ॥ १० ॥]

[अधर्मसे उत्पन्न उन दोनों (कुण्ड तथा गोलक ३।१७४) के अन्नको हव्य (देवतानिमित्तक) तथा कव्य (पितृ-निमित्तक) और नित्य कर्ममें जो भोजन करता है, वह द्विज 'कुण्डाशी' कहा गया है ॥ १० ॥]

कुण्ड तथा गोलकको हव्य-कव्य-दानकी निष्फलता—

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च ।
दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥ १७५ ॥

दूसरेकी स्त्रीमें उत्पन्न वे दोनों (३।१७४ में कथित कुण्ड तथा गोलक) मरकर तथा इसलोकमें भी दाताओंके दिये गये हव्य-कव्यको नष्ट (निष्फल) करते हैं ॥ १७५ ॥

अपाङ्क्तेय-भोजनका दूषण—

अपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान्भुञ्जानाननुपश्यति ।
तावतां न फलं तत्र दाता प्राप्नोति बालिशः ॥ १७६ ॥

अपाङ्क्तेय (३।१५०-१६७ में कथित पङ्क्तिको दूषित करनेवाला) ब्राह्मण पङ्क्ति (भोजनकी पांत) में बैठे तथा भोजन करते हुए जितने ब्राह्मणोंको देखता है, भोजन करानेवाला वह मूर्ख उतने (पङ्क्तिपावन—पङ्क्तिको पवित्र करनेवाले भी) ब्राह्मणोंको भोजन करानेके फलको नहीं पाता है, (अतएव पङ्क्तिदूषक स्तेनादि, भोजन करते हुए ब्राह्मणोंको नहीं देख सकें, ऐसा प्रबन्ध भोजन-दाताको करना चाहिये) ॥ १७६ ॥

वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तु ।
पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ १७७ ॥

अन्धा पङ्क्तिमें बैठकर भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको देखकर नब्बे ब्राह्मणोंके, काना साठ ब्राह्मणोंके, श्वेत कुष्ठी सौ ब्राह्मणोंके और पापरोगी (यक्ष्मा या कुष्ठका रोगी) हजार ब्राह्मणोंके (भोजन करानेसे मिलनेवाले) दाता (भोजन करानेवाले) के फलको नष्ट करता है ॥ १७७ ॥

विमर्श—यद्यपि अन्धाका देखना असम्भव है । तो भी उसके बैठे हुए स्थानसे देखने योग्य देशतकके नब्बे ब्राह्मण-भोजनके फलको नष्ट करनेका वचन कहा गया है । उक्त न्यूनाधिक संख्या दोषका न्यूनाधिक्य-प्रदर्शनार्थ है ।

शूद्र-याजकका निषेध—

यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः ।
तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥ १७८ ॥

शूद्रको यज्ञ करानेवाला (ब्राह्मण) अङ्गोंसे जितने ब्राह्मणोंका स्पर्श करता है, उतने ब्राह्मणोंके हव्य-कव्य दान करनेका फल दानकर्ताको नहीं मिलता है ॥

विमर्श—आगेके "आसनेषूपक्लृप्तेषु—(३।२०८) वचनानुसार प्रत्येक ब्राह्मणको पृथक् २ आसनपर बैठाकर भोजन करानेका विधान होनेसे दूसरेके शरीरके स्पर्शकी सम्भावना नहीं है, अत एव जितने ब्राह्मणोंकी पङ्क्तिमें वह शूद्र-याजक बैठकर भोजन करता है, उतने ब्राह्मणोंको भोजन करानेका पौर्तिक (वेदीके बाहर दान देनेका) फल दाताको नहीं मिलता है, अर्थात् यहां शरीरस्पर्श विवक्षित नहीं है, किन्तु पूर्व वचनों (३।१७६-१७७) के अनुसार स्थानकी समीपता विवक्षित है । मेधातिथि तथा गोविन्दराजके वचनानुसार पङ्क्तिदूषकोंमें शूद्रयाजककी गणना पहले नहीं हुई है, अतः इस वचनसे उसका निषेध किया गया है ।

शूद्र-याजकसे प्रतिग्रह लेनेका निषेध—

वेदविद्यापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम् ।
विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९ ॥

वेदज्ञाता ब्राह्मण भी लोभसे शूद्र-याजकका प्रतिग्रह (दान) लेकर पानीमें कच्चे घड़ेके समान (शरीरादिसे) शीघ्र नष्ट हो जाता है (तब मूर्ख ब्राह्मणके विषयमें कहना ही क्या है ? अर्थात् वह तो प्रतिग्रह लेकर अत्यन्त शीघ्र नष्ट हो ही जायेगा) ॥ १७९ ॥

सोम-विक्रयी आदिके लिये दान-निषेध—

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम्।
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥ १८० ॥

सोमलता बेचनेवाले ब्राह्मणको दी गयी दान-वस्तु देनेवालेके भोजनार्थ विष्ठा, वैद्य-वृत्तिवाले ब्राह्मणको दी गई दान-वस्तु देने वालेके भोजनार्थ पूय (पीव) और शोणित (रक्त), पूजक देव-मन्दिरके पुजारी (वेतन लेकर पूजा करनेवाले) के लिये दी गयी दान-वस्तु नष्ट और सूदखोर ब्राह्मणके लिये दी गयी दान-वस्तु भी अप्रतिष्ठ (निष्फल) होती है ॥ १८० ॥

विमर्श—इस श्लोकका आशय यह है कि श्राद्ध (हव्य कव्य) में सोमलता बेचनेवाले ब्राह्मणको भोजन करानेसे दाताको विष्ठा खानेवाले कीड़ोंकी योनिमें, वैद्य-वृत्तिवाले ब्राह्मणको भोजन करानेसे पीब तथा रक्त खानेवाले कीड़ोंकी योनिमें उत्पन्न होना पड़ता है और शेष दो (पुजारी तथा सूदखोर) ब्राह्मणोंको भोजन कराना निष्फल होता है, अतः इन्हें श्राद्ध आदि में (हव्य-कव्य दोनों कार्योंमें) भोजन नहीं करावे।

व्यापारी आदि ब्राह्मणके लिये दाननिषेध—

यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत्।
भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥

व्यापारी (व्यापारसे जीविका करनेवाले) ब्राह्मणको जो (हव्य-कव्य) दिया जाता है, वह इस लोक तथा परलोकमें—कहीं भी फल देनेवाला नहीं होता है और विधवापुत्रके लिये दियागया भस्ममें हवन करनेके समान (निष्फल) होता है ॥

अन्य अपाङ्क्तेय ब्राह्मणोंके लिये दान-निषेध—

इतरेषु त्वपाङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु।
मेदोसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ १८२ ॥

पूर्वोक्त अपाङ्क्तेय अन्य (चौर आदि ३।१५०-१६८) ब्राह्मणोंको दिये गये (हव्य-कव्य) को मेदस, रक्त, मांस, मज्जा और हड्डी (के स्थान) विद्वान्लोग कहते हैं ॥ १८२ ॥

विमर्श—पूर्वोक्त (३।१८०-१८१) श्लोकसे भिन्न पङ्क्तिदूषक (३।१५०-१६८) ब्राह्मणोंको हव्य-कव्यके दिये हुए अन्नको दाता जन्मान्तरमें मेदस्, रक्त आदि खानेवाले कीड़ोंकी योनिमें उत्पन्न होकर खाता है, अतः उन्हें भी हव्य-कव्यका दान (सर्वत्र 'दान' शब्दसे भोजन भी विवक्षित है) नहीं करना चाहिये।

पङ्क्तिपावन ब्राह्मणोंके कथनका उपक्रम—

अपाङ्क्त्योपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः ।
तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान्पङ्क्तिपावनान् ॥ १८३ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि पङ्क्तिदूषक) (३।१५०–१६८) से दूषित पङ्क्ति (भोजनकर्ताओंकी पांत) जिन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे पवित्र हो जाती है, उन पङ्क्तिपावन (पङ्क्तिको पवित्र करनेवाले) ब्राह्मणों (तुमलोग आगे (३।१८३–१८६) कहे गये) को जानो ॥ १८३ ॥

पङ्क्तिपावन ब्राह्मण—

अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च ।
श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ॥ १८४ ॥

चारो वेदोंके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ, प्रवचन अर्थात् ६ वेदाङ्गों[1] (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्द) सहित वेदोंके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ और जिस वंशमें १० पीढ़ियों तक श्रोत्रिय हुए हों, उनमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको पङ्क्तिपावन जानना चाहिये—॥ १८४ ॥

त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ।
ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ १८५ ॥

त्रिणाचिकेत (अध्वर्यु वेदभागको पढ़ने तथा उसका व्रत करनेवाले), पञ्चाग्नि (अग्निहोत्री), त्रिसुपर्ण (बह्वृचका वेदभाग पढ़ने तथा उसका व्रत करनेवाले), वेदके ६ अङ्गों (शिक्षा आदि) का व्याख्याता, ब्राह्मविवाह (३।२७) की विधिसे विवाहिता स्त्रीसे उत्पन्न, वेदके आरण्यकमें गाये जानेवाले ज्येष्ठसामका गान करनेवाला—॥ १८५ ॥

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ।
शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः ॥ १८६ ॥

वेदके अर्थका ज्ञाता (वेदाङ्गको नहीं पढ़कर भी गुरुसे वेदार्थको जाननेवाला), वेदका व्याख्यान करनेवाला, ब्रह्मचारी (प्रथम आश्रममें नियमित रूपसे रहनेवाला),

---

(१) तदुक्तम्—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः ।
छन्दोविचितिरित्येष षडङ्गो वेद उच्यते ॥" इति ।

हजार गायोंको या बहुत अधिक दान करनेवाला और सौ वर्षकी आयुवाला,—इन ब्राह्मणोंको 'पङ्क्तिपावन' जानना चाहिये ॥ १८६ ॥

ब्राह्मणको निमन्त्रित करनेका समय—

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते।
निमन्त्रयेत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान् यथोदितान् ॥ १८७ ॥

श्राद्धके एक दिन पहले या श्राद्धके ही दिन पूर्व (३।१८५–१८६) में यथा योग्य कहे गये ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करे ॥ १८७ ॥

श्राद्धमें निमन्त्रित ब्राह्मण तथा श्राद्धकर्ताके कर्तव्य—

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा।
न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत् ॥ १८८ ॥

पितृ-श्राद्धमें निमन्त्रित ब्राह्मण आत्माको संयमपूर्वक रखे (मैथुनादि कर्म न करे) तथा (आवश्यक नित्यकर्म अर्थात् सन्ध्योपासन एवं जप आदिके अतिरिक्त) वेदका अध्ययन (वेद-पाठ) भी न करे। श्राद्धकर्ता भी इन नियमोंका विधिवत् पालन करे ॥ १८८ ॥

पूर्वोक्त नियमके पालनमें युक्ति—

निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥

पितरलोग निमन्त्रित ब्राह्मणके पास आते हैं, उन ब्राह्मणोंके चलनेपर प्राण-वायुके समान अनुगमन करते हैं और उन ब्राह्मणोंके बैठनेपर उनके समीपमें बैठते हैं। (अत एव निमन्त्रित ब्राह्मणोंका कर्तव्य है कि वे संयमसे रहें) ॥ १८९ ॥

निमन्त्रण स्वीकारकर भोजन न करनेपर दोष—

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः।
कथञ्चिदप्यतिक्रामन्पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥

हव्य-कव्य (देवकार्य या पितृश्राद्ध) में विधिवत् निमन्त्रित (तथा उस निमन्त्रणको स्वीकार किया हुआ) ब्राह्मण किसी कारणसे भी भोजन नहीं करनेपर उस पापसे (दूसरे जन्ममें) सूअर होता है ॥ १९० ॥

निमन्त्रित ब्राह्मणको शूद्रा-गमनका (विशेष) निषेध—

आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते।
दातुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

श्राद्धमें निमन्त्रित जो ब्राह्मण शूद्राके साथ सम्भोग करता है, वह श्राद्धकर्ताके पापोंको प्राप्त करता है॥ १९१ ॥

विमर्श—यदि श्राद्धकर्ता पापी नहीं होता तब भी वह ब्राह्मण पापभागी होता ही है। "नियतात्मा—" (३।१८८) से मैथुन निषेध करनेपर भी विशेषदोष-प्रदर्शनार्थ यह वचन है, तथा मेधातिथि और गोविन्दराजके मतसे "नियतात्मा—(३।१८८) श्लोकसे सामान्यतः मैथुनका निषेध करनेपर निमन्त्रित ब्राह्मणकी विवाहिता समान वर्णकी पत्नीके भी साग्रह संभोगकी इच्छा करनेवाली होनेपर 'शूद्रा' अर्थात् शूद्रा के तुल्य है, अतः ऐसी ब्राह्मणीके साथमें भी संभोग करनेपर उक्त दोष होता है" यह अर्थ है।

श्राद्धभोक्ताको क्रोधादि करनेका निषेध—

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः १९२॥

पितरलोग क्रोधरहित, (मिट्टी तथा पानीसे) बाहरी एवं (राग-द्वेषादि शून्य अन्तःकरणसे) भीतरी शुद्धि रखनेवाले, नित्य ब्रह्मचारी, युद्धसे पराङ्मुख और दया आदि गुणोंसे युक्त सृष्टिके आदिकालसे ही देवतारूप हैं। (अत एव श्राद्धमें भोजन करनेवाले ब्राह्मण तथा श्राद्ध करनेवाले यजमानको भी वैसा ही (पितरोंके समान ही क्रोधरहित आदि गुणोंसे युक्त) होना चाहिये)॥ १९२॥

पितरोंकी उत्पत्ति—

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः।
ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत॥ १९३॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) इन सब पितरोंकी जिनसे उत्पत्ति हैं और ये पितर ब्राह्मणादिके द्वारा जिन नियमोंसे पूजनीय हैं, उनको सुनिये॥१९३॥

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः॥ १९४॥

हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) का पुत्र मनुके जो मरीचि तथा अत्रि आदि (ऋषि) पुत्र पहले (१।३५) कहे गये हैं, उन ऋषियों (सोमपा आदि) के पुत्र पितर कहे गये हैं॥ १९४॥

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः॥ १९५॥

विराट्के पुत्र 'सोमसद्', साध्योंके पितर हैं और मरीचिके पुत्र लोकप्रसिद्ध अग्निष्वात्त, देवोंके (पितर हैं) ॥ १९५ ॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ १९६ ॥

अत्रिके पुत्र बर्हिषद्—दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, उरग (सर्प, नाग), राक्षस, सुपर्ण और किन्नरोंके (पितर हैं) ॥ १९६ ॥

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥ १९७ ॥

सोमपा ब्राह्मणोंके, हविर्भुज् (अग्नि) क्षत्रियोंके, आज्यप वैश्योंके और सुकाली शूद्रोंके (पितर हैं) ॥ १९७ ॥

सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८ ॥

सोमपा कवि (भृगु) के पुत्र हैं हविर्भुज् (अग्नि) अङ्गिरस्के पुत्र हैं, आज्यप पुलस्त्यके पुत्र हैं और सुकाली वसिष्ठके (पुत्र हैं) ॥ १९८ ॥

अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥ १९९ ॥

अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त और सौम्य—ये सब ब्राह्मणोंके पितर हैं ॥ १९९ ॥

[अग्निष्वात्ता हुतैस्तृप्ताः सोमपाः स्तुतिभिस्तथा ।
पिण्डैर्बर्हिषदः प्रीताः प्रेतास्तु द्विजभोजने ॥ ११ ॥]

[अग्निष्वात्त हवनसे, सोमपा स्तुतिसे, बर्हिषद् पिण्ड-दानसे और प्रेत ब्राह्मण-भोजनसे तृप्त होते हैं ॥ ११ ॥]

मुख्यपितृगणोंके अनन्त पुत्र-पौत्रादि भी पितर—

य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) जो ये (३।१९४-१९९) पितरोंके मुख्य गण (समूह, मैंने) कहे हैं, उनके भी अनन्त पुत्र-पौत्रोंको इस संसारमें पितर समझना चाहिये ॥ २०० ॥

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः ।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ २०१ ॥

ऋषियों (मरीचि आदि) से पितर उत्पन्न हुए, पितरोंसे देवता तथा मनुष्य उत्पन्न हुए, देवताओंसे चराचर (चर-जङ्गम—चलनेवाला, अचर—स्थिर) यह संसार क्रमसे उत्पन्न हुआ ॥ २०१ ॥

विमर्श—उक्त श्लोकमें पितरोंकी उत्पत्ति सोमपा आदिसे कही गयी है, पितृ-श्राद्धमें सोमपा आदिकी भी पूजा करनी चाहिये, क्योंकि विधिवत् पूजित ये भी श्राद्ध-फलको देनेवाले हैं, इन सोमपा आदिका उल्लेख पितृ-श्राद्धके प्रशंसा-परक है, अथवा श्राद्धमें पिता आदिका आवाहन करते समय सोमपा आदिके रूपमें उन (पिता आदि) का ध्यान करना चाहिये ।

पितरोंके लिये चांदीका पात्र—

राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः ।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥ २०२ ॥

पितरोंके लिये चांदीके या चांदीसे मिश्रित (तांबा आदिके बने हुए बर्तनोंसे श्रद्धापूर्वक दिया हुआ जल भी अक्षय सुखके लिये होता है । (फिर श्रेष्ठ पायस (दूध की खीर आदि) भोज्य पदार्थके दान करनेपर कहना ही क्या है ? अर्थात् वह तो अत्यन्त अक्षय सुखके लिये होगा) ॥ २०२ ॥

श्राद्धकी प्रधानता—

देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ २०३ ॥

देवताओंके उद्देश्यसे किये जानेवाले कार्य (यज्ञ आदि) से पितरोंके उद्देश्यसे किया जानेवाला कार्य (श्राद्ध आदि) द्विजोंके लिये विशेष (प्रधान) कर्तव्य कहा जाता है, क्योंकि देवकार्य पितृ कार्यसे पहले होनेसे पितृकार्यका पूरक (पूर्तिकरनेवाला) माना गया है । (इससे यह सिद्ध होता है कि देव-कार्य अङ्ग अर्थात् अप्रधान तथा पितृकार्य अङ्गी अर्थात् प्रधान है) ॥ २०३ ॥

पितृकार्यके आद्यन्तमें देवकार्य—

तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् ।
रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥ २०४ ॥

पितरों (के कार्य) के रक्षक विश्वेदेव ब्राह्मणोंको पहले निमन्त्रित करना चाहिये

(पितृ-श्राद्धके पहले देवश्राद्ध करना चाहिये), क्योंकि रक्षा (देवश्राद्ध) से वर्जित (पितृ) श्राद्धको राक्षस नष्ट कर देते हैं ॥ २०४ ॥

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत्।
पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ २०५ ॥

पितृकार्यके आदि तथा अन्तमें देवकार्य (आदि में देवावाहन, हवन आदि तथा अन्तमें देवविसर्जन) करना चाहिये, पितृकार्यको आदि और अन्तमें कदापि नहीं करना चाहिये, पितृकार्यको देवकार्यके आदि और अन्तमें करनेवाला सन्तानके सहित नष्ट हो जाता है ॥ २०५ ॥

श्राद्धके योग्य स्थान—

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत्।
दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥

पवित्र (हड्डी, मल, मूत्र तथा राख आदिसे वर्जित) एकान्त (बहुतोंके सञ्चारसे रहित) स्थानको गोबरसे लिपवावे तथा उस स्थानको दक्षिण दिशाकी ओर ढालू रखे ॥ २०६ ॥

एकान्त वन या नदीतट आदिकी श्रेष्ठता—

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७ ॥

स्वभावसे ही पवित्र वन आदिकी भूमि, नदी का किनारा और एकान्त स्थानमें किये गये श्राद्ध आदिसे पितर सर्वदा सन्तुष्ट होते हैं ॥ २०७ ॥

निमन्त्रित ब्राह्मणोंको आसन देना—

आसनेषूपक्लृप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्पृथक्।
उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥

उस पवित्र श्राद्ध स्थानपर पूर्वदिशामें पृथक् २ रखे हुए कुशके आसनोंपर स्नान तथा आचमन किये हुए निमन्त्रित ब्राह्मणोंको बैठावे ॥ २०८ ॥

विमर्श—देव-कार्य-सम्बद्ध निमन्त्रित ब्राह्मणोंको पूर्वाग्र (जिनका अग्रभाग पूर्वकी ओर हो ऐसे) दो-दो[1] कुशाओंका आसन दे तथा पितृ-कार्य-सम्बद्ध ब्राह्मणों-

---

१. "ये चात्र विश्वेदेवानां विप्राः पूर्वनिमन्त्रिताः।
प्राङ्मुखान्यासनान्येषां द्विदर्भोपहितानि च ॥
दक्षिणामुखयुक्तानि पितृणामासनानि च।
दक्षिणाग्रैकदर्भाणि प्रोक्षितानि तिलोदकैः ॥ इति। (म० मु०)

को दक्षिणाग्र (जिनका अग्रभाग दक्षिण दिशाकी ओर हो ऐसे) एक-एक कुशाओंका आसन दे और इन आसनोंके कुशाओंको तिलोदक से छिड़ककर शुद्ध कर ले ॥२०८॥

आसनस्थित उन ब्राह्मणोंकी गन्धादिसे पूजा—

उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् ।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद् देवपूर्वकम् ॥ २०९ ॥

आसनपर बैठे हुए उन अनिन्दित ब्राह्मणोंकी सुगन्धित कुङ्कुमादि तथा पुष्प-मालाओंसे देवपूर्वक (पहले देव-कार्य सम्बद्ध ब्राह्मणोंकी पूजा बादमें पितृ-कार्य-सम्बद्ध ब्राह्मणोंकी) पूजा करे ॥ २०९ ॥

उनकी आज्ञासे हवनकर्म—

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि ।
अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥ २१० ॥

उन ब्राह्मणोंके अर्घ्यमें तिल तथा जल मिलावे तथा उनसे आज्ञा लेकर उनके साथ आगे कही हुई विधिसे हवन करे ॥ २१० ॥

विमर्श—आज्ञाकी असमर्थता होनेपर 'अपने गृह्योक्तविधिसे हवन करूं या करूंगा' ऐसी प्रार्थना करे तथा वे ब्राह्मण अच्छा, करो (ॐ या कुरुष्व) ऐसी आज्ञाको दें ॥ २१० ॥

अग्नि, सोम आदिके हवनके बाद पितरोंका हवन—

अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः ।
हविर्दानेन विधिवत्पश्चात्सन्तर्पयेत्पितॄन् ॥ २११ ॥

पहले अग्नि, सोम और यमको विधिपूर्वक (पर्युक्षणादिके साथ) हविष्यके हवनसे तृप्तकर बादमें पितरोंको अन्नादि (पायसादि) द्रव्यों से तृप्त करे ॥२११॥

अग्निके अभावमें ब्राह्मणके हाथ पर आहुतिदान—

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥

अग्निके अभावमें उन ब्राह्मणोंके हाथपर ही (श्राद्धकर्ता) तीन आहुति दे; क्योंकि 'जो अग्नि है वही ब्राह्मण है' ऐसा मन्त्रद्रष्टा महर्षियोंने कहा है ॥२१२॥

विमर्श—यज्ञोपवीत संस्कारके नहीं होने तक, यज्ञोपवीत संस्कार होने पर समावर्तन संस्कारके बाद विवाह संस्कार नहीं होने तक और विवाह संस्कार होने पर स्त्रीके मर जाने पर—इन तीन अवस्थाओंमें 'अग्निका अभाव' रहता है ।

अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान्पुरातनान् ।
लोकस्याप्यायने युक्ताञ्छ्राद्धदेवान्द्विजोत्तमान् ॥ २१३ ॥

(मनु आदि महर्षिगण) सर्वदा क्रोधहीन, प्रसन्नमुख, (अनादिकाल से चले आनेके कारण) पुरातन और (३।७६ के अनुसार) संसारकी उन्नतिके लिये संलग्न ब्राह्मणों को श्राद्धका देव (श्राद्धके योग्य उत्तम सत्पात्ररूप) कहते हैं ॥२१३॥

अपसव्य होकर हवनादि—

अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् ।
अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥

अग्निमें पर्युक्षणादि (हवन करनेका क्रम) अपसव्य (प्राचीनावीती २।६३) होकर करनेके बाद दाहिने हाथसे (पिण्डके आधारभूत) पृथ्वीपर जल छिड़के॥२१४॥

पिण्डदानकी विधि—

त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः ।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥

हवनसे बचे हुए अन्नसे तीन पिण्ड बनाकर एकाग्रचित्त हो दक्षिण दिशाकी ओर मुख करके कुशाओं पर उन पिण्डोंको रखे ॥ २१५ ॥

कुशाकी जड़में हाथ पोंछना—

न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ।
तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥

विधिपूर्वक (अपने गृह्योक्त विधिसे) उन पिण्डोंको कुशाओंपर रखकर (जिनपर पिण्ड रखे हुए हैं) उन कुशाओंकी जड़में लेपभागी (वृद्धप्रपितामहादि ३) पितरोंकी तृप्तिके लिये हाथको रगड़ना[1] (काछना, पोंछना) चाहिये ॥ २१६ ॥

ऋतुका नमस्कार आदि—

आचम्योदक्परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून् ।
षडृतूंश्च नमस्कुर्यात्पितॄनेव च मन्त्रवत् ॥ २१७ ॥

फिर उत्तरकी ओर मुखकर शक्तिके अनुसार धीरे २ तीन प्राणायाम करके मन्त्र-पूर्वक ('वसन्ताय नमस्तुभ्यं—' मन्त्रसे) वसन्त आदि ऋतुओंको और ('नमो वः पितरः—' मन्त्रसे) पितरोंका नमस्कार करे ॥ २१७ ॥

१. "दर्भमूलेषु करावघर्षणम्" इति विष्णुवचनात्' इति० । (म० मु०)

प्रत्यवनेजन आदि—

उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः ।
अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः ॥ २१८ ॥

फिर जलपात्रमें बचे हुए जलको सावधानचित्त होकर तीनों पिण्डोंके पासमें क्रमसे (जिस क्रमसे पिण्ड रखे गये हैं उसी क्रमसे) धीरे २ गिरा दे और उसी क्रमसे उन पिण्डोंको सूंघे ॥ २१८ ॥

पिण्डके कुछ भागका पितृ-ब्राह्मणको भोजन कराना—

पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः ।
तेनैव विप्रानासीनान्विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥

क्रमसे उन पिण्डोंमेंसे थोड़ा २ भाग लेकर उसे (पिण्डमेंसे लिये हुए भागको पिता आदिके उद्देश्यसे) बैठे हुए निमन्त्रित ब्राह्मणोंको पहले खिलावे ॥२१९॥

पिताके जीते रहनेपर पितामह आदिका पार्वणश्राद्ध—

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् ।
विप्रवद्वाऽपि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥ २२० ॥

पिताके जीवित रहनेपर पितामह आदि तीन पुरुषों (पितामह, प्रपितामह, वृद्धप्रपितामह) का ही श्राद्ध करे अथवा पितामहादिके उद्देश्यसे निमन्त्रित किये जानेवाले ब्राह्मणके समान पितृ-विप्रस्थामें पिताको ही भोजन करावे । (इस पक्षमें पितामह-तथा प्रपितामहके उद्देश्यसे ही ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करे और दो ही पिण्डोंको दे) ॥ १२० ॥

पिताके मरने तथा पितामहके जीवित रहनेपर पार्वण श्राद्ध—

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः ।
पितुः स नाम सङ्कीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥ २२१ ॥

जिसका पिता मर गया हो और पितामह जीवित हो, वह पिता और प्रपितामहका ही श्राद्ध करे, श्राद्धमें पिताका नाम लेकर प्रपितामहके नामका उच्चारण करे । (गोविन्दराजका मत है कि—'जिसके पिता और प्रपितामह मर गये हों तथा पितामह जीवित हो वह पिताके लिये पिण्ड रखकर प्रपितामह और वृद्धप्रपितामहके लिये पिण्ड दे') ॥ २२१ ॥

पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः ।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥ २२२ ॥

'अथवा पितामह उस (स्वसम्बद्ध) श्राद्धान्नको भोजन करे' (तथा पिता और प्रपितामहके उद्देश्यसे दो पिण्डदान करे तथा ब्राह्मण-भोजन करावे) ऐसा मनुने कहा है। अथवा (पितामहसे) आज्ञा ('तुम अपनी इच्छाके अनुसार श्राद्ध करो' ऐसी आज्ञा) प्राप्तकर (जिसका पिता मर गया हो तथा पितामह जीवित हो ऐसा श्राद्धकर्ता) अपनी रुचिके अनुसार उस श्राद्धमें पितामहको भोजन करावे और पूर्व (३।२२१) श्लोकमें कथित विष्णु-वचनके अनुसार पिता, प्रपितामह तथा वृद्धप्रपितामहके उद्देश्यसे पिण्डदान करे तथा ब्राह्मण-भोजन करावे ॥ २२२ ॥

ब्राह्मण-भोजन-विधि—

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम्।
तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन्॥ २२३॥

पिता आदि पितरोंके रूपमें निमन्त्रित होकर बैठाये गये (३।२०८) ब्राह्मणोंके हाथमें पवित्रीके सहित तिल और जल देकर पिण्डाग्र 'यह पिताके लिये स्वधा हो' ('इदं पित्रे स्वधाऽस्तु') ऐसा कहता हुआ (पिण्डका अग्र भाग ३।२१६) को देवे। (इसी प्रकार पितामह आदिके लिये भी तत्सम्बद्ध ब्राह्मणके हाथमें पवित्र, तिल और कुशा देकर इदं पितामहाय स्वधाऽस्तु'.....', वचन कहता हुआ श्राद्धकर्ता उक्तपिण्डाग्रको देवे) ॥ २२३ ॥

अन्न परोसनेकी विधि—

पाणिभ्यां तूपसङ्गृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम्।
विप्रान्तिके पितॄन्ध्यायञ्शनकैरुपनिक्षिपेत्॥ २२४॥

फिर श्राद्धकर्ता अन्नों (भोज्य पदार्थों) से परिपूर्ण पात्र (थाली आदि) को दोनों हाथोंसे पकड़कर पिता आदि पितरोंका ध्यान करता हुआ धीरेसे ब्राह्मणोंके पासमें रख दे ॥ २२४ ॥

एक हाथसे भोजन-पात्र लानेका निषेध—

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते।
तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः॥ २२५॥

एक हाथसे लाया गया जो अन्न (अन्न पात्र) ब्राह्मणोंके आगे परोसा जाता है, उस अन्नको दुष्ट चित्तवाले राक्षस एकाएक छीन लेते हैं (इस कारण एक हाथसे कभी भी नहीं परोसना चाहिये) ॥ २२५ ॥

व्यञ्जन आदिको भूमिपर रखना—

गुणांश्च सूपशाकाद्यान्पयो दधि घृतं मधु ।
विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥

व्यञ्जन, दाल, शाक, आदि, दूध, दही, घी तथा सहद (के पात्रों) को सावधान होकर (घबड़ाकर नहीं) पहले भूमिपर ही (पीढ़ा आदिपर नहीं) रखे ॥ २२६ ॥

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च ।
हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ २२७ ॥

सुन्दर अनेक प्रकारके मोदक (मिठाई—लड्डू आदि) भोज्य पदार्थ, जड़ (कन्द, मूली आदि), फल (ऋतुके अनुसार प्राप्त होनेवाले आम, सेव, सन्तरा आदि), मनोहर मांस, सुगन्धित पान (पीने योग्य शर्बत-पन्ना आदि)-॥२२७॥

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः ।
परिवेषयेत प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥

उन सब पदार्थोंको ब्राह्मण के पास लाकर धीरेसे संयत एवं सावधान होकर उन पदार्थोंके गुणोंका (यह मीटा है, यह खट्टा है, इत्यादि रूपमें) वर्णन करता हुआ श्राद्धकर्ता यथाक्रम परोसे (भूमिपर ही रखे) ॥ २२८ ॥

रोदन आदिका निषेध—

नास्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् ।
न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥

(उस समय) कदापि आंसू नहीं गिरावे (रोवे नहीं,), क्रोध नहीं करे, झूठ नहीं बोले, अन्नको पैरसे नहीं छुए और इसे (अन्नको) उछालकर पात्र (भोजन पात्र) में न फेंके ॥ २२९ ॥

अस्रं गमयति प्रेतान्कोपोऽरीननृतं शुनः ।
पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥

(उस समय) आंसू गिराना (रोदन करना) भूत वेषवाले प्रेतोंके पास, क्रोध करना शत्रुओंके पास, झूठ बोलना कुत्तेके पास, पैरसे अन्नस्पर्श करना राक्षसोंके पास और उछाल (फेंक) कर परोसना पापियोंके पास अन्नको पहुंचा देते हैं (इस कारणसे रोदन आदि नहीं करे) ॥ २३० ॥

ब्राह्मणकी रुचिके अनुसार परोसना आदि—

यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः ।
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितॄणामेतदीप्सितम् ॥ २३१ ॥

ब्राह्मणोंको जो-जो (वस्तु) रुचे (अच्छी लगे) उन-उन (वस्तुओं) को मत्सरसे रहित होकर परोसे, परमात्म-निरूपणसम्बन्धिनी कथाओं (वातचीत, चर्चाओं) को कहे; क्योंकि यह पितरोंका अभीप्सित है (इसे पितर चाहते हैं) ॥

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥ २३२ ॥

वेद, (मनुस्मृति आदि) धर्मशास्त्र, (सुपर्ण तथा मैत्रावरुण आदि की) कथायें, (महाभारत आदि) इतिहास, (ब्रह्म, पद्म आदि) पुराण और (शिव-सङ्कल्प तथा श्रीसूक्त आदि) खिल,—इन सबको पितृ-श्राद्धमें (भोजनार्थ निमन्त्रित) ब्राह्मणोंको सुनावे ॥ २३२ ॥

ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट करना—

हर्षयेद् ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः ।
अन्नाद्येनासकृच्चैतान्गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥

स्वयं प्रसन्न होकर मधुर वचनोंसे ब्राह्मणोंको प्रसन्न करे, धीरे-धीरे भोजन करावे और (यह लड्डू बहुत मधुर एवं मुलायम है, इसे लीजिये, यह कचौरी खास्ता एवं गरम है इसे लीजिये इत्यादि प्रकारसे) वस्तुओंके गुणोंसे बार २ भोज्य अन्नोंको लेनेके लिये इन्हें (ब्राह्मणोंको) प्रेरित करे ॥ २३३ ॥

दौहित्र (पुत्रीपुत्र) को श्राद्धमें अवश्य भोजन कराना—

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् ।
कुतपं चासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥

ब्रह्मचर्यावस्थामें (तथा अब्रह्मचर्यावस्थामें) भी रहनेवाले दौहित्र (धेवता= पुत्रीका पुत्र) को यत्नपूर्वक भोजन करावे । उसके लिये कुतप (नेपाली कम्बल) का आसन दे तथा श्राद्धभूमिपर तिलोंको बिखेर दे ॥ २३४ ॥

श्राद्धमें दौहित्र, कुतप तथा तिलकी श्रेष्ठता—

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥ २३५ ॥

श्राद्धमें दौहित्र (पुत्रीका पुत्र), कुतम (नेपाली कम्बल) और तिल—ये

तीनों पवित्र हैं और इस (श्राद्ध) में शौच (पवित्रता) अक्रोध और अत्वरा (जल्दीबाजी नहीं करना)—इन तीनोंकी (मन्वादि ऋषि) प्रशंसा करते हैं ॥ २३५ ॥

अन्नको उष्णता तथा मौन होकर भोजन करना—

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद् भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः ।
न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥ २३६ ॥

सब भोज्य अन्न (फल और पान अर्थात् पीने योग्य द्रव्य पन्ना शर्वत आदि को छोड़कर[१]) अत्युष्ण (जितना गर्म भोजन किया जा सके, उतना उष्ण) रहे, वे ब्राह्मण मौन होकर भोजन करें और श्राद्धकर्ता (या अन्य किसी) के पूछनेपर भी भोज्य पदार्थोंके गुणोंको (उच्चारण कर) न कहें (और न हाथ या मुख आदिके इशारेसे ही कहें) ॥ २३६ ॥

विमर्श—प्रायः आजकल देखा जाता है कि भोजन करते समय ब्राह्मण लोग भोजन करानेवालेको खुश करनेके लिये खाद्य पदार्थोंकी लम्बी-चौड़ी प्रशंसा करते नहीं अघाते, और उसे सुनकर श्राद्धादिकार्यकर्ता भी अतिप्रसन्न होता है, इन दोनों ही कार्योंको मनुभगवान् सर्वथा निषिद्ध बतलाते हैं, और इसी लक्ष्यको रखकर मौन होकर ब्राह्मणोंको भोजन करनेका विधान किया है ।

उष्ण अन्न तथा मौन आदिकी प्रशंसा—

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः ।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥ २३७ ॥

जबतक अन्न (भोज्य पदार्थ) गर्म रहता है, जबतक ब्राह्मण मौन होकर भोजन करते हैं और जबतक हविष्य (भोज्य पदार्थ) के गुणोंका वर्णन वे ब्राह्मण नहीं करते; तबतक पितर लोग भोजन करते हैं ॥ २३७ ॥

पगड़ी आदि बांधे भोजनका निषेध—

यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद् भुङ्क्ते दक्षिणामुखः ।
सोपानत्कश्च यद् भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ २३८ ॥

शिरपर पगड़ी या साफा आदि बांधकर (या टोपी लगाकर), दक्षिणमुख होकर और जूता (खड़ाऊँ चप्पल, चट्टी आदि) पहनकर जिस अन्नको ब्राह्मण

---

१. 'अत एव शङ्खः—
"उष्णमन्नं द्विजातिभ्यः श्रद्धया विनिवेदयेत् ।
अन्यत्र फलमूलेभ्यः पानकेभ्यश्च पण्डितः ॥" (इति म० मु०)

भोजन करते हैं; उस अन्नको राक्षस भोजन करता है। (वह अन्न पितरोंको नहीं मिलता, अतः शिरपर पगड़ी आदि बांधकर भोजन नहीं करना चाहिये)॥

चाण्डाल आदि के ब्राह्मण-भोजन देखनेका निषेध—

चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च।
रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ॥ २३६ ॥

चाण्डाल, सूअर, मुर्गा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक भोजन करते हुए ब्राह्मणोंको नहीं देखें ॥ २३९ ॥

हवन गोदानादिको भी चाण्डाल आदिके देखनेका निषेध—

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते।
दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छत्ययथातथम् ॥ २४० ॥

होम (अग्निहोत्र आदि हवन), दान (गौ और सुवर्ण आदिका दान), भोज्य (स्वामीकी उन्नतिके लिये ब्राह्मण भोजन), दैव (दर्श पौर्णमासादि देव-सम्बन्धी कार्य) और पित्र्य (पार्वण आदि पितृश्राद्ध) को जो ये चाण्डाल आदि (३।२३६) देखते हैं; वह सब निष्फल हो जाता है ॥ २४० ॥

सूअरके सूंघने आदिसे ब्राह्मण-भोजनकी निष्फलता—

घ्राणेन सूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः।
श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः ॥ २४१ ॥

सूअर के भोजनपदार्थको सूंघनेसे, मुर्गाकी पंखकी हवासे, कुत्ताके देखनेसे अथवा भोजनकर्ता ब्राह्मणों द्वारा कुत्तेको देखनेसे और शूद्रके स्पर्श करनेसे भोज्य-पदार्थ अखाद्य हो जाता है ॥ २४१ ॥

विमर्श—भोज्य पदार्थको जितनी दूरसे सूअर सूंघ न सके, मुर्गा अपने पंखों की हवा न पहुंचा सके, कुत्ता देख न सके या भोजन कर्ताओंसे कुत्ता देखा नहीं जा सके और शूद्र स्पर्श नहीं कर सके; उतनी दूरतक उन (सूअर, मुर्गा, कुत्ता और शूद्र) को नहीं आने देना चाहिये।

लंगड़े आदिको भी ब्राह्मण-भोजन देखने का निषेध—

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत्।
हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ॥ २४२ ॥

श्राद्धकर्ताका नौकर (या अन्य कोई) भी लंगड़ा, काणा वा शूद्र हो तथा हीन तथा अधिक अङ्गोंवाला (अङ्गुलियों या किसी शरीर से हीन वा अधिक

यथा छांगुर अर्थात् छः अङ्गुलोंवाला आदि) या पांचसे कम अङ्गुलियों वाला आदि जो श्राद्धमें आवें तो उन्हें भी हटा देना चाहिये ॥ २४२ ॥

भिक्षुक आदिको भोजन कराना—

ब्राह्मणं भिक्षुकं वाऽपि भोजनार्थमुपस्थितम् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥

(श्राद्धकालमें) भिक्षार्थी ब्राह्मण या और कोई भोजनार्थी आ जावे तो उस का भी ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर यथाशक्ति भोजनादि देकर सत्कार करे ॥ २४३ ॥

अनग्निदग्धादिके लिये अन्न विखेरना—

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा ।
समुत्सृजेद् भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि ॥ २४४ ॥

सब प्रकारके अन्नको लेकर तथा पानीसे आप्लावित (सान) कर भोजन किये हुए ब्राह्मणोंके आगे (कुशाओंपर) विखेरता हुआ छोड़ दे ॥ २४४ ॥

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् ।
उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ॥ २४५ ॥

जो अन्न कुशाओंपर विखेरा जाता है, वह जिन मृतकोंका ("नास्य कार्योऽग्निसंस्कारः—(५।६९)" वचनके अनुसार) अग्निसंस्कार नहीं किया गया है उन बालकोंका, तथा विना दोष देखे ही कुलस्त्रियोंका त्यागकरनेवालोंका हिस्सा होता है ॥ २४५ ॥

विमर्श—अग्निसंस्कारके अयोग्य दो वर्ष से कम अवस्था वाले बालक । अन्याचार्योंका मत है कि 'त्यागिनाम् , कुलयोषिताम्' ये दोनों पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पद हैं, अतः 'त्यागिनां' पदसे गुरु आदि त्यागियोंका और 'कुलयोषितां' पदसे अविवाहित कन्याओंका भाग उक्त अन्न होता है ।

गोविन्दराज का मत है कि 'त्यागिनां कुलयोषिताम्' पदका 'अपने कुलको छोड़कर गयी हुई कुलस्त्रियोंका भाग कुशाओं पर विखेरा हुआ वह अन्न है ।

भूमिपर गिरा उच्छिष्टभागी दास-समूह—

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च ।
दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

पितृश्राद्धमें भूमिपर गिरा हुआ उच्छिष्ट (जूठा अन्न) अकुटिल और शठयरहित दास-समूहका भाग होता है ॥ २४६ ॥

सपिण्डीकरणतक विश्वेदेववर्जित ब्राह्मणभोजनादि—

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु ।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥ २४७ ॥

सपिण्डीकरण (सपिण्डन) श्राद्धतक (कुछ समय पूर्व) मरे हुए द्विजातिका विश्वेदेव (ब्राह्मण भोजन) से रहित श्राद्ध करे (तथा एक ब्राह्मणको श्राद्धान्नका भोजन करावे) और एक पिण्ड दे ॥ २४७ ॥

सपिण्डीकरणके बाद पार्वणश्राद्ध—

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः ।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

धर्मानुसार सपिण्डीकरणके बाद इसी पार्वण श्राद्धकी विधिसे पुत्रोंको पिण्डदान करना चाहिये ॥ २४८ ॥

शूद्रको उच्छिष्टान्न देनेका निषेध—

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति ।
स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥

श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन करनेके बाद उच्छिष्ट (जूठे अन्नो) को जो मूर्ख शूद्रके लिये देता है, वह अधोमुख होकर कालसूत्र नरकको जाता है ॥ २४९ ॥

श्राद्धभोजनोपरान्त स्त्रीसंभोगका निषेध—

श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति ।
तस्याः पुरीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

श्राद्धमें भोजनकर जो ब्राह्मण उस दिन वृषली (मैथुनेच्छु स्त्री) के साथ सम्भोग करता है, उसके पितर उस के पुरीष (विष्ठी-मैला) में एक मासतक सोते (रहते) हैं ॥ २५० ॥

तृप्त ब्राह्मणोंको विसर्जित करना—

पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ।
आचान्तांश्चानुजानीयादभि भो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥

उन ब्राह्मणोंको तृप्त जानकर 'भोजन कर लिये ?' ऐसा पूछकर फिर उन्हें आचमन करावे और आचमन किये हुए उन ब्राह्मणोंसे 'हे ब्राह्मणों अब आपलोग जाइये ('भो अभि रम्यताम्' ऐसा कहे) ॥ २५१ ॥

ब्राह्मणोंका 'स्वधा' कहकर आशीर्वचन—

स्वधाऽस्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम्।
स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २५२ ॥

उसके बाद वे ब्राह्मण 'स्वधास्तु' (स्वधा हो) ऐसा (श्राद्धकर्तासे) कहें, (क्यों कि) सब पितृकार्यों (श्राद्धों) में 'स्वधाकार' सर्वश्रेष्ठ आशीर्वाद है ॥ २५२ ॥

बचे अन्नको ब्राह्मणाज्ञानुसार काममें लाना—

ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत्।
यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥

बचे हुए अन्नको भोजन किये हुए उन ब्राह्मणोंसे निवेदन करे (यह अन्न बचा है, ऐसा कहे), फिर वे ब्राह्मण उस अन्नसे जो कार्य करनेके लिये कहें, वैसा करे ॥ २५३ ॥

एकोद्दिष्टादि श्राद्धमें तृप्ति-प्रश्नकी विधि—

पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम्।
सम्पन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥

भोजन किये हुए उन ब्राह्मणोंकी तृप्ति पूछनेके लिये श्राद्धकर्ता पितृश्राद्ध (निरपेक्ष पितृ-मातृ-देवतावाले एकोद्दिष्ट श्राद्ध) में 'स्वदितम्,[1] गोष्ठीश्राद्धमें 'सुश्रुतम्', वृद्धिश्राद्ध (आभ्युदयिक श्राद्ध) में 'सम्पन्नम्' और देवश्राद्धमें 'रुचितम्' ऐसा प्रश्न करे ॥ २५४ ॥

विमर्श—मेधातिथि तथा गोविन्दराजने "श्राद्धमें आये हुए दूसरे व्यक्ति[2] भी 'स्वदितम्' ऐसा कहकर ही ब्राह्मणोंसे तृप्ति-विषयक प्रश्न करे" ऐसा कहा है। बारह प्रकारके श्राद्धोंमें विश्वामित्रने 'गोष्ठी श्राद्ध' को[3] गिनाया है। भविष्यपुराणोक्त वचनके अनुसार देवताओंके उद्देश्यसे विशिष्ट हविष्यके द्वारा सप्तमी आदिमें जो यत्नपूर्वक श्राद्ध किया जाता है, वह 'देवश्राद्ध'[4] है।

---

१. "स्वदितमिति तृप्तिप्रश्नः" इति गोभिलसाङ्ख्यायनौ।

२. तथा ह्युक्तम्—"श्राद्धे स्वदितमित्येतद्वाच्यमन्येन केनचित्।
नानुरुद्धमिदं विद्वद्वृद्धैर्न श्रद्धधीमहि ॥" इति।

३. "गोष्ठ्यां शुद्ध्यर्थमष्टमम्" इति विश्वामित्रवचनात्।

४. तथा च भविष्यपुराणे—
"देवानुद्दिश्य यच्छ्राद्धं तत्तु दैविकमुच्यते।
हविष्येण विशिष्टेन सप्तम्यादिषु यत्नतः ॥" इति।

श्राद्धकर्मों में 'श्रेष्ठ सम्पत्तियां'—

अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसम्पादनं तिलाः।
सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु सम्पदः॥ २५५॥

अपराह्ण काल, (विष्टर पवित्री आदिके लिये) कुशा, गोबर आदिसे लिप कर शुद्ध किया हुआ स्थान, (विकरण आदिके लिये) तिल, (कृपणताको छोड़कर अन्न तथा दक्षिणा आदि का) दान, अन्नादिका यथावत् संस्कार-विशेष (तैयार कराना) और श्रेष्ठ (पङ्क्तिपावन ३।१८४-१८६) ब्राह्मण; ये सब श्राद्ध-कर्ममें सम्पत्तिरूप (श्रेष्ठ) हैं॥ २५५॥

विमर्श—यहां अमावस्याश्राद्धका प्रकरण होनेसे अपराह्ण कालको श्राद्धसम्पत्ति बताया है, वृद्धिश्राद्ध आदिमें प्रातःकालको[1] श्राद्ध का समय बतलाया है। इन सबको श्राद्धसम्पत्ति कहने से द्रव्यादि दूसरे अङ्गद्रव्योंकी अपेक्षा इनकी प्रधानता बतलायी गयी है।

दैवकार्यमें सम्पत्तियां—

दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः।
पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसम्पदः॥ २५६॥

कुशा, मन्त्र, पूर्वाह्ण (दोपहरके पहलेका समय), मुन्यन्न (तीनी) आदि सुसम्पादित सब हविष्य, गोबर आदिसे लिपकर पवित्र किया हुआ स्थान आदि जो पहले (३।२५५) में कहे हैं वे सब, हविष्य (यज्ञ हवन, देवश्राद्ध आदि देवकार्य) की सम्पत्तियां हैं॥ २५६॥

हविष्य पदार्थ—

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम्।
अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते॥ २५७॥

मुन्यन्न (नीवार अर्थात् तीनी आदि), दूध, सोम (लताका रस), दुर्गन्धि तथा विकारसे रहित मांस और अकृत्रिम (सैन्धवादि) लवण ये सब (मनुके द्वारा) स्वभावतः 'हविष्य' कहे जाते हैं॥ २५७॥

ब्राह्मणोंको भेजकर पितरोंसे वरयाचना—

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः।
दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितॄन्॥ २५८॥

---

१. "प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम्" इति स्मृत्यन्तरोक्तेः।

श्राद्धकर्ता उन (निमन्त्रित) ब्राह्मणोंको भेजकर (३।२५१ की विधिसे भोजनोपरान्त बिदाकर) एकाग्रचित्त, मौनी तथा पवित्र होकर दक्षिण दिशाकी ओर मुख करके पितरोंसे इन (आगेके श्लोकमें कहे जानेवाले) वरोंको मांगे ॥

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयं च नोऽस्त्विति ॥ २५९ ॥

हमारे कुलसे दानी पुरुष, वेद (वेदोंका पढ़ना, पढ़ाना, उन में कथित ज्ञान तथा तदनुसार यज्ञानुष्ठानादि) और सन्तान (पुत्र, पौत्र आदि) की वृद्धि हो; हमारे कुलमें (वेदविषयिणी) श्रद्धा नष्ट नहोवे, दान करने योग्य (धन-धान्यादि) हमारे कुलमें बहुत होवें ॥ २५९ ॥

[अन्नं च नो बहुभवेदतिथींश्च लभेमहि ।
याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन ॥ १२ ॥

हमारे कुलमें अन्न बहुत हो, हम अतिथियों को प्राप्त करें, हम से याचना करनेवाले बहुत हों और हम किसी से याचना नहीं करें ॥ १२ ॥

श्राद्धमें भोजनकर दुबारा भोजनका निषेध—

श्राद्धभुक् पुनरश्नाति तदहर्यो द्विजाधमः ।
प्रयाति शूकरीं योनिं कृमिर्वा नात्र संशयः ॥ १३ ॥]

श्राद्धान्नको भोजन किया हुआ जो नीच ब्राह्मण उस दिन फिर दुबारा भोजन करता है, वह सूकर या कृमि (विष्टादिमें रहनेवाले छोटे कीड़े) की योनिमें उत्पन्न होता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १३ ॥

शेष पिण्ड गौ आदिको खिलाना—

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।
गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥

इस प्रकार पिण्ड-दानकर उक्त (३।२५८-२५९) विधिसे वरयाचना करनेके बाद उन (श्राद्धके) पिण्डों को गौ, ब्राह्मण या बकरीको खिला दे, अथवा आग या पानीमें छोड़ दे ॥ २६० ॥

उक्त विषयमें अन्याचार्यों का मत—

पिण्डनिर्वपणं केचित्परस्तादेव कुर्वते ।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ २६१ ॥

कोई आचार्य ब्राह्मण-भोजनके बाद ही पिण्ड का निर्वापण (प्रक्षेप करना

अर्थात् फेंकना) करते (करने को कहते) हैं, कोई आचार्य पक्षियोंको खिलवाते (खिलवानेके लिये कहते) हैं तथा कोई आचार्य आग या पानीमें छोड़ते (छोड़ने के लिये कहते) हैं ॥ २६१ ॥

पुत्रार्थिनी स्त्रीको मध्यम पिण्डका भोजन करना—

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक्सुतार्थिनी ॥ २६२ ॥

पतिव्रता, सवर्ण (समान जाति वाली) प्रथम विवाहिता श्राद्धकार्यमें श्रद्धायुक्त, पुत्रको चाहनेवाली श्राद्धकर्ता की स्त्री उन पिण्डोंमेंसे मध्यम (बीचका अर्थात् पितामह-सम्बन्धी) पिण्डको अच्छी तरह ("आधत्त पितरो गर्भम्" इत्यादि गृह्योक्त मन्त्रसे) खा जावे ॥ २६२ ॥

उक्त कर्मसे आयुष्य आदि गुणोंसे युक्त पुत्रकी उत्पत्ति—

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३ ॥

(उस पितामह सम्बन्धी पिण्डको खानेसे उस श्राद्धकर्ता की स्त्री) आयुष्मान् , यशस्वी, बुद्धिमान् , धनवान् , सन्तानवान् (पुत्र—पौत्रादि सन्तानों से युक्त होने वाला), सात्त्विक तथा धर्मात्मा पुत्रको उत्पन्न करती है ॥ २६३ ॥

बादमें जातिवालोंको भोजन कराना—

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् ।
ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥ २६४ ॥

(फिर) दोनों हाथ धोकर तथा आचमनकर जातिवालोंको भोजन करावे, उन्हें सत्कारपूर्वक अन्न देकर बान्धव (माता पिताके पक्षवालों) को (सत्कारसहित) भोजन करावे ॥ २६४ ॥

बचे हुए अन्नसे गृहबलि देना—

उच्छेषणं तु यत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः ।
ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥

जब तक भोजन करनेवाले निमन्त्रित ब्राह्मण नहीं चले जायं, तबतक उनका उच्छिष्ट (जूठा) अन्न पड़ा रहने दे (उसे उठवाकर स्थानको झाड़ू आदिसे साफ न करावे) । इसके बाद धर्ममें तत्पर श्राद्धकर्ता गृहबलि (वैश्वदेवबलि, हवनकर्म, नित्यश्राद्ध, अतिथि-भोजन आदि) करे ॥ २६५ ॥

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्प्यते ।
पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥

(भृगुमुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि)—जो हविष्य अर्थात् कव्य पितरोंके लिये विधिपूर्वक दिया गया चिरकालतक तथा अनन्त कालतक (पितरोंकी) तृप्ति के लिये होता है, उसे मैं सम्पूर्ण रूपसे कहता हूं ॥ २६६ ॥

पितरोंके तृप्तिकर पदार्थ—

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ २६७ ॥

(काला तिल, धान्य, यव, काला उड़द, पानी, मूल (कन्द), और फल; इनको विधिपूर्वक देनेसे एक महीने तक मनुष्योंके पितर लोग तृप्त होते हैं ॥२६७॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान्हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥ २६८ ॥

(पोठिया आदि) मछलीके मांससे दो महीनों तक, मृगके मांससे तीन महीनों तक, भेंड़के मांससे चार महीनों तक, (द्विजातियोंके भक्ष्य में गृहीत पांच) पक्षियोंके मांससे पांच महीनों तक (मनुष्योंके पितर तृप्त रहते हैं) ॥ २६८ ॥

षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै ।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥

बकरेके मांससे छः महीनों तक, पृषत् नामक मृगके मांससे सात महीनों तक, एण नामक मृगके मांससे आठ महीनों तक, रुरु नामक मृगके मांससे नौ महीनों तक (मनुष्योंके पितरलोग तृप्त रहते हैं) ॥ २६९ ॥

[अष्टावैणस्यमांसेन पार्षतेनाथ सप्त वै।
अष्टावैणेयमांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ १४ ॥]

[एण नामक मृगके मांससे आठ महीनों तक, पृषत् नामक मृगके मांससे सात महीनों तक, ऐणेय नामक मृगके मांससे आठ महीनों तक और रुरु नामक मृगके मांससे नौ महीनों तक (मनुष्योंके पितर तृप्त रहते हैं) ॥ १४ ॥]

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥ २७० ॥

---

१. तदुक्तं वायुपुराणे—"कृष्णा माषास्तिलाश्चैव श्रेष्ठाः स्युर्यवशालयः ।" इति

जंगली सूअर तथा भैंसेके मांससे दश महीनों तक (मनुष्योंके पितर) तृप्त रहते हैं, खरगोश और कछुवेके मांससे ग्यारह महीनों तक (मनुष्योंके पितर तृप्त रहते हैं) ॥ २७० ॥

संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥

गौके दूध तथा गौके दूधसे बने पदार्थ (खीर आदि) से एक वर्ष तक और वाध्रीणस बकरे (इसका लक्षण क्षेपक १५ में देखें) के मांससे बारह वर्षोंतक (पितरोंकी) तृप्ति होती है ॥ २७१ ॥

[त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणमजापूर्वानुगामिनम्।
तं वै वार्ध्रीणसं विद्यात् वृद्धं शुक्लमजापतिम् ॥ १५ ॥]

पानी पीते समय जिसके दोनों कान (लम्बे होनेके कारण) और जीभ जलका स्पर्श करें, जो इन्द्रियसे क्षीण (नष्ट शक्ति) हो, जो श्वेत रंगका हो; उस बूढ़े बकरेको 'वाध्रीणस' कहते हैं ॥ १५ ॥

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु।
आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥ २७२ ॥

कालशाक (एक प्रकारका शाक-विशेष), महाशल्क (कृष्णवर्ण वथुवेका शाक या एक प्रकार की मछली[1]), गेंडा और लाल बकरेका[2] मांस तथा सब प्रकारके मुन्यन्न (नीवार अर्थात् तीनी आदि) पितरोंकी अनन्तकाल तक तृप्ति करनेवाले होते हैं ॥ २७२ ॥

मघादि नक्षत्रमें मधुयुक्तवस्तुसे श्राद्ध—

यत्किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम्।
तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥

वर्षा ऋतुमें मघानक्षत्र और (भाद्रपद मासके कृष्णपक्षको) त्रयोदशी तिथि होनेपर मधुसे मिली हुई कोई (अप्रसिद्ध) भी वस्तु दे, तो वह (पितरोंकी तृप्ति के लिये) अक्षय होता है ॥ २७३ ॥

---

१. 'महाशल्का सशल्का' इति मेधातिथिः। मत्स्यविशेषा इति युज्यन्ते, महाशल्कलिनो मत्स्याः इति वचनात्' इति। (म० मु०)
२. "छागेन सर्वलोहेनानन्त्यम्" इति पैठीनसिवचनात्' इति। (म० मु०)

गजच्छाया आदिमें श्राद्ध—

अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम्।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥

(पितरलोग यह अभिलाषा करते हैं कि—) हमारे कुलमें ऐसा कोई उत्पन्न हो, जो त्रयोदशी तिथिको प्राप्त कर मधु तथा घीसे मिली हुई खीर (दूधमें पकाया चावल) को हाथी की छाया जब पूर्व दिशाकी ओर जाने लगे तब अर्थात् अपराह्ण काल में (हमारे लिये) दे अर्थात् मधु तथा घीसे मिली हुई खीरसे हमारा श्राद्ध करे ॥ २७४ ॥

विमर्श—यहांपर 'त्रयोदशी' शब्दसे वर्षा ऋतु तथा मघानक्षत्रसे युक्त ही त्रयोदशीको समझना चाहिये और "प्रौष्ठपद्यामतीतायां…" इस शङ्खोक्त वचनके अनुसार इन दोनों वचनों (३।२७३–२७४) में भाद्रपद मासके कृष्णपक्षकी त्रयोदशीको श्राद्ध करना चाहिये[1]। विष्णुके[2] वचनानुसार तो वर्षासे कार्तिक मास तक श्राद्ध किया जासकता है।

श्रद्धायुक्त विधिवत् श्राद्धका अक्षयत्व—

यद्यद्ददाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितः।
तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥

श्रद्धायुक्त मनुष्य विधिपूर्वक सम्यक् प्रकारसे (शास्त्रोक्त) जो २ अन्न देता है अर्थात् श्राद्ध करता है, वह २ परलोकमें पितरोंके लिये अक्षय (तृप्तिकारक) होता है ॥ २७५ ॥

श्राद्धमें दशमी आदि तिथियोंकी श्रेष्ठता—

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम्।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ॥ २७६ ॥

---

१. "मघायुक्ता त्रयोदशी पूर्वोक्ता विवक्षिता। तत्रापि—
प्रौष्ठपद्यामतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम्।
प्राप्य श्राद्धं हि कर्तव्यं मधुनाऽपायसेन च ॥"
इति शङ्खवचनाद्भाद्रकृष्णत्रयोदशी पूर्वत्रेह च गृह्यते।" इति। (म० मु०)

२. यथाऽऽह विष्णुः—'अपि जायेत सोऽस्माकं कुले कश्चिन्नरोत्तमः।
प्रावृट्कालेऽसिते पक्षे त्रयोदश्यां समाहितः ॥
मधुप्लुतेन यः श्राद्धं पायसेन समाचरेत्।
कार्तिकं सकलं वापि प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥' इति। (म० मु०)

कृष्णपक्षमें चतुर्दशीको छोड़कर शेष तिथियां (दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी और अमावस्या) श्राद्धमें जितनी श्रेष्ठ मानी गयी हैं, उतनी अन्य (प्रतिपद्‌से नवमी तक तथा चतुर्दशी) तिथियां श्रेष्ठ नहीं हैं ॥ २७६ ॥

युग्म और अयुग्म तिथ्यादिमें श्राद्ध करनेका फल—

युक्षु कुर्वन्दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते ।
अयुक्षु तु पितॄन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥

सम (द्वितीया, चतुर्थी, षष्ठी इत्यादि युग्म) तिथियों और सम (भरणी, रोहिणी, आर्द्रा, पुष्य इत्यादि युग्म) नक्षत्रोंमें श्राद्धको करता हुआ द्विज सब मनोरथोंको प्राप्त करता है; तथा विषम (प्रतिपद्, तृतीया, पञ्चमी आदि अयुग्म) तिथियां और विषम (अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुनर्वसु आदि अयुग्म) नक्षत्रोंमें पितरोंको पूजता (श्राद्धद्वारा संतुष्ट करता) हुआ द्विज धनविद्यादिसे परिपूर्ण पुत्र-पौत्रादि सन्तानको प्राप्त करता है ॥ २७७ ॥

श्राद्धमें कृष्णपक्ष तथा अपराह्ण कालकी श्रेष्ठता—

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ २७८ ॥

जिसप्रकार (श्राद्धमें) कृष्णपक्ष शुक्लपक्षकी अपेक्षा विशिष्ट होता है, उसी प्रकार पूर्वाह्णकी अपेक्षा अपराह्ण काल श्राद्धके लिये विशिष्ट होता है ॥ २७८ ॥

विमर्श—ज्यौतिष शास्त्र के सिद्धान्तसे चैत्रशुक्लसे वर्षारम्भ होनेके कारण 'पूर्व' शब्दका शुक्लपक्ष तथा 'अपर' शब्द का कृष्णपक्ष अर्थ किया जाता है। 'विशिष्यते' (विशिष्ट अर्थात् श्रेष्ठ होता है) शब्दके कथनसे 'पूर्वाह्ण'कालमें भी श्राद्ध किया जा सकता है। अपराह्णकालसे यहां 'कुतप' संज्ञक समयका बोध होता है। दिनके सप्तम मुहूर्त (१४ घटी) के बाद नवम मुहूर्त (१८ घटी) के पहले (दोनोंके मध्यकी ४ घटीपरिमाण) मध्याह्नके समय-विशेषको या दिनके आठवें भागमें सूर्यके मन्द होते रहने पर समय-विशेषको 'कुतप' जानना चाहिये; उसमें दिया हुआ (श्राद्धान्न आदि) पितरोंको अक्षय्य (तृप्ति कर) होता है।

**१ 'कुतप' शब्दव्याख्यामुपक्रम्योक्तं क्षीरस्वामिना । तद्यथा—
"मुहूर्तात्सप्तमादूर्ध्वं मुहूर्तान्नवमादधः । स कालः कुतपो ज्ञेयः……॥" इति ।
दिवस्याष्टमे भागे मन्दीभवति भास्करे । स कालः कुतपो ज्ञेयः पितृभ्यो दत्तमक्षयम्॥ इति**

श्राद्ध में अपसव्य होना तथा कुशादि लेना—

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।
पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥ २७९ ॥

प्राचीनावीती (२।६३) निरालस अपसव्य होकर और हाथ में कुशा लेकर पितृतीर्थ (२।५९) से, समाप्ति होने तक (मेधातिथिके मतसे मरनेतक) पितृ-श्राद्ध करना चाहिये ॥ २७९ ॥

रात्रि आदिमें श्राद्धका निषेध—

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥

रात्रिमें श्राद्ध नहीं करे, क्योंकि (मनु आदि) ने उसको (श्राद्धके फलको नष्ट करनेवाली होने से) 'राक्षसी' कहा है । और दोनों सन्ध्याओं (प्रातः तथा सायंके सन्ध्याकालमें) तथा सूर्यके थोड़ी देर (तीन मुहूर्त या दिनका पांचवां भाग[1]) पहले निकलनेपर अर्थात् ६ घटी (२ घंटा २४ मिनट दिन चढ़नेतक) श्राद्ध न करे ॥

[कुर्वन्प्रतिपदि श्राद्धं स्वरूपां लभते प्रजाम् ।
कन्यकाश्च द्वितीयायां, तृतीयायां तु वाजिनः ॥ १६ ॥

प्रतिपदामें श्राद्ध करनेवाला सुन्दर या अपने समान सन्तान को प्राप्त करता है । द्वितीयामें श्राद्ध करनेवाला कन्या और तृतीयामें श्राद्ध करनेवाला घोड़ा (घोड़ा के समान) पुत्र प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

पशून् क्षुद्रांश्चतुर्थ्यां तु, पञ्चम्यां शोभनान्सुतान् ।
षष्ठ्यां द्यूतमवाप्नोति, सप्तम्यां लभते कृषिम् ॥ १७ ॥

चतुर्थीमें श्राद्ध करनेवाला छोटे पशुओंको, पञ्चमीमें श्राद्ध करनेवाला सुन्दर पुत्रोंको, षष्ठीमें श्राद्ध करनेवाला द्यूतको और सप्तमीमें श्राद्ध करनेवाला कृषि (खेती) को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

अष्टम्यामपि वाणिज्यं लभते श्राद्धदो नरः ।
नवम्यां वै चैकशफान् , दशम्यां द्विखुरान्बहून् ॥ १८ ॥

---

(१) "यथोक्तं विष्णुपुराणे—
"रेखाप्रभृत्यथादित्ये त्रिमुहूर्तं गते रवौ ।
प्रातस्ततः स्मृतः कालो भागः सोऽह्नस्तु पञ्चमः ॥ इति (म० मु०)

अष्टमीमें श्राद्ध करनेवाला वाणिज्य (व्यापार) को प्राप्त करता है, नवमीमें श्राद्ध करनेवाला एक खुरवालेको, दशमीमें श्राद्ध करनेवाला दो खुरवाले बहुत पशुओं को प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

एकादश्यां तथा रौप्यं ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान्।
द्वादश्यां जातरूपं च रजतं कुप्यमेव च ॥ १९ ॥

एकादशीमें श्राद्ध करनेवाला चांदी तथा ब्रह्मतेजसे युक्त पुत्रोंको, द्वादशीमें श्राद्ध करनेवाला सोना, चांदी तथा कुप्य (सोना-चान्दीसे भिन्न द्रव्यकोषको) (प्राप्त करता है) ॥ १९ ॥

ज्ञातिश्रैष्ठ्यं त्रयोदश्यां, चतुर्दश्यां तु कुप्रजाः।
प्रीयन्ते पितरऽश्चास्य ये च शस्त्रहता रणे ॥ २० ॥

त्रयोदशीमें श्राद्ध करनेवाला जातियोंमें श्रेष्टताको, चतुर्दशीमें श्राद्ध करनेवाला निन्दित सन्तानोंको (इसी कारणसे 'कृष्णपक्षे दशम्यादौ—' (३।२७६) वचन से चतुर्दशीमें श्राद्ध करनेका निषेध किया है) प्राप्त करता है। जिसके जो पितर युद्धमें शस्त्रसे मारे गये हों, वे प्रसन्न होते हैं ॥ २० ॥

पक्षाद्यादिषु निर्दिष्टान् विपुलान् मनसः प्रियान्।
श्राद्धदः पञ्चदश्यां च सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ २१ ॥]

पक्षके आदि (पहला दिन अर्थात् प्रतिपद् आदि) तिथिमें श्राद्ध करनेवाला बतलाये गये मनके प्रिय बहुत-सी वस्तुओंको प्राप्त करता है तथा पञ्चदशी (अमावास्या या पूर्णिमा) को श्राद्ध करने वाला सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

प्रतिमास श्राद्ध नहीं कर सकनेपर—

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत्।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥

(कुर्यान्मासानुमासिकं—(३।१२२) वचनके अनुसार प्रतिमास श्राद्ध नहीं कर सकनेपर) इस विधिसे हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओंमें वर्षमें तीन बार पितरोंके उद्देश्यसे श्राद्ध करे तथा पञ्चमहायज्ञ (३।७०) प्रतिदिन करे ॥ २८१ ॥

लौकिकाग्निमें श्राद्ध-सम्बन्धी हवनका निषेध—

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते।
न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ २८२ ॥

लौकिक अग्निमें ('अग्नेः सोमयमाभ्यां च—' (३।२११) वचनसे विहित) पितृश्राद्ध सम्बन्धी हवन करने का शास्त्रोक्त विधान नहीं है। (अग्निके त्यागी द्विज "अग्न्यभावे तु—" (३।२१२) वचनके अनुसार ब्राह्मणोंके हाथपर पितृश्राद्धमें हवन करे) और अग्निहोत्री अमावस्याके विना (कृष्णपक्षकी दशमी आदि तिथियोंमें) पितृश्राद्ध न करे (किन्तु मृतकसम्बन्धी श्राद्धका दिन निश्चित होनेसे कृष्णपक्षमें दूसरी तिथिमें भी करे) ॥ २८२ ॥

तर्पणका फल—

यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥

जो द्विजोत्तम स्नानकर जलसे पितरोंको तृप्त (पितृ-तर्पण) करता है, उसीसे वह सम्पूर्ण पितृश्राद्ध कर्मके फलको प्राप्त करता है। (इस विधिको पञ्चमहायज्ञके अभावमें जानना चाहिये) ॥ २८३ ॥

पिता आदि वसु आदि देवताओंके स्वरूप—

वसून्वदन्ति तु पितॄन्रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥

(मनु आदि महर्षि) पिताओंको वसु, पितामहोंको रुद्र और प्रपितामहोंको आदित्य (सूर्य) कहते हैं; क्योंकि ऐसा सनातन वेदवचन है ॥ २८४ ॥

विमर्श—पिता आदिको वसु आदिका स्वरूप होनेसे श्राद्धमें उनका ध्यान क्रमशः 'वसु, रुद्र तथा आदित्य' के रूपमें करना चाहिये। इसी कारण 'जो इस प्रकार पिता आदि का यज्ञ करते हैं; उनपर वसु, रुद्र तथा आदित्य प्रसन्न होते हैं' ऐसा पैठीनसि[1] कहते हैं। मेधातिथि तथा गोविन्दराजके मतसे पितरोंमें अश्रद्धा या नास्तिकताके कारण पितृश्राद्ध नहीं करनेवालों को उसमें प्रवृत्त करनेके लिये पितरोंकी प्रशंसाके लिये यह वचन है।

विघस तथा अमृतको भोजन करना—

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥ २८५ ॥

---

१. अत एव पैठीनसिः—'य एवं विद्वान् पितॄन् यजते, वसवो रुद्रा आदित्याश्चास्य प्रसन्ना भवन्ति' इति (म० मु०)

द्विज सर्वदा 'विघस' को भोजन करनेवाला होवे या सर्वदा 'अमृत' को भोजन करनेवाला होवे। ब्राह्मणोंके भोजनसे बचे हुए अन्नको 'विघस' तथा दर्शपौर्णमासादिमें बचे हुए हविष्य को 'अमृत' कहते हैं ॥ २८५ ॥

अध्यायका उपसंहार—

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) इस पञ्चमहायज्ञ सम्बन्धी सब विधिको (मैंने) तुमलोगोंसे कहा, (अब अगले अर्थात् चौथे अध्यायमें) ब्राह्मणोंकी वृत्तिके विधानको (तुम लोग) सुनो ॥ २८६ ॥

विमर्श—यद्यपि इस अध्यायमें पार्वण श्राद्धका प्रकरण आया है, किन्तु पञ्चमहायज्ञकी मुख्यता बतलानेके उद्देश्यसे इस श्लोकमें उसीका उल्लेख किया है। मेधातिथि तथा गोविन्दराजका कहना है कि 'पञ्चमहायज्ञका उल्लेख मङ्गलके लिये भृगु ने किया है'।

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् पञ्चयज्ञादिवर्णनम् ।
विश्वनाथकृपादृष्ट्या तृतीये पूर्णतामगात् ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

ब्रह्मचर्यके बाद गृहस्थाश्रममें निवास—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥

द्विज अपनी आयुके प्रथम चतुर्थांश भाग में गुरुकुल (ब्रह्मचर्याश्रम) में रहकर द्वितीय चतुर्थांश भागमें गृहस्थाश्रममें रहे ॥ १ ॥

विमर्श—यद्यपि प्राणिमात्रकी आयुका वास्तविक ज्ञान नहीं होनेसे उसके चतुर्थांश का भी निर्णय करना असम्भव है, तथापि आश्रमके समुच्चय-कालका आश्रयकर्ता द्विज जन्मादिकी अपेक्षा यथाशक्ति ब्रह्मचर्य-पालन करके गृहस्थाश्रममें भी यथाशक्ति अवस्थाका द्वितीय भाग बितावे। "शतायुर्वै पुरुषः" (पुरुष सौ वर्षकी आयु, वाला है) इस श्रुति-वचनके अनुसार यद्यपि उसका चतुर्थांश पच्चीस वर्ष

ब्रह्मचर्यपालन का विधान प्राप्त होता है, किन्तु "षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं—" (३।१) मनुवचनका विरोध होनेसे वैसा मानना असङ्गत है।

'शिलोञ्छ' आदि वृत्तियोंसे जीवन—

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥

ब्राह्मण विपत्तिमें नहीं रहनेपर जीवोंको विना पीडित किये (शिलोञ्छ ४।५) आदि वृत्तियोंसे) अथवा थोड़ा पीडित कर (भिक्षा आदि) जो वृत्ति है, उसका आश्रयकर जीवे (जीवन यात्रा करे) ॥ २ ॥

विमर्श—स्त्री, भृत्य आदिसे युक्त पञ्चमहायज्ञानुष्ठान करनेवाले ब्राह्मण को शिलोञ्छ वृत्तिके द्वारा जीवन-निर्वाह कठिन होनेपर भिक्षादिवृत्ति के द्वारा जीवन-निर्वाह करना चाहिये, आपत्तिकाल के लिये तो दशवें अध्याय में विधि कहेंगे। यह सामान्य वचन यज्ञ कराने पढ़ाने और शुद्ध दान लेनेके संग्रहार्थ है। आगे कहे जानेवाले केवल 'ऋत-अमृत' (४।४) आदिके सेवनमें तो सङ्कुचित स्वारस्यकी क्षति, अनधिकारिता और यज्ञ कराने आदिका वृत्तिप्रकरणमें निवेश नहीं होगा।

उचित धनसंग्रह करना—

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥

(अपने तथा कुटुम्बके) पालन-पोषण मात्र के लिये अपने अनिन्दित कर्मों से शारीरिक कष्ट न उठाते हुए धनसञ्चय करे ॥ ३ ॥

ऋत, अमृत आदिसे जीवन—

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

(अगले श्लोकमें कहे जानेवाले) 'ऋत, अमृत' मृत या प्रमृत अथवा सत्य तथा अनृत' नामकी वृत्तियोंसे जीवन-यात्रा करे, किन्तु सेवावृत्तिसे (आपत्तिरहित होते हुए कभी भी) जीवनयात्रा न करे ॥ ४ ॥

'ऋत' आदिके लक्षण—

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

'उञ्छ' और 'शिल' को "ऋत" विना मांगे जो मिल जाय उसे "अमृत",

मांगनेपर जो मिले उसे "मृत" और कृषि (खेती) से प्राप्त होनेवाले धनको "प्रमृत" जानना चाहिये—॥ ५ ॥

विमर्श—किसानके द्वारा खेममें वोये हुए अन्नको काटकर लेजानेके बाद उसमें गिरे हुए एक २ दानेको दोनों अंगुलियोंसे चुनने (उठाने) को 'उञ्छ'[1] तथा उक्त खेतसे एक२ बाल (धान्यके गुच्छों) को चुंगनेको 'शिल'[2] कहते हैं, इन दोनों वृत्तियोंको सत्यके समान फलप्रद होनेसे 'ऋत' कहते हैं। विना मांगी हुई वस्तु सुख पूर्वक प्राप्त होनेसे अमृततुल्य होनेके कारण 'अमृत' कही गयी है। किसी वस्तुके मांगनेमें मृत्युके समान पीडा होनेसे वह 'मृत' कही गयी है, भिक्षामें प्राप्त पके हुए अन्न से हवन नहीं किया जा सकता, अत एव अग्निहोत्री गृहस्थ को भिक्षारूपमें प्राप्त विना पकाया (सिद्ध किया–रांधा) हुआ चावल आदि समझना चाहिये।

तथा खेतीमें अनेक जीवोंकी हिंसा होनेके कारण उसे 'प्रमृत' (अधिकदुःखप्रद मृत्युतुल्य) कहा गया है।

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

व्यापारको "सत्यानृत" कहागया है, उससे (ब्याजसे) भी जीवननिर्वाह किया जाता है सेवा 'श्ववृत्ति' (कुत्तेकी वृत्ति) कही गई है इस कारणसे उस वृत्तिका त्याग करदे ॥ ६ ॥

व्यापारमें प्रायः सच्चे-झूठेका व्यवहार होनेसे उसे "सत्यानृत" कहते हैं, तेन चैवापि जीव्यते' वाक्यमें 'च, अपि' शब्दोंके सामर्थ्यसे कुसीद (ब्याज) का ग्रहण होता है। 'अनापदि' (आपत्तिकालके विना—४।२) शब्दसे खेती तथा व्यापार स्वयं किया हुआ नहीं होना चाहिये[3]। दीनता पूर्वक कुत्तेके समान स्वामीकी ओर देखने से सेवाको 'श्ववृत्ति' कहकर ब्राह्मणको उसका त्याग करनेके लिये विधान किया है।

---

१. यत्र यत्रौषधयो विद्यन्ते तत्र तत्राङ्गुलिभ्यामेकैकं कणं समुच्चयित्वा" इति बोधायनदर्शनात् एकैकधान्यादिगुडकोच्चयनमुञ्छः, मञ्जर्यात्मकानेकधान्योच्चयनं 'शिलः' इति (म० मु०)

२. तदुक्तं हेम चन्द्रेन—'उञ्छो धान्यकणादानं कणिशाद्यर्ज्जनं शिलम्' इति।
(अभि० चि० ३।८२१)

३. यथाह गौतमः—कृषिवाणिज्ये स्वयं चाकृते कुसीदं च" इति।

अन्नादि सञ्चयकी मात्रा—

कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा ।
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥

ब्राह्मण कुसूलधान्यक, अथवा कुम्भीधान्यक अथवा त्र्याहिक अथवा ऐकाहिक अथवा अश्वस्तनिक होवे ॥ ७ ॥

विमर्श—'कुसूलधान्यक'—तीन वर्ष या अधिक समयतक परिवार तथा भृत्यादिके भरण–पोषणके योग्य अन्नादिका संग्रहकर्ता। इसी कारण 'यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं—(११।७)' वचन आगे मनु भगवान्ने कहा है। 'कुम्भीधान्यक'—एक वर्षतक परिवार तथा भृत्यादिके पालन-पोषण करने योग्य अन्नका संग्रहकर्ता; मेधातिथिके मतानुसार भृत्यादिके सहित परिवारका एक वर्षतक पालन करने योग्य अन्नके मूल्य सुवर्णादि धनका संग्रहकर्ता भी 'कुसूलधान्यक' और छः महीनेतक पालन करने योग्य धान्यादिका संग्रह कर्ता 'कुम्भीधान्यक' कहा जाता तथा गोविन्दराजके मतसे केवल बारह दिन तक परिवार तथा भृत्यादिके पालन–पोषणके योग्य अन्नका संग्रहकर्ता 'कुसूलधान्यक' तथा ६ दिनतक उनका पालन करनेके योग्य अन्नादिका संग्रहकर्ता 'कुम्भीधान्यक' है, सो ठीक नहीं[1] है।

[सद्यः प्रक्षालिको वा स्यान्माससंचायिकोऽपि वा ।
षण्मासनिचयो वाऽपि समानिचय एव वा ॥ १ ॥]

[अथवा (ब्राह्मण) सद्यःप्रक्षालित (प्रतिदिन भोजनके बाद बर्तनोंको धो देनेवाला अर्थात् आगेके लिये अन्नका एक दाना भी नहीं रखनेवाला) होवे, अथवा एक मास तक (कुटुम्बादिके भरण-पोषणके योग्य) अन्नका संचय करनेवाला होवे, अथवा छः मासतकके लिये अथवा एक वर्ष तकके लिये अन्नसञ्चय करनेवाला होवे ॥ १ ॥]

कुसूलधान्यकादिमें उत्तरोत्तरकी श्रेष्ठता—

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् ।
ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥ ८ ॥

इन चारों (कुसूलधान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहैहिक और अश्वस्तनिक) में से पूर्वकी अपेक्षा आगेवाला धर्मानुसार (परिग्रहके कम संचय करनेके कारण) स्वर्गादि लोकोंको जीतने वाला होता है ॥ ८ ॥

**१. "द्वादशाहं कुसूलेन वृत्तिः कुम्भ्या दिनानि षट् ।
इमाममूलां गोविन्दराजोक्तिं नानुरुन्ध्महे ॥" इत्युक्तेः ।**

उक्त चतुर्विध ब्राह्मणोंकी जीविका—

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥

इन गृहस्थोंमें कोई गृहस्थ षट्कर्मा (ऋत् ४।५), अयाचित, भैक्ष्य (भिक्षामें प्राप्त), खेती, व्यापार और सूद—इन छः कर्मों वाला होता है (परिवारादिका पालन-पोषण करता है); दूसरा कम परिग्रहवाला गृहस्थ तीन कर्मों (जीवोंके अद्रोहसे 'यज्ञ कराना, पढ़ाना और दान लेना) से वृत्ति (परिवारादिका पालन) करता है; अन्य उससे भी कम संचय करनेवाला दो कर्मों (यज्ञ कराना और पढ़ाना) से और चौथा गृहस्थ ब्रह्मसत्र (केवल वेदाध्यापन) से जीता (परिवारका पालन करता) है ॥ ९ ॥

विमर्शः—मेधातिथिका मत है कि-"इन चार (कुसूलधान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहैहिक और अश्वस्तनिक) गृहस्थोंमेंसे पहला (कुसूलधान्यक) गृहस्थ उञ्छ, शिल (४।५), अयाचित, याचित, कृषि (खेती) और व्यापार-इन कर्मोंसे षट्कर्मा (छः कर्मोंवाला-इन कर्मोंके द्वारा परिवारादिका पालन-पोषण करनेवाला) होता है। दूसरा (कुम्भीधान्यक) गृहस्थ तीन कर्मों (उञ्छ, शिल, अयाचित और याचित में से अपनी इच्छाके किन्हीं तीन कर्मों) से जीविका चलाता है। तीसरा (त्र्यहैहिक) गृहस्थ दो कर्मों (उञ्छ, शिल और अयाचितमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार किन्हीं दो कर्मों) से और चौथा (अश्वस्तनिक) गृहस्थ ब्रह्मयज्ञ (शिल और उञ्छमेंसे किसी एक) कर्मसे जीता है, ब्राह्मण-सम्बन्धी सार्वदिक कर्म होनेसे उञ्छ तथा शिल कर्म भी 'ब्रह्मयज्ञ' है"।

स्त्री पुत्रादि परिवारवालोंका पालन मनुष्यमात्रके लिये अवश्य कर्तव्य है, उसको नहीं करनेवाला दोषभागी समझा जाता है। अतः उक्त वचनों (४।८-९) के अनुसार उत्तम जीविका चलानेवाला ब्राह्मण यदि उञ्छ तथा शिल (जिनमें धान्य काटकर गृहस्थके द्वारा खाली किये हुए खेतोंमेसे क्रमशः एक-एक दाना या एक-एक बाल चुनने का विधान है) वृत्तियोंके भरोसे रहता है तो उसके परिवारका पालन असंभव हो जायगा, क्योंकि शरद् तथा ग्रीष्म ऋतुओंमें ही लगभग २-२ महीने तक इन वृत्तियोंसे अन्नसंग्रह किया जासकता है, उञ्छ (जिसमें केवल दो अंगुलियोंसे १-१ दाना अन्न चुननेका विधान है) वृत्तिसे तो केवल अपनी ही उदरपूर्ति असम्भव प्राय हो जायगी, परिवारवालोंकी तो बात ही क्या ?। अतः उञ्छवृत्तिवालेको महाभारतमें 'पक्षान्त भोजन' (एक पक्षके अन्तमें भोजन करनेवाला) कहा गया है।

खेतके अतिरिक्त खलिहान, हाट (बाजार) या गृहस्थद्वार आदिसे उञ्छ तथा शिल वृत्ति करनेका अथवा बहुत लोगोंसे १ बालमें होने योग्य १०-१० वा १२-१२ अन्नके दानोंको लेकर संग्रह करना 'शिल' तथा १-१ दाना संग्रह करना 'उञ्छ' वृत्ति कई व्याख्याकारोंने की है, अतः इन वृत्तियोंके द्वारा सर्वदा अन्न संग्रह किया जासकता है। याचित भिक्षान्नकी अपेक्षा अत्यन्त ही कम लेनेके कारण वैश्वदेवादि क्रियाका भी इस कर्मसे विरोध नहीं होता, ऐसा समझना चाहिये। अथवा कई आचार्य प्रकृत श्लोकके तृतीयादि पादोंका अर्थ इस प्रकार करते हैं—"कोई गृहस्थ यज्ञ कराने, पढ़ाने और दान लेनेसे; कोई गृहस्थ यज्ञ कराने तथा पढ़ानेसे तथा चौथे गृहस्थ केवल पढानेसे जीते (परिवारादिका पालन-पोषण करते हुए जीवन यात्रा करते) हैं"। इस अर्थके आश्रयसे परिवारादिका पालन यथावत् हो सकता है किन्तु इन कर्मोंको निःस्पृह होकर ही करना चाहिये।

शिलोञ्छजीवीका अग्निहोत्रादिमात्र कर्तव्य—

वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः।
इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥ १० ॥

शिल तथा उञ्छ (४।५) वृत्तिसे जीनेवाला ब्राह्मण अग्निहोत्रमें तत्पर रहता हुआ पर्व तथा अयनके अन्तमें होनेवाले यज्ञों (दर्शपौर्णमास्य तथा आग्रहायण रूप यज्ञ) को करे ॥ १० ॥

जीविकाके लिये निन्दित वृत्तिका निषेध—

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥ ११ ॥

ब्राह्मण जीविकाके लिये निन्दित लोकवृत्त (विचित्र परिहास कथा आदि) का आश्रय किसी प्रकार भी न करे। (किन्तु) कुटिलता और शठता से रहित शुद्ध ब्राह्मणकी जीविकाका (आश्रयकर) जीवे ॥ ११ ॥

सन्तोषकी प्रशंसा—

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥

सुखको चाहनेवाला अत्यन्त सन्तोष धारण कर (यथासम्भव परिवारकी तथा अपनी रक्षाके साथ पञ्चमहायज्ञादिशास्त्रविहित कर्म करनेके योग्य धनसे अधिकका संग्रह करनेकी इच्छा न कर। अधिक धनके संग्रह करनेमें) संयमी बने; क्योंकि सन्तोष (स्वर्गादि प्राप्तिरूप) सुखका कारण है और असन्तोष दुःखका कारण है॥

अन्यतम व्रतका धारण—

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥ १३ ॥

उक्त (४।९) वृत्तियों (जीविका-साधनों) मेंसे किसी एक वृत्तिसे जीता हुआ स्नातक ब्राह्मण स्वर्ग, आयु तथा यशके हितकर इन (आगे कहे जानेवाले) व्रतोंको धारण करे—॥ १३ ॥

वेदविहित कर्मानुष्ठान—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १४ ॥

ब्राह्मण वेदमें कथित अपने कर्मको निरालस होकर करे; क्योंकि शक्तिके उसे (अपने वेदोक्त कर्मको) करता हुआ (ब्राह्मण) परम गति (मोक्ष) को पाता है ॥

विमर्श—पाप कर्मके क्षय होनेसे पुरुषको ज्ञान होता है, दर्पण-तलके समान उस ज्ञानके होनेपर आत्मा (अन्तःकरण) में आत्माको देखता है ।

गीतादि धनोपार्जनका निषेध—

नेहेतार्थान्प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥

गाने-बजानेमें आसक्त होकर तथा शास्त्र-विरुद्ध कर्म (अयाज्य-याजन अर्थात् चाण्डालादिको यज्ञ कराना आदि) के द्वारा, धनके रहनेपर और (नहीं रहनेपर) आपत्तिमें भी जहां कहीं (पतित आदि) से धन (संग्रह करने) की इच्छा न करे ॥ १५ ॥

इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्तिका निषेध—

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ॥ १६ ॥

इन्द्रियोंके विषयोंमें कामवश अधिक आसक्त न होवे और इनमें अधिक आसक्तिको मनसे रोके ॥ १६ ॥

विमर्श—नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा—इन इन्द्रियोंके क्रमसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये विषय हैं। मनकी सहायता प्राप्त कर नेत्रादि इन्द्रियां अपने-अपने

---

१. तदुक्तं मोक्षधर्मे—

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।
तत्रादर्शतलप्रख्ये पश्येदात्मानमात्मनि ॥" इति। (म० मु०)

विषयोंमें आसक्त होती हैं, अत एव मनके द्वारा उन इन्द्रियोंको रोकनेके लिये इस श्लोकमें कहा गया है।

वेदार्थ-विरुद्ध कर्म—

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥ १७॥

(जिस किसी प्रकारसे अपनेको तथा भृत्योंको जिलाते अर्थात् पालन-पोषण करते हुए) स्वाध्याय (वेद, स्मृति) के विरुद्ध कार्योंको छोड़ दे। जिस किसी प्रकारसे स्वाध्यायमें तत्पर रहना ही इस (स्नातक ब्राह्मण) की कृतकृत्यता (कृतार्थता) है॥ १७॥

वय आदिके अनुसार वेषादिधारण—

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह॥ १८॥

अवस्था (उम्र), कर्म, सम्पत्ति, शास्त्र (पठनपाठनादिज्ञान) और कुलके अनुसार वेष, वचन (बोलना) और बुद्धिका व्यवहार करता हुआ इस संसारमें विचरण करे॥ १८॥

विमर्श—वय-युवावस्थामें पुष्पमाला, सुगन्धि तैल, इत्र, लेप, चन्दनादि तथा वृद्धावस्थामें परमात्माका चिन्तन सामान्य वेश-भूषा रखना, धन, धान्य, पुत्र, कामवासनादिसे विरक्ति आदि। इसी प्रकारसे कर्म आदिके अनुसार अपने आचरणको रखना चाहिये।

सर्वदा शास्त्रावलोकन—

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥ १९॥

शीघ्र बुद्धिको बढ़ानेवाले (वेदसे अविरुद्ध व्याकरण, न्याय, मीमांसा, स्मृति और पुराणादि), धनको बढ़ानेवाले (अर्थशास्त्र), दृष्ट (प्रत्यक्ष रूपसे) हित करनेवाले (आयुर्वेद, ज्यौतिष आदि) शास्त्रोंको तथा वेदार्थको बतलानेवाले निगम (निरुक्त) को सर्वदा देखता (मनन करता) रहे॥ १९॥

शास्त्रावलोकनसे ज्ञाननैर्मल्य—

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ २०॥

मनुष्य जैसे २ शास्त्रोंका अच्छी प्रकार अभ्यास करता है वैसे २ विशेष जानने लगता है और उसका विशेष ज्ञान निर्मल होता है ॥ २० ॥

[शास्त्रस्य पारं गत्वा तु भूयो भयस्तदभ्यसेत्।
तच्छास्त्रं शबलं कुर्यान्न चाधीत्य त्यजेत्पुनः ॥ २ ॥]

[शास्त्रका पारंगामी होकर बार-बार उसका अभ्यास करे। उस शास्त्रको (निरन्तर अभ्यासके द्वारा) उज्ज्वल (सन्देहरहित) करे और उसे पुनः (पढनेके बाद) फिर छोड़ मत दे ॥ २ ॥

पञ्चयज्ञोंका यथाशक्ति पालन—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥

सर्वदा ऋषियज्ञ (वेदस्वाध्याय), देवयज्ञ (पार्वणश्राद्धादि), भूतयज्ञ (बलि-वैश्वदेव), नृयज्ञ (अतिथि-भोजनादि), और पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्धादि) का यथाशक्ति त्याग न करे ॥ २१ ॥

इन्द्रिय यज्ञ—

एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥

शास्त्रज्ञाता कुछ गृहाश्रमी इन यज्ञों (४।२१) को नहीं करते हुए सर्वदा पञ्च ज्ञानेद्रियों (२।९०-९१) में हवन करते हैं ॥ २२ ॥

विमर्श—नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा और कान; ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, इनके विषय क्रमशः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दका ग्रहण है। नेत्र इन्द्रियसे रूपका ग्रहण नहीं करना अर्थात् नेत्रसे सुन्दर से सुन्दर या विकृत से विकृत भी रूपको देखते हुए भी उसमें आसक्ति या घृणा नहीं करना ही 'नेत्रेन्द्रिय'का संयम है। इसी प्रकार अन्य इन्दियोंके विषयोंमें भी आसक्ति आदिका त्यागकर उनका संयम करना ही 'इन्द्रियोंमें हवन' करना है।

वाक्-यज्ञ—

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥

वचन तथा प्राणोंमें यज्ञके अक्षय फलको जानते हुए कुछ गृहाश्रमी सर्वदा वचनमें प्राणोंको तथा प्राणोंमें वचनको हवन करते हैं ॥ २३ ॥

विमर्श—जैसा कि कौषीतकीरहस्य ब्राह्मणमें कहा है-"जबतक पुरुष बोलता है, तब तक प्राण (श्वासलेने) के लिये समर्थ होता है, तब वचनमें प्राणका हवन करता है; और जबतक श्वास लेता है, तबतक बोल नहीं सकता, तब वचनमें प्राणका हवन करता है; इस प्रकार अनन्त अमृतमें हवन करनेवाला (वह) जागता-सोता हुआ सर्वदा हवन करता है। अथवा अनन्तर यन्स्त अन्य आहुतियां कर्ममयी होती हैं, इस प्रकार के कर्मको पूर्व के विद्वानोंने उसका अग्निहोत्र क्रिया कहा है[1]।

ज्ञानयज्ञ—

ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा।
ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥

कोई २ (ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणगृहाश्रमी, ज्ञानरूपी नेत्रसे ही ज्ञान-मूलक इन क्रियाओं (४।२१ में कथित यज्ञानुष्ठानों) की उत्पत्तिको देखते हुए ज्ञानसे ही इन (पञ्च) महायज्ञोंको करते हैं ॥ २४ ॥

विमर्श—सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है, ऐसे ज्ञान से इन पञ्चमहायज्ञोंको भी ब्रह्मरूपसे ध्यान करते हुए इन यज्ञोंका फल प्राप्त करते हैं। पूर्वोक्त इन तीन श्लोकों (४।२२-२४) में ब्रह्मनिष्ठ वेदसंन्यासी गृहस्थोंकी यह विधि वर्णित है।

सन्ध्योपासन, दर्श, पौर्णमास श्राद्ध—

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥

(द्विज अनुदित होमपक्षमें) सर्वदा दिन और रातके अन्तमें अग्निहोत्र-हवन करे और मासार्द्ध (कृष्णपक्षके अन्तमें) दर्शश्राद्ध तथा शुक्लपक्षके अन्तमें पौर्णमास श्राद्ध करे ॥ २५ ॥

विमर्श—अग्निहोत्रके लिये दो पक्ष मन्वर्थमुक्तावलीकारने बतलाये हैं—पहला उदितहोमपक्ष और दूसरा अनुदितहोमपक्ष। इन में भी दो विकल्प हैं। प्रथम विकल्पके अनुसार दिन और रात्रिके आदिमें अग्निहोत्र करना 'उदितहोम' तथा दिन और रात्रिके अन्तमें अग्निहोत्र करना 'अनुदितहोम' है। एवं द्वितीय विकल्पके

---

१. "यथा कोषीतकीरहस्ये ब्राह्मणम्—'यावद्वै पुरुषो भाषते, न तावत् प्राणितुं शक्नोति, प्राणं तदा वाचि जुहोति; यावद्धि पुरुषः प्राणिति, न तावद्भाषितुं शक्नोति वाचं, तदा प्राणे जुहोति; एतेऽनन्तेऽमृते आहुती जाग्रत्स्वपंश्च सततं जुहोति।" अथवा "अन्या आहुतयोऽनन्तरन्यस्ताः कर्ममय्यो हि भवन्त्येवं हि तस्यैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्नि-होत्रं जुहवाञ्चक्रुः" इति। (म० मु०)

अनुसार दिनके आदि और अन्तमें अग्निहोत्र करना 'उदितहोम' तथा रात्रिके आदि और अन्तमें अग्निहोत्र करना 'अनुदितहोम' है।

सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः।
पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः॥ २६॥

पुराने अन्नके अन्त समय (समाप्ति) में या असमाप्ति[1] में भी 'नवसस्येष्टि' (आग्रायण यज्ञ) से, ऋतु के अन्तमें 'चातुर्मास्य' यज्ञसे, अयनोंके अन्तमें 'पशु-बन्ध' यज्ञसे और वर्षके अन्तमें 'अग्निष्टोम' आदि यज्ञसे यज्ञ करे॥ २६॥

विमर्श—इस श्लोकमें 'ऋतु' शब्दसे 'हेमन्त' आदि छः ऋतु इष्ट नहीं हैं, किन्तु शीत, ग्रीष्म और वर्ष—ये ही तीन ऋतु इष्ट हैं। उत्तरायण और दक्षिणायनके भेदसे अयन दो होते हैं, सूर्यकी मकर संक्रान्तिसे लेकर मिथुन संक्रान्तितक 'उत्तरायण' तथा कर्क संक्रान्तिसे लेकर धनु संक्रान्ति तक 'दक्षिणायन' होता है। ज्योतिःशास्त्रके अनुसार चैत्र शुक्ल प्रतिपद्से वर्षका आरम्भ होनेसे शिशिर ऋतु के समाप्त होने पर वसन्त ऋतुमें वर्षान्तसम्बन्धी 'अग्निष्टोमयज्ञ' करना चाहिये।

नवसस्येष्टिके विना नवान्न भोजन निषेध—

नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ २७॥

बहुत आयु तक जीनेका इच्छुक अग्निहोत्री ब्राह्मण विना 'नवसस्येष्टि' (आग्रायण) यज्ञ किये नये अन्नको तथा विना 'पशुवध' यज्ञ किये नये पशुके मांसको नहीं खावे—॥ २७॥

नवसस्येष्टि आदि यज्ञके नहीं करनेपर—

नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः।
प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्धिनः॥ २८॥

—क्योंकि नये अन्न तथा नये पशुसे बिना पूजित नये अन्न तथा नये पशुमांसकी अतिशय अभिलाषा करनेवाले अग्निदेव (इस अग्निहोत्रीके) प्राणोंको ही खानेकी इच्छा करते हैं॥ २८॥

यथाशक्ति अतिथिपूजन—

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः॥ २९॥

जिस गृहस्थके घरमें शक्तिके अनुसार आसन, भोजन, शय्या, जल और

---

१. 'शरदि नवानाम्' इति सूत्रकारवचनादसमाप्तेऽपि पूर्वसस्ये इत्युक्तेः।

मूल-फलसे अतिथि की पूजा नहीं होती है उसमें कोई अतिथि निवास न करें। (गृहस्थ का कर्तव्य है कि अपनी शक्तिके अनुसार अतिथियों का आसन, भोजनादिसे सत्कार करे) ॥ २९ ॥

पाखण्डी आदिके सत्कार का निषेध—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ३० ॥

पाखण्डी (वेद वचनके विरुद्ध व्रत एवं तपस्वी की वेश-भूषा-जटा-काषाय वस्त्रादि को धारण करनेवाले), विरुद्ध कर्म करनेवाले (बौद्धभिक्षु क्षपणक आदि) बैडालव्रती (४।१९६), शठ (वेद-स्मृतिके वचनोंमें विश्वास नहीं रखने वाले), हेतुवादी (धर्म को वेदवचनके अनुसार नहीं मानकर तर्क करने वाले), वकवृत्ति (४।१९७) अतिथियों का वचनमात्रसे भी पूजन न करे (अतिथि मानकर पूज्यत्व बुद्धि न रखे; किन्तु ४।३२ में कथित वचनके अनुसार यथाशक्ति उनको भी अन्न आदि देवे ही) ॥ ३० ॥

वेद स्नातकादि का पूजन—

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः ।
पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, उभय (वेद-विद्या) स्नातक और श्रोत्रिय गृहाश्रमियों की हव्य तथा कव्य (देवकर्म तथा पितृकर्म) में पूजा करे और दूसरोंको (इनसे प्रतिकूल आचरणवालों) का त्याग करे (पूजन न करे) ॥ ३१ ॥

विमर्श—स्नातक तीन प्रकारके होते हैं—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक। उनमें वेदोंको समाप्तकर व्रतोंको समाप्त नहीं करनेवाला 'विद्यास्नातक', व्रतोंको समाप्तकर वेदोंको समाप्त नहीं करनेवाला 'व्रतस्नातक' और वेद तथा विद्या दोनोंको समाप्त करनेवाला 'विद्याव्रत स्नातक'[1] (उभयस्नातक) कहलाता है।

ब्रह्मचारी आदिके लिये अन्न दान—

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ।
संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

---

१. यथाह हारीतः—"यः समाप्य वेदानसमाप्य व्रतानि समावर्तते, स 'विद्यास्नातकः'। यः समाप्य व्रतान्यसमाप्य वेदान् समावर्तते, स 'व्रतस्नातकः'। उभयं समाप्य यः समावर्तते, स 'विद्याव्रतस्नातकः'" इति। (म० मु०)

अपने हाथसे भोजन-पाक नहीं करनेवाले ब्रह्मचारी, परिव्राजक (संन्यासी) और पाखण्डी आदिके लिये गृहाश्रमी अन्न देवे और परिवार, भृत्यादिके उदरपूर्ति आदिमें कमी नहीं करते हुए ही जीवों (वृक्षादि पर्यन्त जीवों तक) के लिये (जलादिका यथायोग्य) विभाग करे ॥ ३२ ॥

विमर्श - यद्यपि 'कृत्वैतत्—' (३।९४) वचनसे ब्रह्मचारी तथा संन्यासीके अन्न देनेके लिये कह चुके हैं, तथापि पचमान (स्वयं भोजनपाक करने वालों) की अपेक्षा श्रेष्ठता तथा स्नातकव्रतत्वके सूचनाके लिये प्रकृत वचन पुनः कहा गया है। मेधातिथि तथा गोविन्दराज का मत है कि—'कृत्वैतत्' (३।९४) वचनसे ब्रह्मचारी तथा संन्यासीके लिये अन्नदानका विधान पहले कर चुकनेसे यह वचन पाखण्डी आदिके लिये ही (मुख्यतः) है।

क्षत्रियादिसे धन लेना—

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा।
याज्यान्तेवासिनोर्वाऽपि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥ ३३ ॥

'भूखसे पीड़ित स्नातक क्षत्रिय, यजमान और शिष्यसे धन लेनेकी इच्छा करे, दूसरे किसीसे नहीं' ऐसी स्थिति (शास्त्रोक्त वचन) है ॥ ३३ ॥

विमर्श—"न राज्ञः प्रतिगृह्णीयात्—" (४।८४) वचन द्वारा आगे राजासे धन लेनेके लिये किया गया निषेध 'क्षत्रिय राजा' के लिये है, अतः धर्म तत्पर 'क्षत्रिय' से धन लेनेमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि क्षत्रियके अधिक धनसम्पन्न होनेसे उसे दान देनेमें कष्ट नहीं होगा तथा यजमान एवं शिष्यके उपकृत होनेसे वे स्वत एव प्रत्युपकारी रहते हैं, अतः उनका धन लेना दोषजनक नहीं है। हां, उनके भी अभावमें-आपत्कालमें "सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्—" (१०।१०२) वचनके अनुसार दूसरे (राजा आदि) से भी धन लेनेमें दोष नहीं। यहां पर 'न त्वन्यतः' पदसे दूसरेसे धन लेनेका निषेध होनेसे आगे (१०।१०२) सर्वसे प्रतिग्रह लेनेका विधान करनेसे यह प्रकृत वचन आपत्ति कालपरक नहीं हो सकता। आपत्ति-कालके लिये क्षत्रिय जातीय राजासे प्रतिग्रहकी प्राप्ति होना असम्भव होनेपर 'सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः' (१०।११३) वचनके अनुसार शूद्र को राजासे प्रतिग्रह लेने का विधान किया गया है।

भूख आदिसे दुखी होनेका निषेध—

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथञ्चन।
न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥

(विद्या आदिके द्वारा प्रतिग्रह आदि लेनेमें) समर्थ होता हुआ स्नातक किसी

प्रकार दुःखित न होवे, तथा धन (वैभव) रहने पर फटे और मैले कपड़ों को न पहने ॥ ३४ ॥

स्वाध्यायादिमें तत्परता—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः ।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥

बाल, दाँत तथा दाढ़ी को कटवाता हुआ (मुण्डन कराता हुआ नहीं), तपके कष्टको सहन करता हुआ, श्वेत कपड़ों को पहनने वाला, स्वाध्याय (वेदादिका पाठ) में तत्पर (ब्राह्मण गृहस्थ) सर्वदा अपने हित (औषधादिके द्वारा स्वास्थ्य रक्षा) में तत्पर रहे ॥ ३५ ॥

दण्ड तथा कमण्डलु आदिका ग्रहण—

वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥

—बांसकी छड़ी, जल सहित कमण्डलु, यज्ञोपवीत, वेद और सोनेके दो सुन्दर कुण्डलोंको (ब्राह्मण गृहाश्रमी) धारण करे-॥ ३६ ॥

काल विशेषमें सूर्यदर्शन का निषेध—

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ ३७ ॥

—उदय तथा अस्त होते हुए, ग्रहण लगे हुए, पानीमें प्रतिविम्बित और (मध्याह्नमें) आकाशके मध्यमें स्थित सूर्यको कभी न देखे—॥ ३७ ॥

वत्स आदिकी रस्सीके लङ्घनादिका निषेध—

न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति ।
न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥

—बछवा बांधनेकी रस्सी (पगहा) को न लांघे, पानी बरसते रहने पर न दौड़े और पानी में पड़ी हुई अपनी परछाई को न देखे; यह शास्त्र की मर्यादा है ॥ ३८ ॥

मिट्टी गौ, आदिको दाहिने करके जाना—

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥

(कहीं जाते-आते समय रास्तेमें मिले हुए) मिट्टी की ढेर, गौ, देव-प्रतिमा,

ब्राह्मण, घी, मधु (सहद), चौरास्ता और परिचित बड़े २ वनस्पति (पीपल, बड़ आदिके पेड़) के प्रदक्षिण क्रमसे (उन्हें अपने दाहिने भागमें करके) जावे ॥

रजस्वला-संभोगका निषेध—

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥

कामवश उन्मत्त (पागल) होकर भी रजोदर्शन होने पर (रजस्वला होने पर उसके साथ) संभोग न करे और उस (रजस्वला) के साथ एक आसन या शय्या पर न (बैठे और न) सोवे ॥ ४० ॥

रजस्वला सम्भोगसे बुद्ध्यादि हानि—

रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥

रजस्वलाके साथ सम्भोग करते हुए पुरुषकी बुद्धि, तेज, बल, नेत्र (देखने की शक्ति) और आयु क्षीण हो जाती है ॥ ४१ ॥

रजस्वलाके संसर्गत्यागसे बुद्ध्यादि-वृद्धि—

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

उस (रजस्वला स्त्री) को छोड़ते (सम्भोग तथा स्पर्शका त्याग करते) हुए (गृहस्थकी) बुद्धि, तेज, बल, नेत्र (देखने की शक्ति) और आयु बढ़ती है ॥४२॥

स्त्रीके साथ भोजनादिनिषेध—

नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् ।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥

स्त्रीके साथ (एक पात्रमें) भोजन न करे और भोजन करती हुई, छींकती हुई, जम्भाई लेती हुई तथा सुखपूर्वक (पुरुषादिके न रहनेसे स्वेच्छापूर्वक जैसे-तैसे) बैठी हुई स्त्रीको न देखे ॥ ४३ ॥

आंजन लगाती हुई आदि स्त्रीको देखनेका निषेध—

नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् ।
न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

आंजती (अपनी आंखोंमें अञ्जन अर्थात् काजल-सुर्मा आदि लगाती) हुई,

तेल आदिसे अभ्यक्त, आवरणरहित (स्तनादिपर वस्त्र नहीं हों, ऐसी अवस्थामें) और प्रसव करती हुई स्त्रीको तेज चाहनेवाला द्विजोत्तम न देखे ॥ ४४ ॥

[उपेत्य स्नातको विद्वान्नेक्षेन्नग्नां परस्त्रियम् ।
सरहस्यं च संवादं परस्त्रीषु विवर्जयेत् ॥ ३ ॥

[विद्वान् स्नातक (गृहाश्रमी) समीप जाकर नंगी परस्त्रीको न देखे अर्थात् न उसके पास ही जावे और तथा एकान्तमें परस्त्रीके साथ बातचीत भी न करे॥३॥]

एक वस्त्र पहने भोजननिषेध आदि—

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥

एक वस्त्र (केवल धोती, गमछी या लंगोट आदि) पहनकर भोजन न करे। नंगा होकर स्नान न करे, रास्ते (बीच रास्ते) में, भस्म (राख) पर और गोशाला (गौओंके ठहरनेका स्थान) में मल और मूत्रत्याग (पाखाना-पेशाब) न करे—॥ ४५ ॥

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥

जोते हुए खेतमें, पानीमें, चिति (ईंटका भट्ठा और बर्तनोंका आंवा) पर, पहाड़पर, पुराने देव मन्दिरमें, वामि (दिअंकाड़) पर कभी (मलमूत्रका त्याग न करे)—॥ ४६ ॥

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ।
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥

जीवयुक्त (चींटी, चूहा आदिके) बिलोंमें, चलते हुए, खड़े होकर, नदीके किनारे पहुंचकर और पहाड़की चोटीपर (मल-मूत्रका त्याग न करे)—॥४७॥

विमर्श—पूर्वश्लोक (४।४६) में पर्वतपर मल-मूत्र-त्यागका निषेध करके पुनः इस श्लोकमें 'पर्वतमस्तके' अर्थात् पहाड़की चोटीपर निषेध करना पुनरुक्ति है, क्योंकि सामान्यतः पर्वत मात्रका निषेध करनेसे ही पर्वतकी चोटीका भी निषेध स्वतएव हो जाता है; तथापि विकल्प-प्रदर्शनके लिये (पर्वतकी चोटीको छोड़कर उसके निचले भागपर मलमूत्रत्यागका निषेध न करनेके लिये) यह (पर्वतमस्तके) शब्द पुनः कहनेपर पुनरुक्ति दोष नहीं है। यद्यपि इच्छाविकल्पका आश्रय कर अन्यथा भी अर्थ होनेसे सामान्यनिषेधकी व्यर्थता सम्भव है, तथापि यहां इच्छा-विकल्पका आश्रय न कर व्यवस्था-विकल्पका आश्रय करनेसे अत्यन्त आर्तको पर्वतपर मल-मूत्र-त्याग करनेपर भी दोष नहीं है।

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥

वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, पानी और गौओंको देखते हुए कभी मल और मूत्रका त्याग (पाखाना और पेशाब) न करे ॥ ४८ ॥

विमर्श—यद्यपि वायुको रूपहीन होनेसे देखना असम्भव है, तथापि 'वायु' शब्दसे आधक वायु आँधी आदिसे उड़ते हुए तृण, पत्ते आदिका ग्रहण करना चाहिये।

मल-मूत्र-त्यागकी विधि—

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥ ४९ ॥

लकड़ी (सूखी[1]), मिट्टीका ढेला, पत्ता, घास आदि (दोनों सूखे हुए[2]) से भूमिको ढककर तथा स्वयं चुप होकर और शरीर एवं मस्तकको ढककर मल-मूत्र का त्याग (पेशाब और पाखाना) करे ॥ ४९ ॥

मल-मूत्र त्यागमें समयानुसार दिग्विचार—

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च तथा दिवा ॥ ५० ॥

दिनमें तथा दोनों (प्रातःकाल और सायंकालकी) सन्ध्याओंमें उत्तरकी ओर मुखकर एवं रात्रिमें दक्षिणकी ओर मुखकर मलमूत्रका त्याग करे ॥ ५० ॥

विमर्श—धरणीधरने इस श्लोकका चौथा पाद "स्वस्थोऽनाशाय चेतसः" पढ़कर 'चित्त अर्थात् बुद्धिके अनाशके लिये' ऐसी व्याख्या की है, किन्तु परम्परागत तथा विद्वज्जन-सम्मत पाठके स्थानपर (सन्ध्ययोश्च तथा दिवा) धरणीधरका स्वकल्पित पाठान्तर (स्वस्थोऽनाशाय चेतसः) मानना व्यर्थ है[3]।

अन्धकारादिमें दिग्विचारका त्याग—

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः।
यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥ ५१ ॥

१-२. "शुष्कैस्तृणैर्वा काष्ठैर्वा पर्णैर्वेणुदलेन वा।
मृन्मयैर्भाजनैर्वापि अन्तर्धाय वसुन्धराम् ॥"
इति वायुपुराणवचनात् "शुष्काणि काष्ठपत्रतृणानि ज्ञेयानि" इति। (म० मु०)

३. धरणीधरस्तु व्याख्यातवान्।
"परम्परीयमाम्नायं हित्वा विद्वद्भिरादृतम् ॥
पाठान्तरं व्यरचयन्मुधेह धरणीधरः।" इति। (म० मु०)

रात्रिमें, छायामें या अन्धकारमें तथा दिनमें नीहार (कुहरा बादल आदि) के अन्धकारमें (दिग्ज्ञान नहीं होनेपर) और (चौर या सिंह आदि हिंसक पशु आदिसे) प्राणोंकी बाधा (या शरीरादि कष्टका सन्देह) होनेपर द्विज इच्छानुसार किसी दिशाकी ओर मुखकर मल-मूत्रका त्याग करे ॥ ५१ ॥

विमर्श—उक्त वचनसे संडास (पाखाना अर्थात् शौचालय) में भी सुविधाके अनुसार मुखकर मलमूत्रत्याग करनेमें दोष नहीं है।

अग्नि आदिकी ओर मुखकर मल-मूत्र त्यागका निषेध—

प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान्।
प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ ५२ ॥

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, पानी, ब्राह्मण, गौ, हवा (आंधी आदि । पाठभेदसे दोनों सन्ध्या—प्रातःकाल पूर्वमुख तथा सायंकाल पश्चिममुख) की ओर उन्हें (नहीं देखते हुए भी सामने) मुखकर मल-मूत्र-त्याग करनेवाले (द्विज) की बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥ ५२ ॥

अग्निको मुखसे फूंकने आदिका निषेध—

नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्।
नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥

अग्निको मुखसे न फूंके (किन्तु प्रज्वलित करनेके लिये पंखा आदिसे हवा करे), नंगी स्त्रीको (मैथुनके अतिरिक्त समयमें[1]) न देखे, अपवित्र (मल, मूत्र, कूड़ा, करकट आदि) वस्तु अग्निमें न डाले और पैरको अग्निके ऊपर उठाकर न सेंके। (अग्निमें गर्म करके कपड़ा आदिसे पैरको सेंकनेमें दोष नहीं है) ॥

अग्निको खाट आदिके नीचे रखने आदिका निषेध—

अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत्।
न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥

आगको (आगसे युक्त अंगीठी, बरोसी आदिको) (खाट चारपाई आदिके) नीचे न रखें, इस (अग्नि) को न लाँघे, इस (अग्नि) को पैरकी ओर (सोने आदिके समयमें) न करे और प्राणोंकी बाधा (पीडा वाले कर्म) नहीं करे ॥५४॥

---

१. "न नग्नां स्त्रियमीक्षेत मैथुनादन्यत्र" इति साङ्ख्यायनदर्शनाद् "मैथुनव्यतिरेकेण नग्नां स्त्रियं न पश्येत्" इति। (म० मु०)

संधिकालमें भोजनादिका निषेध—

नाश्नीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत्।
न चैव प्रलिखेद्भूमिं नात्मनोपहरेत्स्रजम् ॥ ५५ ॥

सन्धि (प्रातः काल तथा सायंकालके सन्ध्या) के समयमें न भोजन करे, न दूसरे गांवमें जाय और न सोवे। भूमिपर (लकड़ी आदिसे) न लिखे (न रेखा बनावे, न अक्षर आदि लिखे और न खरोंचे) और (पहनी हुई) मालाको (स्वयं) न निकाले ॥ ५५ ॥

पानीमें पेशाब आदि करनेका निषेध—

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥

मूत्र, मैला, थूक, अपवित्र (जूठा आदि से उपलिप्त अर्थात् युक्त) अन्य कोई वस्तु, रक्त और विष (या विषयुक्त पदार्थ) को पानीमें न छोड़े ॥ ५६ ॥

सूने घरमें अकेले सोने आदिका निषेध—

नैकः सुप्याच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत्।
नोदक्ययाऽभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः ॥ ५७ ॥

सूने घरमें अकेला न सोवे, (विद्या, धन और वय आदिसे) बड़ेको न जगावे, रजस्वला स्त्रीसे बातचित न करे और विना वरण किये (ब्राह्मण) यज्ञमें न जावे (दर्शनकी इच्छासे जा सकता है) ॥ ५७ ॥

[एकः स्वादु न भुञ्जीत स्वार्थमेको न चिन्तयेत्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥ ४ ॥

[स्वादिष्ट पदार्थ अकेले न खावे, स्वार्थचिन्तन अकेले न करे, अकेला मार्गमें (लम्बे रास्तेमें या रात्रि आदिमें) न जावे और (दूसरोंके) सोते रहने पर अकेला न जागे ॥ ४ ॥

अग्निहोत्रादिमें दाहिने हाथको बाहर रखना—

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च संनिधौ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥

अग्निहोत्रमें, गौओंके निवास स्थानमें, ब्राह्मणोंके पास, स्वाध्याय (वेद, वेदाङ्ग, स्मृत्यादिके पढ़नेके समय) में और भोजनमें दाहिनी भुजाको कपड़ेसे बाहर रखे ५८

जलादि पीती हुई गाय आदिके मना करनेका निषेध—

न वारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् ।
न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद् दर्शयेद् बुधः ॥ ५९ ॥

(दूध या पानी) पीती हुई गौको मना न करे या किसीसे नहीं कहे (दुहनेके लिये मना करनेका निषेध नहीं हैं) और आकाशमें इन्द्रधनुषको देखकर (इन्द्र-धनुष देखनेके दोषको जाननेवाला) विद्वान् वह (इन्द्रधनुष) दूसरेको न दिखलावे ॥

अधार्मिक ग्राममें निवासादिका निषेध—

नाधार्मिके वसेद् ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥

अधार्मिक ग्राममें निवास न करे, रोग (चेचक, हैजा, प्लेग, मलेरिया आदि सांसर्गिक रोग) से जहां बहुत लोग पीड़ित हों, उस ग्राममें बिलकुल ही निवास न करे, रास्तेमें अकेले नहीं चले और बहुत देरतक पहाड़पर निवास न करे ॥६०॥

शूद्रके राज्यादिमें निवासका निषेध—

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ।
न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥

शूद्रके राज्यमें निवास न करे, अधार्मिक लोगोंके निवासभूत, पाखण्डि-समूहोंसे व्याप्त और चाण्डाल आदिसे सर्वत्र भरे हुए ग्राममें निवास न करे ॥ ६१ ॥

रस आदि निचोड़कर खाने आदिका निषेध—

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् ।
नातिप्रगे नाति सायं न सायं प्रातराशितः ॥ ६२ ॥

(रसगुल्ला या दहीबड़ा आदिके) रसको निचोड़कर भोजन नहीं करे, अत्यन्त तृप्तिका आचरण न करे (अनेक बार पेट भरकर भोजन न करे), बहुत सबेरे या बहुत साम होनेपर भोजन न करे, प्रातःकाल (पूर्वाह्णमें) अत्यन्त तृप्त होकर (अच्छी तरह भरपेट भोजन कर) पुनः सायंकाल भोजन न करे ॥ ६२ ॥

विमर्श—पेटका आधा भाग अन्नसे, चतुर्थांश भाग जलसे पूर्णकर शेष चतुर्थांश भाग वायु संचारके लिये छोड़े[1] (अन्नादिसे उसे भी न भरे)।

---

१. "जठरं पूरयेदर्द्धमन्नैर्भागं जलेन च ।
वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥" इति (म० मु०)।

व्यर्थ चेष्टा तथा अञ्जलिसे पानीपीने आदिका निषेध—

न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत् ।
नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥ ६३ ॥

व्यर्थ (प्रत्यक्ष एवं परोक्ष फलसे हीन) चेष्टा न करे, अञ्जलिसे पानी न पीये, गोद (दोनों जङ्घोंके बीच) में भोजनकी वस्तुको रखकर न खावे और (बिना प्रयोजनका) कूतूहल ('यह क्या बात है' इस प्रकार जाननेकी इच्छा) न करे ॥

नाचने गाने आदिका निषेध—

न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत्
नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ६४ ॥

(शास्त्र-विरुद्ध) नाच, गान और बाजा बजाना न करे; ताल (जैसे दंगलके आरम्भमें मल्ल प्रतिपक्षीको ललकारते हुए ताल ठोंकते हैं, वैसे) न ठोंके; क्ष्वेडन (दांतोंको परस्पर रगड़ते हुए अव्यक्त शब्द—जिसे 'दांत पीसना' कहते हैं, उसे) न करे और अनुरक्त होकर विपरीत शब्द (गधे, घोड़े आदिके समान) न करे ॥

कांसेके वर्तनमें पैर धोने आदिका निषेध—

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने ।
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ६५ ॥

कांसेके बर्तनमें कभी पैर न धुलवावे; (ताँबा, चाँदी और सोनेके बर्तनोंको छोड़कर अन्य किसी धातुके बने हुए[1]) फूटे बर्तनोंमें तथा जो बर्तन अपने न रुचें, उनमें भोजन न करे ॥ ६५ ॥

विमर्श—तांबा, चाँदी, और सोनेके वर्तन फूटे हों या अच्छे हों उनमें (भोजन करनेसे) दोष नहीं है ऐसा पैठीनसि का कथन है।

दूसरोंके पहने हुए जूता आदि पहननेका निषेध—

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।
उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

दूसरोंके पहने हुए जूते, कपड़े, यज्ञोपवीत, भूषण, माला और कमण्डलुको नहीं धारण करे ॥ ६६ ॥

---

(१) "ताम्ररजतसुवर्णानां भिन्नमभिन्नं वेति न दोषः इति पैठीनसिवचनात्" (म० मु०)।

गमनके अयोग्य वाहन—

नाविनीतैर्भजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः।

न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥

अशिक्षित (अच्छी तरह विना सिखलाये हुए), भूख और प्याससे दुःखित, जिनके सींग, आंख और खुर भिन्न (कटे आदि) हों और विना पूंछवाले पशुओं (घोड़े आदि) से गमन न करे ॥ ६७ ॥

गमनके योग्य वाहन—

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः।

वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

शिक्षित, शीघ्रगामी, शुभ लक्षणोंसे युक्त, रंग-रूपमें मनोहर घोड़े आदि सवारियोंसे कोड़े या चाबुकसे उन्हें बहुत नहीं मारते हुए (कभी २ मारते हुए) गमन करे ॥ ६८ ॥

बालातप तथा शवधूमादि सेवनका निषेध—

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसनम्।

[श्रीकामो वर्जयेन्नित्यं मृण्मये चैव भोजनम्।]

प्रातःकालका धूप (मेधातिथिके मतसे सूर्योदयसे वे तीन मुहूर्त ६ घटी = २ घंटा २४ मिनट तक का धूप। अन्याचार्योंके मतसे कन्या संक्रान्तिके सूर्यका धूप), मृतकका धूम, टूटा हुआ आसन (का त्याग करे) [और मिट्टीके बर्तनमें भोजन करना धनको चाहनेवाला सदा त्याग करे ॥ ४½ ॥]

न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥ ६९ ॥

नख, रोम और बाल न काटे तथा दाँतोंसे नाखून न काटे ॥ ६९ ॥

मिट्टी का ढेला आदि मसलनेका निषेध—

न मृल्लोष्ठं च मृद्नीयान्न च्छिन्द्यात्करजैस्तृणम्।

न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥ ७० ॥

मिट्टीके ढेलेको (चुटकी या तलहथी आदिसे) न मसले (मर्दन करे), नाखूनसे तृणको नहीं तोड़े, निष्फल कार्यको न करे और भविष्यमें दुखदायी-कर्मको भी न करे ॥ ७० ॥

विमर्श—"नाकारणं मृल्लोष्ठं[1]—" इस आपस्तम्बोक्त वचनके अनुसार

(१) "नाकारणं मृल्लोष्ठं मृद्नीयात् तृणानि च छिन्द्यात्" इति।

निष्प्रयोजन ढेलाके मर्दन और नखसे तृणके काटनेका निषेध किया गया है। "न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्–" (४।६३) पूर्वोक्त वचनसे ही उक्त निषेध गतार्थ हो सकनेपर भी विशेष दोष-प्रदर्शनार्थं यह निषेध किया गया है, इसी कारण अगले श्लोक (४।७१) में "लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी—" वचन कहा गया है। इसी प्रकार "न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्—" (४।६३) वचनके 'चेष्टा' शब्दसे 'देहव्यापार' अर्थ तथा "न कर्म निष्फलं कुर्यात्" (४।७१) इस वचनके 'कर्म' शब्दसे 'मनसे ग्रहण करने योग्य सङ्कल्पादिरूप कार्य' अर्थ होनेसे उक्त प्रकृत श्लोकमें कहा गया 'न कर्म निष्फलं कुर्यात्' वचनसे पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिये।

ढेला मसलनेवाले आदिका नाश—

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥ ७१ ॥

जो मनुष्य (निरर्थक) ढेला मसलनेवाला, (नाखूनसे) तृण काटनेवाला, (दांतोंसे) नख काटनेवाला, खल (दूसरोंमें विद्यमान या अविद्यमान दोषोंको कहते फिरनेवाला) और अपवित्र मिट्टी-पानी आदिकृत बाहरी शुद्धि और राग-द्वेषादि शून्यतारूप भीतरी (अन्तःकरणकी) शुद्धिसे हीन है, वह शीघ्र (देह, धन आदिसे) नष्ट हो जाते हैं ॥ ७१ ॥

हठ चर्चा और माला-धारणादि निषेध—

न विगर्ह्य कथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत्।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

हठ पूर्वक (शास्त्रीय या लौकिक) चर्चा न करे, (केश-समूहके) बाहर माला न पहने, गौओंके पीठपर सवारी करना सर्वथा ही निन्दित है ॥ ७२ ॥

विमर्श—इस श्लोकमें चतुर्थ चरणके द्वारा गौओंकी पीठपर कोई वस्त्र कम्बल आदि डालकर व्यवधान होनेपर भी उनकी पीठपर चढ़ना निन्दित समझना चाहिये, किन्तु 'पृष्ठ' शब्दके कहनेसे बैलगाड़ी आदिकी सवारीको लोग निन्दित नहीं कहते हैं।

विना द्वारके रास्तेसे घरमें प्रवेश-निषेध—

अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वावृतम्।
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥

(चाहारदिवारी अर्थात् परकोटा, कांटा, बांस आदिसे) घिरे हुए घरमें द्वारसे ही प्रवेश करे और रातमें पेड़ोंकी जड़को दूरसे ही छोड़ दे (पेड़ोंके नीचे बहुत पासमें न ठहरे या न जावे) ॥ ७३ ॥

पाशा खेलने आदिका निषेध—

नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् ।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥

पाशा (जुआ) कभी न खेले, अपना जूता (हाथ आदिमें) स्वयं कहीं न ले जावे (पहनकर ही जावे), शय्यापर (बैठ या सोकर, विना किसी वर्तनमें रखे ही) भोज्य पदार्थको हाथमें लेकर या आसनपर (भोजनकी थाली रखकर) भोजन न करे ॥ ७४ ॥

विमर्श—शय्या (चारपाई, पलँग आदि) पर बैठकर या सोकर, हाथमें एक बार अधिक (ग्राससे अत्यधिक) भोजनके पदार्थोंको लेकर (जैसा कि बहुत लोग पूरी, कचौड़ी, मिठाई, चबेना आदि हाथमें ही लेकर खाते हैं) और आसनपर भोजनकी थाली आदि रखकर भोजन करनेका निषेध प्रकृत श्लोकके उत्तरार्द्धसे अभीष्ट है ।

रात्रिमें तिलयुक्त पदार्थ आदिका भोजननिषेध—

सर्वं च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ ।
न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः कचिद् व्रजेत् ॥ ७५ ॥

सूर्यास्तके बाद कोई भी तिलयुक्त (तिलकुट आदि) न खावे, नंगा न सोवे और जूठा मुख (खानेके बाद विना कुल्ला किये) कहीं न जावे ॥ ७५ ॥

पैर धोकर भोजन करना आदि—

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

गीले पैरोंवाला होकर (भोजनके पहले तत्काल पैर धोकर) भोजन करे, और गीले पैरवाला होकर नहीं सोवे (यदि सोनेके पहले पैर धोया हो तो कपड़े आदिसे पोंछकर उसे सुखा ले) । गीले पैरोंवाला होकर भोजन करनेवाला लम्बी आयुको प्राप्त करता है ॥ ७६ ॥

दुर्गम स्थानमें जानेका निषेध—

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् ।
न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥ ७७ ॥

नहीं दीखते हुए (लता गुल्म आदिके कारण गहन होनेसे स्पष्ट नहीं मालूम पड़ते हुए) दुर्गम स्थान (सघन बन या झाड़ी आदि) में कदापि न जावे, मल

तथा मूत्रको न देखे और बाहुओंसे नदीको न तैरे (तैरकर पार न करे, किन्तु नाव आदि से नदीके पार जावे) ॥ ७७ ॥

केश या राख आदिकी ढेरपर ठहरनेका निषेध—

अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः ।
न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ ७८ ॥

अधिक आयुतक जीनेकी इच्छा करनेवाला बाल, राख, हड्डी, फूटे मिट्टीके बर्तनोंके टुकड़े, बिनौला और भूसा इनके ऊपर न बैठे (या न खड़ा होवे) ॥७८॥

पतितादिके साथ बैठनेका निषेध—

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥

पतित (११ अध्यायोक्त), चाण्डाल (शूद्रसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न-१०।१२), पुल्कस (मल्लाहसे शूद्रामें उत्पन्न-१०।१८), मूर्ख, अभिमानी और अन्त्यज (धोबी आदि) और अन्त्यावसायी (चाण्डालसे मल्लाहिन स्त्रीमें उत्पन्न-१०।३९) के साथ न बैठे । (समीपमें एक आसन पर या वृक्षकी छाया आदिमें एक साथ न बैठे) ॥ ७९ ॥

[न कृतघ्नैरनुद्युक्तैर्न महापातकान्वितैः ।
न दस्युभिर्नाशुचिभिर्नामित्रैश्च कदाचन ॥ ५ ॥]

[कृतघ्न, उद्योग हीन, महापातकों (११।५४) से युक्त, डांकू, अपवित्र और शत्रुओंके साथ न बैठे ॥ ५ ॥]

शूद्रको व्रतादि देनेका निषेध—

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ ८० ॥

शूद्रको इष्टार्थक उपदेश, उच्छिष्ट (जूठा), यज्ञ कर्मसे बचा हुआ हविष्य, धर्म और व्रत (प्रायश्चित्त) का उपदेश साक्षात् न दे ॥ ८० ॥

[अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत् ॥ ६ ॥][1]

[(किन्तु) बीचमें ब्राह्मणको करके (शूद्रके लिये) प्रायश्चित्त (धर्मोपदेश, इष्टार्थोपदेश आदि) का उपदेश करे ॥ ६ ॥]

---

१. अस्य पूर्वार्द्धं तु "तथा शूद्रं समासाद्य सदा धर्मपुरःसरम्" इत्येवमङ्गिरसोक्तम् ।

शूद्रको धर्मोपदेश देनेसे दोष—

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥ ८१ ॥

क्योंकि जो इस (शूद्र) को धर्मोपदेश करता है, व्रत (प्रायश्चित्त विधान) बतलाता है; वह उसके साथ ही 'असंवृत' नामके नरकमें प्रवेश करता है ॥८०॥

विमर्श—पहले (४।८०) उक्त पांच कर्मों का निषेध होनेपर भी इस श्लोकमें उक्त धर्मोपदेश तथा व्रतोपदेशका पुनः निषेध अधिक दोष का सूचक है ।

दोनों हाथसे शिर खुजलाने का निषेध—

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥ ८२ ॥

दोनों हाथोंको एकत्रित (मिला) कर शिर न खुजलावे, जूठा मुख रहनेपर शिर न छूए और शिरको छोड़कर (नित्य और नैमित्तिक) स्नान न करे (स्नान करनेमें असामर्थ्य रहनेपर विना शिरसे भी स्नान करनेमें दोष नहीं है[२])॥

बाल पकड़ने आदिका निषेध—

केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् ।
शिरः स्नातश्च तैलेन नाङ्गं किञ्चिदपि स्पृशेत् ॥ ८३ ॥

(क्रोधसे अपने या दूसरे किसीके) शिरके बालोंको न खैंचे और न शिरमें मारे । शिरसे स्नान किये हुए के किसी शरीरका तैलसे स्पर्श न करे, अथवा तैलसे शिरः स्नात होकर (शिरमें तैल लगाकर पुनः) तैलसे किसी शरीर का स्पर्श न करे ॥ ८३ ॥

राजादिसे दान लेनेका निषेध—

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ।
सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥ ८४ ॥

अक्षत्रिय राजा, पशु मारकर मांस बेचने वाले (बधिक, कसाई आदि), तेली, कलवार (मद्य बेचनेवाले), वेश्याकी नौकरीसे जीनेवाले या वेष बदलकर अपनी जीविका करनेवाले इनसे दान न लेवे ॥ ८४ ॥

---

२. अशक्तस्य तु—"अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम्" इति जाबालिना विहितमेव । (म० मु०)

वधिकादिकी उत्तरोत्तर नीचता—

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ ८५ ॥

दश कसाईके बराबर तेली है, दश तेलीके बराबर, कलवार (मद्य बेचनेवाला) है, दश कलवारके बराबर वेशजीवी (वेश्याका नौकर या वेष बदलकर जीविका करनेवाला बहुरुपिया आदि) है और दश वेशजीवीके बराबर राजा है । (कसाई, तेली, कलवार, वेशजीवी और राजाकी उत्तरोत्तर नीचश्रेणियोंमें गणना है)॥८५॥

विमर्श—गोविन्दराजने "दशवेश्यासमो नृपः" पाठ माना है, तदनुसार 'दश वेश्याओंके समान राजा है' ऐसा अर्थ प्रकृत श्लोकके चतुर्थपादका होगा; मूलोक्त पाठ ("दश वेशसमो नृपः") प्राचीन मेधातिथि आदिके मतानुसार है ।

दानमें राजाकी अत्यधिक निम्नश्रेणी—

दश सूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥ ८६ ॥

जो बधिक (कसाई आदि) दश हजार पशुओंको (अपनी जीविकाके लिये) मारता है, उसके बराबर राजा (मनु आदि महर्षियोंसे) कहा गया है, (इस कारण) उस (क्षत्रिय राजा) का भी प्रतिग्रह (दान) लेना (नरक कारण होनेसे) भयानक है ॥ ८६ ॥

लोभी राजाके दान लेनेसे प्राप्य नरकोंके नाम—

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥

जो लोभी तथा शास्त्रविरुद्ध आचरण करनेवाले राजासे दान लेता है; वह क्रमशः इन (४।८८–९० में कथित इक्कीस) नरकोंमें जाता है—॥ ८७ ॥

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥

(उन २१ नरकोंके नाम ये हैं) १ तामिस्र, २ अन्धतामिस्र, ३ महारौरव, ४ रौरव, ५ कालसूत्र नरक, ६ महानरक—॥ ८८ ॥

संजीवनं महावीचिं तपनं सम्प्रतापनम् ।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम् ॥ ८९ ॥

७ संजीवन, ८ महावीचि, ९ तपन, १० सम्प्रतापन, ११ संहात, १२ काकोल, १३ कुड्मल, १४ प्रतिमूर्त्तिक— ॥ ८९ ॥

लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥

१५ लोहशङ्कु, १६ ऋजीष, १७ पन्था, १८ शाल्मली, १९ वैतरणी नदी, २० असिपत्रवन और २१ लोहदारक (इन नरकोंके स्वरूप मार्कण्डेय आदि पुराणोंमें सविस्तर वर्णित हैं, जिज्ञासुओंको वहीं से जानना चाहिये) ॥ ९० ॥

विद्वान्‌को भी राजप्रतिग्रहका निषेध—

एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥ ९१ ॥

यह (लोभी और शास्त्रविरुद्धाचारी राजाका दान लेनेसे इन '४।८८–९०' में कथित नरकोंमें जाना पड़ता है, इस बातको) जानते हुए ब्रह्मवादी और मरनेके बाद कल्याण (स्वर्ग-मोक्षादिजन्य सुख) को चाहनेवाले ब्राह्मण राजाका दान नहीं लेते हैं ॥ ९१ ॥

विमर्श—'तस्मादविद्वान्' (४।१९१) वचनसे अविद्वान् ब्राह्मणको दान लेनेका विशेष निषेधपरक वचन होने पर भी यहां प्रकृत वचनसे विद्वान् तथा ब्रह्मवादी ब्राह्मणके लिये भी निषेधपरक वचन राज-प्रतिग्रहका अधिक प्रत्यवाय (दोष) जनक बतलानेके लिये समझना चाहिये ।

ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठना—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥

ब्राह्ममुहूर्त्त (रात्रिके चौथे पहर) में उठे और धर्म तथा अर्थकी, तन्मूलक (धर्म तथा अर्थके कारणभूत) शरीरक्लेशकी और वेदतत्त्वार्थकी चिन्ता (विचार) करे ॥ ९१ ॥

विमर्श—शरीरक्लेशके बिना धर्म या अर्थ कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता, अतः यदि धर्म या अर्थके अधिक होनेकी आशा हो तो शरीरक्लेशको करे अन्यथा (शरीरक्लेश अधिक तथा धर्मार्थ कम होनेकी आशा हो तो) उसे न करे । "रात्रेः पश्चिमे मुहूर्त्ते बुद्धयते" इस वचनानुसार गोविन्दराज 'ब्राह्ममुहूर्त्त' शब्दके 'मुहूर्त्त' शब्दका अर्थ 'मुहूर्त्तं घटिकाद्वयम्' कोषवचनानुसार रात्रिके अन्तिम 'दो घटी' ऐसा करते हैं, किन्तु "रात्रिके आदि तथा अन्तिमके दो प्रहर (दोनोंके १–१ प्रहर) में

वेदाभ्यास तथा मध्यके दो प्रहरमें सोनेवालेको ब्रह्मभूयस्त्वके लिये समर्थ होने"का दक्षोक्त[1] वचन होनेसे प्रकृत श्लोकके 'ब्राह्ममुहूर्त्त' के 'मुहूर्त्त' शब्दका अर्थ 'दो घड़ी' न कर 'रात्रिका अन्तिम प्रहर' ही करना उचित है।

नित्यक्रिया सन्ध्यादि कर्म—

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ९३ ॥

इसके बाद (उषाकालमें) उठकर शौचादि (मल-मूत्रत्यागादिके बाद स्नानादिसे शुद्ध हो) करके एकाग्रचित्त हो प्रातःकालकी तथा यथासमय सायंकालकी सन्ध्याको जप करता हुआ रहे ॥ ९३ ॥

सन्ध्योपासनसे दीर्घायुकी प्राप्ति—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥

ऋषियोंने बहुत देरतक सन्ध्या (सन्ध्याकालिक गायत्रीजप) करनेसे लम्बी आयु, बुद्धि, कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजको प्राप्त किया। (इस लिये आयुष्काम पुरुषको चिरकालतक (२।२०१) सन्ध्योपासन करना चाहिये) ॥ ९४ ॥

श्रावणी उपाकर्म—

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि ।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥ ९५ ॥

ब्राह्मण श्रावण या भाद्रपद मासकी पूर्णिमाको अपने गृह्योक्त विधिसे उपाकर्म (देवर्षि-तर्पण-पूजन) करके साढ़े चार मासतक संलग्न होकर वेदाध्यान करे ॥ ९५ ॥

वेदोत्सर्ग कर्म—

पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥

(साढ़े चार मास पूरा होनेके) बाद जब पुष्य नक्षत्र हो, तब गांवके बाहर जाकर (अपने गृह्योक्त विधिसे) वेदोत्सर्ग कर्म करे। अथवा (भाद्रपद मासमें उपाकर्म न करनेवाला) द्विज माघ शुक्ल प्रतिपदाको पूर्वाह्णमें वेदोत्सर्गका कर्म करे ॥ ९६ ॥

---

१. तदुक्तम्—"प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत् ।
प्रहरद्वयं शयानो हि (?) ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥" इति ।

पक्षिणी रात्रिमें वेदाध्ययन निषेध—

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ।
विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥

इस प्रकार शास्त्रानुसार (ग्रामके) बाहर वेदोत्सर्ग कर्म करके पक्षिणी रात्रिमें अथवा उसी (वेदोत्सर्ग कर्मके ही) दिन-रातमें विराम करे (वेदाध्ययन न करे)॥

विमर्श—वेदोत्सर्ग कर्मकी रात्रि पूर्वापर (पहला तथा बादका) दिन मिलाकर अर्थात् वेदोत्सर्ग कर्मकी दिन रात तथा अगला दिन, 'पक्षिणीरात्रि' कहते हैं, इतने समयमें वेदाध्ययनका निषेध है; किन्तु अधिक विद्या प्राप्त करनेका इच्छुक वेदोत्सर्गके दिन तथा रात्रिके बाद दूसरे दिन भी वेदाध्ययन कर सकता है, उसके लिये निषेध नहीं है ।

शुक्लपक्षमें वेद तथा कृष्णपक्षमें वेदाङ्गका अध्ययन—

अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत ॥ ९८ ॥

इसके (वेदोत्सर्ग कर्मके) बाद शुक्लपक्षमें (मन्त्रब्राह्मणात्मक) वेदको तथा कृष्णपक्षमें वेदाङ्गोंको पढ़े ॥ ९८ ॥

विमर्श—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिर्गति (ज्यौतिष) और छन्द—ये ६ 'वेदाङ्ग' हैं ।

अस्पष्ट अध्ययनादिका निषेध—

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ।
न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥ ९९ ॥

वेदोंके स्वरों तथा अक्षरोंको अस्पष्ट उच्चारण करे तथा शूद्रोंके समीपमें (वेदोंका) अध्ययन न करे और रात्रिके अन्तिम प्रहरमें वेदाध्ययनसे थककर फिर न सोवे ॥ ९९ ॥

गायत्र्यादिका नित्य अध्ययन—

यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ।
ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥ १०० ॥

शास्त्रोक्त विधिसे गायत्री आदि छन्दोंके सहित मन्त्रमात्रका अध्ययन करे और आपत्तिरहित (स्वस्थ) ब्राह्मण ब्राह्मणभागसहित वेदमन्त्रोंका अध्ययन करे ॥

अनध्याय—

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् ।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥ १०१ ॥

वेदाध्ययन करनेवाला शिष्य और विधिपूर्वक वेदाध्यापन करनेवाला गुरु इन (४।१०२-१२७) अनध्यायोंको छोड़ दे (इन आगे निषेध किये हुए समयोंमें गुरु तथा शिष्य वेदोंका पढ़ाना और पढ़ना छोड़ दे) ॥ १०१ ॥

वर्षाकालिक अनध्याय—

कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने ।
एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥ १०२ ॥

वर्षा ऋतुकी रातमें सामान्यतः भी सुनाई पड़नेवाली (गोविन्दराजके मतसे 'अधिक वेगसे सुनाई पड़नेवाली') और दिनमें धूल उड़ानेवाली हवाके बहते रहने पर इन दोनोंको अध्यापनविधिके ज्ञाता वर्षाकालका अनध्याय कहते हैं ॥१०२॥

आकालिक अनध्याय—

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च सम्प्लवे ।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥ १०३ ॥

बिजली चमकते तथा मेघ गरजते हुए पानी बरस रहा हो, बड़ी २ उल्कायें इधर-उधर गिरती हों तो इनमें मनुने आकालिक (उक्त समयसे लेकर दूसरे दिन तक) अनध्याय कहा है ॥ १०३ ॥

एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु ।
तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥

वर्षा ऋतुमें होमके लिये अग्निको प्रज्वलित करते समय (सन्ध्या समय) एक साथ बिजली चमकने लगे, मेघ गरजने लगे और पानी भी बरसने लगे तब और अन्य ऋतुओंमें केवल बादलके भी दिखलाई पड़नेपर अनध्याय (काल) जाने ॥

सार्वकालिक अनध्याय—

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।
एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥ १०५ ॥

जब आकाशमें उत्पातसूचक ध्वनि हो, भूकम्प हो और ग्रहोंका परस्परमें सङ्घर्ष हो; तब वर्षाऋतुके न होनेपर भी (सब समयमें) आकालिक (उक्त समय में तथा अगले दिन) अनध्याय जाने ॥ १०५ ॥

सन्ध्याकालमें गरजने आदिपर अनध्याय—

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने ।
सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥ १०६ ॥

हवनके लिये अग्नि प्रज्वलित करनेपर बिजलीके चमकने और बादलके गरजनेपर (पानी बरसनेपर नहीं) जब तक (दिनमें सूर्यका तथा रात्रिमें चन्द्रका) प्रकाश रहे, तबतक अनध्याय माने । रात्रिमें बिजलीके चमकने, मेघके गरजने तथा पानी बरसनेपर दिनके समान (रात्रिमें भी) अनध्याय माने ॥ १०६ ॥

विमर्श—यहां समयका तीन विभाग किया गया है प्रथम विभागमें प्रातःकालीन हवन कर्मके लिये अग्निहोत्रकी अग्निको प्रज्वलित करनेपर बिजली चमके, बादल गरजे, किन्तु पानी न बरसे तो सूर्यके दर्शन होने तक (केवल दिनमात्रका) अनध्याय माने। द्वितीय विभागमें—सन्ध्याकालिक हवनकार्यके लिये अग्निहोत्रकी अग्निको प्रज्वलित करनेपर बिजली चमके, बादल गरजे, किन्तु पानी नहीं बरसे तो तारार्ओंके दर्शन होने तक (केवल रात्रिमात्र) अनध्याय माने। तृतीय विभाग में—रात्रिमें यदि शेष तीनों कार्य हों (बिजली चमके, बादल गरजे तथा पानी बरसे तो दिन-रात अनध्याय माने)।

ग्राम-नगरादिमें नित्य अनध्याय—

नित्यानध्याय एव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च।
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा॥ १०७॥

धर्म-निपुणताके इच्छुकोंके लिये ग्राम तथा नगरमें नित्य अनध्याय है और दुर्गन्धि आनेपर सर्वदा (विधाननिपुणताके इच्छुक तथा धर्म-निपुणताके इच्छुक दोनोंके लिये) अनध्याय है ॥ १०७ ॥

विमर्श—शिष्य दो प्रकारके होते हैं—प्रथम 'धर्मनैपुण्यकाम' अर्थात् वेदाध्ययनजन्य अदृष्ट फलके इच्छुक, तथा द्वितीय 'विद्यानैपुण्यकाम' अर्थात् विद्याकी अधिकताके इच्छुक। इन दोनोंमें प्रथम प्रकारके (धर्म-नैपुण्य-काम) शिष्यके लिये ग्राम या नगरमें कभी भी वेदाध्ययन करनेका निषेध है और द्वितीय प्रकारके (विद्या-नैपुण्य-काम) शिष्यके लिये दुर्गन्धि आनेपर वेदाध्ययन करनेका निषेध है।

मृतकयुक्त ग्रामादिमें अनध्याय—

अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च॥ १०८॥

ग्राममें मृतकके रहनेपर, अधार्मिकके पासमें रोनेका शब्द होनेपर और बहुत लोगोंके (कार्यवश) एकत्रित होनेपर (अनध्याय माने) ॥ १०८ ॥

जलादिमें अनध्याय—

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने।
उच्छिष्टः श्राद्धभुक्चैव मनसाऽपि न चिन्तयेत्॥ १०९॥

जलमें, आधी रातमें–मध्य रात्रिकी ८ घड़ियोंमें[1], गोविन्दराजके मतसे मध्य-रात्रिके दो प्रहरोंमें), मल-मूत्र करनेमें, उच्छिष्टावस्थामें (भोजनके बाद जबतक मुख धोकर शुद्ध न हो जाय तबतक) और श्राद्धके भोजनमें (निमन्त्रणके समयसे लेकर श्राद्धभोजनवाली दिन-रात तक) मनसे भी चिन्तन न करे (वेदाध्ययनका सर्वथा त्याग करे) ॥ १०६ ॥

एकोद्दिष्टके निमंत्रण लेने आदिमें अनध्याय—

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम्।
त्र्यहं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥ ११० ॥

एकोद्दिष्ट श्राद्धका निमंत्रण लेकर, राजाके (पुत्रादि जन्मादि प्रयुक्त) सूतकमें तथा राहुके सूतक (सूर्य-चन्द्रके ग्रहणोंमें) तीन दिन तक विद्वान् ब्राह्मण वेदाध्ययन न करे ॥ ११० ॥

श्राद्धके गन्धलेप रहने तक अनध्याय—

यावदेकानुद्दिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥ १११ ॥

जब तक विद्वान् ब्राह्मणके शरीरमें एकोद्दिष्टके कुङ्कुमादिका गन्ध या लेप रहे, तब तक वह वेदका अध्ययन न करे ॥ १११ ॥

लेटने आदि की अवस्थाओंमें अनध्याय—

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम्।
नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥ ११२ ॥

(शय्या पलङ्ग आदि पर) लेट कर, पैर फैलाकर घुटनों (टखनों) को नीचे की ओर मोड़कर और मांसको तथा सूतक (जन्म-मृत्यु-जन्य अशौच) के अन्न को खाकर वेदाध्ययन न करे ॥ ११२ ॥

नीहार-पतनादिमें अनध्याय—

नीहारे बाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः।
अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥ ११३ ॥

नीहार (कुहरा) गिरने पर, बाणोंका शब्द होने पर, दोनों (प्रातः-सायं) सन्ध्याओंमें; अमावास्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अष्टमी तिथियोंमें अध्ययन न करे ॥

१. "निशायां च चतुर्मुहूर्त्तम्" इति गौतमस्मरणात्। (म० मु०)

अमावास्यादिमें अध्ययन करनेसे दोष—

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥ ११४ ॥

अमावास्या गुरुका नाश करती है, चतुर्दशी शिष्यका नाश करती है और अष्टमी तथा पूर्णिमा ब्रह्म (वेद-शास्त्र ज्ञान) का नाश करती है; अतः उनका त्याग करे (उन तिथियोंमें न पढ़े) ॥ ११४ ॥

धूल्यादि की वृष्टि में अनध्याय—

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा ।
श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद् द्विजः ॥ ११५ ॥

धूलिकी वर्षा होने पर, दिग्दाह होने पर, गीदड़, कुत्ता, गदहा और ऊंटके रोनेका शब्द होने पर और उनकी पङ्क्तिमें बैठकर द्विज वेदाध्ययन न करे ॥११५॥

श्मशानादिके पासमें अनध्याय—

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ ११६ ॥

श्मशानके पासमें, ग्रामके पासमें, गोशालामें, मैथुनसमयका वस्त्र पहने हुए और श्राद्धके (सिद्ध पक्व) अन्नादिका दान लेकर अध्ययन न करे ॥ ११६ ॥

श्राद्धका दान लेनेपर अनध्याय—

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किञ्चिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।
तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥ ११७ ॥

श्राद्ध-सम्बन्धी जीव (गौ आदि) या निर्जीव (शय्या, वस्त्र, अन्न आदि) को हाथसे लेने पर भी अनध्याय होता है, क्योंकि ब्राह्मण पाण्यास्य (हाथ ही है मुख जिसका ऐसा) कहा गया है ॥ ११७ ॥

चौरादिके उपद्रवमें अनध्याय—

चोरैरुपद्रुते ग्रामे सम्भ्रमे चाग्निकारिते ।
आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥ ११८ ॥

ग्रामके चौर आदिके उपद्रवसे युक्त होनेपर, किसी प्रकारका संभ्रम (घबराहट) होने पर, आग लगने पर (आकाश, अन्तरिक्ष या पृथ्वी पर) कोई अद्भुत उत्पातादि होने पर 'आकालिक' (उस समयसे लेकर अगले दिन तक) अनध्याय जाने ॥ ११८ ॥

उपाकर्मादिमें त्रिरात्र अनध्याय—

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षपणं स्मृतम्।
अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु॥ ११९॥

उपाकर्म (श्रावणी कर्म) और उत्सर्ग (वेदोत्सर्ग ४।९६) कर्ममें तीन रात (दिन-रात) का अनध्याय होता है मार्गशीर्ष मासकी पूर्णिमाके बाद तीन (या चार) अष्टमी तिथियों और ऋतुके अन्तमें एक दिन-रातका अनध्याय होता है॥ ११९॥

विमर्श—'धर्मनैपुण्यकाम'—(४।१०७ का विमर्श देखें) के लिये यह (त्रिरात्रका) निषेध है, 'विधानैपुण्यकाम' के लिये (४।१०७ का विमर्श देखें) तो पक्षिणी रात्रि-मात्र (४।९७ का विमर्श देखें) ही अनध्याय होता है।

घोड़ा आदि पर चढ़े वेदाध्ययनका निषेध—

नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम्।
न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः॥ १२०॥

घोड़ा, पेड़, हाथी, नाव, गदहा और ऊंट पर चढ़कर; ऊसर स्थानमें रहकर तथा गाड़ी आदि पर सवार होकर (वेदाध्ययन न करे)॥ १२०॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे।
न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके॥ १२१॥

विवाद (वाचिक कलह-गालीगलौज आदि), कलह (दण्डादिप्रहार-मारपीट), सेना और युद्ध में, भोजन करने पर (जब तक धोया हुआ हाथ न सूख जाय तब तक[1]), अजीर्ण होनेपर, वमन करने पर और खट्टी डकार आने पर (वेदाध्ययन न करे)॥ १२१॥

अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम्।
रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते॥ १२२॥

अतिथिसे विना कहे, तेज हवाके वहते रहने पर, शरीरसे रक्त बहने पर, शस्त्रसे क्षत होने पर (वेदाध्ययन न करे)॥ १२२॥

सामवेदध्वनिकालमें वेदान्तरका अनध्याय—

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन।
वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च॥ १२३॥

सामवेदकी ध्वनि सुनाई पड़ते रहनेपर ऋग्वेद तथा यजुर्वेदका अध्ययन कदापि

---

१. "यावदार्द्रपाणिः—" इति वसिष्ठस्मरणात्, इति। (म० मु०)

न करे और वेदको समाप्तकर या आरण्यक (वेदका एक अंश विशेष) को पढ़कर (उसदिन-रातमें दूसरे वेदका अध्ययन न करे) १२३ ॥

तीन वेदोंकी देवतायें—

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥ १२४ ॥

ऋग्वेदकी देव, यजुर्वेदकी मनुष्य और सामवेद की पितर देवता हैं; इस कारण उस (सामवेद) की ध्वनि अपवित्र (के समान) है ॥ १२४ ॥

विमर्श—ऋग्वेदमें देवकर्म, यजुर्वेदमें मनुष्यकर्म तथा सामवेदमें पितृकर्म करने की विधियां प्रायः कही गयी हैं। पितृकर्म करनेके बाद जलसे आचमन कर शुद्ध होने का वचन शास्त्रोंमें मिलता है, अतः पितृकर्मोपदेशपरक सामवेदकी ध्वनि अपवित्र-सी वस्तुतःमें अपवित्र नहीं मानी गयी है इसी (सामवेदध्वनिके अपवित्रके समान होनेके) कारणसे उस समयमें ऋग्वेद तथा यजुर्वेदके अध्ययनका निषेध प्रकृत श्लोकद्वारा किया गया है। सामवेद अपवित्र न होनेके कारण ही भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे "वेदानां सामवेदोऽस्मि" (गीता १०।२२) कहकर सामवेदको सब वेदोंमें श्रेष्ठतम बतलाया है।

गायत्रीजपके बाद वेदपाठ—

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् ।
क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥

यह (४।१२४ श्लोकोक्त वेदत्रयके देवत्रयभाव) जानते हुए लोग तीनो वेदोंके सार (प्रणव, व्याहृति तथा सावित्री) को पहले क्रमशः अभ्यासकर बादमें वेदाध्ययन करते हैं ॥ १२५ ॥

पशु आदि बीचमें आने पर अनध्याय—

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

(वेदाध्ययन करते समय गुरु तथा शिष्यके) बीचमें गौ आदि पशु, मेढ़क, बिलाव (या बिल्ली), सर्प, नेवला और चूहाके आ जाने पर दिन-रात अनध्याय होता है ॥ १२६ ॥

दो अनध्याय मुख्यतः त्याज्य—

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥ १२७ ॥

द्विज अध्ययनके समय अपवित्र (मल-मूत्र-उच्छिष्टादिसे दूषित) स्थान तथा अपने शरीर की अपवित्रता—इन दो अनध्यायोंका प्रयत्नपूर्वक सर्वदा त्याग करे ॥ १२७ ॥

विमर्श—यह विकल्प 'विद्या-नैपुण्य-काम' (४।१०७ का वक्तव्य देखें) शिष्य के लिये है, अत एव (विद्या-नैपुण्य-काम) शिष्य अन्य अनध्यायोंको न मानकर केवल इन्हीं दो अनध्यायोंको माने, अथवा पूर्व (४।१०२-१२६) कथित अनध्यायों में जो नित्य अनध्याय हैं, उनको तथा प्रकृत श्लोक में कथित इन दो अनध्यायों को ही वेदाध्ययनके लिये त्याज्य माने, अन्य सामान्य अनध्यायों को नहीं ।

अमावस्यादिको स्त्री-सम्भोगका सर्वथा त्याग—

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ १२८ ॥

अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी तिथियोंमें स्त्रीके ऋतुकाल होनेपर भी गृही द्विज ब्रह्मचारी ही रहे ।

विमर्श—यद्यपि पहले (३।४५) ऋतुकाल में स्त्री-सम्भोगको आवश्यक बतला कर पुनः पर्व (अमावस्यादि तिथि) में उस (स्त्री-सम्भोग) का निषेध किया है, तथापि प्रकृत वचन स्नातकव्रतके लोपका प्रायश्चित्त बतलानेके लिये पुनः कहा गया है । इन अमावास्यादि तिथियोंके अतिरिक्त समयमें ऋतुकाल होने पर गृही (विशेषकर अनपत्य गृही) स्त्री-सम्भोग न करनेपर प्रायश्चित्तका[1] भागी होता है ।

तैल-मर्दन आदिके लिये वर्ज्य काल—

[षष्ठ्यष्टम्यौ त्वमावास्यामुभयत्र चतुर्दशीम् ।
वर्जयेत्पौर्णमासीं च तैले मांसे भगे क्षुरे ॥ ७ ॥]

[षष्ठी, अष्टमी, अमावास्या, चतुर्दशी और पूर्णिमा को तैल लगाना, मांस खाना, स्त्रीसंग करना और क्षौर कर्म करवाना छोड़ दे ॥ ७ ॥]

रागस्नानविषयक निषेध—

न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥

भोजनके बाद, रोगी रहने पर, महानिशा (रात्रिके मध्यवाले दो प्रहरों) में, बहुत वस्त्र पहने हुए और अज्ञात जलाशयमें (जिसमें पानीका थाह, गढा या

---

१. तथा च पराशरः—ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति ।
घोरायां भ्रूणहत्यायां पच्यते नात्र संशयः ॥" इति ।

पत्थर आदि और जलजन्तु आदिका रहना ठीक-ठीक मालूम न हों, उसमें) सर्वदा स्नान न करे ॥ १२९ ॥

विमर्श—भोजनके बाद नित्य स्नान की सम्भावना ही नहीं है तथा चाण्डालादिका स्पर्श होनेपर शक्ति रहते हुए मुहूर्तमात्र भी विना स्नान किये रुकने का निषेध होनेसे यह वचन ऐच्छिक स्नानविषयक[1] है। रोगी मनुष्य स्नान की शक्ति न रहे तो शिरको छोड़कर, केवल गीले वस्त्रसे शरीर पोंछ कर या देह पर पानी छिड़कना नैमित्तिक स्नान करे[2]। रात्रिके मध्य दो प्रहरको 'महानिशा' कहते हैं, उसमें नित्य या ऐच्छिक स्नानका ही निषेध है, काम्य या नैमित्तिक (चन्द्रग्रहणादि प्रयुक्त) स्नान तो करना चाहिये[3]।

देव प्रतिमादिकी छायाके उल्लङ्घनका निषेध—

देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा।
नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥ १३० ॥

देवप्रतिमा, गुरु (पिता आदि श्रेष्ठ जन), राजा, स्नातक, आचार्य, कपिल वर्णवाला और यज्ञमें दीक्षित मनुष्यों (अवभृथ स्नानके पूर्व तक) की छायाका इच्छापूर्वक उल्लङ्घन न करे ॥ १३० ॥

चौराहे पर ठहरनेका निषेध—

मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम्।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥

दोपहरमें, आधी रातमें, मांससहित श्राद्धान्न भोजन कर और दोनों (प्रातः तथा सायंकाल की) सन्ध्याओंमें चौराहे पर न जावे (बहुत समय तक न ठहरे) ॥ १३२ ॥

---

१. "मुहूर्तमपि शक्तिविषये नाप्रयतः स्यात्—" इत्यापस्तम्बवचनात्......यदृच्छास्नानमिदं भोजनानन्तरं निषिध्यते इति। (म० मु)

२. तथा रोगी नैमित्तिकमपि स्नानं न कुर्यात्, किन्तु यथासामर्थ्यम्।

"अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम्।
आर्द्रेण वाससा वा स्यान्मार्जनं दैहिकं विदुः ॥"

इत्यादिजाबालाद्युक्तमनुसन्धेयम्। इति। (म० मु०)

३. "महानिशाऽत्र विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयम्।
तस्मिन् स्नानं न कुर्वीत काम्यनैमित्तिकादृते ॥"

इति देवलवचनाच्च न तत्र स्नायात्। इति। (म० मु०)

उबटन आदिकी मैलपर ठहरनेका निषेध—

उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च।
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥ १३२ ॥

उबटन आदिकी मैल, स्नानका पानी, विष्ठा (मैला), मूत्र, रक्त, कफ (खकार), पान आदि का पीक और थूक तथा वमन किये गये अन्नादि पर न ठहरे (पैर न रखे या खड़ा न होवे) ॥ १३२ ॥

शत्रु आदिकी संगतिका निषेध—

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषिताम् ॥ १३३ ॥

शत्रु, शत्रुका सहायक, अधार्मिक, चोर और परस्त्री का संग न करे ॥१३३॥

परस्त्री-निन्दा—

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

इस संसारमें पुरुषकी आयुको क्षीण करानेवाला वैसा कोई कार्य नहीं है, जैसा दूसरेकी स्त्रीका सेवन करना है (अत एव उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये)॥१३४॥

क्षत्रिय तथा ब्राह्मणादिके अपमानका निषेध—

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम्।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥ १३५ ॥

(धन-गौ आदि सम्पत्तिसे) बढ़नेवाला मनुष्य क्षत्रिय, सर्प और बहुश्रुत ब्राह्मण ये यदि दुर्बल हों तो भी इनका अपमान न करे ॥ १३५ ॥

एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम्।
तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३६ ॥

अपमानित ये तीनों (क्षत्रिय, सांप और ब्राह्मण) अपमान करनेवाले पुरुष को को भस्म कर देते हैं, अतः बुद्धिमान् मनुष्य इनका अपमान कदापि न करे ॥१३६॥

विमर्श—इनमें क्षत्रिय तथा सर्प देखनेसे या क्षत्रिय शक्तिसे सर्प दंशन से और ब्राह्मण अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटनादि) कर्मोंसे अपमान करने वालेका बहुत अनिष्ट करते हैं।

आत्मापमानका निषेध—

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ १३७ ॥

पहले (उद्योग करने पर भी) समृद्धि न होने पर ('मैं मन्दभाग्य या अभागा हूं' इत्यादि प्रकारसे) अपना अपमान न करे, (किन्तु) मरने तक लक्ष्मीको चाहे (उन्नतिके लिये उद्योग करता ही रहे), और इसे (समृद्धि— संपत्तिको) दुर्लभ कभी न समझे ॥ १३७ ॥

सत्य तथा प्रिय भाषण—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

सत्य (जैसा देखा है वैसा) बोले, प्रिय (तुम्हें पुत्र हुआ है, तुम परीक्षामें उत्तीर्ण हो गये इत्यादि' प्रीतिजनक वचन) बोले, सत्य भी अप्रिय (जैसे— तुम्हारा पुत्र मर गया, तुम फेल हो गये इत्यादि दुःखजनक वचन) न बोले और प्रिय भी असत्य (बचन) न बोले; यही सनातन (वेदमूलक होनेसे अनादि कालसे चला आता हुआ) धर्म है ॥ १३८ ॥

दूसरेके कार्यको अच्छा कहना—

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥ १३९ ॥

(दूसरेके किये हुए किसी) बुरे या बिगड़े हुए कार्यको 'अच्छा' कहे, या 'अच्छा है' ऐसा सामान्यतः कहे, बिना मतलब किसीके साथ विरोध या झगड़ा न करे ॥ १३९ ॥

अज्ञात व्यक्तिके साथ गमन निषेध—

नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यन्दिने स्थिते ।
नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥ १४० ॥

बहुत सबेरे, बहुत साम होनेपर और बहुत दोपहरी होनेपर अज्ञात (कुल-शीलवाले) पुरुष तथा शूद्रोंके साथ अकेला न जावे ॥ १४० ॥

हीनाङ्ग आदिकी निन्दाका निषेध—

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोऽधिकान् ।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥

---

१. "तथा चापस्तम्बः—'नाभद्रमभद्रं ब्रूयात्पुण्यं प्रशस्तमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव' इति"। (म० मु०)

हीन (कम या अत्यंत छोटे) अङ्गवाले (यथा—लङ्गड़ा, लूला, वामन आदि), अधिक अङ्गवाले यथा—छांगुर आदि), मूर्ख, बहुत अधिक उम्रवाले, कुरूप, निर्धन और नीच जातिवालोंकी निन्दा न करे (लंगड़ा, काना, इत्यादि शब्दको उनके प्रति व्यवहारमें न लावे) ॥ १४१ ॥

जूठे मुंह गौ आदिके स्पर्श का निषेध—

न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान् ।
न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि ॥ १४२ ॥

उच्छिष्ट मुख (जूठे मुंह) रहकर (तथा मलमूत्र त्यागकर) गौ, ब्राह्मण और अग्नि का हाथसे न स्पर्श करे और अपवित्र रहते हुए स्वस्थावस्थामें आकाशमें सूर्य चन्द्रग्रह तारा आदि को न देखे ॥ १४२ ॥

उक्त स्पर्श करने पर प्रायश्चित्त—

स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् ।
गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥ १४३ ॥

अशुद्ध (जूठे मुंह रहकर तथा मल-मूत्र त्यागकर) इन (गौ, ब्राह्मण और अग्नि) का हाथसे स्पर्शकर पाणितल (तलहथी) पर पानी रखकर उससे प्राणों नेत्रादि इन्द्रियों (शिर, कन्धा, घुटना, चरणों) एवं सब सम्पूर्ण शरीर और नाभि का स्पर्श करे ॥ १४३ ॥

इन्द्रियों तथा गुप्त रोमोंके स्पर्शका निषेध—

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः ।
रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥ १४४ ॥

स्वस्थ रहते हुए विना कारण इन्द्रियों तथा गुप्त रोमों (कक्ष या उपस्थादिके बालों) का स्पर्श न करे ॥ १४४ ॥

मङ्गल द्रव्य तथा आचारसे युक्त रहना—

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥

मङ्गल (गोरोचनादि मङ्गल द्रव्य-विशेष) तथा आचार (गुरुसेवा आदि) से युक्त, बाहर (मिट्टी जलादिसे)—भीतर (राग-द्वेषादि-त्यागसे) शुद्ध, जितेन्द्रिय और निरालस होकर सर्वदा (गायत्री का) जप करे तथा हवन करे ॥

उक्ताचरणसे लाभ—

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

मङ्गल द्रव्य और आचारसे युक्त, नित्य बाहरी-भीतरी शुद्धि रखनेवाले, (गायत्री का) जप तथा हवन करते हुए द्विज का विनिपात (दैवकृत या मनुष्य कृत उपद्रव) नहीं होता है ॥ १४६ ॥

गायत्री आदिके जपकी श्रेष्ठता—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥

निरालस होकर यथासमय (मङ्गलकारक होनेसे नित्यकृत्यके समय) सर्वदा वेदका ही अभ्यास (गायत्री का जप) करे। मनु आदि आचार्यों ने उसी (गायत्रीके जप) को श्रेष्ठ धर्म कहा है और दूसरे को उपधर्म कहा है ॥१४७॥

सततवेदाभ्यासादिसे पूर्वजातिस्मरण—

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ १४८ ॥

(मनुष्य) निरन्तर वेदाभ्यास (गायत्री जप), पवित्रता, तपस्या और प्राणियोंके साथ द्रोह का अभाव (हिंसादिसे उन्हें दुःखित न करने) से पूर्व जाति का स्मरण करता है (उसे पूर्वजन्मकी बातें स्मरण होती हैं) ॥ १४८ ॥

पूर्वजातिस्मरणसे वेदाभ्यास द्वारा मोक्षलाभ—

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥

(इससे वह) पूर्वजाति का स्मरण करता हुआ, (जन्मजन्य जरामरणादि विविध क्लेशों का स्मरण करता हुआ उससे छुटकारा पानेके लिये) फिर ब्रह्मका ही (श्रवण, मनन और ध्यानके द्वारा) निरन्तर अभ्यास करता है और ब्रह्माभ्याससे परमानन्दकी प्राप्ति रूप अनन्त सुख (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥१४९॥

हवन अष्टकाश्राद्धादि कर्तव्य—

सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः।
पितॄंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥ १५० ॥

पर्वो (अष्टमी तथा पूर्णिमादि तिथियों) में सर्वदा सावित्रीदेवताक (सावित्री

है देवता जिसका ऐसा) (तथा अनिष्ट निवृत्तिके लिये) शान्ति हवनों को करे। अग्रहणके बाद कृष्णपक्षकी तीन अष्टमी तिथियोंमें अष्टकाख्य तथा उनके बादवाली नवमी तिथियोंमें अन्वष्टकाख्य श्राद्ध कर्मसे (स्वर्गगत) पितरों का अर्चन करे॥

अग्निगृहसे दूर मूत्रादि त्याग—

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
उच्छिष्टान्ननिषेकञ्च दूरादेव समाचरेत्॥ १५१॥

अग्निगृह अर्थात् अग्निहोत्र शालासे (नैर्ऋत्य दिशामें छोड़ा हुआ बाण जहां तक जाय उतनी[1]) दूरमें मूत्र (और मलका त्याग)करे, पाद प्रक्षालन करे, जूठे अन्न (पत्तल आदि) को फेंके तथा वीर्य त्याग करे॥ १५१॥

शौच दतुवन आदि पूर्वाह्णमें कर्तव्य—

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम्॥ १५२॥

मलत्याग, शरीर-संस्कार (शृङ्गार), स्नान, दतुवन, अञ्जन और देवताओं का पूजन पूर्वाह्णमें ही करे॥ १५२॥

विमर्श—यहां 'पूर्वाह्ण' शब्दसे रात्रिके पूर्वार्द्धका भी ग्रहण करना चाहिये। तथा प्रकृत श्लोकमें कार्यके क्रमका निर्देश न मानकर पदार्थ मात्रका निर्देश मानना चाहिये, अतएव दतुवनके बाद स्नान किया जाता है न कि स्नानके बाद दतुवन।

पर्वोंमें देवादि दर्शन—

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान्।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु॥ १५३॥

पर्वों (अमावस्या पूर्णिमा आदि तिथियों) में अपनी रक्षाके लिये देव प्रतिमा, धार्मिक, श्रेष्ठ ब्राह्मण, राजा और गुरु (पिता-आचार्यादि गुरुजन) के दर्शन के लिये जाया करे॥ १५३॥

वृद्धजनों का अभिवादनादि—

अभिवादयेद् वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम्।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात्॥ १५४॥

(गृह पर आये हुए) बड़े-बूढ़े लोगों का अभिवादन करे, अपना आसन

---

१. तदुक्तं विष्णुपुराणे—"नैर्ऋत्यामिषुविक्षेपमतीत्याभ्यधिकं भुवः।" इति।

उनको (बैठनेके लिये) दे, हाथ जोड़कर उनके सामने बैठे और उनके लौटनेके समय (कुछ दूरतक) पीछे २ जावे ॥ १५४ ॥

श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित स्व-धर्मका पालन—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५ ॥

वेदों तथा स्मृतियोंमें सम्यक् प्रकारसे कहे हुए, अपने कर्मों में धर्ममूलक आचारका सर्वदा निरालस होकर पालन करे ॥ १५५ ॥

आचार की प्रशंसा—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥

(मनुष्य) आचारसे (वेदोक्त दीर्घ) आयुको प्राप्त करता है, आचारसे अभिलषित सन्तान (पुत्र-पौत्रादि) को प्राप्त करता है और आचारसे अक्षय रहित (अत्यधिक) धनको प्राप्त करता है और आचार (शरीर आदिके) अनिष्ट लक्षणको नष्ट कर देता है ॥ १५६ ॥

दुराचार की निन्दा—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७ ॥

दुराचारी पुरुष संसार में निन्दित, सर्वदा दुःखभागी, रोगी और अल्पायु होता है ॥ १५७ ॥

सदाचारीकी सौ वर्ष आयु—

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥

सब लक्षणोंसे हीन भी जो मनुष्य सदाचारी, श्रद्धालु और असूया (दूसरेके दोष का कहने) से रहित है; वह सौ वर्ष तक जीता है ॥ १५८ ॥

पराधीन कार्य का त्याग तथा स्वाधीन कार्यकी कर्तव्यता—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥

जो २ पराधीन (धनादिसे साध्य) कार्य है, उसका यत्नपूर्वक त्याग करे

और जो २ स्वाधीन (अपने शरीर आदि से साध्य) कार्य है, उसे यत्न पूर्वक करे ॥ १५९ ॥

उक्त विषयमें हेतु कथनपूर्वक सुख-दुःखका लक्षण—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥

पराधीन सब कार्य दुःखका और स्वाधीन सब कार्य सुखका कारण है, संक्षेपसे इसे सुख-दुःखका लक्षण जाने ॥ १६० ॥

चित्तके सन्तोषप्रद कार्यकी कर्तव्यता—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१ ॥

जिस कार्यके करते रहनेसे अन्तरात्मा प्रसन्न हो, उस कार्य को प्रयत्नपूर्वक करे और उसके विरुद्ध कार्यका त्याग कर दे ॥ १६१ ॥

आचार्यादि की हिंसाका निषेध—

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान्गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥ १६२ ॥

आचार्य (२।१४०), वेदादिका व्याख्यानकर्ता, पिता, माता, गुरु (२।१४२), ब्राह्मण, गौ, और सब (प्रकारके) तपस्वी; इनकी हिंसा (इनके प्रतिकूल आचरण) न करे ॥ १६२ ॥

विमर्श—गोविन्दराजका मत है कि—"सामान्यतः हिंसाका निषेध करनेसे आततायी (श्लो० ८।३४-३५) के लिये भी इन (आचार्य आदि) की हिंसा का निषेध है", किन्तु यह अर्थ "गुरुं वा बालवृद्धौ वा" (८।३५०) वचनके विरुद्ध होनेसे अग्राह्य है।

नास्तिक्यादि का निषेध—

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥ १६३ ॥

नास्तिकता (ईश्वर-परलोकादि न मानना), वेदनिन्दा, देवनिन्दा, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध और क्रूरता का त्याग करे ॥ १६३ ॥

दूसरे को मारने आदिका निषेध—

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत् ।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ ॥ १६४ ॥

दूसरेके ऊपर दण्डा न उठावे तथा क्रोधकर दण्डेसे न मारे और पुत्र तथा शिष्य (और भार्या तथा दास आदि) को शिक्षा देनेके लिये ('रज्ज्वा वेणुदलेन वा' (८।२९९) के अनुसार) ताडन करे ॥ १६४ ॥

ब्राह्मण पर दण्डा उठाने का निषेध—

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया ।
शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते ॥ १६५ ॥

द्विजाति (भी) ब्राह्मणको मारनेके लिये केवल दण्डे को उठाकर (बिना उसे मारे) ही सौ वर्ष तक तामिस्र आदि नरकोंमें घूमता रहता है ॥ १६५ ॥

ब्राह्मणके ताडनसे निकृष्ट योनिंकी प्राप्ति—

ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥ १६६ ॥

क्रोधसे बुद्धिपूर्वक तृणसे भी ब्राह्मण का ताडनकर इक्कीस जन्म तक (ताडन कर्ता द्विजाति भी) पापयोनियों (कुत्ते-बिल्ली आदि की योनियों) में उत्पन्न होता है ॥ १६६ ॥

ब्राह्मणके देहसे रक्त गिराने पर दुःखप्राप्ति—

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः ।
दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्रज्ञतया नरः ॥ १६७ ॥

शास्त्राज्ञानके कारण मनुष्य युद्ध नहीं करनेवाले ब्राह्मणके शरीरसे (दण्ड-ताडनादि द्वारा) रक्त गिराकर मरने पर बहुत भारी दुःख पाता है ॥ १६७ ॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतलात् ।
तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते ॥ १६८ ॥

(दण्ड या खड्ग आदि शस्त्रसे क्षत होनेके कारण) ब्राह्मणके शरीरसे निकला हुआ रक्त पृथ्वी परसे जितने धूलि (के कण—द्व्यणुक) को ग्रहण करता है, रक्त बहानेवाले उस व्यक्ति को उतने वर्षों तक दूसरे (शृंगाल, कुत्ता, गीध आदि) खाते हैं—॥ १६८ ॥

न कदाचिद् द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि ।
न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक् ॥ १६९ ॥

—इस कारण विद्वान् मनुष्य ब्राह्मणके ऊपर दण्डा आदि कभी न उठावे, न

उसका तृणसे भी ताडन न करे और न उसके शरीरसे (शस्त्र-प्रहारादि द्वारा) रक्त बहावे ॥ १६९ ॥

अधार्मिक आदिको सुखकी अप्राप्ति—

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥

जो अधार्मिक (शास्त्रविरुद्ध आचरण करनेवाला) है, जिसका झूठ बोलना ही धन है (जो झूठी गवाही देकर पैसा या घूस लेता है) और परपीडनमें संलग्न है; वह मनुष्य इस लोकमें सुखी होकर उन्नति नहीं करता है ॥ १७० ॥

अधर्मसे मनको हटाना—

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥ १७१ ॥

अधार्मिक पापियोंके (धन-धान्यादि समृद्धिका) शीघ्र ही विपर्यय (उलटा-विनाश) देखता हुआ मनुष्य धर्मके कारण दुःखित होता हुआ भी अधर्ममें बुद्धिको कभी भी नहीं लगावे ॥ १७१ ॥

अधर्मसे धीरे २ समूल नाश—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १७२ ॥

किया हुआ अधर्म भूमि या गौके समान तत्काल फल नहीं देता है, किन्तु धीरे २ फलोन्मुख होता हुआ (वह अधर्म) कर्ताकी जड़को ही काट देता है ॥

विमर्श—यहां पर 'गौ' शब्दका अर्थ भूमि तथा गाय आदि पशु है, पृथ्वी जैसे बोये गये बीजका फल तत्काल नहीं देती, किन्तु धीरे २ फलोन्मुख होती हुई समय आनेपर ही देती है; यह अधर्मके साथ 'साधर्म्य' दृष्टान्त है। तथा जिस प्रकार गाय दूध आदिसे या बैल आदि भार ढोने आदिसे तत्काल (थोड़े समयके बाद ही) फल देते हैं (उस प्रकार अधर्म तत्काल फल नहीं देता), यह 'वैधर्म्य' दृष्टान्त है। द्व्यर्थक 'गौ' शब्दसे साधर्म्य तथा वैधर्म्य रूप यह दृष्टान्त देकर अधर्मके द्वारा तत्काल फलकी अप्राप्ति प्रदर्शित की गयी है।

अधर्मकर्ताके पुत्रपौत्रादितक अवश्य फलप्राप्ति—

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥

यदि अधर्मका फल स्वयं (अधर्म करनेवालेको) नहीं मिलता, तो पुत्र को

मिलता है और यदि उसके पुत्रको नहीं मिलता तो पौत्रोंको अवश्य मिलता है; क्योंकि किया गया अधर्म कभी निष्फल नहीं होता है ॥ १७३ ॥

अधर्मोन्नतिके बाद समूल नाश—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥

मनुष्य अधर्मकर (दूसरेसे वैर बांधकर, झूठी गवाही आदि देकर) पहले उन्नति करता है, बाद कल्याण (बान्धव, भृत्य, धन-धान्यादिका सुख) देखता है फिर शत्रुओं पर विजय पाता है और (कुछ समयके बाद ही) समूल (बान्धव, भृत्य और धन-धान्यादिके सहित) नष्ट हो जाता है ॥ १७४ ॥

सत्यभाषणादि तथा शिष्यशासनादि—

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५ ॥

सत्य, धर्म, सदाचार और पवित्रतामें सर्वदा अनुराग (श्रद्धा) करे तथा वचन, बाहु और उदर (पेट) के विषयमें संयत रहता हुआ शिष्यों (शासनके योग्य स्त्री, दास, पुत्रादि तथा छात्रों) का धर्मसे (८।२९९) शासन (दण्डित) करे ॥ १७५ ॥

विमर्श—सत्य, मृदु तथा प्रिय वचन कहना एवं असत्य कटु तथा अप्रिय वचन नहीं बोलना 'वाक्संयम', ईर्ष्या क्रोधादिके वशमें होकर दूसरेको अनुचित रूपसे पीडित नहीं करना 'बाहुसंयम' और शरीरको विशेष कष्ट पहुंचाये बिना तथा दूसरेको पीड़ित किये बिना भगवदिच्छासे भोजनकालमें जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसे ही खाकर सन्तुष्ट रहना 'उदरसंयम' है ।

धर्मविरुद्ध अर्थ कामादिका त्याग—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥

जो अर्थ और काम धर्मविरुद्ध (अर्थ यथा—चोरी आदिके द्वारा धनसंग्रह करना । काम, यथा—दीक्षाके दिन यजमानका स्त्रीसंभोग करना आदि) हैं, उनका त्याग करे, भविष्यमें दुःख देनेवाले धर्मकार्य (यथा—स्त्रीपुत्रपौत्रादियुक्त पुरुषका सर्वस्वका दान देना आदि) का भी त्याग करे और लोकनिन्दित धर्मकार्य (यथा—कलियुगमें अष्टकादि श्राद्धमें गोवधादि या नियोग (९।५९-६१) द्वारा सन्तानोत्पादन आदि) का भी त्याग करे ॥ १७६ ॥

हस्तचापलादिका निषेध—

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः ।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥

हस्तचपल (बिना पूछे या कहे किसीकी कोई वस्तु लेना या चुराना), पादचपल (निष्प्रयोजन इधर-उधर घूमते रहना), नेत्रचपल (परस्त्री आदिको बुरी दृष्टिसे देखना), कुटिल, वाक्चपल (किसीकी निन्दा या व्यर्थ बकवाद करना) और दूसरोंके साथ द्रोह या हिंसाका विचार रखनेवाला न बने ॥ १७७ ॥

शास्त्रोंके विविध विकल्पोंमें कर्तव्य—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ १७८ ॥

(अनेक प्रकारके शास्त्रीय विकल्पों या अर्थोंके कारण संदेह उपस्थित होनेपर मनुष्य) जिस मार्गसे इसके पिता और पितामह (बाप-दादा) चले हैं, (उन अनेक विकल्प धर्मकार्योंमें-से जिस धर्मकार्यको किये हैं), उसी सज्जनोंके मार्गसे चले; ऐसा करनेसे मनुष्य अधर्मसे हिंसित (पीडित) नहीं होता है (उस कार्यके धर्मानुकूल होनेसे वह मनुष्य दुःखित नहीं होता है) ॥ १७८ ॥

ऋत्विज आदिसे बकवादका निषेध—

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥ १७९ ॥

ऋत्विक् (२।१४३), पुरोहित, आचार्य (२।१४०), मामा, अतिथि, आश्रित (भृत्यादि), बालक, वृद्ध, रोगी, वैद्य, जातिवाला, सम्बन्धी (जामाता, शाला आदि), बान्धव (मातृपक्षवाले)—॥ १७९ ॥

मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

माता, पिता, जामि, (बहन, पुत्रवधू आदि कुलस्त्री), भाई, पुत्र, स्त्री, पुत्री, दास-समूहसे विवाद (वाक्कलह, बकवाद आदि) न करे ॥ १८० ॥

उक्तकार्यकी प्रशंसा—

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वाँल्लोकानिमान्गृही ॥ १८१ ॥

इन (४।१७९-१८०) के साथ विवाद करना छोड़कर मनुष्य सब (अज्ञात) पापोंसे छूट जाता है और इन (विवादों) को जीतकर (इन विवादोंको वशमें करके अर्थात् इनके साथ विवाद करना छोड़कर) गृहस्थ इन (४।१८२-१८४) सब लोकोंको प्राप्त करता है—॥ १८१ ॥

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।
अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥ १८२ ॥

आचार्य ब्रह्मलोकका, पिता प्रजापति लोकका, अतिथि इन्द्रलोकका, ऋत्विज देवलोकका—॥ १८२ ॥

जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।
सम्बन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥

जामि (बहन या पुत्रवधू आदि कुलस्त्री), अप्सरालोक का बान्धव (मातृपक्षवाले) वैश्वदेवलोकका, सम्बन्धी वरुणलोकका और माता तथा मामा भूलोकका-॥१८३॥

आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः ।
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥ १८४ ॥

बालक, वृद्ध, दुर्बल और रोगी आकाशलोकके स्वामी हैं (अतएव इन आचार्य आदि (४।१८२ से यहां तक वर्णित लोगों) के साथ वाक्कलह (बकवाद) नहीं करनेपर वे लोग सन्तुष्ट होकर अपने २ लोकों (ब्रह्मलोक आदि) को देते हैं । बड़ा भाई पिताके समान है तथा स्त्री और पुत्र तो अपने शरीर ही हैं (अतः इनके साथ विवाद करना सर्वथा निन्द्य है)—॥ १८४ ॥

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥

दाससमूह अपनी छाया है, कन्या (पुत्री) अत्यन्त कृपापात्र है (अतः ये भी विवादके योग्य नहीं है) । इस कारण इनसे तिरस्कृत होकर भी सन्तापरहित होकर सर्वदा सहन करे, (किन्तु विवाद न करे) ॥ १८५ ॥

दान लेनेसे ब्रह्मतेजका क्षय—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥

(विद्या तप आदिके कारण) दान लेनेमें समर्थ होता हुआ भी (यथाशक्य) उसके प्रसङ्गका त्याग करे (परिवारादिके पालन चलते रहनेपर भी बारबार लोभ-

वश दान न लेवे); क्योंकि इस (दान लेनेवालेका) ब्रह्मतेज दान लेनेसे शीघ्र शान्त हो जाता है (दान लेनेसे ब्राह्मण तेजोहीन हो जाता है)॥ १८६ ॥

विधिको न जाननेवालेको दान लेनेका निषेध—

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥

द्रव्योंके दान लेनेमें उनकी धर्मयुक्त विधि (ग्राह्य देवता, प्रतिग्रहमन्त्र आदि) को बिना जाने भूखसे पीडित होता हुआ भी बुद्धिमान् ब्राह्मण दानको न ले (फिर आपत्तिसे हीन रहनेपर तो कहना ही क्या ? अर्थात् तब तो कदापि दान न ले) ॥

मूर्खको स्वर्णादि-दान लेनेका निषेध—

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम्।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १८८ ॥

सुवर्ण, भूमि, घोड़ा, गौ, अन्न, वस्त्र, तिल और घीका दान लेता हुआ मूर्ख ब्राह्मण (अग्निसे) काष्ठके समान भस्म हो जाता है। (अतः सुवर्ण आदिका दान तो मूर्ख कभी न ले) ॥ १८८ ॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम्।
अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥ १८९ ॥

दान लेनेवाले मूर्खकी सुवर्ण और अन्न आयुको, भूमि और गौ शरीरको, घोड़ा नेत्रको, वस्त्र त्वचा (चमड़े) को, घी तेजको और तिल संतानोंको भस्म कर देते हैं। (मूर्खद्वारा दानमें लिये हुए ये सुवर्ण आदि उस दान लेनेवाले मूर्खकी आयु आदिको भस्म अर्थात् नष्ट कर देते हैं) ॥ १८९ ॥

उक्त विषयमें दृष्टान्त—

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥

तप और विद्यासे हीन जो ब्राह्मण दान लेना चाहता है, वह उस (दान लेने या दान लेनेकी इच्छामात्र) के साथ उस प्रकार नरकमें डूबता है, जिस प्रकार पत्थरकी नाव (पर चढ़नेवाला मनुष्य उस) के साथ पानीमें डूब जाता है ॥१९०॥

विमर्श—जिस प्रकार पत्थरकी नावपर चढ़कर पानीमें जानेवालेका नाश अवश्यम्भावी है उसी प्रकार सुवर्ण आदिका दान लेनेवाले तप एवं विद्यासे हीन व्यक्तिका नाश अवश्यम्भावी है।

मूर्खको सामान्य वस्तुके दान लेनेका भी निषेध—

तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् ।
स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥ १९१ ॥

इस कारण मूर्ख ब्राह्मण जिस किसी (सुवर्ण भूमि आदिसे न्यून सीसा-पीतल आदि) वस्तुका भी दान लेनेसे डरे (न लेवे); क्योंकि थोड़े दानके लेनेसे भी मूर्ख ब्राह्मण कीचड़में (फंसी) गौके समान दुःखित होता है ॥ १९१ ॥

वैडालव्रतिक आदिको दान देनेका निषेध—

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥

धर्मज्ञ गृहाश्रमी वैडालव्रतिक (४।१९५ तथा द्रो० ४।८), वकव्रतिक (४।१९६) और वेदको नहीं जाननेवाले ब्राह्मणके लिये पानी भी न दे ॥१९२॥

विमर्श—बलिकर्ममें कौवे आदि तकके लिये जो वस्तु दी जाती है, वह वस्तु भी वैडालव्रतिक आदिके लिये धर्मतत्त्वको जाननेवाला दाता दानबुद्धिसे न देवे, ऐसा इस श्लोकका आशय है, केवल जलदानमात्रका निषेध नहीं है। 'पाखण्डिनो विकर्मस्थान्" (४।३०) के अनुसार अतिथि मानकर तो वैडालव्रतिक आदि ब्राह्मणके लिये भी अन्न आदि देना ही चाहिये, किन्तु सत्कारपूर्वक धन नहीं देना चाहिये। अतएव अग्रिम 'विधिनाऽप्यर्जितं धनम्' (४।१९३) वचन भी विरोधसे रहित हो जाता है।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाऽप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥

इन तीनों (वैडालव्रतिक, वकव्रतिक और वेदज्ञानहीन) के लिये दिया गया विधिपूर्वक भी उपार्जित धन दानकर्ता तथा दानग्रहीताके लिये परलोकमें अनर्थ (नरकप्राप्ति) के लिये होता है ॥ १९३ ॥

उक्त विषयमें दृष्टान्त—

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥

जिस प्रकार पानीमें पत्थरकी नावसे तैरता हुआ व्यक्ति उस (नाव) के साथ ही डूब जाता है, उसी प्रकार मूर्ख दान लेनेवाला तथा दानकर्ता दोनों (नरकमें) डूबते हैं ॥ १९४ ॥

वैडालव्रतिकका लक्षण—

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः॥ १९५॥

धर्मध्वजी (अपनी प्रसिद्धिके लिये धर्मरूपी ध्वजाको फहरानेवाला), लोभी, कपटी, संसारको ठगनेवाला (किसीकी धरोहर नहीं वापस करनेवाला आदि), हिंसक और दूसरोंके गुणका सहन नहीं करनेसे उनकी निन्दा करनेवाला 'विडाल-व्रतिक' कहा गया है॥ १९५॥

विमर्श—जिस प्रकार चूहोंको पकड़ने आदिके लिये बहुत शान्त एवं ध्यानस्थ-सी रहती हुई बिल्ली अवसर पाते ही उन्हें पकड़कर खा जाती है, उसी प्रकार यह 'वैडालव्रतिक' भी दूसरोंको धोखा देकर अपना काम बनानेके लिये धर्मका स्वाङ्ग रचता है, परन्तु वस्तुतः धर्मात्मा नहीं होता।

[यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरध्वज इवोच्छ्रितः।
प्रच्छन्नानि च पापानि वैडालं नाम तद् व्रतम्॥ ८॥]

[जिसकी धर्मरूपी ध्वजा देवध्वजाके समान ऊंची रहती है और जिसके छिपे बहुत पाप रहते हैं; वह 'वैडालव्रत' है॥ ८॥]

वकव्रतिकका लक्षण—

अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः॥ १९६॥

(अपनी साधुता-प्रसिद्धिके लिये सर्वदा) नीचे देखनेवाला, निष्ठुरताका व्यवहार करनेवाला, अपने मतलबको सिद्ध करनेमें तत्पर, शठ, कपटयुक्त (झूठा) विनयवाला द्विज 'बकव्रतचर' (वकव्रतिक) कहा गया है॥ १९६॥

विमर्श—जिस प्रकार मछलियोंको पकड़नेके लिये ध्यानस्थ मुनिके समान नीचेकी ओर देखता हुआ अपने मतलब (मछलियोंको पकड़कर खाना) में तत्पर बगुला झूठा विनीतके समान दीखता है, उसी प्रकार इस 'बकव्रतिक' को समझना चाहिये। इसी प्रकारके मनुष्यको लोग "बगुला भगत" कहते हैं।

वकव्रतिक तथा वैडालव्रतिकको नरकप्राप्ति—

ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा॥ १९७॥

जो ब्राह्मण बकव्रतिक (४।१९६) तथा वैडालव्रतिक (४।१९५) हैं, वे उस पाप कर्मसे 'अन्धतामिस्र' नामके नरकमें गिरते हैं॥ १९७॥

प्रायश्चित्तमें वञ्चनाका निषेध—

न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत्।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥ १६८ ॥

धर्मसे पापको छिपाकर (मेरा पाप चान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रतरूप प्रायश्चित्तोंसे छूट जायेगा ऐसा समझकर) स्त्रियों तथा शूद्रों (धर्मके अनभिज्ञों) के सामने पाखण्ड करता हुआ मनुष्य धर्मके बहानेसे (मैं धर्मके लिये इन चान्द्रायणादि व्रतोंको कर रहा हूं, यह प्रायश्चित्त नहीं है, इस प्रकारके बहानेसे) पाप को न करे ॥ १९८ ॥

कपटसे व्रताचरणकी निन्दा—

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः।
छद्मनाऽऽचरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ १६६ ॥

ब्रह्मवादी लोग ऐसे (धर्मके बहाने प्रायश्चित्तरूप चान्द्रायणादि व्रत करनेवाले) ब्राह्मणोंकी इस लोकमें और परलोकमें भी निन्दा करते हैं तथा कपटसे किया गया जो व्रत है, वह राक्षसोंको प्राप्त होता है ॥ १९६ ॥

कपटसे व्रति-चिह्न धारण करनेकी निन्दा—

अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति।
स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥ २०० ॥

ब्रह्मचारी या संन्यासी आदि नहीं होता हुआ भी जो उनके चिह्न (दण्ड-कमण्डलु-कषायवस्त्रादि) को धारणकर वृत्ति (उन चिह्नोंसे लोगोंमें विश्वास पैदाकर उनसे भिक्षादि लेता हुआ अपनी जीविका) चलाता है, वह ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि लिङ्गधारियोंके पापको लेता है तथा (मर कर) तिर्यग्योनिमें उत्पन्न होता है ॥ २०० ॥

दूसरोंके बनवाये हुए जलाशयमें स्नान करनेमें—

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥

दूसरोंके बनवाये हुए जलाशय (पोखरा, बावडी, कूआ आदि) में कभी भी स्नान न करे। और स्नानकर उक्त जलाशय बनवानेवालेके पापके (चौथाई) भागसे (स्नान करनेवाला मनुष्य) युक्त होता है ॥ २०१ ॥

विमर्श—प्राकृतिक बावड़ी आदिके न मिलनेपर यह निषेधवचन है, प्राकृतिक बावड़ी आदिके न मिलनेपर तथा जलाशयकर्ताके द्वारा सर्वसाधारण जनके लिये जलाशयमें स्नानादिके लिये त्याग न करनेपर उस जलाशयमेंसे स्नानके पहले पांच मृत्पिण्डको निकालकर स्नान करना चाहिये, यदि जलाशयके निर्माणकर्ताने सर्वसाधारणके लिये स्नानादिकी छूट दे दी हो तब विना पांच मृत्पिण्ड निकाले भी स्नान करनेमें दोष नहीं है।

[सप्तोद्धृत्य ततः पिण्डान्कामं स्नायाच्च पञ्चधा।
उदपानात्स्वयं ग्राहाद्बहिः स्नात्वा न दुष्यति ॥ ६ ॥]

[दूसरेके बनवाये जलाशयोंसे पांच या सात मृत्पिण्ड निकालकर स्नान करे या जलाशय से पानी निकालकर बाहर स्नानकरने वाला दोषभागी नहीं होता है ॥ ९ ॥]

दूसरोंकी सवारी, शय्या आदिके उपभोगका निषेध—

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च।
अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥ २०२ ॥

(दूसरोंके) सवारी (गाड़ी, रथ और घोड़ा आदि), शय्या (चारपाई, पलंग और चौकी आदि), आसन, कूंआ, उद्यान (बगीचा, फुलवाड़ी आदि) और घरको विना दिये हुए उपभोग करनेवाला (उनके—सवारी आदिके स्वामीके) चतुर्थांश पापका भागी होता है ॥ २०२ ॥

नदी आदिमें स्नानादिका विधान—

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥ २०३ ॥

नदियों (साक्षात् या सहायक नदियोंके द्वारा समुद्रगामिनी नदियों) में, देवखात (देव-सम्बन्धसे प्रसिद्ध) तडागोंमें, सरों (तालों या दहों) में, गर्तोंमें और झरनोंमें सदा स्नान करे ॥ २०३ ॥

विमर्श—इस श्लोकको व्याख्यामें मन्वर्थमुक्तावलीकारने 'देवखातेषु' शब्दको 'तडागेषु' का विशेषण माना है; किन्तु 'स्नायान्नदीदेवखातह्रदप्रस्रवणेषु च ॥' (या० स्मृ० १।१५९) की व्याख्यामें मिताक्षराकारने 'देवखात' शब्दको स्वतन्त्र रूपसे जलाशयवाचक मानकर 'देवनिर्मित पुष्करादि' तथा वीरमित्रोदयकार मित्र,

मिश्र' ने "देव-सम्बन्धिभावसे प्रसिद्ध देवह्रदादि या सूर्यादिसमीपस्थ खात" अर्थ किया है[1]। गर्त—जिनकी गति ३२००० हाथ = १$\frac{१}{६}$ मीलसे कम हो, उन्हें 'गर्त' कहते हैं[2]।

यम-सेवनकी प्रधानता—

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥ २०४ ॥

विद्वान् यमोंका सर्वदा सेवन करे, नियमोंका नित्य सेवन न करे। यमोंके सेवनको नहीं करता हुआ केवल नियमोंका ही सेवन करनेवाला पतित (भ्रष्ट—नीच) होता है ॥ २०४ ॥

विमर्श—याज्ञवल्क्यके मतानुसार "ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्य, अकुटिलता, अहिंसा, अचौर्य, मधुरता, और इन्द्रिय-दमन"—ये १० 'यम' तथा "स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, इन्द्रिय-निग्रह, गुरुसेवा, पवित्रता, अक्रोध और अप्रमाद" ये १० 'नियम' हैं[3]। मेधातिथि तथा गोविन्दराजने हिंसादिका त्याग 'यम' और वेदाभ्यास (मनु ४।१४७) 'नियम' है, ऐसी व्याख्या इस श्लोककी की है। किसी २ आचार्यके मतसे 'अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अकुटिलता और अचौर्य' ये ५ "यम" तथा 'अक्रोध, गुरुसेवा, पवित्रता, स्वल्पाहार और सर्वदा

---

१. प्रकृतश्लोकस्य व्याख्यायां 'देवखातेष्विति तडागविशेषणम्' इति म० मु०। "स्नायान्नदी—" (या० स्मृ० १।१५९) इत्यस्य व्याख्यां मिताक्षराकारः—"नद्यादिषु कथन्तर्हि स्नायादित्याह—स्नायान्नदीति। साक्षात्परम्परया वा समुद्रगाः स्रवन्त्यो नद्यः, देवखातं देवनिर्मितं पुष्करादि, उदकप्रवाहाभिघातकृतसजलो महानिम्नप्रदेशो ह्रदः, पर्वताद्युच्चप्रदेशात्प्रसृतमुदकं प्रस्रवणम्······" इति। तत्रैव मित्रमिश्रश्च-"देवसम्बन्धितया प्रसिद्धं देवह्रदादि सूर्यादिसमीपस्थखातं वा" इति।

२. तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—

धनुःसहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते।
न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ताः परिकीर्तिताः ॥" इति (म० मु०)।

३. तदुक्तम्—"ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता।
अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये दमश्चेति 'यमाः' स्मृताः ॥
स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः।
'नियमा' गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधप्रमादताः ॥" इति।
(या० स्मृ० ३।३१२-३१३)

प्रमादशून्यता' ये ५ 'नियम' हैं[1]। एवं भगवत्पतञ्जलिके मतसे 'अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह' ये ५ 'यम' तथा 'पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वारप्रणिधान' ये ५ 'नियम' हैं[2]।

संक्षेपमें 'परस्त्री-गमन न करे, मदिरा न पिये इत्यादि निषेधपरक वचन-प्रतिपादित कर्म "यम" तथा 'नित्य सन्ध्योपासन करे, वेदका स्वाध्याय सर्वदा करे इत्यादि विधिपरक वचन-प्रतिपादित कर्म "नियम" हैं। प्रकृत श्लोकके द्वितीय पाद ('न नित्यं नियमान् बुधः') से नियमोंका निषेध नहीं किया गया है, अपितु 'नियमों'की अपेक्षा 'यमों' की नित्यता कही गयी है। 'यम' सेवनके अभावमें ब्राह्मणादिके पतित होनेसे 'नियम' सेवनका उसे अधिकार ही नहीं रह जाता, किन्तु 'नियम' सेवनके अभावमें ऐसी बात नहीं है; ऐसा 'नेने शास्त्री'का अभिमत है।

यमके लक्षण—

[आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा ।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश ॥ १० ॥

[अक्रूरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, इन्द्रिय-दमन, अस्पृहा, ध्यान, प्रसन्नता, मधुरता और सरलता—ये 'यम' हैं ॥ १० ॥

अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता ।
अस्तेयमिति पञ्चैते यमाश्चोपव्रतानि च ॥ ११ ॥

अहिंसा, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य, अकुटिलता, अचौर्य—ये ५ उपव्रत तथा 'यम' हैं ॥ ११ ॥

नियमके लक्षण—

शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ ।
व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमा दश ॥ १२ ॥

पवित्रता, यज्ञ, तपस्या, दान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास, मौन और स्नान—ये १० 'नियम' हैं ॥ १२ ॥

---

१. तदुक्तम्—"अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता ।
अस्तेयमिति पञ्चैते 'यमा' वै परिकीर्तिताः ॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।
अप्रमादश्च सततं पञ्चैते 'नियमाः' स्मृताः ॥" इति । (म० मु०)

२. "तत्राहिंसासत्यास्त्येयब्रह्मचर्यापरिग्रहा 'यमाः' । शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि 'नियमाः' ।" इति (यो० सू० २।३१-३२)

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
अप्रमादश्च नियमाः पञ्चैवोपव्रतानि च ॥ १३ ॥]

अक्रोध, गुरुसेवा, पवित्रता, लघुभोजन और अप्रमाद ये ५ उपव्रत तथा 'नियम' हैं ॥ १३ ॥]

अश्रोत्रियादिके द्वारा कराये यज्ञमें भोजननिषेध—

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥

विना वेदज्ञाताके द्वारा तथा बहुतोंको यज्ञ करानेवाले (वेदज्ञाता) के द्वारा कराये गये यज्ञमें और स्त्री तथा नपुंसक जिसमें हवन कर्ता हों; ऐसे यज्ञमें ब्राह्मण कभी भी भोजन न करे ॥ २०५ ॥

अश्लीकमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः।
प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥

जिस यज्ञ में ये लोग (स्त्री, नपुंसक, बहुयाजक आदि) हवन करते हैं, वह यज्ञ कर्म सज्जनोंकी श्रीका नाशक और देवताओंके प्रतिकूल है; अतः उसे छोड़ देना चाहिये ॥ २०६ ॥

अभक्ष्य अन्न—

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन।
केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ २०७ ॥

मतवाले, क्रुद्ध (क्रोधयुक्त) और रोगीके अन्नको, एवं केश या कीट (कीड़े) से दूषित अन्नको तथा इच्छापूर्वक पैरसे छुए गये अन्न को कभी न खावे—॥२०७॥

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया।
पतत्रिणाऽवलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥

गर्भहत्या (गोहत्या, ब्रह्महत्या भी) करनेवालेसे देखे हुए, रजस्वला स्त्रीसे छुए (स्पर्श किए) गये, पक्षी (कौवा आदि) से आस्वादित और कुत्तेसे छूए गये (अन्नको न खावे)—॥ २०८ ॥

गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः।
गणान्नं गणिकाऽन्नं च विदुषा च जुगुप्सितम् ॥ २०९ ॥

गौके सूंघे हुए और विशेषरूपसे किसीके लिये ('अमुकके लिये यह अन्न है' इत्यादि रूपसे) घोषित, अन्नको, समूह (शठब्राह्मण-समूह) के अन्नको, वेश्या के अन्नको और विद्वान्से निन्दित अन्नको (न खावे)—॥ २०९ ॥

स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च।
दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च॥ २१०॥

चोर, गायक (मल्लिक, गन्धर्व आदि), बढ़ई, व्याजखोर, यज्ञमें दीक्षित (अग्निषोमीयके पहले), कृपण और निगड (हथकड़ी आदि) से बंधे हुए—इनके (अन्नको न खावे)—॥ २१० ॥

विमर्श—गोविन्दराज का मत है कि निगड (लोहे की जंजीर) से बंधे हुए या बिना लोहेके भी बंधे हुए के भी अन्नको नहीं खावे।

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च।
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च॥ २११॥

—लोकमें महापातक (११।५४-५८) आदि दोषोंसे लाञ्छित, नपुंसक, व्यभिचारिणी और दम्भी के अन्नको तथा शुक्त, और बासी अन्नको एवं शूद्रके तथा किसीके भी जूठे अन्नको न खावे—॥ २११ ॥

विमर्श—दम्भी-कपटपूर्वक (लोगों को दिखानेके लिये) धर्माचरण करनेवाला, यथा–वैडालव्रतिक (४।१९५), वकव्रतिक (४।१९६) आदि। शुक्त—पात्र या किसी संसर्गसे खट्टी हुई दही आदि मधुर वस्तु। पर्युषित (बासी)—जिसे बनाये एक रात बीत चुकी हो।

चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः।
उग्रान्नं सूतिकाऽन्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम्॥ २१२॥

—वैद्य, शिकारी या व्याधा, क्रूर, जूठा खानेवाला, उग्र स्वभाववाला, इनके अन्नको एवं सूतिकाके उद्देश्यसे बनाये हुये अन्नको, पर्याचान्त अन्नको और सूतकके अन्नको न खावे—॥ २१२ ॥

विमर्श—वैद्य—जो वैद्य जीविकाके लिये चिकित्सा करता ह, उसके अन्नको खाने का इस वचनसे निषेध है, किन्तु इसके विपरीत परोपकार की भावनासे जो चिकित्सा करता हो, उस वैद्यके अन्नको खानेमें दोष नहीं है। मृगयु—जो वधिक या शिकारी मांस बेचनके लिये प्राणिवध करता हो। पर्याचान्तान्न—एब पंक्तिमें, अनेक लोगोंके भोजन करते रहनेपर बीचमें ही यदि कोई आचमन करने (मुख धोने) लगे, वह अन्न 'पर्याचान्त' है। अनिर्दश—जिस सूतक (मरण शौच) को दश दिन नहीं बीते हों, उसके अन्नको नहीं खावे।

अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः।
द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम्॥ २१३॥

विना सत्कारपूर्वक दिया गया अन्न, देवतादिके उद्देश्यके बिना बना हुआ मांस; पतिपुत्रहीन स्त्री, शत्रु, नागरिक (नगरपति), और पतित—इनका अन्न तथा जिसके ऊपर छींक दिया गया हो; वह अन्न नहीं खावे—॥ २१३ ॥

पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा ।
शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ २१४ ॥

—चुगलखोर, असत्यभाषी, यज्ञ बेचनेवाला अपने यज्ञ का फल दूसरे को देकर उसके बदलेमें मूल्य लेनेवाला), नट (बहुरुपिया), दर्जी, और कृतघ्न; इनके अन्नको न खावे—॥ २१४ ॥

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च ।
सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥

—लोहार, मल्लाह, रङ्गसाज, सोनार, बँसकोर (बांसके बर्तन बनाकर जीविका करनेवाला), और शस्त्रको बेचनेवाला; इनके अन्नको न खावे—॥ २१५ ॥

श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ।
रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

—शिकारके लिये कुत्तेको पालनेवाला; मद्य बेचनेवाला, धोबी, रङ्गरेज; नृशंस (निर्दय) और जिसके घरमें उपपति (स्त्री का जार बिना जानकारीके) हो वह; इनके अन्नको न खावे—॥ २१६ ॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ।
अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥

—जानकारीमें जो घरमें उपपति (स्त्रीका जार) के रहनेको सहन करता है, जो सब बातोंमें स्त्रीके वशमें है; इन दोनोंके अन्नको तथा बिना दश दिन बीते सूतकके अन्नको और अतुष्टिकारक अन्नको न खावे—॥ २१७ ॥

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ २१८ ॥

राजा का अन्न (खाने वालेके) तेजको, शूद्रका अन्न ब्रह्मवर्चस (ब्रह्मतेज) को, सोनार का अन्न आयुको और चमार का अन्न यशको ले लेता है (अतः इनके अन्नको नहीं खाना चाहिये) ॥ २१८ ॥

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च ।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥ २१९ ॥

बढ़ई (या शिल्पी) का अन्न संतानको तथा रंगरेज (कपड़ा रंगनेवाला) का अन्न बलको नष्ट करता है और गण (सामूहिक) तथा वेश्याका अन्न (पुण्य आदिसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग आदि) लोकोंसे भ्रष्ट करता है ॥ २१९ ॥

पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् ॥ २२० ॥

वैद्य (४।२१२ का विमर्श देखिये) का अन्न पीव, व्यभिचारिणी का अन्न शुक्र (वीर्य या पुंधातु), सूदखोर (सूदसे ही जीविका करनेवाला), का अन्न विष्ठा तथा शस्त्र बेचने वालेका अन्न मल (कफ, कान का खोंट, नाकका पोंटा आदि) के समान हैं ॥ २२० ॥

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः।
तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ २२१ ॥

प्रत्येक नामकथनपूर्वक इन अभोज्यान्नों (जिनका अन्न अभोज्य है ४।२१८-२२०) के अतिरिक्त जो अभोज्यान्न (४।२०५-२१७) क्रमशः कहे गये हैं, उनके अन्नको विद्वान् लोग उन (अभोज्यान्नों) का चमड़ा, हड्डी और रोम कहते हैं (उनका अन्न खाने को उनके चमड़ा हड्डी और रोम (बाल) खानेके समान कहते हैं ॥ २२१ ॥

चारो वर्णोंके अन्नों का स्वरूप—

[अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयः स्मृतम्।
वैश्यान्नमन्नमित्याहुः शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम् ॥ १४ ॥]

[ब्राह्मण का अन्न अमृतरूप, क्षत्रियका अन्न दूधरूप, वैश्यका अन्न अन्नरूप तथा शूद्रका अन्न रुधिर-रूप है। (अतः शूद्रका अन्न अभोज्य है) ॥ १४ ॥]

अभोज्य अन्न खानेपर प्रायश्चित्त—

भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम्।
मत्या भुक्त्वाऽऽचरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च ॥ २२२ ॥

इन (४।२०५—२२०) में-से किसी एकके अन्नको अज्ञानपूर्वक खाकर तीन दिन उपवास करे तथा ज्ञानपूर्वक इन अन्नोंको एवं शुक्र, मल और मूत्रको खाकर कृच्छ्रव्रत (११।२११) करे ॥ २२२ ॥

विमर्श—यहांपर 'किसी एकका' (अन्यतमस्य) शब्द कहनेसे मत्तादि-सम्बन्धी दूषित अन्नके ही भोजन करनेपर यह प्रायश्चित्त है, कीट या केश आदिके

संसर्गसे दूषित, समयसे दूषित वासी आदि और निमित्तसे दूषित घुन आदि लगे हुए अन्नको खानेसे उक्त प्रायश्चित्त (तीन दिन उपवास या कृच्छ्रव्रत) करना नहीं है। एक प्रकरणमें स्नातकता बतलानेके लिये कहा गया है, ग्यारहवें अध्यायमें प्रायश्चित्तको कहेंगे। अतएव मेधातिथिने अप्रकरणमें प्रायश्चित्तको कहनेके कारण कीटादिके संसर्गसे दूषित अन्न तथा समयके अतिक्रमणसे दूषित बासी आदि अन्नके खानेपर भी यही प्रायश्चित्त (अज्ञानपूर्वक खानेसे तीन दिन उपवास तथा ज्ञानपूर्वक खानेसे कृच्छ्रव्रत) जो कहा है, वह ठीक नहीं है। अप्रकरणमें इस प्रायश्चित्तका कथन लाघवके लिये है।

शूद्रसे पक्वान्न लेनेका निषेध—

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३ ॥

विद्वान् ब्राह्मण श्राद्ध आदि पञ्चमहायज्ञ न करनेवाले (क्योंकि शूद्रके लिये इन कर्मोंको करनेकी शास्त्राज्ञा नहीं है) शूद्रके पक्वान्नको न खावे, किन्तु खानेके लिये दूसरा अन्न नहीं रहनेपर शूद्रसे एक रात भोजन करने योग्य कच्चे अन्नको लेवे (पक्वान्न तो कदापि न लेवे) ॥ २२३ ॥

चन्द्र-सूर्य-ग्रहणमें भोजनका निषेध—

[चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यादद्यात्स्नात्वा तु मुक्तयोः ।
अमुक्तयोरगतयोरद्याच्चैव परेऽहनि ॥ १५ ॥]

[चन्द्रमा या सूर्यके ग्रहणमें भोजन न करे तथा उनके मुक्त (मोक्ष) हो जानेपर स्नानकर ही भोजन करे। विना मोक्ष हुए यदि वे अस्त हो जावें तो दूसरे दिन भोजन करे ॥ १५ ॥

विमर्श—वृद्धगर्गका मत है कि सूर्यग्रहण आरम्भ होनेसे चार प्रहर (१२ घण्टे) तथा चन्द्रग्रहण आरम्भ होनेसे तीन प्रहर (९ घण्टे) पहले भोजन न करे; किन्तु बालक, वृद्ध और रोगीके लिये यह निषेध नहीं है। किसी-किसी आचार्यके मतसे पुत्रवाले गृहस्थ (गृहाश्रमी) के लिये भी निषेध नहीं है। इस प्रकार विधवा, यति तथा वैष्णवादि विरक्तमात्रके लिये चन्द्र या सूर्यके उपराग-(ग्रहण)-कालमें क्रमशः तीन और चार प्रहर पूर्वसे भोजन करनेका निषेध है। विशेष अन्य धर्मशास्त्रोंमें देखना चाहिये।

श्रोत्रिय तथा सूदखोरके अन्नकी समानता—

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः ।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ २२४ ॥

कृपण श्रोत्रिय तथा बहुत दानी सूदखोरके अन्नके गुण-दोषका विचारकर देवताओंने दोनोंका अन्न बराबर कहा है ॥ २२४ ॥

तान्प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम्।
श्राद्धपूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥

उन (देवताओं) के पास ब्रह्माजी आकर बोले कि विषम (अन्न) को समान मत करो (कृपण श्रोत्रिय तथा बहुत दानी सूदखोरके अन्नको बराबर मत कहो)। दानशील सूदखोरका अन्न श्रद्धासे पवित्र है तथा अन्य (कृपण अर्थात् श्रद्धाहीन श्रोत्रियका अन्न) अश्रद्धासे दूषित है। (अतः श्रद्धासे ही अन्नादिका दान करना श्रेष्ठ है) ॥ २२५ ॥

श्रद्धासे किये गये इष्ट तथा पूर्तका अक्षयफल—

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥

आलस्य छोड़कर श्रद्धासे इष्ट (मण्डपके भीतर यज्ञादि कार्य) तथा पूर्त (बावली, कूप, तालाब, प्याऊ आदि) को सदैव करना (बनवाना) चाहिये। न्यायोपार्जित धनसे श्रद्धाके साथ किये गये वे दोनों (इष्ट तथा पूर्त) अक्षय (अक्षय मोक्षरूप फल देनेवाले) होते हैं ॥ २२६ ॥

श्रद्धासे दान करनेका फल—

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥

सर्वदा सन्तुष्ट होकर इष्ट तथा पूर्त कर्म करे और याचित (किसीके द्वारा याचना किया गया) मनुष्य यथाशक्ति सत्पात्रको प्राप्तकर दानधर्म अवश्य करे ॥ २२७ ॥

संचय शील सत्पात्र के लिये दान का निषेध—

[पात्रभूतो हि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम्।
असत्सु विनियुञ्जीत तस्मै देयं न किञ्चन ॥ १६ ॥

[जो ब्राह्मण दान का पात्र होकर के भी स्वयं प्रतिग्रह (दान) को लेकर पुनः उसे कुपात्र को दे देता है, ऐसे ब्राह्मण को कुछ भी दानरूप में नहीं देना चाहिये ॥ १६ ॥]

संचयं कुरुते यस्तु प्रतिगृह्य समन्ततः।
धर्मार्थं नोपयुङ्क्ते च न तं तस्करमर्चयेत् ॥ १७ ॥]

[जो ब्राह्मण चारो-ओर से (सब जगह से) दान लेकर केवल उसका संचयमात्र करता है किन्तु उसको किसी धर्मकार्य में नहीं लगाता है। उसे 'तस्कर' समझ कर दानादि द्वारा सत्कार नहीं करना चाहिये ॥ १७ ॥]

यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥ २२८ ॥

याचना करनेपर मनुष्यको असूयारहित होकर कुछ भी (यथाशक्ति) दान करना चाहिये; क्योंकि (इस प्रकार सर्वदा दान करनेवाले दाताके पास कभी) वह पात्र आ जायेगा, जो सब (नरकके कारणों) से छुड़ा देगा ॥ २२८ ॥

जल आदिके दान करनेका पृथक् २ फल—

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ २२६ ॥

जलदान करनेवाला तृप्तिको, अन्नदान करनेवाला अक्षय्य (क्षीण नहीं हो सकने योग्य) सुखको, तिलदान करनेवाला अभिलषित सन्तानको और दीपदान करनेवाला उत्तम (रोगादिरहित) नेत्रको पाता है—॥ २२६ ॥

भूमिदो भमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥

भूमिदान करनेवाला भूमि (भूस्वामित्व) को, सुवर्ण (सोना) दान करनेवाला पूर्णायुको, गृहदान करनेवाला उत्तम गृहोंको और चांदी दान करनेवाला उत्तम रूपको (पाता है)—॥ २३० ॥

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः।
अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥ २३१ ॥

वस्त्रदान करनेवाला चन्द्रमाके सालोक्य (चन्द्रलोक में निवास) को घोड़ेका दान करनेवाला अश्विनीकुमारोंके सालोक्य को बैलका दान करनेवाला बहुत (दृढ-स्थिर) धनको, गायका दान करनेवाला सूर्यलोकको (पाता है)—॥२३१॥

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥ २३२ ॥

रथ आदि सवारी तथा शय्याका दान करनेवाला स्त्रीको, अभयदान करनेवाला (या किसीकी हिंसा नहीं करनेवाला) ऐश्वर्यको, धान्य (जौ, धान, चावल,

गेहूँ, चना आदि) का दान करनेवाला चिरस्थायी सुखको और वेद दान (वेदका अध्यापन या व्याख्यान) करनेवाला ब्रह्मकी समानताको (पाता है)—॥२३२॥

वेददानकी सर्वश्रेष्ठता—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥

जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृत; इन सबोंके दानोंसे ब्रह्मदान (वेदका पढ़ाना) श्रेष्ठ फल देनेवाला है ॥ २३३ ॥

भावानुसार दानफल—

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥

(दानकर्ता) जिस-जिस भाव (अभिलाषा कामना) से जो-जो दान देता है, उसी-उसी भावसे (जन्मान्तरमें) पूजित होता हुआ उस-उस वस्तुको प्राप्त करता है ॥ २३४ ॥

सविधि दान लेने और देनेकी श्रेष्ठता—

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ २३५ ॥

जो सत्कारसहित दान लेता है और जो सत्कारसहित दान देता है, वे दोनों स्वर्गको जाते हैं। इसके विरुद्ध करने (असत्कारपूर्वक दान लेने या देने) से वे नरकको जाते हैं ॥ २३५ ॥

तपःसिद्धि आदिसे विस्मयादिका निषेध—

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम्।
नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

तपस्यासे विस्मय (चान्द्रायण या कृच्छ्र आदि कठिन तपस्याकी पूर्णता होनेपर देखो किस प्रकार मैंने इसे पूरा कर लिया ऐसी भावना) न करे, यज्ञ करके असत्य न बोले, पीडित होकर भी ब्राह्मणोंको दुर्वाच्य न कहे और दान देकर नहीं कहे ॥ २३६ ॥

उक्त कार्यसे विपरीताचरणका फल—

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात्।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥ २३७ ॥

असत्य बोलनेसे यज्ञ नष्ट हो जाता है, विस्मयसे तपस्या नष्ट हो जाती है, ब्राह्मणको दुर्वाच्य कहनेसे आयु और (दान की हुई वस्तुको) कहनेसे दान (का फल) नष्ट होजाता है ॥ २३७ ॥

धीरे-धीरे धर्मका सञ्चय करना—

धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥

जिस प्रकार दीमक वल्मीक (बामी-दियकाँड़) का सञ्चय करते हैं, उसी प्रकार परलोककी सहायताके लिये सब जीवोंको पीडा नहीं देते हुए धीरे-धीरे धर्म का सञ्चय करे ॥ २३८ ॥

धर्मकी प्रशंसा—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥

क्योंकि परलोकमें माता, पिता, पुत्र, स्त्री और ज्ञाति सहायताके लिये नहीं रहते हैं; केवल धर्म ही (सहायताके लिये) रहता है ॥ २३९ ॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥

प्राणी अकेला ही पैदा होता है, अकेला ही मरता है, अकेला पुण्य (-जन्य स्वर्ग आदि फल) भोगता है, और अकेला ही पाप (-जन्य नरक आदि फल) भोगता है ॥ २४० ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥

बान्धव लोग मरे हुए (निर्जीव) शरीरको लकड़ी और ढेलेके समान भूमि-पर छोड़ पराङ्मुख होकर चले जाते हैं (उसके साथ नहीं जाते, किन्तु) एक धर्म ही उसके पीछे जाता है ॥ २४१ ॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥

इस कारण (परलोकमें) सहायताके लिये धीरे-धीरे धर्मका सर्वदा सञ्चय करे क्योंकि धर्मसे दुस्तर (कठिनाईसे पार करने योग्य) तम (नरकादिके दुःख) को पार करता है ॥ २४२ ॥

धर्मात्माको स्वर्गादिप्राप्ति—

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥ २४३ ॥

तपस्यासे पापहीन, प्रकाशमान और ब्रह्म-स्वरूप धर्मपरायण पुरुषको (धर्म ही) परलोक (ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक आदि) को ले जाता है ॥ २४३ ॥

उत्तमके साथ सम्बन्ध करना—

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥ ५

वंशको उन्नत करनेकी इच्छावाला सर्वदा (अपनेसे) बड़ों-बड़ोंके साथ सम्बन्ध करे और (अपनेसे) नीचों-नीचोंको छोड़ दे (उनसे सम्बन्ध न करे) ॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन्।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥ २४५ ॥

(अपनेसे) बड़ों-बड़ोंके साथ सम्बन्ध करता हुआ और (अपनेसे) नीचों-नीचोंका त्याग करता हुआ ब्राह्मण श्रेष्ठताको पाता है तथा इसके विरुद्ध आचरण करता हुआ शूद्रताको पाता है ॥ २४५ ॥

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥ २४६ ॥

दृढकर्ता (विघ्नादिके आनेपर भी प्रारम्भ किये गये कार्यको पूरा करनेवाला), निष्ठुरतासे रहित, सुखदुःखादि द्वन्द्वोंको सहनेवाला, क्रूर आचरणवालोंका साथ नहीं करता हुआ, अहिंसक वैसा व्रत (नियम, यम इन्द्रियसंयम तथा दानादि) करनेवाला स्वर्गको जीत लेता (प्राप्त करता) है ॥ २४६ ॥

काष्ठ अन्न आदि सबसे ग्राह्य—

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत्।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥ २४७ ॥

लकड़ी, जल, मूल, फल, विना मांगे आया हुआ अन्न, मधु, (सहद) और अभयदान (अपने रक्षार्थ) सबसे ग्रहण करे ॥ २४७ ॥

विमर्श—याज्ञवल्क्यके[1] वचनानुसार उक्त वस्तु कुलटा, नपुंसक, पतित और

---

१. कुशं शाकं पयो मत्स्या, गन्धाः पुष्पं दधि क्षितिः।
मांसं शय्यासनं धानाः प्रत्याख्येयं न वारि च ॥

शत्रुको छोड़कर बाकी सबसे ग्रहण करना चाहिये। अन्न—मनूक्त पूर्व (४।२२३) वचनके अनुसार वृत्तिके अभावमें शूद्रका अन्न कच्चा ही और केवल एक रात भोजन करने योग्य ही लेना चाहिये। आत्मरक्षा रूप अभय दान तो चण्डाल से भी ग्रहण करना चाहिये।

पापियों की भिक्षा लेनेकी मर्यादा—

आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम्।
मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः॥ २४८॥

दान लेने वालेके पास सामने रक्खी हुई, स्वयं (दान लेने वालेके द्वारा) अथवा अन्य किसीके द्वारा प्रेरणा करके नहीं मंगायी गयी और 'आप (दान लेनेवाले) को अमुक वस्तु अमुक प्रमाण या अमुक समयमें दूंगा इस प्रकार दाताके द्वारा पहले नहीं कही हुई भिक्षा वस्तु (हिरण्य आदि) पापियों (पतित रहित) से भी लेनी चाहिये, ऐसा ब्रह्मा मानते हैं॥ २४८॥

उक्त भिक्षा न लेनेमें दोष—

नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते॥ २४९॥

जो उस (४।२४८) भिक्षा को अपमानित करता (नहीं लेता) है, उससे दिये गये कव्य (श्राद्धान्न) को पन्द्रह वर्षतक पितर लोग नहीं लेते और अग्नि हव्य (आहुतिमें दिया गया हविष्यान्न) को नहीं लेती॥ २४९॥

वैद्य आदिसे भिक्षा मिलने पर—

[चिकित्सककृतघ्नानां शिल्पकर्तुश्च वार्धुषेः।
षण्ढस्य कुलटायाश्च उद्यतामपि वर्जयेत्॥ १८॥

[वैद्य, कृतघ्न, शिल्पी, सूदखोर, नपुंसक और कुलटा स्त्रीकी भिक्षा बिना मांगे सामने आवे, तो भी नहीं लेवे॥ १८॥

न विद्यमानमेवं वै प्रतिग्राह्यं विजानता।
विकल्प्याविद्यमाने तु धर्महीनः प्रकीर्तितः॥ १९॥]

अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः।
अन्यत्र कुटलाषण्ढपतितेभ्यस्तथा द्विषः॥
देवताऽतिथ्यर्चनकृते गुरुभृत्यार्थमेव च।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयादात्मवृत्त्यर्थमेव च॥ इति। (या०स्मृ० २।२१४-२१६)

अपने यहां वस्तुके रहने पर ज्ञानपूर्वक उक्त भिक्षा नहीं लेवे और अपने यहां नहीं रहनेपर विकल्प कर लेनेसे धर्महीन हो जाता है॥ १९ ॥]

बिना मांगे शय्या आदि लेनेका अनिषेध—

शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ।
धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्नुदेत् ॥ २५० ॥

शय्या, घर, कुशा, गन्ध (चन्दन, कर्पूर, कस्तूरी आदि), जल, फूल, मणि (रत्न—जवाहरात), दही, धाना (भूने हुए जौ या चावल), मछली, दूध, मांस और शाक; ये यदि बिना मांगे गृहपर दाता लावे तब इनको मना न करे (ले लेवे) ॥ २५० ॥

गुरु आदिके लिये भिक्षा ग्रहण—

गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥ २५१ ॥

क्षुधा पीडित गुरु (माता, पिता, उपाध्यायादि गुरुजन) और भृत्य (तथा स्त्री) का उद्धार (उन्हें भिक्षान्न द्वारा सन्तुष्ट) अर्थात् क्षुधा-निवृत्ति करने तथा देवता आदिकी पूजा करनेके लिये (पतित को छोड़) सबसे भिक्षा ग्रहण करे, किन्तु उस भिक्षा वस्तुसे स्वयं सन्तुष्ट न हो अर्थात् उस भिक्षा वस्तुको अपने काममें न लावे ॥ २५१ ॥

अपने लिये सज्जनोंसे भिक्षा ग्रहण—

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ।
आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतः सदा ॥ २५२ ॥

गुरु (माता-पितादि गुरुजन) के स्वर्गवास हो जानेपर या (उनके संन्यास आदि लेनेके कारण जीते रहने पर भी) उनसे अलग गृहमें रहता हुआ अपनी वृत्तिकी इच्छा करता हुआ सर्वदा सज्जनोंसे (भिक्षाको) ग्रहण करे ॥ २५२ ॥

अन्न भोजन करने योग्य शूद्र—

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ २५३ ॥

खेती करनेवाला, वंशका मित्र, गोपाल, दास, नाई और जिसने अपने को समर्पण कर दिया है; शूद्रोंमें ये भोज्यान्न हैं (इन शूद्रोंके अन्नका भोजन करना अनिषिद्ध है) ॥ २५३ ॥

विमर्श—उक्त सभी शब्द सम्बन्ध-परक हैं, अतः जो अपने यहां खेती का कार्य करे, जो अपने वंशका मित्र हो, जो अपना चरवाहा या गौओंको खिलाने-पिलाने वाला हो, अपना नौकर हो, अपना नाई हो और 'मैं अपने को आपके लिये ही समर्पण करता हूं' इस प्रकार जिसने 'आत्म समर्पण' कर दिया हो, उन्हींके यहां भोजन करना चाहिये, उक्त जातियों अथवा व्यवसायोंके सब शूद्रोंके यहां नहीं।

शूद्रोंको आत्म निवेदन करना—

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम्।
यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत्॥ २५४॥

इस (शूद्र) की जैसी आत्मा (कुल-शीलादि-मर्यादा का स्वरूप) हो, जैसा अभीष्ट कर्तव्य हो और जैसे इसकी सेवा करनी हो; वैसे अपने को निवेदन (आत्म समर्पण) कर दे॥ २५४॥

आत्मसमर्पणमें असत्य भाषणसे दोष—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः॥ २५५॥

जो स्वयं अन्यथा होते हुए सज्जनोंसे उसके विपरीत (झूठा) बतलाता है, वह संसारमें बड़ा पापी और चोर है, क्योंकि वह आत्माको अपहरण करनेवाला है॥

विमर्श—आत्मापहारक—सामान्य चोर लोगों की सम्पत्ति आदि चुराकर संसारमें पापी होता है, किन्तु जो आत्मा (अपने कुलशीलके स्वरूप) को चोरी करता अर्थात् छिपाता है वह संसारमें बड़ा पापी होता है।

असत्यभाषी सर्वापहारक—

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥ २५६॥

वचन (शब्द) में सब अर्थ निश्चित हैं और वचनसे ही सबका (प्रतीति द्वारा) ज्ञान होता है। जो मनुष्य उस वचनको चुराता (कपट पूर्वक छिपाकर कहता) है, वह सब कुछ का चोर समझा जाता है॥ २५६॥

विमर्शः—मनु भगवान्के वचनानुसार (१।९१) द्विजाति मात्रकी सेवा करना ही शूद्रका एक मात्र कर्तव्य है, अत एव किसी धनिकके यहां जब कोई शूद्र नौकरी आदिके लिये जाता है, तब उसे अपने कुल, मर्यादा, आचार-विचार आदिका परिचय देना आवश्यक होता है। उस समय यदि कोई अपनी जीविका-प्राप्तिके लिये असत्य भाषणकर उस धनिक सज्जनके यहां जीविका प्राप्त भी कर लेगा तो

वास्तविकता का पता लगने पर उस नौकर परसे विश्वास उठ जायेगा तथा लगी हुई जीविकासे भी उसे हाथ धोना पड़ेगा; अतएव अपने कुलादि का परिचय सच्चा ही देना चाहिये, इसी विषय को इन (४।२५४—२५६) वचनोंमें मनु भगवान्ने कहा है। साथ ही ये वचन यद्यपि 'शूद्र' के द्वारा 'आत्मसमर्पण' प्रकरणको लेकर कहे गये हैं, तथापि सामान्यतः सब वर्णोंके लिये लागू होते हैं, जिस कार्यके करने (कुलशीलादिके सम्बन्धमें असत्य भाषण करने) से शूद्र तकको भी पाप-भागी होना पड़ता है, उस कार्यके करनेसे द्विजातिको तो अधिक पापभागी होना पड़ेगा, यह निश्चित सिद्धान्त है, अत एव मनुष्य मात्रको जीविका-प्राप्तिके लिये अपने कुल आदिको नहीं छिपाना चाहिये।

योग्य पुत्रमें गृह कार्यका समर्पण—

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः॥ २५७॥

विधिपूर्वक महर्षि, पितर और देवताओंके ऋणसे छुटकारा पाकर सब (गृहकार्यभार) पुत्रको देकर माध्यस्थ्यभाव धारणकर (धन-धान्य तथा पुत्रादि परिवारमें ममतासे रहित होकर घरमें ही) रहे॥ २५७॥

विमर्श—वेदके स्वाध्यायसे महर्षियोंके श्राद्धसे पितरोंके और यज्ञोंसे देवोंके ऋणसे मनुष्य छुटकारा पा जाता है। संन्यास का यह प्रकार गृहस्थके लिये है। विशेष प्रकार छठे अध्यायमें कहेंगे।

ब्रह्मचिन्तन—

एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति॥ २५८॥

(अभीप्सित कर्म तथा धनोपार्जन आदिकी चिन्ताको छोड़कर पुत्रसे भोजनादिको पाता हुआ) एकान्त स्थानमें अकेला ही अपने हित (जीवका ब्रह्मरूप होजाने) का ध्यान करता रहे, क्योंकि अकेला ही (जीवके ब्रह्मभावमें परिणामको) चिन्तन करता हुआ मनुष्य श्रेष्ठ कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त करता है॥ २५८॥

अध्यायका उपसंहार—

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती।
स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः॥ २५९॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि)—यह गृहस्थ ब्राह्मणके नित्य वृत्ति

(आपत्तिकालिक वक्ष्यमाण अनित्य वृत्ति से भिन्न ऋतादि वृत्ति) और सत्वगुण की वृद्धि करनेवाला शुभ स्नातकोंके व्रतविधानको (मैंने तुमलोगोंसे) कहा ॥२६६॥

उक्त वृत्तिके आचरणसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति—

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित् ।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस वृत्तिसे आचरण करता हुआ, वेद शास्त्रका ज्ञाता ब्राह्मण पापरहित होकर सर्वदा ब्रह्ममें विलीन होकर उत्कृष्टताको प्राप्त करता है ॥ २६० ॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् वृत्तिर्गृहिव्रतानि च ।
अन्नपूर्णाप्रसादेन चतुर्थे पूर्णतामयुः ॥ ४ ॥

इति मणिप्रभाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ।

पञ्चमोऽध्यायः

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान्।
इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥

स्नातकोंके लिये यथावत् कथित इन (चतुर्थाध्यायोक्त) धर्मोंको सुनकर ऋषियोंने अग्निसे उत्पन्न भृगु मुनिसे यह कहा—॥ १ ॥

विमर्श—पहले (१।३५ में) मनुसे भृगु मुनिकी उत्पत्ति कही गयी है तथा इस श्लोकमें उसी भृगु मुनिकी उत्पत्ति अग्निसे बतलाई गई है, अतः उभय वचनोंके पूर्वापर विरोधका कल्पभेदसे परिहार करना चाहिये। इसमें वेदवचन[1] भी प्रमाण है तथा उसीके आधारपर 'भ्रष्टाद्रेतस उत्पद्यत इति भृगुः' (गिरे हुए वीर्यसे उत्पन्न होनेवाला 'भृगु') यह विग्रह भी संगत होता है।

महर्षियोंका मनुष्यकी मृत्युका कारण पूछना—

एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम्।
कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥

हे प्रभो! इस प्रकार यथायोग्य कहे गये तथा वेदशास्त्रज्ञाता अपने धर्मका आचरण करते हुए ब्राह्मणोंकी मृत्यु कैसे होती है? ॥ २ ॥

भृगुका महर्षियोंके प्रश्नका उत्तर देना—

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥

धर्मात्मा एवं मनुके पुत्र भृगुजीने उन महर्षियोंसे कहा—जिस दोषसे मृत्यु ब्राह्मणोंको मारनेकी इच्छा करती है, (उसे) आप लोग सुनिये ॥ ३ ॥

ब्राह्मणोंकी मृत्युमें वेदानभ्यास आदि कारण—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

वेदोंका अभ्यास नहीं करनेसे, आचारके त्यागसे, आलस्यसे और अन्न (भोज्य पदार्थ) के दोषसे मृत्यु ब्राह्मणोंको मारनेकी इच्छा करती है ॥ ४ ॥

---

१. तथा च श्रुतिः—'तस्य यद्रेतसः प्रथमं देदीप्यते तदसावादित्योऽभवत्, यद्द्वितीयमासीत् भृगुः' इति (म० मु०)

लहसुन आदिके भक्षणका निषेध—

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥ ५ ॥

लहसुन, सलगम (या लाल मूली, कोई गृञ्जनका गाजर भी अर्थ करते हैं) प्याज, छत्राक (भूकन्द-विशेष) और अपवित्र स्थान (श्मशानादि) में उत्पन्न शाक आदि द्विजातियोंके अभक्ष्य हैं ॥ ५ ॥

गोंद आदिके भक्षणका निषेध—

लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्चनप्रभवांस्तथा ।
शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

पेड़ोंका लाल गोंद तथा पेड़ोंको काटने (त्वचाका कुछ अंश छिलने) से उत्पन्न गोंद, लसोड़ा और गायका फेनुस; इनको (खाना) प्रयत्नपूर्वक छोड़ दे ॥

वृथा कृसर-मांसादिके भक्षणका निषेध—

वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च ।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ७ ॥

वृथा (विना देवादिके निमित्त—अपने लिये तैयार किया) कृसरान्न[1] (तिल-मिश्रित भात), संयाव (हलुआ या मोहनभोग), खीर, पूआ या मालपुआ, अनुपाकृत (विना यज्ञके हत) मांस, देवान्न (नैवेद्यके निमित्त निकाला हुआ अन्न); हविष्य—(इनको न खावे) ॥ ७ ॥

विमर्श—'वृथा' शब्दका 'कृसर' से लेकर 'अपूप' तक सबके निमित्त समझना चाहिये। 'देवान्न' को नैवेद्यरूपमें देवताको अर्पण करके भोग लगनेके बाद तथा 'हविष्य' को अग्निमें होम करनेके बाद ग्रहण करनेमें दोष नहीं है।

उष्ट्री आदिके दूध भक्षणका निषेध—

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।
आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ८ ॥

ब्याने (प्रसव करने) के दिनसे जिसको १० दिन न बीते हों ऐसी गाय (भैंस, बकरी आदि[2] भी) ऊंटिनी, एक खुरवाली (घोड़ी, गधी आदि) पशु,

---

१. तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—
'तिलतण्डुलसंपक्वः कृसरः सोऽभिधीयते ।" इति (म० मु०)

२. तथा च यमः—अनिर्दशाहं गोक्षीरमाजं माहिषमेव वा ।' इति (म० मु०)

भेंड़, गर्भवती होनेकी इच्छा करनेवाली (उठी हुई—गरभाई हुई) पशु, जिसका बच्चा मर गया हो ऐसी गाय; इनके दूधको—(छोड़ दे-न पीवे) ॥ ८ ॥

विमर्श—'जिसका बच्चा मर गया हो या अलग हो गया हो, ऐसी गौ के ही दूधको छोड़नेका विधान है भैंस, बकरी आदिके दूधको छोड़नेका विधान नहीं है, यह 'वत्स' शब्दसे ही 'गौ' का ग्रहण न्यायप्राप्त होनेसे प्रकृतवचनमें फिर 'गो' शब्दके ग्रहणसे सिद्ध होता है, ऐसा म० मु० कारका कथन है।

[क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः।
सप्तरात्रं व्रतं कुर्यात्प्रयत्नेन समाहितः॥ १ ॥]

जो अभक्ष्य दूध (५।८) हैं, उनके विकार (बने पदार्थ—दही, खोआ आदि) के खानेपर विद्वान् सावधान होकर सात रात्रि व्रत करें ॥ १ ॥

वन्य पशु तथा स्त्रीके दुग्धादिके भक्षणका निषेध—

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि॥ ९ ॥

भैंसको छोड़कर जंगली पशु (नीलगाय, हरिण आदि) तथा स्त्रीका दूध और सब प्रकारके शुक्त (कांजी या सिर्का आदि—जो अधिक समयतक रखने आदिके कारणसे स्वभावतः मधुर होते हुए भी खट्टे होगये हों, उन्हें—(छोड़ दे) ॥९॥

शुक्तोंमें दधि आदिका भक्ष्य—

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम्।
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः॥ १० ॥

शुक्तों (पूर्वश्लोक देखिये) में दही और दहीके बने पदार्थ (छाछ, मठ्ठा, तक्र आदि) और जो शुभ (नशा नहीं करनेवाले) फूल, जड़ एवं फलसे बने पदार्थ हैं, वे भक्ष्य हैं ॥ १० ॥

आममांसभक्षी तथा ग्राम्यपक्षियोंके मांसभक्षणका निषेध—

क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत्॥ ११ ॥

कच्चा मांस, खानेवाले (गीध, बाज, चील आदि) तथा ग्रामवासी (कबूतर, मैनी आदि) पक्षी, नामतः निर्देश नहीं किये गये एक खुरवाले पशु (गधा आदि) और टिटिहरीको छोड़ दे (इनका मांस भक्षण न करे) ॥११॥

गोरैया आदिके भक्षणका निषेध—

कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम् ।
सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥

गोरैया, प्लव (एक प्रकारका पक्षी या परेवा), हंस, चकवा, ग्राम्य मुर्गा, सारस, रज्जुवाल (डोम कौआ), दात्यूह (जल कौआ), तोता (सूआ) और मैना—(इनके मांसको न खावे) ॥ १२ ॥

प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।
निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥ १३ ॥

प्रतुद (चोंचसे काटकर खानेवाले पक्षी, जैसे—कठफोरवा, आदि), बत्तख, कोयष्टिभ (कोहड़ा नामक पक्षि-विशेष), नाखून (चंगुल) से बिखेरकर खानेवाले पक्षी (तीतर आदि), पानीमें गोता लगाकर मछलियोंको खानेवाले पक्षी; इन पक्षियोंके मांसको तथा मारनेके स्थान (वध स्थान) में रखे हुए (भक्ष्य भी) मांसको और सूखे मांसको—(न खावे) ॥ १३ ॥

बकादिके मांस भक्षणका निषेध—

बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् ।
मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥

बगुला, बलाका (बक जातीय पक्षिविशेष), काकोल (करेरुआ), खञ्जन (खँड़लिच); इन पक्षियोंके मांसको मछलियोंको खानेवाले (पक्षि भिन्न—नक्र आदि) जंगली सूअर और सब मछलियोंके मांसको—(न खावे) ॥ १४ ॥

मछलीके मांसके भक्षणका निषेध—

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते ।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

जो जिसके मांसको भक्षण करता है, वह उसका 'मांसाद' कहा जाता है और मछलीके मांसको भक्षण करवेवाला 'सर्वमांसाद' (सबके मांसका भक्षण करनेवाला) कहा जाता है इस कारणसे मछली (के मांस) को छोड़ दे ॥१५॥

हव्य-कव्यमें पाठीनादि भक्ष्य—

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।
राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥ १६ ॥

हव्य और कव्य (देवकार्य और पितृकार्य) में विहित पाठीन (पोठा या

पोठिया), रोहित (रोहू) राजीव (बरारी), सिंहतुण्ड और चोंइटासे युक्त सब प्रकारकी मछलियां भक्ष्य हैं (किन्तु हव्य-कव्य कर्मके विना ये भी अभक्ष्य ही हैं) ॥१६॥

विमर्श—मेधातिथि तथा गोविन्दराजने इस श्लोककी 'पाठीन और रोहित मछलियां हव्य-कव्यमें ही भक्ष्य हैं; तथा राजीव आदि मछलियां हव्य-कव्यके विना भी भक्ष्य हैं' यह व्याख्या की है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि 'हव्य-कव्यमें नियुक्त पाठीन और रोहित श्राद्धभोक्ताके ही भक्ष्य हैं श्राद्धकर्ताके नहीं, तथा राजीव आदि मछलियां हव्य-कव्यके विना भी भक्ष्य हैं' इसमें कोई प्रमाण नहीं है; इसके साथ ही अन्य मुनियोंके वचनसे भी विरोध पड़ता है, यथा—(१) शङ्खने राजीव, सिंहतुण्ड, चोंइटेवाली मछलियां, पाठीन और रोहित—ये मछलियोंमें सामान्यतः भक्ष्य कहे गये हैं' ऐसा कहा है[1]। (२) महर्षि याज्ञवल्क्यने 'पञ्चनखोंमें शाही, गोह, कच्छप, शल्लकी और खरगोश; तथा मछलियोंमें सिंहतुण्ड, रोहित, पाठीन, राजीव और चोंइटेवाली मछलियां द्विजातियोंके भक्ष्य हैं' ऐसा कहा है[2]। (३) हारीतने भी 'न्यायप्राप्त सशल्क (चोंइटेवाली) मछलियोंको खावे' ऐसा कहा है[3], अतः उक्त वचनत्रयके विरोध होनेसे श्राद्धमें पाठीन और रोहित श्राद्धभोक्ताको ही खाना चाहिये (श्राद्धकर्ता को नहीं) राजीव आदि वैसे नहीं अर्थात् सामान्यतः खाना चाहिये' यह (मेधातिथि और गोविन्दराज की) व्यख्या मुनि-सम्मत नहीं है[4]।

भक्ष्य मृग-पक्षी तथा पञ्चनखादिका अपवाद—

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥ १७ ॥

---

१. 'तथा च शङ्खः—'राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्च तथैव च ।
पाठीनरोहितौ चापि भक्ष्या मत्स्येषु कीर्तिताः ॥' इति म० मु०।
परं समुपलब्धपुस्तके—
राजीवान् सिंहतुण्डांश्च शकुलाश्च तथैव च ।
पाठीनरोहितौ भक्ष्यौ मत्स्येषु परिकीर्तितौ ॥' (१३।२५)
इत्येवं पाठ उपलभ्यते, तत्रापि स एवार्थः पर्यवस्यति इति ध्येयम् ।
२. तथा च याज्ञवल्क्यः—
'भक्ष्याः पञ्चनखाः सेधागोधाकच्छपशल्लकाः ।
शशश्च मत्स्येष्वपि हि सिंहतुण्डकरोहिताः ॥
तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः ।' इति (या० स्मृ० १।१७७-१७८)
३. तथा हि हारीतः—
'सशल्कान्मत्स्यान्न्यायोपपन्नान् भक्षयेत्' इति । (इति म० मु०)
४. 'भोक्त्रैवाद्यौ न कर्त्रापि श्राद्धे पाठीनरोहितौ ।
राजीवाद्यास्तथा नेति व्याख्या न मुनिसम्मता ॥" इति (म० मु०)

अकेले विचरनेवाले (सांप आदि), नाम तथा जातिमें विशेषतः अज्ञात मृग तथा पक्षी और भक्ष्योंमें कहे गये भी (विशेष निषेधके बिना सामान्यतः कहे गये भी) पञ्चनख (पांच नखवाले) प्राणी (यथा—बानर, लंगूर आदि) को नहीं खावे ॥ १७ ॥

उक्त वचनका प्रतिप्रसव—

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥

सेह या शाही, शल्यक, गोह, गैंड़ा, कछुआ और खरगोश इन छवोंको तथा एक तरफ दांतवाले पशुमें ऊंटको छोड़कर शेष पशुको (मनु आदि) पञ्चनखोंमें भक्ष्य कहते हैं ॥ १८ ॥

छत्राक आदिके भक्षणका निषेध—

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद् द्विजः ॥ १९ ॥

छत्राक (कवक-भूकन्दविशेष), ग्राम्य सूकर, लहसुन, ग्राम्य मुर्गा, प्याज और गृञ्जन (लाल मूली या सलगम; किसी २ के मतसे गाजर) को बुद्धिपूर्वक खानेसे द्विज पतित होता है (बुद्धिपूर्वक या अभ्यासपूर्वक इनको खानेवाले द्विज पतितके प्रायश्चितको करें) ॥ १९ ॥

अभक्ष्य भक्षण करनेपर प्रायश्चित्त—

अमत्यैतानि षट् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ।
यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥

इन छः (५।१९) को खानेवाला (द्विज) कृच्छ्र सान्तपन (११।२१२) या यतिचान्द्रायण (११।२१८) व्रत करे और अन्य अभक्ष्य पदार्थों (५।५-१७) को खाकर एक दिन उपवास करे ॥ २० ॥

वर्षमें एक कृच्छ्र व्रतकी अवश्यकर्तव्यता—

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ द्विज विना जाने (अज्ञात रूपमें) खाये गये अभक्ष्य पदार्थोंको खानेकी शुद्धिके लिये वर्षमें एक बार प्राजापत्य कृच्छ्रव्रत (११।२११) अवश्य करे तथा जानकर खाये गये अभक्ष्य पदार्थोंकी शुद्धिके लिये तो विशेषरूप से (अवश्य ही) उन स्थलोंमें कथित प्रायश्चित्त करे ॥ २१ ॥

यज्ञार्थ विहित पशु-पक्षीका वध—

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा॥ २२॥

द्विज यज्ञके लिये तथा अवश्य रक्षणीय माता-पितादिकी रक्षाके लिये शास्त्र-विहित पशु-पक्षियोंका वध करे। ऐसा अगस्त्य ऋषिने पहले किया था॥ २२॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम्।
पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च॥ २३॥

क्योंकि पहले भी मुनियों तथा ब्राह्मण-क्षत्रियोंके यज्ञोंमें (शास्त्रानुसार) भक्ष्य पशु-पक्षियोंका पुरोडाश (हविष्य-हव्य) बना था, (अतः शास्त्र-विहित पशु-पक्षियोंका वध यज्ञके लिये करना चाहिये)॥ २३)

पर्युषित (बासी) भोज्य द्रव्य—

यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भोज्यं भोज्यमगर्हितम्।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत्॥ २४॥

जो मोदक आदि तथा विकारहीन अन्य भोज्य पदार्थ पर्युषित (बासी) हैं, उन्हें भी स्नेह (घृत-तैल) से संस्कार युक्तकर तथा बचे हुए पर्युषित यज्ञान्नको विना संस्कार किये ही खाना चाहिये।

विमर्श—बासी मोदकादिको पुनः घृत आदिसे संस्कृत कर खाने का विधान 'कुल्लूक भट्ट' के मतानुसार है, वे अपने मतकी पुष्टिमें 'मसूर मांससे संयुक्त तथा बासी पदार्थको धोकर तथा अभिघारित (छौंक-बघार) कर खाना चाहिये' इस आशयवाले स्मृति-वचनको प्रमाण रूपमें उपस्थित करते हैं। उनका कथन है कि यदि 'स्नेहादिसे संस्कृत बासी पदार्थ तथा यज्ञशेष हविष्यान्न—इनको बासी होने पर खानेका आदेश देना 'मनु' को इष्ट होता तब वे यज्ञशेष हविष्यान्नको अलग नहीं कहते, क्योंकि उस (यज्ञशेष हविष्यान्न) का ग्रहण भी घृतसे संस्कृत होनेसे ही स्वतः हो जाता'। किन्तु उक्त निर्णय आयुर्वेद सिद्धान्तके विरुद्ध मालूम पड़ता है, क्योंकि एक बार अग्निमें संस्कृत पदार्थकी पुनः अग्निमें संस्कार करनेसे वह पदार्थ अभक्ष्य हो जाता है, जैसे यशस्तिलकचम्पूमें कहा है—

'पुनरुष्णीकृतं त्याज्यं सर्वं धान्यं विरूढकम्।
दशरात्रोषिते वाद्यात्कंसे च निहितं घृतम्॥ (आश्वास ३ श्लो० ३४१)।

---

१. तदुक्तम्—'मसूरमांससंयुक्तं तथा पर्युषितं च यत्।
तत्तु प्रक्षालितं कृत्वा भुञ्जीत ह्यभिघारितम्॥' इति।

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २५ ॥

चिरकाल (अनेक रात्रियों) के रक्खे हुए भी यव तथा गेहूंके बने बिना स्नेह (घृत-तैल) के संस्कार किये सब पदार्थ तथा दूधके बने पदार्थ (खीर, खोआ, मलाई, रबड़ी आदि) द्विजोंको खाना चाहिये ॥ २५ ॥

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) द्विजोंके सम्पूर्ण भक्ष्य और अभक्ष्यों को यह (मैंने) कह दिया, अब मांसके खाने और न खानेकी विधिको कहूंगा ॥

प्रोक्षित आदि मांसका भक्षण—

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ २७ ॥

मन्त्र द्वारा 'प्रोक्षण' संस्कारसे युक्त यज्ञमें हवन किया गया मृगादि पशुका मांस, ब्राह्मणोंकी इच्छा हो तब (एक ही बार, दुबारा नहीं), शास्त्रोक्त विधिके अनुसार मधुपर्क तथा श्राद्धमें नियुक्त होने पर और प्राण-सङ्कट (अन्य खाद्यके अभाव या रोग-विशेषके) होनेपर मांसको अवश्य खाना चाहिये ॥

स्थावर-जङ्गमादिकी ब्रह्मकल्पित खाद्यता—

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

प्रजापति (ब्रह्मा) ने जीवका सब कुछ खाद्य कहा है, सब स्थावर (धान्य, फल, लतादिजन्य पदार्थ) तथा जङ्गम (पशु, पक्षी, जलचर आदि) जीव जीवोंके खाद्य (भक्ष्य) हैं ॥ २८ ॥

उक्त विषयका स्पष्टीकरण—

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥

चर (चलने-फिरनेवाले-मृगादि) जीवोंके अचर (नहीं चलने-फिरनेवाले—तृण, लता आदि); दाँतवाले (व्याघ्र, सिंह आदि) जीवोंके विना दांत वाले (हरिण आदि) जीव, हाथ सहित (मनुष्य आदि) जीवोंके विना हाथवाले

(मछली, पशु, पक्षी आदि) जीव और शूरवीर (व्याघ्र, सिंह आदि) जीवोंके भीरु (डरनेवाले—हाथी, मृग आदि) जीव खाद्य (भक्ष्य) हैं ॥ २९ ॥

विमर्श—यहां पर 'दंष्ट्री' (दांतवाले) शब्दसे जिन जीवोंके बड़े २ दांत होते हैं तथा दांत ही जिनका अस्त्रका काम देता है, ऐसे व्याघ्र, सिंह आदि जीवोंका ग्रहण है, इसीप्रकार 'अदंष्ट्री' (विना दांतवाले) शब्दसे छोटे २ दांतवाले (मृग, मनुष्य आदि) जीवोंका ग्रहण है; अन्यथा अदंष्ट्री (विना दांतवाले जीवोंका मिलना ही प्रायः दुर्लभ हो जायगा ।

भक्ष्यको प्रतिदिन खानेपर भी दोषाभाव—

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥ ३० ॥

प्रतिदिन भक्ष्यजीवोंको खानेवाला भी भक्षक दोषी नहीं होता है, क्योंकि ब्रह्माने ही भक्ष्य तथा भक्षक—दोनों जीवोंको बनाया है ॥ ३० ॥

प्रोक्षितादि मांसके भक्षणका विधान—

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥

यज्ञके लिये (शास्त्रोक्त विधिसे) मांसका भक्षण करना दैव (देव-सम्बन्धी) विधि है और इसके विपरीत (अपने लिये या शास्त्रविरुद्ध यज्ञके नाम पर) मांसका भक्षण करना राक्षस (राक्षस-सम्बन्धी) विधि है (अतः अपने उदरके लिये या शास्त्रविरुद्ध यज्ञके नामपर—जैसा प्रायः आजकल बलिदानके नाम पर सहस्रों बकरे आदिका वध किया जाता है—मांसका भक्षण करना सर्वथा त्याज्य है) ॥३१॥

क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ।
देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥ ३२ ॥

खरीदकर, स्वयं मारकर या किसीके द्वारा दिये हुए मांसको देवता तथा पितरों के लिये समर्पण कर खानेवाला दोषी नहीं होता है ॥ ३२ ॥

विधिरहित मांस-भक्षणका निषेध—

नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः ।
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३ ॥

विधानको जाननेवाला द्विज विना आपत्तिकालमें पड़े विधिरहित (देवों या पितरोंको विना समर्पण किये) मांसको न खावे, क्योंकि विधिरहित मांसको खाने-

वाला मरकर उन (जिसका मांस खाया है, उन) के द्वारा विवश (लाचार-परवश) होकर खाया जाता है ॥ ३३ ॥

न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः ।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः ॥ ३४ ॥

धनके लिये पशु (पक्षी आदि) का वध करनेवाले (वधिक-व्याधा आदि) को वैसा पाप नहीं होता, जैसा पाप व्यर्थ (देव-पितरके कार्यके विना) मांसभक्षण करनेवालेको मरनेपर होता है ॥ ३४ ॥

श्राद्ध तथा मधुपर्कमें नियुक्त होकर मांसभक्षण आवश्यक—

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥ ३५ ॥

शास्त्रानुसार नियुक्त (श्राद्ध तथा मधुपर्कमें) नियुक्त जो मनुष्य मांसको नहीं खाता है, वह मरकर इक्कीस जन्म तक पशु होता है ॥ ३५ ॥

विमर्श—जिसने मांसका सर्वथा त्याग कर दिया है, उसके लिये उक्त वचन लागू नहीं है, इसी सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर कविकुलशिरोमणि 'भवभूति' ने अपनी अमररचना 'उत्तररामचरित' के चतुर्थ अङ्कमें महर्षि वसिष्ठके लिये मांस-सहित तथा राजर्षि जनकके लिये मांस-रहित मधुपर्क देनेका उल्लेख 'सौधातकि' नामक वाल्मीकि शिष्यके द्वारा कहकर 'दाण्डायन' नामक दूसरे वाल्मीकि-शिष्यके द्वारा मांसभोजियोंके लिये मांस-भक्षणका विधान ऋषियोंने माना है और पूज्य जनक मांसत्यागी हैं (अतः उनके लिये महर्षि वाल्मीकिजीने दही तथा मधुसे ही मधुपर्क दिया है)' ऐसा कहा है[1]।

अप्रोक्षित-मांसभक्षणका निषेध—

असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन ।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण (द्विजमात्र, केवल ब्राह्मण ही नहीं) मन्त्रोंसे असंस्कृत मांसको कदापि न खावे। नित्य (प्रवाह नित्यतासे चला आता हुआ) विधिको मानता हुआ मन्त्रोंसे संस्कृत मांसको ही खावे ॥ ३६ ॥

---

१. तथा चोत्तररामचरिते—'सौधातकिः—'येनागतेषु वसिष्ठमिश्रेषु वत्सतरी विशसिता। अद्यैव प्रत्यागतस्य राजर्षेर्जनकस्य भगवता वाल्मीकिना दधिमधुभ्यामेव निर्वर्तितो मधुपर्कः। वत्सतरी पुनर्विसर्जिता'। दाण्डायनः अनिवृत्तमांसानामेवं कल्पं व्याहरन्ति केचित्। निवृत्तमांसस्तु तत्रभवान् जनकः।' इति (अङ्क ४ पृ० १०८)।

पशुभक्षणकी अधिक आकाङ्क्षा में—

कुर्याद् घृतपशुं सङ्गे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा।
न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥

पशु-मांस-भक्षणकी अधिक आकाङ्क्षा होनेपर घी या आटे का पशु बनाकर खावे, किन्तु व्यर्थ (यज्ञ-श्राद्धकार्यके विना) पशुको मारनेकी इच्छा कभी न करे ॥ ३७ ॥

विमर्श—यहां व्यर्थ (यज्ञादि कार्य के विना) पशुको मारनेकी इच्छाका भी निषेध किया गया है, फिर उसे मारकर मांस खाना तो बहुत दूरकी बात है।

व्यर्थ पशुहिंसासे दोष—

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम्।
वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

वृथा (यज्ञ तथा श्राद्धकार्यके विना) पशुको मारनेवाला, पशुके शरीरमें जितने रोंएं हैं, उतने जन्म तक उस पशुको मारकर प्रत्येक जन्ममें मारा जाता है ॥

यज्ञार्थ पशुवधमें दोषाभाव—

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३९ ॥

ब्रह्माने यज्ञके लिये पशुओंको स्वयं बनाया है और यज्ञ सम्पूर्ण संसारकी उन्नतिके लिये है; इस कारण यज्ञमें पशुका वध (वधजन्य दोष न होनेसे) वध नहीं है ॥

यज्ञार्थ मारे गये पशु आदिकी जन्मान्तरमें जात्युन्नति—

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥ ४० ॥

यज्ञके लिये नाश (मृत्यु) को प्राप्त ओषधियां (व्रीहि आदि) पशु (छाग आदि), वृक्ष (यज्ञस्तम्भके लिये खदिरादि), तिर्यक् (कच्छप आदि) और पक्षी (कपिञ्जल आदि) फिर (जन्मान्तरमें) उत्तम योनिको प्राप्त करते हैं ॥४०॥

पशुवधके योग्य कार्य—

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥

मधुपर्क, यज्ञ (ज्योतिष्टोम आदि) पितृकार्य (श्राद्ध) तथा देवकार्यमें ही पशुका वध करना चाहिये। (अन्य किसी कार्यमें नहीं); ऐसा मनुने कहा है ॥

एष्वर्थेषु पशून्हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२ ॥

इन (५।४१) कर्मोंमें पशुवध करता हुआ वेदतत्त्वको जाननेवाला द्विज अपनेको तथा पशुको उत्तम गतिमें पहुंचाता है ॥ ४२ ॥

विमर्श—मनुष्याधिकारिक यज्ञादि कर्ममें अनधिकारी पशुको उत्तम गतिकी प्राप्ति उक्त शास्त्रीय वचनसे ही प्रमाणित समझनी चाहिये। जैसे पिताके अधिकारवाले कर्ममें पुत्रको फल-प्राप्ति होती है, वैसे ही पशु आदिको फल-प्राप्तिकी संभावनासे दयालु यज्ञकर्ता ही उक्त यज्ञीय पशुके लिये भी उत्तमगति प्राप्तिरूप फलकी कामना करेगा। इसी वास्ते प्रकृत श्लोकके तृतीय चरणसे यज्ञकर्ताके द्वारा ही दोनोंको उत्तमगति की प्राप्ति कही गयी है।

वेदविरुद्ध हिंसाका सर्वत्र निषेध—

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः।
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥

गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम या वानप्रस्थाश्रममें रहता हुआ जितेन्द्रिय द्विज वेदविरुद्ध हिंसाको आपत्तिमें भी न करे ॥ ४३ ॥

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥ ४४ ॥

इस चराचर जगत्में जो हिंसा वेद-सम्मत है, उसे हिंसा नहीं समझे; क्योंकि वेदसे ही धर्म निकला है ॥ ४४ ॥

अपने सुखकी इच्छासे पशुवधमें दुःख प्राप्ति दोष—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥

जो अहिंसक जीवोंका अपने सुख (जिह्वास्वाद-शरीरपुष्टि आदि) की इच्छासे वध करता है, वह जीता हुआ तथा मरकर भी कहींपर सुखपूर्वक उन्नति नहीं करता ॥ ४५ ॥

अहिंसासे सुखप्राप्ति—

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

जो जीवोंका वध तथा बन्धन नहीं करना चाहता है, वह सबका हिताभिलाषी अत्यन्त सुख प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥ ४७ ॥

जो किसीको हिंसा नहीं करता, वह जिसका चिन्तन करता है, जो कार्य करता है और जिस (परमात्मचिन्तन आदि) में ध्यान लगाता है; उन सबोंको बिना (विशेष) प्रयत्नके ही प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

मांस भक्षणका पुनः निषेध—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥

जीवोंकी बिना हिंसा किये कहीं भी मांस नहीं उत्पन्न हो सकता है और जीवोंकी हिंसा स्वर्ग-साधन नहीं है, अतः मांसको छोड़ देना (नहीं खाना) चाहिये ॥ ४८ ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥

मांसकी उत्पत्ति और जीवोंके वध तथा बन्धनको समझकर सब प्रकारके मांस-भक्षणसे निवृत्त होना चाहिये ॥ ४९ ॥

विमर्श—मांसोत्पत्ति शुक्र-शोणित-विकारसे होती है तथा जीवोंके वध और बन्धन अत्यन्त क्रूर कर्म हैं, इत्यादि बातोंका विचारकर शास्त्रविहित मधुपर्क एवं यज्ञादिके मांस-भक्षणका भी त्याग करना चाहिये, शास्त्र-विरुद्ध केवल अपने शरीर की पुष्टि या जिह्वाकी तृप्तिके लिये मांस-भक्षण करनेकी तो बात ही क्या है ?।

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

जो पिशाचके समान, शास्त्रोक्त विधि-विहित भी मांस-भक्षणका त्याग करता है वह लोगोंका प्रिय बनता है तथा रोगोंसे पीडित नहीं होता ॥ ५० ॥

विमर्श—पिशाच जैसे मांस-भक्षण करता है, वैसे मांस-भक्षण नहीं करता, अपितु मांस-भक्षणका त्याग करता है—यह व्यतिरेक दृष्टान्त है, अतः शास्त्र-विरुद्ध मांस-भक्षणसे लोगोंका अप्रिय बनने तथा रोगोंसे पीडित होनेसे वह त्याज्य है।

अनुमति-दाता आदि भी हिंसक—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥

अनुमति देनेवाला, शस्त्रसे मरे हुए जीवके अङ्गोंको टुकड़े-टुकड़े करनेवाला,

मारनेवाला, खरीदनेवाला, बेचनेवाला, पकानेवाला, परोसने या लानेवाला और खानेवाला; (जीव वधमें) ये सभी घातक (हिंसक) होते हैं ॥ ५१ ॥

विमर्श—अनुमन्ता—जिसकी अनुमतिके विना उस प्राणीका वध नहीं किया जा सकता, वह क्रयविक्रयी—गोविन्दराजने इसका अर्थ 'खरीदकर बेचनेवाला' किया है, किन्तु 'मारनेसे हन्ता, धनसे खरीदनेवाला, धन लेनेसे बेचनेवाला और उसमें प्रवृत्ति करनेसे संस्कार करनेवाला—(घातक होते हैं)' इस यम वचनमें[1] 'खरीदनेवाले तथा बेचनेवाले'—दोनोंको पापभागी लिखा है। यह घातक (हिंसक) स्वदोष शास्त्रोक्ति विधिसे विरुद्ध हिंसा-विषयक है, शास्त्रके विधि-निषेधोभयपदक होते हैं तथा मांस-भक्षकके लिये अन्यत्र प्रायश्चित्त कहा गया है।

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अनभ्यर्च्य पितॄन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ ५२ ॥

जो देवता तथा पितरोंको विना तृप्त किये दूसरे (जीवों) के मांससे अपने मांसको बढ़ाना चाहता है, उससे (बड़ा) कोई दूसरा पापी नहीं है ॥ ५२ ॥

मांस-भक्षणका त्याग अश्वमेधके तुल्य—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥

जो प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ सौ वर्ष तक करे तथा जो मांस नहीं खावे; उन दोनोंका पुण्यफल (स्वर्गादि लाभ) बराबर है ॥ ५३ ॥

[सदा यजति यज्ञेन सदा दानानि यच्छति ।
स तपस्वी सदा विप्रो यश्च मांसं विवर्जयेत् ॥ २ ॥]

जो मांसका त्याग करता है; वह सर्वदा यज्ञसे देवसन्तुष्टि करता है, सर्वदा दानोंको देता है और सर्वदा तपस्वी रहता है ॥ २ ॥

फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

पवित्र फल तथा कन्दों तथा मुन्यन्न (तिन्नी आदि) के खानेसे (मनुष्य) वह फल नहीं पाता है, जो मांसके त्यागसे पाता है ॥ ५४ ॥

---

१. तथा च यमः—'हननेन तथा हन्ता धनेन क्रयिकस्तथा ।
विक्रयी तु धनादानात्संस्कर्ता तत्प्रवर्तनात् ॥' इति, (म० मु०)

'मांस' शब्दकी निरुक्ति—

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥

'मैं जिसके मांसको यहांपर खाता हूं, वह मुझे परलोकमें खायेगा' विद्वान् 'मांस' शब्दका यही मांसत्व (मांसपना अर्थात् 'मांस' शब्दकी निरुक्ति) बतलाते हैं ॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

मांसके खानेमें, मद्य (के पीने) में और मैथुन (के करने) में दोष नहीं है, क्योंकि यह जीवोंकी प्रवृत्ति (स्वाभाविक धर्म) है; परन्तु उनसे निवृत्ति (उन मांसादिका त्याग करना) महान् फल (स्वर्गादि देने) वाला है ॥ ५६ ॥

प्रेत शुद्धि तथा द्रव्य शुद्धिके वर्णनका उपक्रम—

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च ।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—अब) चारों वर्णोंकी प्रेतशुद्धि (मरणाशौचसे शुद्धि) तथा द्रव्य शुद्धि (तैजसादि पदार्थोंकी शुद्धि) को क्रमसे यथायोग्य कहूंगा ॥ ५७ ॥

सपिण्डोंकी दश दिन अशौच—

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ।
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥

(बच्चोंके) दांत पैदा होनेपर, या शीघ्र पैदा होनेवाला हो तब, चूडाकरण और यज्ञोपवीत संस्कार करनेपर मरनेसे सभी बान्धवों (सपिण्ड तथा समानोदक वालों-५।६१) को सूतक (बच्चेके पैदा होनेके सूतक) के समान अशौच होता है ॥ ५८ ॥

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
अर्वाक् सञ्चयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥ ५९ ॥

सपिण्डोंको (सात पीढ़ीवालों तक—४।६०) मरणाशौच दश, चार, तीन या एक अहोरात्र (दिन-रात) लगता है ॥ ५९ ॥

विमर्श—यह वैकल्पिक काल अग्निहोत्र, वेदादिगुणोंकी अपेक्षासे है। अग्निहोत्र तथा मन्त्र ब्राह्मणरूप सम्पूर्ण वेदशाखाको पढ़े हुए ब्राह्मणको एक दिनका, उन

दोनों (श्रौताग्निवाला तथा समस्त मन्त्र ब्राह्मण सहित वेदाध्येता) में से एक गुणयुक्त ब्राह्मणको तीन दिन, उक्त दोनों गुणोंसे हीन केवल स्मार्त अग्निहोत्रीको चार दिन तथा सब गुणोंसे हीनको दश दिन अशौच होता है। यहां 'दिन' शब्द दिन-रातका वाचक है। यह वैकल्पिक अशौच अवस्था दक्ष[1] तथा पराशरके[2] अनुसार म० मु० कारकी व्याख्यामें वर्णित है।

सपिण्ड तथा समानोदकके लक्षण—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

सपिण्डता सातवें पीढ़ीमें निवृत्त हो जाती है और समानोदकता जन्म तथा नामके न जाननेपर निवृत्त हो जती है ॥ ६० ॥

विमर्श—सप्तम पुरुखा (सातवीं पीढ़ी)—(१), पिता, (२) पितामह और (३) प्रपितामह—ये तीन पिण्डभागी तथा प्रपितामह के (४) पिता, (५) पितामह और (६) प्रपितामह ये तीन पिण्डलेपभागी अर्थात् कुल ६ तथा एक स्वयं इस प्रकार ७ पीढियों तक सपिण्डता होती है। जिस व्यक्तिके ये सपिण्ड हैं, उनका यह व्यक्ति भी पिण्डदाता होनेसे 'सपिण्ड' है। मत्स्यपुराणमें कहा भी है—'चतुर्थ आदि (प्रपितामहके पिता, पितामह और प्रपितामह) लेपभागी हैं तथा पिता आदि (तीन—पिता, पितामह और प्रपितामह) पिण्डभागी हैं, पिण्ड देनेवाला सातवा है, इस प्रकार यह सपिण्डता सात पुरुखाओं (पीढ़ियों) से सम्बद्ध है[3]।' यह सपिण्डता समान (एक) गोत्रवालोंमें ही होती है[4] भिन्नगोत्र-वालेमें नहीं, इसी कारण मातामहके साथ एक पिण्डका सम्बन्ध रहनेपर भी सपिण्डता नहीं मानी जाती।

---

१. यथा च दक्षः—'एकाहस्तु समाख्यातो योऽग्निवेदसमन्वितः।
हीने हीनतरे चैव द्वित्रिचतुरहस्तथा ॥'

इति द० स्मृ० ६।६। अत्र 'एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्नि—' इति 'हीने हीनं भवेच्चैव द्वित्रिचतुरह—' इति च म० मु० पाठान्तरं दृश्यते।

२. तथा च पराशरः—'त्र्यहात्केवलवेदस्तु द्विहीनो दशभिर्दिनैः ॥'

इति परा० स्मृ० ३।५। अत्र 'त्र्यहः…… ‥निर्गुणो दश—' इति म० मु० पाठान्तरं दृश्यते।

३. तदुक्तं मत्स्यपुराणे—'लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥'
इति। (म० मु०)

४. अत एव शङ्खलिखितौ—'सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी।'
इति। (म० मु०)

मरणके समान जन्ममें भी अशौच—

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार यह मरणाशौच सपिण्डोंमें कहा गया है, उसी प्रकार जन्म (बच्चा पैदा) होनेपर भी पूर्ण शुद्धि चाहनेवाले सपिण्डोंके लिये अशौच होता है ॥ ६१ ॥

[उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।
दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥ ३ ॥]

[दोनों (जननाशौच तथा मरणाशौच) में कुलवाले (सपिण्डवाले) का अन्न दस दिन तक नहीं खाया जाता है तथा दान लेना, यज्ञ और वेदका स्वाध्याय छोड़ दिया जाता है ॥ ३ ॥]

जननाशौच तथा मरणाशौचमें विभिन्नता—

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥

मरणाशौच सबों (सपिण्डों) को होता है, और सूतक (जननाशौच—बालक उत्पन्न होनेपर अशुद्धि) केवल माता-पिताको होता है। (उसमें भी यह विशेषता है कि—) केवल माताको ही सूतक (१० दिनतक अशुद्धि) होता है, पिता तो स्नानकर शुद्ध (स्पर्श करने योग्य) हो जाता है ॥ ६२ ॥

विमर्श—यहां शुद्धि शब्दसे स्पर्श करने योग्य शुद्धि अपेक्षित है, अतः स्नानसे पिता सवस्त्र स्नान करने पर स्पर्शके योग्य शुद्ध होता है और माता ही दस दिन अस्पृश्य रहती है[1]।

[सत्रधर्मप्रवृत्तस्य दानधर्मफलैषिणः ।
त्रेताधर्मोपरोधार्थमरण्यस्यैतदुच्यते ॥ ४ ॥]

[जो यज्ञ (या ज्ञानयज्ञ) धर्ममें प्रवृत्त है तथा दानके फलको चाहता है, और त्रेता धर्मके उपरोधसे अरण्यमें (वानप्रस्थाश्रम में) रहता है; उसके लिये यह अशौच कहा गया है ॥ ४ ॥]

---

१. तथा हि संवर्तः—'जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयते ।
माता शुद्ध्येद्दशाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितुः ॥'
इति (म० मु०)

वीर्यपातमें शुद्धिविचार—

निरस्य तु पुमाञ्छुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्धयति ।
बैजिकादभिसम्बन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥ ६३ ॥

मनुष्य (ज्ञानपूर्वक) वीर्यपातकर स्नान करके ही शुद्ध होता है तथा परस्त्रीमें बैजिक सम्बन्ध[1] होनेपर तीन दिन अशुद्धि मनानी चाहिये ॥ ६३ ॥

विमर्श—गृहस्थ ज्ञानपूर्वक वीर्यपात करनेपर स्नानसे तथा अज्ञानपूर्वक (स्वप्न आदिमें) वीर्यपात करनेपर बिना स्नानसे शुद्ध होता है तथा ब्रह्मचारीकी शुद्धि (२।१८१) में कही गयी है ।

[जननेऽप्येवमेव स्यान्मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ५ ॥]

[जन्म (बालककी उत्पत्ति) में भी माता-पिताको इसी प्रकार अशौच होता है, माताको (१० दिनतक) अशौच रहता है तथा पिता (सवस्त्र) स्नान करके शुद्ध हो जाता है ॥ ५ ॥]

शव-स्पर्श करनेवालोंका शुद्धि-विचार—

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।
शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥ ६४ ॥

शवका स्पर्श करनेवाले सपिण्ड दश दिनमें शुद्ध होते हैं तथा समानोदक तीन दिनमें शुद्ध होते हैं ॥ ६४ ॥

विमर्श—एक दिन एक रात अर्थात् एक दिन-रात तथा तीन त्रिरात्र अर्थात् नव दिन-रात, इस प्रकार सर्व योगसे 'दस दिन' अर्थ करना चाहिये । गोविन्द-राज तो 'धन लेकर शवको ढोने फेंकने आदिसे स्पर्श करनेपर दश दिनमें ब्राह्मणकी शुद्धि होती है, ऐसा अर्थ करते हैं, कोई २ एक दिन-रात, तीन दिन-रात और दश दिन-रात अर्थ करते हैं, वह हेय है । इस वचनका मुख्य विषय यह है कि—'यदि 'दशाहं—' (४।५९) के अनुसार जिसकी शुद्धि एक दिन या तीन दिन में होती है, वह भी मोहादिवश शव-स्पर्श करने से दश दिनमें ही शुद्ध होता है' ।

गुरु आदिके शवका स्पर्श करनेवाले शिष्यका शुद्धिकाल—

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्धयति ॥ ६५ ॥

असपिण्ड गुरु (आचार्य, उपाध्याय आदि) के शवका स्पर्श तथा अन्त्येष्टि

१. तथा च विष्णुः—'परपूर्वभार्यासु त्रिरात्रम् ।' इति ।

(दाहकर्म) करनेमें सम्मिलित शिष्य शव ढोनेवालोंके साथ दश दिन-रातमें ही शुद्ध होता है ॥ ६५ ॥

गर्भस्रावमें स्त्रीशुद्धि—

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुद्ध्यति ।
रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥

तीन माससे लेकर छः मासतक जितने मासका गर्भ गिरा हो, उतने दिनोंमें माता शुद्ध होती है तथा साध्वी रजस्वला स्त्री रजके निवृत्त होनेपर स्नानसे (पांचवे दिन) शुद्ध (यज्ञ-देवपूजनमें भाग लेने योग्य) होती है ॥ ६६ ॥

विमर्श—छः मासतक अवधि आदिपुराण[1]के अनुसार है । गोविन्दराज तो आदिपुराणमें यह वचन न मिलनेसे 'सात मासतकका अवधि' मानते हैं और प्रथम और द्वितीय मासमें गर्भस्राव होनेपर तीन दिन माताकी अशुद्धि कहते हैं, अपने मतकी पुष्टिमें वे हारीत[2] तथा सुमन्तु[3]के वचनका प्रमाण देते हैं ।

उपनयनसे पूर्व बालकके मरनेपर अशौच—

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।
निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥

चूडाकरण संस्कारसे पहले बालकके मरनेपर एक दिनमें और चूडाकरण संस्कारके बाद तथा उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार करनेके पहले बालकके मरनेपर तीन दिनमें सपिण्डोंकी शुद्धि होती है ॥ ६७ ॥

[प्राक्संस्कारप्रमीतानां वर्णानामविशेषतः ।
त्रिरात्रात्तु भवेच्छुद्धिः कन्यास्वह्नो विधीयते ॥ ६ ॥

[संस्कारसे पहले सब वर्णके बच्चोंके मरनेपर सामान्यतः तीन रात (दिन-रात) में तथा कन्याके मरनेपर एक रातमें शुद्धि होती है ॥ ६ ॥

अदन्तजन्मनः सद्य आचूडान्नैशिकी स्मृता ।
त्रिरात्रमाव्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम् ॥ ७ ॥

---

१. यथोक्तमादिपुराणे—षण्मासाभ्यन्तरं यावद्गर्भस्रावो भवेद्यदि । तदा माससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥ अत ऊर्ध्वं तु जात्युक्तमाशौचं तासु विद्यते ।'

२. यथाऽऽह हारीतः—'गर्भस्रावे स्त्रीणां त्रिरात्रं साधीयो रजोविशेषत्वात् । पित्रादिसपिण्डानां त्वत्र सद्यःशौचम् ।' इति (म० मु०)

३. यथाऽऽह सुमन्तुः—'गर्भमासतुल्या दिवसा गर्भसंस्रवणे सद्यःशौचं वा भवति ।

बिना दांत जमे बच्चेके मरनेपर तत्काल (स्नान मात्रसे), चूडाकरण संस्कार करनेके बाद बच्चेके मरनेपर एक रातमें, उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कारके बाद मरनेपर तीन दिनमें और इसके बाद मरनेपर दश दिनमें सपिण्ड-वालोंकी शुद्धि होती है ॥ ७ ।

परपूर्वासु भार्यासु पुत्रेषु प्रकृतेषु च ।
मातामहे त्रिरात्रं तु एकाहं त्वसपिण्डतः ॥ ८ ॥]

परस्त्री (दूसरेकी रहकर जो अपनी स्त्री बादमें हुई हो) की, उसमें उत्पन्न पुत्रोंकी तथा नानाकी अशुद्धि तीन दिन और असपिण्डोंको एक दिन होती है ॥८॥]

दो वर्षसे कम आयुवाले मृत बालकका ग्रामसे बाहर प्रक्षेप—

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।
अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ ६८ ॥

दो वर्षसे कम अवस्थावाले मरे हुए बच्चेको मालादि पहनाकर पवित्र भूमि-पर (ग्रामसे) बाहर बिना अस्थिसंचय किये ही छोड़ दें ॥ ६८ ॥

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया ।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च ॥ ६९ ॥

इस (दो वर्षसे कम आयुवाले बालक) का अग्निसंस्कार (दाहकर्म) तथा उदकक्रिया (तिलाञ्जलि देना) न करे, किन्तु उसे जङ्गलमें काष्ठके समान छोड़कर तीन दिन अशौच मनावे ॥ ६९ ॥

विमर्श—वनमें काष्ठके समान मृत बालकोंको छोड़नेका विधानकर भगवान् मनुने उसके निमित्त शोक, तिलाञ्जलि-दान तथा श्राद्ध आदि नहीं करनेका उपदेश दिया है । यद्यपि प्रकृत वचनमें केवल पृथ्वीपर काष्ठवत् छोड़नेका विधान है, तथापि 'ऊनद्विवर्षं निखनेत्' (या० स्मृ० ३।१) अर्थात् 'दो वर्षसे कम आयुवाले मृत बालकको (भूमिमें) गाड़ दे' इस याज्ञवल्क्य वचनके अनुसार उसे भूमिमें गढा खोदकर गाड़ देना चाहिये; जैसा प्रायः सर्वत्र ऐसा ही किया जाता है । गङ्गा आदि महानदियोंके तटवर्ती स्थानोंमें तो उक्त शवको उन्हीं नदियोंमें प्रवाहित कर देते हैं । सर्वत्र नदियोंकी उपलब्धि न हो सकनेके कारण ही संभवतः भूमिमें गाड़नेका विधान किया गया है, यमने तो दो वर्ष तककी आयुवाले मृत बालकके शरीरमें घृत लेप करके यमगाथा पढ़ते तथा यमसूक्त जपते हुए भूमिमें उसे गाड़नेका विधान किया है[1] ।

---

१. 'ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं घृताक्तं निखनेद्भुवि । यमगाथां गायमानो यमसूक्तं जपन्नपि ।' (यमः)

उक्त विषयमें अन्य विकल्प—

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया।
जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥ ७० ॥

तीन वर्षकी आयुमें नहीं पहुंचे हुए अर्थात् दो वर्षसे कम आयुवाले मृत बालककी जलक्रिया (तिलाञ्जलि-दान तथा दाह आदि कर्म) को बान्धव (मृत बालकके पिता आदि) न करे। अथवा—दांत जमनेपर या नामकरण संस्कारके ही हो जानेपर उस मृत बालकके निमित्त जलाञ्जलि दे (और दाह कर्म तथा श्राद्ध भी करे) ॥ ७० ॥

विमर्श—इस दो वर्ष तककी आयु वाले मृत बालकके उद्देश्य से पिण्डदान आदि श्राद्धकर्म करनेसे प्रेत (मृतात्मा) का उपकार होता है तथा नहीं करनेसे पिता आदि बान्धवोंको कोई दोष नहीं होता।

सहपाठीके मरने तथा समानोदकके यहां जन्म होने पर—

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम्।
जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥

सहपाठी (एक गुरुसे साथ पढ़े हुए) ब्रह्मचारीके मरनेपर एक दिन-रात अशौच होता है और समानोदक (४।६०) के यहां सन्तानोत्पत्ति होनेपर तीन रात (दिन-रात) में शुद्धि होती है ॥ ७१ ॥

कन्याके मरनेपर आशौच-निर्णय—

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ७२ ॥

अविवाहित (किन्तु वाग्दत्त) कन्याके मरनेपर पतिपक्षवालोंको तथा सपिण्ड पितृ-पक्षवालोंकी तीन दिनमें शुद्धि होती है ॥ ७२ ॥

विमर्श—यह व्यवस्था आदि पुराणके अनुसार है। मेधातिथि तथा गोविन्दराज

---

१. तथा चादिपुराणे—
'आजन्मनस्तु चूडान्तं यत्र कन्या विपद्यते। सद्यःशौचं भवेत्तत्र सर्ववर्णेषु नित्यशः ॥
ततो वाग्दानपर्यन्तं यावदेकाहमेव हि। अतः परं प्रवृद्धानां त्रिरात्रमिति निश्चयः ॥
वाग्दाने तु कृते तत्र ज्ञेयं चोभयतस्त्र्यहम्। पितुर्वरस्य च ततो दत्तानां भर्तुरेव च ॥
स्वजात्युक्तमशौचं स्यान्मृतके सूतकेऽपि च।' इति। (म० मु०)

'नृणामकृतचूडानाम्' (५।६७) वचनके अनुसार शुद्धि मानते हैं, किन्तु उक्त सिद्धान्त माननेमें पुत्रके समान कन्याके भी चूडाकरण संस्कारके बाद मरने पर तीन दिन अशौच होगा जो आदिपुराणसे विरुद्ध है।

[परपूर्वासु पुत्रेषु सूतके मृतकेषु च।
मातामहे त्रिरात्रं स्यादेकाहं तु सपिण्डने ॥ ६ ॥]

[पहले दूसरेकी रहकर बाद में जो अपनी स्त्री हुई हो, ऐसी स्त्री में उत्पन्न पुत्र के जननाशौच और मरणाशौच मातामह (नाना) को तीन दिन और सपिण्डनको एक दिन होता है ॥ ९ ॥]

अशौचावस्थामें नियम—

अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम्।
मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥ ७३ ॥

(अशौच वालोंको) कृत्रिम लवणसे रहित अन्न (पायस-खीर आदि) खाना चाहिये, तीन दिन नदी आदिमें स्नान करना चाहिये, मांस-भोजनका त्याग करना चाहिये और अलग २ भूमिपर (पलंग या खाटपर नहीं) सोना चाहिये ॥

विदेशमें मरनेपर अशौचका उपक्रम—

सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः।
असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः सम्बन्धिबान्धवैः ॥ ७४ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) पासमें मरनेपर यह अशौचकी विधि मैंने कही है, अब पासमें न मरनेपर अर्थात् परदेश या परोक्षमें-जहां कोई अपना बान्धव नहीं हो वहां मरनेपर (आगे कही हुई विधि) सम्बन्धियों (सपिण्ड तथा समान उदकवाले बन्धुओं) को जाननी चाहिये ॥ ७४ ॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम्।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥

विदेश में मरे हुए बान्धवको दश दिन बीतनेके पहले जो सुने, वह जितने दिन (दशदिन पूरा होनेमें) बाकी हैं, उतने ही दिनों तक अशुद्ध रहता है ॥

विमर्श—बृहस्पतिके वचनानुसार बालक जन्म लेनेपर भी यही शुद्धि काल समझना चाहिये।

[मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षण्मासे पक्षिणी तथा ।
अहस्तु नवमादर्वागूर्ध्वं स्नानेन शुद्ध्यति ॥ १० ॥]

[विदेशमें मरे हुए बान्धवका समाचार तीन मासके बाद सुनकर तीन रात, छः मासके बाद सुनकर पक्षिणी रात्रि (वर्तमान दिन तथा आगेवाले दिनके सायंकाल तक), नौ मासके बाद बान्धवका समाचार सुनकर एक दिन तथा उस (नौ मास) के बाद सुनकर केवल स्नान करने से शुद्ध होता है ॥ १० ॥]

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ॥ ७६ ॥

विदेशमें मृत बान्धवका समाचार मरनेके दस दिन बाद सुनकर सपिण्ड तीन दिनमें शुद्ध होता है तथा एक वर्ष बीननेपर उक्त समाचार सुनकर केवल स्नान करनेसे सपिण्ड शुद्ध (अशौचसे रहित) हो जाता है ॥ ७६ ॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ।
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥ ७७ ॥

दस दिन बीतनेपर सपिण्ड बान्धवका मरण या पुत्रका जन्म सुनकर वस्त्र-सहित स्नान करके मनुष्य शुद्ध (स्पर्शके योग्य) हो जाता है ॥ ७७ ॥

बालक तथा समानोदकके विदेशमें मरनेपर—

बाले देशान्तरस्थे च पृथक् पिण्डे च संस्थिते ।
सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुद्ध्यति ॥ ७८ ॥

बालक (बिना दांत उत्पन्न हुए) तथा समानोदक (सपिण्ड नहीं–५।६०) बान्धवके मरनेपर मनुष्य वस्त्रके साथ स्नान कर तत्काल शुद्ध हो जाता है ॥ ७८ ॥

अशौच तथा सूतकके बीचमें पुनः अशौच तथा सूतक होनेपर—

अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी ।
तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥ ७९ ॥

पूर्वागत अशौच या सूतकके दश दिन बीतनेके पहले ही फिर किसीका मरण या जन्म होनेपर तब तक पहले अशौच या सूतकके दश दिन पूरा होनेसे ही ब्राह्मण (द्विज) शुद्ध हो जाता है। (पहले अशौच तथा सूतकमें ही दूसरे अशौच या सूतकका अन्तर्भाव हो जाता है) ॥ ७९ ॥

आचार्यादिके मरनेपर अशौचकाल—

त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ।

तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ८० ॥

आचार्य (२।१४०) के मरनेपर तीन (दिन-रात), और आचार्य पुत्र तथा आचार्य-पत्नीके मरनेपर एक दिन-रात अशौच होता है, यह शास्त्र मर्यादा है॥

श्रोत्रिय, मामा आदिके मरनेपर अशौच काल—

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥ ८१ ॥

श्रोत्रिय (अपने गृहमें रहनेवाला मित्रभावापन्न वेदपाठी), के मरनेपर तीन रात तथा मामा, शिष्य, ऋत्विक् (२।१४३) और बान्धवके मरनेपर पक्षिणी रात्रि (वर्तमान दिन तथा अगले दिन सायंकाल तक) अशौच होता है ॥ ८१ ॥

राजा आदिके मरनेपर अशौच काल—

प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः ।
अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ८२ ॥

जिसके देशमें रहता हो, उस अभिषिक्त राजाके दिनमें मरनेपर सायं (सूर्यास्त) कालतक और रातमें मरनेपर प्रातःकाल (ताराओंके रहनेका समय) तक अशौच होता है । घरमें रहनेवाले अश्रोत्रिय (श्रोत्रियके लिये तीन रात पहले (४।८१) कह चुके हैं), अनूचान (अङ्गोंके सहित वेद पढ़नेवाला), और गुरु (२।१४९, १४२ भी) के दिनमें मरनेपर केवल सायंकाल तक और रातमें मरनेपर प्रातःकाल तक अशौच रहता है ॥ ८२ ॥

चतुर्वर्णका शुद्धिकाल—

शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥

यज्ञोपवीत संस्कारसे युक्त सपिण्डके मरनेपर ब्राह्मण दश दिनमें, क्षत्रिय बारह दिनमें, वैश्य पन्द्रह दिनमें और शूद्र एक मासमें शुद्ध होता है ॥ ८३ ॥

विमर्श—शूद्रका यज्ञोपवीतसंस्कार न होनेसे विवाहित सपिण्डके मरनेपर एक मास शुद्धिकाल समझे ।

[क्षत्रविट्शूद्रदायादाः स्युश्चेद्विप्रस्य बान्धवाः ।
तेषामशौचं विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११ ॥

[यदि ब्राह्मणके बान्धव क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र धनके लेनेवाले मरें तो दश दिनमें शुद्धि होती है ॥ ११ ॥

राजन्यवैश्ययोश्चैवं हीनयोनिषु बन्धुषु।
स्वमेव शौचं कुर्वीत विशुद्ध्यर्थमिति स्थितिः॥ १२॥

क्षत्रिय और वैश्यके बान्धव यदि अपनेसे हीन वर्ण (क्षत्रियके वैश्य तथा शूद्र और वैश्यके शूद्र) हो तो उनकी मृत्यु होनेपर शुद्धिके लिये वे (क्षत्रिय तथा वैश्य) अपने ही अशौचका पालन करें, ऐसी शास्त्रमर्यादा है॥ १२॥

विप्रः शुद्ध्येद्दशाहेन जन्महानौ स्वयोनिषु।
षड्भिस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु॥ १३॥

ब्राह्मण स्वयोनि (वर्ण) वाले (ब्राह्मण) की मृत्यु होनेपर दश दिनमें, क्षत्रियवर्णवालेकी मृत्यु होनेपर छः दिनमें, वैश्यवर्णवालेकी मृत्यु होनेपर तीन दिनमें और शूद्रवर्णवालेके मरनेपर एक दिनमें शुद्ध होता है॥ १३॥

सर्वे चोत्तमवर्णास्तु शौचं कुर्युरतन्द्रिताः।
तद्वर्णविधिदृष्टेन स्वं तु शौचं स्वयोनिषु॥ १४॥]

सभी उत्तमवर्णवाले आलसहीन होकर उन २ वर्णोंके लिये कहे गये अपने २ वर्णोंकी मृत्यु होनेपर अपनी २ शुद्धि करें॥ १४॥]

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत्॥ ८४॥

अशौचके दिनोंको स्वयं न बढ़ावे और (वैसा करके) अग्निहोत्र कर्मका विघात न करे। उस कर्मको करता हुआ सपिण्ड (पुत्रादि) भी अशुद्ध नहीं होता है॥ ८४॥

विमर्श—पहले (५।५९) में गुणानुसार दश, तीन या एक दिन का अशौच अस्थिसञ्चयनके पूर्व जो कह आये हैं, उसे स्वेच्छानुसार नहीं बढ़ाना चाहिये और वैसा करके अर्थात् स्वेच्छासे अशौच दिनको बढ़ाकर अग्निहोत्र-कार्यका विघात नहीं करना चाहिये। यदि स्वयं सामर्थ्य न हो तो पुत्रादिके द्वारा उक्त कर्मको कराना चाहिये; क्योंकि उक्त अग्निहोत्रादि कर्मको करता हुआ पुत्रादि सपिण्ड भी अपवित्र नहीं होता है। उक्ताशौच दिनोंमें भी केवल सन्ध्योपासन तथा पञ्चमहायज्ञके ही त्यागका विधान है, नित्य अग्निहोत्रके लिये तो स्नान तथा आचमन करनेसे ही शुद्धि हो जाती है[1]। उक्ताशौचमें अग्निकर्मको अन्य गोत्रोत्पन्न व्यक्तिके

---

१. 'तथा च शङ्खलिखितौ—'अग्निहोत्रार्थं स्नानोपस्पर्शनाच्छुचिः।' इति (म० मु०)।

द्वारा करानेका विधान 'जाबाल'ने किया है[1] तथा छन्दोग परिशिष्टकारने उक्ता-शौचमें सन्ध्यादि (तथा पञ्चमहायज्ञ) का त्याग और सूखे अन्न या फलोंसे अग्निहोत्रकर्म करनेका विधान किया है[2]।

मेधातिथि तथा गोविन्दराजने 'एक दिन और तीन दिनका यह सङ्कोच केवल अग्निहोत्र तथा स्वाध्याय मात्रके लिये है, सन्ध्योपासनादि कर्म तो सबको दश दिनोंके बाद ही करना चाहिये, ऐसा कहा है, परन्तु वह निराधार होनेसे अप्रामाणिक है। गौतमका 'राजाओंके कर्मविरोधसे ब्राह्मणके स्वाध्यायसे अनिवृत्तिके लिये यह वचन है' और याज्ञवल्क्यका 'ऋत्विजां दीक्षितानाञ्च (या० स्मृ० ३।२८)' वचनानुसार तात्कालिक शुद्धि कहना भी सभी दशाहादि अशौचवालोंके तत्तत्कर्म-परक है। 'कुलस्यान्नं न भुञ्जीत' इत्यादि वचन दश दिन तक दोनोंके लिये उन-उनके निषेधक हैं, दश दिनका अशौच होता है, इस पक्षके लिये होनेसे उनके साथ कोई विरोध नहीं है। अतएव अधिक गुणाभिलाषीको होम तथा स्वाध्याय-विषयक यह अशौच लाघव-परक वचन है, सन्ध्योपासनके लिये नहीं, यह कथन प्रमाणशून्य है। विशेष मत 'काशी सं० पुस्तकमाला चौखम्बा' से प्रकाशित मनुस्मृतिके प्रकृत श्लोककी टिप्पणीमें देखना चाहिये।

चण्डालादिका स्पर्शकर स्नानसे शुद्धि—

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥ ८५ ॥

चण्डाल, रजस्वला स्त्री, पतित (ब्रह्मघाती आदि, ११ अध्यायोक्त), सूतिका (जच्चा), मुर्दा तथा मुर्दे का स्पर्श करनेवालों का स्पर्शकर स्नान मात्रसे शुद्धि होती है ॥ ८५ ॥

विमर्श—कोई व्याख्याकार स्पर्शकर्ताका सम्बन्ध केवल मुर्देके साथ न करके चण्डालादि सबके साथ करते हैं। गोविन्दराजने याज्ञवल्क्यके 'उदक्याशुचिभिः स्नायात् संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत्' (या० स्मृ० ३। ३०) वचनानुसार रजस्वला आदि का साक्षात्स्पर्श करनेपर स्नान करनेसे तथा परम्परासे स्पर्श करनेपर आचमन मात्रसे शुद्धि मानी है। यह विषय याज्ञवल्क्य स्मृतिके उक्त श्लोककी मिताक्षरामें बहुत विशदरूपसे वर्णित है अतः वहींसे देखना चाहिये।

---

१. 'जाबालोऽप्याह—'जन्महानौ वितानस्य कर्मलोपो न विद्यते।
शालाग्नौ केवलो होमः कार्य एवान्यगोत्रजैः ॥' इति (म० मु०)।

२. 'छन्दोगपरिशिष्टमपि—'मृतके कर्मणां त्यागः सन्ध्यादीनां विधीयते।
होमः श्रौते तु कर्तव्यः शुष्कान्नेनापि वा फलैः ॥' इति (म० मु०)।

अपवित्र-दर्शन होनेपर शुद्धि—

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने।
सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः॥ ८६॥

श्राद्ध या देव-पूजन करनेका इच्छुक व्यक्ति स्नानादिसे शुद्ध होकर चण्डाल आदि अशुद्ध व्यक्तियोंको देखनेपर उत्साहानुसार सूर्यमन्त्र[1]का तथा यथाशक्य 'पवमानी' मन्त्रका जप करे॥ ८६॥

मानवकी हड्डीके स्पर्श करनेपर शुद्धि—

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा॥ ८७॥

मनुष्यकी गीली (रक्तादिसे युक्त-ताजी) हड्डीको छूकर स्नान करनेसे ब्राह्मण शुद्ध होता है तथा सूखी हड्डीको छूकर आचमन करने, गौका स्पर्श करने या सूर्यदर्शन करनेसे शुद्ध होता है॥ ८७॥

आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात्।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति॥ ८८॥

व्रती ब्रह्मचारी व्रतके समाप्त होनेके पहले तिलाञ्जलि न दे (तथा पूरक पिण्ड एवं षोडशी श्राद्ध आदि भी न करे), व्रतके समाप्त हो जानेपर तिलाञ्जलि देकर तीन रातमें (दिन-रात अशौच मनाकर) शुद्ध होता है॥ ८८॥

वृथासङ्करजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम्।
आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया॥ ८९॥

मनुके अग्रिम (५।९१) वचनानुसार तथा वसिष्ठके वचनानुसार व्रती ब्रह्मचारीको भी अपने आचार्य (२।१४०), उपाध्याय (२।१४१), पिता, माता और गुरु (२।१४२) के अतिरिक्त मृत व्यक्तिके निमित्त तिलाञ्जलि-दान आदि कर्मोंका निषेध है, अपने आचार्य आदिके लिये तिलाञ्जलि-दान आदि करनेपर भी इस (ब्रह्मचारी) का व्रत खण्डित नहीं होता॥ ८९॥

तिलाञ्जलिदानके अयोग्य स्त्रियां—

पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः।
गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम्॥ ९०॥

---

१. 'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्।' इत्ययं सूर्यमन्त्रः।

पाखण्डका आश्रय (वेद-वचन-विरुद्ध काषाय वस्त्र आदिको धारण) करनेवाली, स्वेच्छाचारिणी (स्वेच्छासे एक या अनेक पुरुषका संसर्ग करनेवाली), गर्भपात तथा पतिहत्या करनेवाली और मद्य पीनेवाली स्त्रियोंका तिलाञ्जलिदान, श्राद्ध आदि नहीं करना चाहिये ॥ ९० ॥

आचार्यादिको तिलाञ्जलि-दान आवश्यक—

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ।
निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥

अपने आचार्य (२।१४०), उपाध्याय (२।१४१), पिता, माता और गुरु (२।१४२) के शवको बाहर निकालकर (दाह, दशाह और श्राद्ध करके भी) व्रती ब्रह्मचारी व्रतसे भ्रष्ट नहीं होता है ॥ ९१ ॥

विमर्श—गुरुके गुरुमें गुरुतुल्य व्यवहार करनेका मनु भगवान् द्वारा पहले (२।२०५) विधान करनेसे अपने आचार्यके आचार्य, उपाध्यायके उपाध्याय, पिताके पिता अर्थात् पितामह, माताकी माता अर्थात् नानी और गुरुके गुरुके शवको बाहर निकालकर, तिलाञ्जलिदान (दाह, दशाह, पिण्डदान और षोडशी श्राद्ध) करके व्रती ब्रह्मचारी व्रतसे भ्रष्ट नहीं होता है, अन्य के शव निकालनेपर व्रती भ्रष्ट होता है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि 'स्वम्' (अपने) पदका सबके साथ सम्बन्ध है ।

वर्णानुसार शवको बाहर निकालनेके द्वार—

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् ।
पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

मरे हुए शूद्रको नगरके दक्षिण द्वारसे बाहर निकाले और अन्य द्विजों (वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण) के शवको क्रमशः नगरके पश्चिम, उत्तर तथा पूर्वके द्वारसे बाहर निकाले अर्थात् मृत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके शवको क्रमशः नगरके पूर्व, उत्तर, पश्चिम तथा दक्षिण दिशाके द्वारोंसे बाहर निकालना चाहिये ॥

राजा आदिको अशौचाभाव—

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् ।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ९३ ॥

अभिषिक्त राजा, व्रती (ब्रह्मचारी तथा चान्द्रायणादि व्रत करने वाले), यज्ञकर्ता (यज्ञमें दीक्षित) लोगोंको (सपिण्डके मरनेपर) अशुद्धि (अशौच) दोष नहीं होता है, क्योंकि राजा अभिषिक्त होनेसे इन्द्रपदको प्राप्त होते हैं तथा व्रती और यज्ञकर्ता ब्रह्मतुल्य निर्दोष हैं ॥ ९३ ॥

विमर्श—राजाको राजकर्म (न्याय करने, शान्तिहवनादि कर्म) में, व्रतियोंको व्रतमें तथा यज्ञकर्ताओंको यज्ञ करनेमें ही उक्त दोष नहीं लगता है, ऐसा विष्णुका मत है[1]।

राजाकी तात्कालिक शुद्धि—

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥ ९४॥

राजसिंहासनारूढ राजाका (राज्यभ्रष्ट राजाका नहीं) तत्काल शुद्धि होती है, इसमें प्रजाकी रक्षाके लिये राजसिंहासन ही कारण है ॥ ९४॥

विमर्श—प्रजारक्षार्थ राजसिंहासनके शुद्धिमें कारण होनेसे क्षत्रिय-भिन्न ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र भी राजसिंहासनपर रहेगा तब उसकी भी शुद्धि तत्काल ही होती है; क्योंकि यहां जाति विवक्षित नहीं है, अपितु पद विवक्षित है।

तत्काल शुद्धिके योग्य अन्य व्यक्ति—

डिम्भाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च।
गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ९५॥

नृपसे रहित युद्धमें मारे गये, बिजलीसे मरे हुए, राजा (किसी अपराधमें राजदण्ड) से मारे गये अर्थात् प्राणदण्ड प्राप्त, गौ तथा ब्राह्मणकी रक्षाके लिये (युद्धके बिना भी जल, अग्नि या व्याघ्र आदिसे) मारे गये और (अपनी कार्य-हानि नहीं होनेके लिये) राजा जिसकी तत्काल शुद्धि चाहता हो, उसकी (तत्काल शुद्धि होती है) ॥ ९५॥

उक्त शुद्धिमें कारण—

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ९६॥

राजा चन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम इन आठों लोकपालोंके शरीरको धारण करता है ॥ ९६॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते।
शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥ ९७॥

(अत एव) राजा लोकपालोंके अंशसे अधिष्ठित है, इस कारण इस (राजा) को अशौच नहीं होता है; क्योंकि मनुष्योंकी शुद्धि या अशुद्धि लोकपालोंसे

1. 'तदाह विष्णुः—'अशौचं न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे' इति। (म० मु०)

होती है या नष्ट (दूर) होती है। (अत एव दूसरोंकी शुद्धि और अशुद्धिके उत्पादक और विनाशक लोकपालोंके अंशभूत राजाकी अशुद्धि कैसे हो सकती है ? ।)

युद्धमें हतकी तत्काल शुद्धि—

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ।
सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥ ९८ ॥

युद्धमें क्षत्रिय-धर्मसे (तलवार आदिके प्रहारसे, लाठी या पत्थर आदिसे नहीं) मारे गये व्यक्तिका ज्योतिष्टोमादि यज्ञ तत्काल ही पूर्ण (ज्योतिष्टोमादिका फल प्राप्त) होता है और अशौच भी तत्काल ही नष्ट होता है, ऐसी शास्त्रकी मर्यादा है ॥ ९८ ॥

प्रेतकृत्यके बाद वर्णानुसार स्पृश्य पदार्थ—

विप्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥ ९९ ॥

अशौचके बाद यज्ञादिको किया हुआ ब्राह्मण जलका, क्षत्रिय वाहन (रथ, हाथी, घोड़ा आदि) का वैश्य कोड़े (या चाबुक) या रथका बाग (रास) का और शूद्र छड़ी (या लाठी) का (दहने हाथसे) स्पर्शकर शुद्ध होता है ॥ ९९ ॥

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः ।
असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) हे ब्राह्मणों ! सपिण्डोंके मरनेपर यह शुद्धि (मैंने) आप लोगोंसे कही, अब आपलोग सब असपिण्डोंके मरनेपर शुद्धिको सुनो ॥ १०० ॥

असपिण्डके शवको बाहर निकलनेपर शुद्धि—

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
विशुद्ध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥ १०१ ॥

ब्राह्मण मरे हुए असपिण्ड द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को तथा माताके आप्त (सहोदर भाई भगिनी आदि) बान्धवोंको स्नेहपूर्वक (अदृष्ट भावनाके विना) बाहर निकालकर तीन रात्रि (दिन-रात) में शुद्ध होता है ॥

उसके अन्न खानेपर दश दिनमें शुद्धि—

यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुद्ध्यति ।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

पूर्व (५।१०१) श्लोकोक्त मृत असपिण्ड द्विजके शवको स्नेहसे बाहर निकालकर यदि ब्राह्मण उनका अन्न भोजन करे तो दश दिनमें शुद्ध होता है और यदि उस मृत असपिण्ड द्विजके अन्नको नहीं खाता हो और उसके घर में भी नहीं रहता हो तब (उसके शवको बाहर निकालनेपर) एक दिन (दिन-रात) में वह ब्राह्मण शुद्ध हो जाता है। (और उसके घर रहनेपर तथा उसका अन्न नहीं खानेपर तीन रातमें शुद्ध होता है) ॥ १०२ ॥

शवके पीछे चलनेपर शुद्धि—

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च।
स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

अपनी जातिवाले या भिन्न जातिवाले शवके पीछे पीछे इच्छापूर्वक जाकर वस्त्र-सहित स्नानकर, अग्निका स्पर्शकर फिर घृतका प्राशनकर शुद्ध होता है ॥

बान्धवोंकी उपस्थितिमें शूद्रसे विप्र शवका अनिर्हरण—

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥ १०४ ॥

स्वबान्धवोंके उपस्थित रहनेपर मृत ब्राह्मणको शूद्रके द्वारा बाहर न निकलवावे, क्योंकि वह निर्हरण (शूद्रके द्वारा विप्रके शवका बाहर निकलवाना) स्वर्ग-प्राप्तिमें बाधक होता है ॥ १०४ ॥

विमर्श—यदि ब्राह्मणके मरनेपर ब्राह्मण वहां न हों, किन्तु क्षत्रिय हों तो भी उस शवको वे क्षत्रिय ही बाहर निकालें, शूद्रसे उस विप्र शवको बाहर मत निकलवावें, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनोंके अभावमें वैश्य हों तो वे ही ब्राह्मणके शवको बाहर निकालें, शूद्रसे नहीं निकलवावें, सबके अभावमें ही ब्राह्मणके शवको शूद्र बाहर निकालें।

देहियोंकी शुद्धिके कारण—

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् ॥ १०५ ॥

ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल, अनुलेपन, वायु, कर्म (यज्ञादि कृत्य), सूर्य और समय, ये देहधारियोंकी शुद्धि करनेवाले हैं ॥ १०५ ॥

धनशुद्धिकी श्रेष्ठता—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ १०६ ॥

सब शुद्धियोंमें धनकी शुद्धि (न्यायोपार्जित धनका होना) ही श्रेष्ठ शुद्धि कही गयी है, जो धनमें शुद्ध है अर्थात् जिसने अन्यायसे किसीका धन नहीं लिया है, वही शुद्ध है। जो केवल मिट्टी जल आदिसे शुद्ध है। (परन्तु धनसे शुद्ध नहीं है, अर्थात् अन्यायसे किसीका धन ले लिया है), वह शुद्ध नहीं है ॥१०६॥

शुद्धिके अन्यान्य साधन—

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ १०७ ॥

विद्वान् क्षमासे, अकार्य (धर्म-विरुद्ध कार्य) करनेवाले दान देनेसे, गुप्त पाप करनेवाले (गायत्री आदि वेदमन्त्रोंके) जपसे तथा श्रेष्ठ वेदज्ञाता तपस्यासे शुद्ध होते हैं ॥ १०७ ॥

मलिनपात्र आदिकी शुद्धि—

मृत्तोयैः शुद्ध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥ १०८ ॥

मलिन (मैले पात्र आदि) मिट्टी तथा जलसे, नदी (थूक, खकार एवं मल-मूत्रादिसे दूषित नदी-प्रवाह) वेग अर्थात् धारासे, मानसिक पाप करनेवाली स्त्री रज (रजस्वला होने) से और ब्राह्मण संन्याससे शुद्ध होते हैं ॥ १०८ ॥

शरीर आदिकी शुद्धि—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥ १०९ ॥

(पसीना आदिसे दूषित) शरीर जलसे (स्नानादि कर्मसे), (निषिद्ध विचार-दूषित) मन सत्यसे, जीवात्मा ब्रह्मविद्या तथा तपसे तथा बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है ॥ १०९ ॥

द्रव्यशुद्धि—

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥ ११० ॥

(महर्षियोंसे भृगु मुनि कहते हैं कि—मैंने) आप-लोगोंसे शारीरिक (शरीर-सम्बन्धी) शुद्धिका यह निर्णय कहा, अब अनेक प्रकारके द्रव्योंकी शुद्धिका निर्णय आपलोग सुनें—॥ ११० ॥

मणि, सुवर्णादिकी शुद्धि—

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।
भस्मनाऽद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १११ ॥

तैजस पदार्थ (सोना आदि), मणि (मरकत-पन्ना आदि रत्न), और पत्थरके बने सर्वविध पदार्थ (बर्तन आदि) की शुद्धि भस्म, मिट्टी और जलसे होती है, ऐसा मनु आदि विद्वानोंने कहा है ॥ १११ ॥

विमर्श—निर्लेप पदार्थकी शुद्धि केवल जलसे ही होती है यह आगे (५।११२) कहेंगे, अतः प्रकृत वचनोक्त शुद्धि जूठे या घृतादिसे लिप्त वर्तन आदिके लिये है, उनमें भी मिट्टी तथा भस्म-दोनोंके गन्ध-नाशक होनेसे विकल्प है और जल सर्वत्र अपेक्षित है ।

घृतादि लेप रहित पात्रादिकी शुद्धि—

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति ।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥

घृत आदिके लेपसे रहित (तथा जो जूठा न हो ऐसे) सुवर्ण-पात्र, जलमें होनेवाले शङ्ख-मोती आदि, फूल-पत्ती या चित्रादिसे रहित अर्थात् सादे चांदीके बर्तन आदिकी शुद्धि केवल जलसे ही होती है ॥ ११२ ॥

सोने-चाँदीकी जल मन्त्रसे शुद्धिमें कारण—

अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ ।
तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥ ११३ ॥

पानी तथा अग्निके संयोगसे सुवर्ण तथा चांदी उत्पन्न हुए हैं, अत एव इन (सुवर्ण तथा चांदी) की शुद्धि भी अपनी योनि (उत्पत्ति स्थान अर्थात् जल और अग्नि) से ही उत्तम होती है ॥ ११३ ॥

ताम्रादि पात्रोंकी शुद्धि—

ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ ११४ ॥

तांबा, लोहा, काँसा, पीतल, रांगा और सीसा; इन (के बने बर्तन आदि)-की शुद्धि यथायोग्य राख, खटाईका पानी और पानीसे करनी चाहिये ॥ ११४ ॥

विमर्श—बृहस्पतिके कथनानुसार सोनेकी जलसे, चांदी लोहे तथा काँसेकी

राखसे, ताँबे और पीतलकी खटाई (के जल) से, मिट्टीकी फिर पकानेसे शुद्धि होती है[1]।

घृत, शय्यादिकी शुद्धि—

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम् ।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥

सभी द्रव (बहनेवाले—घी तेल आदि) पदार्थों की शुद्धि (एक प्रसृति अर्थात् एक पसर—लगभग ढाई-तीन छटाक-हो तो प्रादेश मात्र (अगूँठे तथा तर्जनीको फैलानेपर जो लम्बाई हो उतना प्रमाण) मापे हुए (दो कुश-पत्रोंकी) हवा करनेसे, शय्या आदि संहत (परस्परमें सटी हुई) वस्तुओंकी शुद्धि पानीका छींटा देनेसे और काष्ठके बर्तन आदिकी शुद्धि (उन्हें थोड़ा-थोड़ा) छीलनेसे होती है ॥ ११५ ॥

बालक आदिके वस्त्रोंकी शुद्धि—

[त्र्यहकृतशौचानां तु वायसी शुद्धिरिष्यते ।
पर्युक्षणाद् धूपनाद्वा मलिनामतिधावनात् ॥ १५ ॥]

[जिनकी शुद्धि तीन दिनमें बतलायी गयी है, उन (बालक आदिके वस्त्रों) की शुद्धि अवस्थानुसार जल छिड़कनेसे, धूप देनेसे और अत्यन्त मलिन हों तो धुलानेसे होती है ॥ १५ ॥]

चमसादि यज्ञपात्रोंकी शुद्धि—

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ ११६ ॥

चमस, ग्रह तथा अन्य यज्ञपात्रोंकी शुद्धि यज्ञकर्ममें हाथसे पोंछकर जलसे धोनेसे होती है ॥ ११६ ॥

चरु-स्रुवादि यज्ञपात्रोंकी शुद्धि—

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥

(घृत आदि स्नेहसे लिप्त) चरु, स्रक् और स्रुवोंकी शुद्धि गर्म पानी (के द्वारा धोने) से होती है तथा स्फ्य, शूर्प, शकट, मूसल, और ओखली—॥ ११७॥

---

१. तदुक्तं बृहस्पतिना—अम्भसा हेमरौप्यायः कांस्यं शुद्ध्यति भस्मना ।
अम्लैस्ताम्रं च रैत्यं च पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ इति ।

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम्।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥

—और बहुतसे धान्य तथा वस्त्रोंकी शुद्धि पानी छिड़कनेसे होती है तथा थोड़ी मात्रामें होनेपर अन्न तथा वस्त्रकी शुद्धि उन्हें धोनेपर होती है ॥ ११८ ॥

चमड़े तथा बांसके पात्र आदिकी शुद्धि—

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च।
शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥

(स्पृश्य पशुओं—गाय, भैंस, घोड़े मृग आदिके) चमड़े, और बांसके बर्तनोंकी शुद्धि वस्त्रके समान तथा शाक, मूल और फलोंकी शुद्धि धान्यके समान (पानी छिड़कनेसे) होती है ॥ ११९ ॥

रेशमी आदि वस्त्रोंकी शुद्धि—

कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥

रेशमी और ऊनी वस्त्रोंकी खारी मिट्टीसे, नेपाली कम्बलोंकी रीठेसे, पट्टवस्त्रोंकी बेलके फलोंसे और क्षौम (अलसी आदिके छालसे बने) वस्त्रोंकी शुद्धि पिसे हुए सफेद सरसोंके कल्कसे होती है ॥ १२० ॥

शङ्ख आदिकी शुद्धि—

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥

शङ्ख, (स्पृश्य पशुओंकी) सींग, हड्डी और दांतसे बने पदार्थों (यथा—कंघी, कलम, बटन, चाकूके बेंट एवं दूसरे खिलौने आदि उक्त शङ्ख, सींग, हाथी आदिको हड्डियों एवं हाथी-दाँतोंसे बने पदार्थों) की शुद्धि क्षौम वस्त्रोंके समान (पीसे हुए सफेद सरसोंके कल्क द्वारा धोनेसे), गोमूत्रसे या जलसे शुद्धि-विषयको जाननेवालोंको करनी चाहिये ॥ १२१ ॥

तृण आदिकी शुद्धि—

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥

(चण्डालादि अस्पृश्य-स्पर्शसे दूषित) घास, लकड़ी और पुआल पानी छिड़कनेसे शुद्ध होते हैं; (रजस्वला, प्रसूति आदिके रहनेसे दूषित) घर झाड़ू

देने तथा लीपनेसे और उच्छिष्ट आदिसे दूषित मिट्टीके बर्तन फिर पकानेसे शुद्ध होते हैं ॥ १२२ ॥

शुद्ध न होने योग्य मिट्टीके पात्र—

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः ।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥

मद्य, मूत्र, मल (पाखाना), थूक या खकार, पीब और रक्तसे दूषित मिट्टीके बर्तन फिर पकानेसे भी शुद्ध नहीं होते हैं । (यह वचन ५।१२२ श्लोकके चतुर्थ पादोक्त शुद्धिका बाधक है) ॥ १२३ ॥

भूमिकी शुद्धि—

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥ १२४ ॥

(जूठा, मल, मूत्र, थूक, खकार. पीब, रक्त, चण्डाल आदिके निवाससे दूषित) भूमिकी शुद्धि झाड़ू देनेसे, लीपनेसे, गोमूत्र या जल आदिके छिड़कनेसे, ऊपरकी कुछ मिट्टीको खोदकर फेंक देनेसे और (एक दिन-रात) गायोंके रहनेसे होती है ॥ १२४ ॥

पक्षीके खाये फलादिकी शुद्धि—

पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम् ।
दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥ १२५ ॥

(कौआ गीध आदि अभक्ष्य पक्षियोंको छोड़कर अन्य भक्ष्य) पक्षियोंके खाये हुए, गौसे सूंघे हुए, पैरसे छूए हुए, जिसके ऊपर छींक दिया गया हो उसकी, एवं बाल तथा कीड़े आदिसे दूषित (थोड़े अन्न आदि भक्ष्य पदार्थ) की शुद्धि (थोड़ी) मिट्टी डालनेसे होती है ॥ १२५ ॥

गन्धयुक्त द्रव्यादिकी शुद्धि—

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद् गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

विष्ठा आदिसे दूषित पात्र आदिसे जब-तक गन्ध तथा लेप (चिकनाहट) दूर न हो जाय, तब तक उनको मिट्टी तथा जलसे शुद्ध करते रहना चाहिये॥ १२६॥

विमर्श—जिसकी शुद्धि मिट्टी तथा जल-दोनोंसे हो उसको दोनोंसे, जिसकी शुद्धि मिट्टी या जल किसी एकसे हो, उसे मिट्टी या जलमें-से किसी एकसे शुद्ध करते रहना चाहिये ।

तीन पवित्र वस्तु—

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥

देवताओंने तीन प्रकार की वस्तुओंको ब्राह्मणोंके लिये पवित्र कहा है—प्रथम—जिसकी अशुद्धि स्वयं आंखोंसे नहीं देखी गयी हो, द्वितीय—अशुद्धिका सन्देह होनेपर जिसपर जल छिड़क दिया गया हो तथा तृतीय—जो वचनसे प्रशस्त कहा गया हो अर्थात् जिसको 'यह पवित्र है' ऐसा ब्राह्मण कहदें ॥१२७॥

जलशुद्धि—

आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत्।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥

जिससे गौकी प्यास दूर हो जाय, जो अपवित्र वस्तु (मल, मूत्र, हड्डी, रक्तादि) से दूषित न हो, जो वर्ण, रस और गन्धमें ठीक हों; ऐसा पृथ्वीपर स्वभावतः स्थित पानी शुद्ध होता है ॥ १२८ ॥

नित्य शुद्ध पदार्थ—

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम्।
ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ॥

कारीगरका हाथ, बाजारमें (बेचनेके लिये) फैलायी (या रखी गयी) वस्तु और ब्रह्मचारीके प्राप्त भिक्षाद्रव्य सर्वदा शुद्ध है, ऐसी शास्त्र-मर्यादा है ॥ १२९ ॥

विमर्श—शुद्धिका पूर्णतया विचार न करके भी देवताओं पर चढ़ानेके लिये माला आदिको बनानेवाले कारीगर (माली) आदिका हाथ सर्वदा शुद्ध माना जाता है। इसी प्रकार जन्म तथा मरणमें भी नाई, माली आदिके हाथको पवित्र माना जाता है। जो अन्न पकाया नहीं गया हो, ऐसा बाजारमें बेचनेके लिये फैलाया या रखा गया अन्न तथा फल आदि अनेक लोगोंके जैसे-तैसे हाथसे छूए जानेपर भी पवित्र माना जाता है। विना आचमन किये भी स्त्री आदिके द्वारा ब्रह्मचारीके लिये दी गयी भिक्षा (भोज्य द्रव्य) ब्रह्मचारीको प्राप्त होकर शुद्ध माना जाता है।

नित्यमास्यं शुचिः स्त्रीणां शकुनिः फलपातने।
प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ १३० ॥

स्त्रियोंका मुख सर्वदा शुद्ध है, फल गिरानेमें पक्षी (काक आदिका मुख) शुद्ध है अर्थात् काक आदि पक्षीके चोंच मारनेसे गिरा हुआ फल शुद्ध है,

(भैंस–गायको) पेन्हाने (दूहनेके पहले पीने) में वत्स (बछवा तथा बछिया या पाड़ा–पाड़ी आदि दूध देनेवाली पशुके बच्चों का मुख) शुद्ध है और (शिकारके समय) हरिण (आदि पशु पकड़ने) में कुत्ता (का मुख) शुद्ध है ॥

श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचिस्तन्मनुरब्रवीत् ।
क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥ १३१ ॥

(शिकारमें) कुत्तोंसे मारे गये (मृग आदि पशुओं तथा पक्षियों) के मांसको मनुने शुद्ध कहा है । तथा कच्चे मांसको खानेवालों (व्याघ्र, भेड़िया आदि पशु तथा गीध–बाज आदि पक्षियों) तथा व्याधा आदिके द्वारा मारे हुए (पशु–पक्षियों) का मांस शुद्ध होता है ॥ १३१ ॥

अग्नि आदिकी नित्य शुद्धता—

[शुचिरग्निः शुचिर्वायुः प्रवृत्तो हि बहिश्चरः ।
जलं शुचि विविक्तस्थं पन्था सञ्चरणे शुचिः ॥ १६ ॥]

[अग्नि, बाहर बहती हुई हवा, एकान्तमें रखा हुआ पानी और नित्य सञ्चारवाला मार्ग शुद्ध रहता है ॥ १६ ॥]

स्पर्शमें नित्य शुद्ध पदार्थ—

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥ १३२ ॥

नाभिसे ऊपर जितने छिद्र (कान, आँख, नाक आदि) इन्द्रियां हैं, वे स्पर्शमें शुद्ध हैं और (नाभिके) नीचेवाले छिद्र (गुदा, आदि) तथा शरीरसे निकली मैल (मल, मूत्र, कफ, थूक, खोंट आदि) सभी अशुद्ध हैं ॥ १३२ ॥

मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः ।
रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ १३३ ॥

मक्खी, (मुखसे निकली छोटी–छोटी) बूँदें, छाया (परछाहीं), गौ, घोड़ा, सूर्य–किरण, धूलि, भूमि, वायु तथा अग्निको स्पर्शमें शुद्ध जानना चाहिये ॥१३३॥

गुदा आदिकी शुद्धि—

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् ।
दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥ १३४ ॥

मल–मूत्र त्याग करनेवाली इन्द्रियों (गुदा तथा लिङ्ग) की तथा शरीरके

वसा आदि मल सम्बन्धी बारह अशुद्धियोंकी गन्ध-लेप-क्षयके द्वारा शुद्धि होनेके लिये आवश्यकतानुसार मिट्टी तथा पानी लेना चाहिये ॥ १३४ ॥

विमर्श—उनमें-से प्रथम छः मलोंकी शुद्धिके लिये मिट्टी तथा पानी-दोनों और अन्तिम छः मलोंकी शुद्धिके लिये केवल पानी लेना चाहिये[1]। अतः प्रकृत मनुवचन बारहों मलकी शुद्धिके लिये मिट्टी तथा पानीका ग्रहण व्यवस्थित होनेसे विरुद्ध नहीं होता। गोविन्दराज तो अन्तिम छः मलोंकी शुद्धिमें भी व्यवस्थित विकल्प भावसे मिट्टी तथा पानीका ग्रहण करना चाहिये अर्थात् देव-पितृ-कर्ममें मिट्टी पानी (दोनों) तथा तद्भिन्न कार्यमें केवल पानी ही लेना चाहिये। बारह मल निम्न लिखित हैं—।

द्वादश मल—

वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट् घ्राणकर्णविट्।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥ १३५॥

बसा (चर्बी), वीर्य (शुक्र-धातु), रक्त, मज्जा (मस्तिष्कस्थित धातु-विशेष), मूत्र, मल (विष्ठा), नकटी याने नेटा (नाककी मैल), खोंट (कानकी मैल), कफ (थूक-खकार-पानकी पीक आदि मुखकी मैल), आँसू, कींचर (आँखसे निकलनेवाली श्वेतवर्ण की मैल) और पसीना—ये बारह मल मनुष्योंके हैं ॥ १३५ ॥

शुद्ध्यर्थ मिट्टी आदि लेनेकी संख्या—

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता॥ १३६॥

शुद्धिको चाहनेवालेको लिङ्गमें एक, गुदामें तीन, हाथ (बायें हाथ) में दश और दोनों हाथोंमें सात बार मिट्टी लगानी चाहिये ॥ १३६ ॥

विमर्श—यदि उक्तसंख्यानुसार मिट्टी लगानेपर भी गन्ध तथा चिकनाहट दूर न हो तब अधिक बार पूर्व (५।१२६) वचनानुसार गन्ध तथा चिकनाहटके दूर होने तक) मिट्टी लगानी चाहिये, इसी आशयसे दक्षने लिङ्गमें तीन बार मिट्टी लगानेका विधान किया है[2] हां, यदि प्रकृत श्लोकोक्त संख्यासे कम बार मिट्टी

१. तदाह बौधायनः—'आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये।
उत्तरेषु च षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुध्यति॥' इति। (म. मु.)

२. तदुक्तं दक्षेन—'लिङ्गेऽपि मृत्समाख्याता त्रिपूर्वा पूर्यते यया।
द्वितीया च तृतीया च तदर्धार्धा प्रकीर्तिता॥' इति। (म० मु०)

लगानेसे ही गन्ध तथा चिकनाहट दूर हो जाय तथापि प्रकृत वचनमें संख्याका निर्देश करनेसे उतनी वार तो मिट्टी लगानी ही चाहिये।

ब्रह्मचारी आदिके लिये शुद्धि—

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥

यह (पूर्व श्लोकोक्त संख्यानुसार) शुद्धि गृहस्थोंके लिये है; ब्रह्मचारियोंके लिये उससे द्विगुणितवार, वानप्रस्थोंके लिये त्रिगुणित वार और संन्यासियोंके लिये चतुर्गुणित वार मिट्टी लगाने आदिकी क्रिया करनी चाहिये ॥ १३७ ॥

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत्।
वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥

मल या मूत्रका त्यागकर वेदाध्ययनका इच्छुक या भोजन करता हुआ उक्त (५।१३६-१३७) शुद्धि करके (तीन वार) आचमनकर छिद्रेन्द्रियों (नाक, कान तथा नेत्र तथा मस्तक आदि) का स्पर्श करे ॥ १३८ ॥

आचमन-विधि—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततो मुखम्।
शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत् ॥ १३९ ॥

शारीरिक शुद्धिको चाहता हुआ मनुष्य तीन वार जलसे आचमन करे, दो वार मुख पोंछे और स्त्री तथा शूद्र एक-एक वार आचमन करे ॥ १३९ ॥

शूद्रोंके लिये प्रतिमास मुण्डन तथा द्विजका उच्छिष्ट भोजन—

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम्।
वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥ १४० ॥

यथाशास्त्र आचरण (द्विज-सेवा) करनेवाले शूद्रोंको एक मासपर मुण्डन कराना चाहिये, वैश्यके समान (मृतक सूतक आदिमें) शुद्धि विधान करना चाहिये और ब्राह्मणके उच्छिष्टका भोजन करना चाहिये ॥ १४० ॥

थूककी छोटी बूंदों आदिसे उच्छिष्ट नहीं होगा—

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः।
न श्मश्रूणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥ १४१ ॥

मुखसे निकलकर शरीरपर पड़नेवाली छोटी-बूंदें, मुखमें पड़ते हुए मूंछके बाल और दांतोंके बीचमें अँटका हुआ अन्नादि मनुष्यको जूठा नहीं करते हैं॥१४०॥

अजा, गौ, ब्राह्मणादिकी अङ्ग-भेदसे शुद्धता—

[अजाश्वं मुखतो मेध्यं गावो मेध्याश्च पृष्ठतः ।
ब्राह्मणाः पादतो मेध्याः स्त्रियो मेध्याश्च सर्वतः ॥ १७ ॥

बकरी, और घोड़ा मुखसे, गौ पीछेसे, ब्राह्मण चरणोंसे, स्त्रियां सर्वाङ्गसे पवित्र होती हैं अर्थात् बकरी आदिके उक्त अङ्ग पवित्र होते हैं ॥ १७ ॥

गौ आदिकी अङ्ग-भेदसे अशुद्धता—

गौरमेध्या मुखे प्रोक्ता अजा मेध्या ततः स्मृता ।
गौः पुरीषं च मूत्रं च मेध्यमित्यब्रवीन्मनुः ॥ १८ ॥]

गौ का मुख अशुद्ध होता है, किन्तु बकरीका मुख शुद्ध होता है और गौके गोबर तथा मूत्र पवित्र होते हैं ऐसा मनुने कहा है ॥ १८ ॥]

पैरपर गिरी कुल्लेकी बूँदोंकी शुद्धता—

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान् ।
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैराप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥

(दूसरेको) कुल्ला कराते या पानी पिलाते हुए व्यक्तिके पैरोंपर पड़नेवाली बूँदों (छींटों) को भूमिपर पड़े हुए (जल) के समान मानना चाहिये, उनसे (वह व्यक्ति अशुद्ध होकर) आचमन करने योग्य नहीं होता अर्थात् वह शुद्ध ही रहता है ॥ १४२ ॥

दाँतोंमें अँटके अन्नकी शुद्धता—

[दन्तवद्दन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शेषु चेन्न तु ।
परिच्युतेषु तत्स्थानान्निगिरन्नेव तच्छुचिः ॥ १९ ॥]

[यदि जीभसे न लगता हो तो दाँतोंमें अँटका हुआ अन्न दाँतोंके समान (शुद्ध) है और वहांसे निकलनेपर निगल (घोंट) जानेपर वह अन्न शुद्ध है] ॥१९॥

भोजन लिये हुएके द्वारा उच्छिष्ट व्यक्तिका स्पर्श होनेपर शुद्धि—

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन ।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥

भोजन-सामग्री (पका हुआ अन्न, कच्चा अन्न या फल आदि नहीं) को लिया हुआ व्यक्ति यदि किसी जूठे मुंहवाले व्यक्तिका स्पर्श कर ले तो वह भोजन-सामग्रीको बिना रखे ही आचमन करनेसे शुद्ध हो जाता है ॥ १४३ ॥

वमनादि करनेपर शुद्धि—

वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् ।
आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १४४ ॥

वमन एवं शौच करनेपर स्नानकर घी खानेसे तथा भोजन करते ही वमन करे तो आचमन करनेसे और ऋतुकालके बाद शुद्ध स्त्रीके साथ सम्भोग करके स्नान करनेसे शुद्धि होती है ॥ १४४ ॥

[अनृतौ तु मृदा शौचं कार्यं मूत्रपुरीषवत ।
ऋतौ तु गर्भं शङ्कित्वा स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ २० ॥]

[ऋतु भिन्नकाल में स्त्री प्रसङ्ग करने पर मल-मूत्र करने के बाद जैसी शुद्धि कही गई है उसी भांति मूत्रेन्द्रिय की मिट्टी से शुद्धि करनी चाहिये । ऋतुकाल में गर्भ स्थिति की शङ्का हो जानेपर मैथुनकर्त्ता की स्नान से शुद्धि होती है ॥२०॥]

सोने आदिके बाद शुद्धि—

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतानि च ।
पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥ १४५ ॥

सोकर, छींककर, भोजनकर, थूककर, असत्य बोलकर और पानी पीकर तथा भविष्यमें पढ़नेवाला व्यक्ति शुद्ध रहनेपर भी आचमन करे ॥ १४५ ॥

स्त्री-धर्म-कथन—

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च ।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥ १४६ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) सब वर्णोंकी जन्म-मरण-सम्बन्धी अशौच शुद्धिको तथा द्रव्यशुद्धिको (५।५७—१४५) आप लोगोंसे मैंने कहा, अब (आप लोग) स्त्रियोंके धर्मोंको सुनें ॥ १४६ ॥

स्त्रियोंका कर्तव्य—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि ॥ १४७ ॥

बचपनमें, जवानीमें और बुढ़ापेमें स्त्रीको (अपने) घरोंमें भी अपनी इच्छासे (क्रमशः पिता, पति और पुत्र आदि अभिभावककी सम्मतिके विना मनमाना) कोई भी काम नहीं करना चाहिये ॥ १४७ ॥

स्त्रियोंकी स्वतन्त्रताका अभाव—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १४८ ॥

स्त्री बचपनमें पिताके, जवानीमें पतिके और पतिके मर जानेपर बुढ़ापेमें पुत्रके वशमें रहे (उनकी आज्ञा तथा सम्मतिके अनुसार कार्य करे); स्वतन्त्र कभी न रहे ॥ १४८ ॥

विमर्श—पति-पुत्रादिके अभावमें सपिण्डोंके, उनके भी अभावमें पिता या पिताके वंशवालोंके और उनके भी अभावमें राजाके वशमें स्त्रीको रहना चाहिये; उसे स्वतन्त्र कभी भी नहीं रहना चाहिये, ऐसा नारद का कथन है[1] ।

स्त्रियोंके स्वतन्त्र होनेसे हानि—

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः ।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥

स्त्रीको (बचपन, जवानी और बुढ़ापेमें क्रमशः) पिता, पति और पुत्रसे वियुक्त (अलग रहकर स्वतन्त्र) रहनेकी कभी इच्छा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उनके अभावसे स्त्री दोनों (पिता तथा पति) के वंशोंको निन्दित कर देती है॥१४९॥

सदा प्रसन्नता आदि रखना—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

स्त्रीको सर्वदा (पति आदिके रोषमें भी) प्रसन्न, गृह-कार्योंमें चतुर, घरके बर्तन आदिको शुद्ध एवं स्वच्छ रखनेवाली और अधिक व्यय नहीं करनेवाली (अपने अभिभावककी आयके अनुसार कुछ धन बचाते हुए व्यय करनेवाली) होनी चाहिये ॥ १५० ॥

पति-सेवा स्त्री का कर्तव्य—

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमतेः पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥ १५१ ॥

पिता या पिताकी अनुमतिसे भाई इस (स्त्री) को जिसके लिये दे अर्थात् जिसके साथ विवाह कर दे, (स्त्री) जीते हुए उस (पति) की सेवा करे और

---

१. तदुक्तं नारदेन—'तत्सपिण्डेषु चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः ।
पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता स्त्रिया मतः ॥' इति । (म० मु०)

उसके मरनेपर (भी व्यभिचार, उसके श्राद्ध आदिका त्याग तथा पारलौकिक कार्यके खण्डनसे) उस (पति) का उल्लङ्घन न करे ॥ १५१ ॥

स्वामित्वमें कारण—

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥

इन (स्त्रियों) के विवाहमें जो स्वस्त्ययन पढ़ा जाता है तथा प्रजापतिके उद्देश्यसे जो हवन आदि किया जाता है, वह (मङ्गलार्थ अभीष्ट लाभके लिये बिहित कर्म) तथा वाग्दान स्वामित्वका कारण है । (अतएव वाग्दानके बादसे स्त्री पतिके अधीन हो जाती है) ॥ १५२ ॥

पति-प्रशंसा—

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥

विवाहकर्ता (पति) स्त्रीको ऋतुकालमें तथा ऋतु-भिन्न कालमें भी नित्य ही इस लोकमें तथा परलोकमें (सेवादिजन्य पुण्यकार्योंके द्वारा स्वर्गादि प्राप्तिसे) सुख देनेवाला है ॥ १५३ ॥

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥

सदाचारसे हीन, परस्त्रीमें अनुरक्त और विद्या आदि गुणोंसे हीन भी पति पतिव्रता स्त्रियोंका देवताके समान पूज्य होता है ॥ १५४ ॥

पतिव्रता-प्रशंसा—

[दानप्रभृति या तु स्याद्यावदायुः पतिव्रता।
भर्तृलोकं न त्यजति यथैवारुन्धती तथा ॥ २१ ॥]

[जो स्त्री वाग्दानसे लेकर जीवन पर्यन्त पतिव्रता होती है, वह पतिलोकका त्याग नहीं करती है अर्थात् सर्वदा पतिलोकमें निवास करती है; जैसी अरुन्धती है, वैसाही वह (पतिव्रता स्त्री) है ॥ २१ ॥]

स्त्रियोंके लिये पृथक् यज्ञादिका निषेध—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १५५ ॥

स्त्रियोंके लिये पृथक् (पतिके विना) यज्ञ नहीं है, और (पतिकी आज्ञाके

विना) व्रत तथा उपवास नहीं है; पतिकी सेवासे ही स्त्री स्वर्गलोकमें पूजित होती है ॥ १५५ ॥

विमर्श—जिस प्रकार स्त्रीके रजस्वला आदि होनेके कारण अनुपस्थित रहनेपर भी पति मात्रको यज्ञ करनेका अधिकार है, वैसे स्त्रीको पतिके विना यज्ञ करनेका अधिकार नहीं है तथा पतिकी अनुमतिके विना किसी व्रत या उपवास करनेका भी अधिकार नहीं है, किन्तु उक्त अधिकार नहीं रहनेपर भी केवल पति-सेवासे ही वह स्वर्गाधिकारिणी हो जाती है।

पतिके जीवित रहते व्रतादि करनेसे दोष—

[पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत्।
आयुष्यं हरते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति ॥ २२ ॥]

[जो स्त्री पतिके जीवित रहनेपर (उसकी अनुमतिके विना) व्रत या उपवास करती है, वह पतिकी आयुका हरण करती है तथा स्वयं नरकको जाती है ॥२२॥]

पतिके विरुद्ध आचरणका निषेध—

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम् ॥ १५६ ॥

पतिलोकको चाहनेवाली पतिव्रता स्त्री जीवित या मृत पतिका अप्रिय कोई कार्य (व्यभिचारसे या शास्त्रोक्त श्राद्धादिके त्यागसे) न करे ॥ १५६ ॥

विधवाके कर्तव्य—

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ १५७ ॥

पतिके मरजानेपर (जीविका रहनेपर भी) पवित्र (सात्त्विक गुणयुक्त) पुष्प, कन्द और फल (के आहार) से शरीरको क्षीण करे (व्यभिचारकी भावनासे दूसरे पुरुषका) नाम भी न ले ॥ १५७ ॥

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ १५८ ॥

एक पत्नी व्रत (जिसका एक ही पति है, उस) अनुत्तम धर्म चाहनेवाली स्त्रीको मरनेतक अर्थात् जीवन-पर्यन्त क्षमायुक्त, नियमसे रहनेवाली तथा मधु-मांस-मद्यको छोड़कर ब्रह्मचर्यसे रहनेवाली बने ॥ १५८ ॥

ब्रह्मचर्यसे स्वर्गप्राप्तिके उदाहरण—

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥ १५९ ॥

बाल्यावस्थासे ही ब्रह्मचर्य पालनेवाले (सनक, बालखिल्य आदि) अनेकों सहस्र ब्राह्मण वंशवृद्धिके लिये सन्तानोत्पत्तिको विना किये ही स्वर्ग गये हैं ॥१५९॥

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ १६० ॥

पतिके मरनेपर ब्रह्मचारिणी रहती हुई पतिव्रता स्त्री (परपुरुष-संसर्गसे) पुत्रको बिना पैदा किये ही उन (सनकादि) ब्रह्मचारियोंके समान स्वर्गको जाती है ॥

परपुरुष-गमन-निन्दा—

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥ १६१ ॥

सन्तानके लोभसे जो स्त्री पतिका उल्लङ्घन (व्यभिचार) करती है, वह इस लोकमें निन्दाको प्राप्त करती है और उस पुत्रके द्वारा स्वर्गसे भी भ्रष्ट होती है ॥

नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ॥ १६२ ॥

इस लोकमें परपुरुषसे उत्पन्न सन्तान तथा परस्त्रीमें उत्पन्न सन्तान शास्त्रोक्त सन्तान नहीं होती है और पतिव्रता स्त्रियोंका दूसरा पति भी कहींपर (किसी शास्त्रमें) नहीं कहा गया है ॥ १६२ ॥

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥

जो स्त्री नीचवर्ण (क्षत्रिय आदि) पतिको छोड़कर उच्चवर्ण (ब्राह्मण आदि) पतिका आश्रय (उसके साथ संभोग) करती है, वह भी लोकमें निन्दित ही होती है और 'पहले इसका दूसरा पति था' ऐसा लोग कहते हैं ॥ १६३ ॥

व्यभिचारसे हानि—

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥

परपुरुषके साथ संभोग करनेवाली स्त्री इस लोकमें निन्दित होती है, मरकर शृगालकी योनिमें उत्पन्न होती है और (कुष्ठ आदि) पाप-रोगोंसे दुःखी होती है ॥

पातिव्रत्यका फल—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयुता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ १६५ ॥

मन, वचन तथा कामसे संयत रहती हुई जो स्त्री पतिके विरुद्ध कोई कार्य (व्यभिचारादि) नहीं करती है, वह पतिलोकको प्राप्त करती है तथा उसे सज्जन लोग 'पतिव्रता' कहते हैं ॥ १६५ ॥

अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोके परत्र च ॥ १६६ ॥

मन-वचन-कायसे संयत स्त्री इस (५।१४६—१६५) स्त्री-व्यवहार (पति-शुश्रूषा आदि) से इस लोकमें उत्तम यशको और परलोकमें पतिके साथ अर्जित स्वर्ग आदि शुभ लोकों को प्राप्त करती है ॥ १६६ ॥

स्त्रीके मरनेपर श्रौताग्निसे दाहक्रिया—

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥

ऐसे (५।१४६—१६६) आचरणवाली पहले मरी हुई सवर्णा स्त्रीकी दाह-क्रिया धर्मज्ञ द्विजाति अग्निहोत्रकी अग्नि तथा यज्ञपात्रोंसे विधिवत् करे ॥ १६७ ॥

फिर विवाहके विषयमें निर्णय—

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि ।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥

पहले मरी हुई स्त्रीका दाहकर्म आदि अन्त्येष्टि संस्कार करके गृहस्थाश्रमको चाहनेवाला (सपुत्र या अपुत्र) द्विजाति फिर विवाह करे अथवा श्रौताग्निका आधान करे ॥ १६८ ॥

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥

इस प्रकार सर्वदा (करता हुआ द्विज) पञ्चमहायज्ञों (३।७०) का त्याग कदापि नहीं करे, आयुके द्वितीय भागको (शास्त्रानुसार) विवाहकर गृहस्थाश्रममें निवास करे ॥ १६९ ॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् संस्कारव्रतवर्णनम् ।
आञ्जनेयकृपादृष्ट्या पञ्चमे पूर्णतामगात् ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥

ब्रह्मचर्याश्रमके बाद समावर्तन संस्कारको प्राप्त स्नातक द्विज इस प्रकार (पञ्चमाध्यायोक्त) विधिपूर्वक गृहस्थाश्रममें रहकर आगे (इसी षष्ठ अध्यायमें कथित) नियमसे जितेन्द्रिय होकर वनमें निवास करे ॥ १ ॥

[अतःपरं प्रवक्ष्यामि धर्मं वैखानसाश्रमम् ।
वन्यमूलफलानां च विधिं ग्रहणमोक्षणे ॥ १ ॥]

[इसके आगे वानप्रस्थाश्रमके धर्म और वन्य (जंगली) कन्दों तथा फलोंके ग्रहण एवं त्याग करनेकी विधि कहूँगा ॥ १ ॥]

वानप्रस्थाश्रम-काल—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

जब गृहस्थाश्रमी बली (अपने शरीरके चमड़ेको सिकुड़ा हुआ), पके हुए बाल तथा अपने पुत्रके पुत्र (पौत्र) को देख ले, तब वनका आश्रय (वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश) करे ॥ २ ॥

सस्त्रीक अथवा अस्त्रीक वानप्रस्थाश्रमग्रहण—

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥

ग्राम्य आहार (धान, यव आदि ग्राम सम्बन्धी भोजन) तथा परिच्छद (गौ, घोड़ा-हाथी, शय्या आदि गृह-सम्पत्ति) को छोड़कर बनमें जानेकी इच्छा नहीं करनेवाली अपनी पत्नीको पुत्रोंके उत्तरदायित्व (देख-रेख) में सौंपकर तथा वनमें साथ जानेकी इच्छा करनेवाली अपनी पत्नीको साथमें लेकर वनको जावे ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रके साथ वानप्रस्थाश्रम ग्रहण—

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

श्रौत तथा आवसथ अग्नि और स्रुक्-स्रुवा आदि तत्सम्बन्धी सामग्री लेकर ग्रामसे बाहर वनमें जाकर जितेन्द्रिय होकर रहे ॥ ४ ॥

वन्य अन्न-फलादिसे पञ्चमहायज्ञ करना—

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

पवित्र अनेकविध मुन्यन्न (नीवार आदि) अथवा शाक, मूल और फल आदिसे पूर्वोक्त (३।७०) पञ्चमहायज्ञोंको विधिपूर्वक करता रहे ॥ ५ ॥

मृगचर्म, चीर तथा जटादिका धारण—

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥

मृग आदिका चर्म या पेड़ोंका वल्कल धारण करे, सायंकाल तथा प्रातःकाल स्नान करे और सर्वदा जटा, दाढ़ी-मूंछ एवं नखको धारण करे (क्षौर कर्म न करावे) ॥ ६ ॥

पञ्चमहायज्ञ तथा अतिथिसत्कार—

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥

जो भोज्य पदार्थ (६।५—मुन्यन्न तथा शाक-मूल-फलादि) हो, उसीसे बलि (बलिवैश्वदेवादि पञ्चमहायज्ञ कर्म) करे, भिक्षा दे और जल, कन्द तथा फलोंकी भिक्षा देकर आये हुए अतिथियोंका सत्कार करे ॥ ७ ॥

वानप्रस्थके अन्य सामान्य नियम—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥

सर्वदा वेदाभ्यासमें लगा रहे; ठंडा-गर्म, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वोंको सहन करे; सबसे मित्रभाव रखे, मनको वशमें रखे, दानशील बने, दान न ले और सब जीवोंपर दया करे ॥ ८ ॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥

दर्श (अमावस्या), पौर्णमास (पूर्णिमा-सम्बन्धी) पर्वोंको यथासमय त्याग नहीं करता हुआ (वानप्रस्थाश्रमी) विधिपूर्वक वैतानिक अग्निहोत्र करता रहे ॥ ९ ॥

विमर्श—गार्हपत्य कुण्डस्थ अग्निका आहवनीय तथा दक्षिणाग्निकुण्डोंमें स्थापन न करना 'वितान' कहलाता है, उसमें किया गया हवन 'वैतानिक' है।

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ।
तुरायणं च क्रमशो दक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥

नक्षत्रयाग, आग्रहायण (नव-सस्य) याग, चातुर्मास्य याग, उत्तरायण याग और दक्षिणायन यागको श्रौतस्मार्त विधिसे क्रमशः करे ॥ १० ॥

विमर्श—किसी २ व्याख्याकारका मत है कि—प्रकृत श्लोकोक्त दर्श-पौर्णमास्य आदि यागविधान वानप्रस्थके लिये स्तुतिपरक हैं, अनुष्ठान-पाक नहीं; क्योंकि ये (दर्श-पौर्णमासादि याग कर्म) ग्राम्य व्रीहि आदिसे ही साध्य हैं। स्मृतिवचन श्रौताङ्गका बाधक भी नहीं हो सकता, क्योंकि अग्रिम (६।११) वचनमें मुन्यन्न नीवार आदिके वानप्रस्थ-विषयक होनेसे स्पष्टतया कही गयी चरुपुरोडाश आदि विधिका बाध करना अनुचित है। गोविन्दराजके मतानुसार वन्य व्रीहि आदिसे ही किसी प्रकार इन योगोंको करना चाहिये।

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥

वसन्त तथा शरद् ऋतुमें पैदा हुए एवं स्वयं लाये गये पवित्र मुन्यन्नोंसे पुरोडाश तथा चरुको शास्त्रानुसार (उक्त कार्य की सिद्धिके लिये) अलग २ तैयार करे ॥ ११ ॥

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२ ॥

वनमें उत्पन्न अत्यन्त पवित्र उस हविष्यान्नसे देवोंके उद्देश्यसे हवनकर बचे हुए अन्नको भोजन करे तथा स्वयं बनाये हुए लवण (क्षार मिट्टीसे बनाये गये नमक) को काममें लावे ॥ १२ ॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसम्भवान् ॥ १३ ॥

भूमि तथा जलमें उत्पन्न शाकको, वृक्षोंके पवित्र पुष्प, मूल तथा फलको और फलोंसे बने स्नेहको भोजन करे ॥ १३ ॥

मधु मांसादिका त्याग—

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥

मधु (शहद), मांस, पृथ्वीमें उत्पन्न छत्राक, भूस्तृण (मालव देशमें प्रसिद्ध

जलमें उत्पन्न होनेवाला शाक-विशेष), शिग्रुक (सहिजना) और लसोड़ेका फल का त्याग करे (इन्हें नहीं खावे) ॥ १४ ॥

विमर्श—छत्राक वर्षा ऋतुमें भूमि या पेड़ोंके खोखले स्थानोंमें उत्पन्न होता है, इसका आकार छातेके समान तथा रंग सफेद लिये कुछ धूम्रवर्ण होता है। गोविन्द-राजका मत है कि पृथ्वीपर उत्पन्न छत्राकका त्याग करना चाहिये, पेड़ोंके खोखलेमें उत्पन्न छत्राकका नहीं, किन्तु वह कथन—'छत्राकं···' (५।१९) श्लोक द्वारा सामान्यतः (सर्वविध) छत्राकका निषेध गृहस्थाश्रमीके लिये किया है तो वान-प्रस्थके लिये वार्च (वृक्षके खोखलेमें उत्पन्न) छत्राकको भक्ष्य मानना ठीक नहीं, तथा 'भूमिमें या वृक्षपर उत्पन्न छत्राक खानेवालोंके ब्रह्मवादियोंमें निन्दित एवं ब्रह्मघातक समझना चाहिये'[1] इस यमवचनद्वारा द्विविध छत्राकका स्पष्ट रूपसे निषेध करनेसे भी वानप्रस्थोंके लिये भी छत्राक त्याज्य ही है। मेधातिथिका मत है कि—'भौमानि' (भूमिमें उत्पन्न) शब्द 'कविकानि' का विशेषण नहीं है, अपितु स्वतन्त्र पद है और उसका अर्थ 'वनचरोंका भक्ष्य 'गोजिह्वा' नामक पदार्थ' है, वानप्रस्थोंके लिये उसीका त्याग कहा गया है।' किन्तु अनेक कोषोंमें 'भौम' शब्दका 'गोजिह्वा' अर्थ नहीं मिलनेसे उक्त मत भी अमान्य है। 'पञ्चम अध्यायमें द्विजमात्रके लिये निषेध करनेपर भी यहांपर समान प्रायश्चित्त बतलानेके लिये पुनः निषेध किया है' यह कुल्लूकभट्टका मत है।

पूर्वसञ्चित अन्नादिका त्याग—

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम् ।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥

पूर्वसञ्चित मुन्यन्न (नीवार आदि), पुराने वस्त्र (वल्कल चीर आदि) और शाक, कन्द एवं फलका आश्विन मासमें त्याग कर दे ॥ १५ ॥

विमर्श—यह विधि वर्ष भरके लिये सञ्चय करनेवाले (६।१८) वानप्रस्थके लिये है।

हल जोतनेसे उत्पन्न अन्न तथा ग्राम्य मूल-फलका त्याग—

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित् ।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥

वनमें भी हलसे जुती हुई भूमिमें उत्पन्न (किसान आदिके द्वारा) छोड़े गये

---

१. यमस्तु—'भूमिजं वृक्षजं वापि छत्राकं भक्षयन्ति ये ।
ब्रह्मघ्नांस्तान् विजानीयाद् ब्रह्मवादिषु गर्हितान् ॥ इति । (म० मु०)

भी व्रीह्यादि अन्नको तथा ग्राममें (विना हलसे जुती हुई भूमिमें भी) उत्पन्न मूल (कन्द) और फलको (भूखसे) पीडित होकर भी न खावे ॥ १६ ॥

अग्निपक्व भोजी आदिका विधान—

अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा ।
अश्मकुट्टो भवेद्वाऽपि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥ १७ ॥

(वानप्रस्थ) अग्निमें पकाये हुए अन्नादिको खानेवाला बने, अथवा स्वनियत समयपर पकनेवाले (फल आदि) पदार्थोंको खानेवाला बने, अथवा अश्मकुट्ट (पत्थरसे अन्नादि फोड़ या कूट पीसकर खानेवाला) बने, अथवा दन्तोलूखलिक (सब भक्ष्य पदार्थको दाँतोंसे ही चबाकर खानेवाला) बने ॥ १७ ॥

अन्नादिके सञ्चयका प्रमाण—

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससञ्चयिकोऽपि वा ।
षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा ॥ १८ ॥

(वानप्रस्थ) एक दिन, एक मास, छः मास या एक वर्ष तक खाने योग्य नीवार आदि मुन्यन्नका संग्रह करे ॥ १८ ॥

भोजनका समय—

नक्तं चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाऽऽहृत्य शक्तितः ।
चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥ १९ ॥

(वानप्रस्थ) यथाशक्ति अन्नको लाकर सायंकाल (रात्रिमें), या दिनमें, या एक दिन पूरा उपवासकर दूसरे दिन सायंकाल, या तीन रात उपवासकर चौथे दिन सायंकाल भोजन करे ॥ १९ ॥

विमर्श—इसमेंसे तृतीय और चतुर्थ पक्षको क्रमशः 'चतुर्थकालिक और अष्टमकालिक' कहते हैं। किसी २ व्याख्याकारने उक्त दोनों शब्दोंका अर्थ क्रमशः दिनका चतुर्थ और अष्टम प्रहर किया है, किन्तु वह सर्वथा हेय है।

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत् ।
पक्षान्तयोर्वाऽप्यश्नीयाद्यवागूं कथितां सकृत् ॥ २० ॥

अथवा शुक्ल तथा कृष्णपक्षमें चान्द्रायणके नियम (११।२१६) से भोजन करे, अथवा अमावस्या तथा पूर्णिमाको दिन या रात्रिमें केवल एक बार पकाई हुई यवागूका भोजन करे—॥ २० ॥

[यतः पत्रं समादद्यान्न ततः पुष्पमाहरेत्।
यतः पुष्पं समादद्यान्न ततः फलमाहरेत्॥ २॥]

[जिस लता या वृक्ष आदिसे पत्ता ले, उसीसे फूल न ले, तथा जिससे फूल ले, उसीसे फल नहीं ले, अर्थात् पत्ता, फूल और फल अलग २ वृक्ष या लता आदिसे ग्रहण करे ॥ २ ॥]

पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वर्तयेत्सदा।
कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः॥ २१॥

अथवा वैखानस (वानप्रस्थ) आश्रममें रहनेवाला (वानप्रस्थ यति) सर्वदा केवल समयपर पके और स्वयं गिरे हुए फूल, मूल और फलोंसे ही जीवन-निर्वाह करे ॥ २१ ॥

भूमिपर लेटना आदि—

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः॥ २२॥

भूमि पर लेटे तथा टहले या पैरके अगले भाग (चौत्र) पर दिनमें कुछ समय तक खड़ा रहे या बैठा रहे (बीच २ में टहले नहीं अर्थात् घुमे-फिरे नहीं) और प्रातःकाल, मध्याह्नकाल तथा सायंकालमें (तीन वार) स्नान करे ॥ २२ ॥

विमर्श—भूमिपर लेटने आदिका विधान आवश्यक स्नान एवं भोजनके अतिरिक्त समयके लिये है। अथवा महर्षि याज्ञवल्क्यके कथनानुसार[1] रातमें सोने तथा दिनमें खड़ा रहने या टहलनेका विधान है।

ऋतुके अनुसार दिनचर्या—

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः॥ २३॥

अपनी तपस्याको बढ़ाता हुआ (वानप्रस्थ यति) ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्नि ले, वर्षा ऋतुमें खुले मैदानमें रहे (छाये हुए मकान का आश्रय या छाता आदिको पानी बरसते रहनेपर भी न ले) और शीत (हेमन्त) ऋतुमें गीला कपड़ा धारण करे ॥ २३ ॥

---

१. तदुक्तम्—'शुचिर्भूमौ स्वपेद्रात्रौ दिवा सम्प्रपदैर्नयेत्।
स्थानासनविहारैर्वा योगाभ्यासेन वा तदा॥' इति।
(या० स्मृ० ३।५१)

त्रिकाल देवर्षि-पितृ-तर्पण तथा स्वदेह-शोषण—

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत् ।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः ॥ २४ ॥

तीनों समय (प्रातः, मध्याह्न और सायं) स्नान करता हुआ देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण करे और कठोर तपस्या करता हुआ अपने शरीरको सुखा दे (क्षीण कर दे) ॥ २४ ॥

विमर्श—यम[1]वचनानुसार पाक्षिक या मासिक उपवास रूप कठोर तपस्या करता हुआ वानप्रस्थ यति अपने शरीरको क्षीण कर दे ।

अग्निहोत्रकी समाप्ति—

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि ।
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥

वानप्रस्थाश्रमके नियमानुसार वैतानिक अग्निको आत्मामें रखकर (उस अग्निके भस्म आदिको पीकर) वनमें भी अग्नि और गृहका त्यागकर केवल मूल (कन्द आदि) तथा फलको खावे (नीवार आदि पवित्र मुन्यन्नका भी त्याग कर दे) ॥ २५ ॥

विमर्श—'यह अग्नित्याग तथा गृहत्याग छः मासके बाद ही वानप्रस्थाश्रमी करे' ऐसा वसिष्ठ का मत है ।

पेड़के नीचे भूमिपर शयन—

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

(वानप्रस्थाश्रमी) सुख-साधक-साधनोंमें उद्योग छोड़कर ब्रह्मचारी, भूमिपर सोनेवाला, निवासस्थानमें ममत्वरहित हो पेड़ोंके मूल (पेड़ोंके नीचेका स्थान) को घर समझकर निवास करे ॥ २६ ॥

भिक्षाचरण—

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥

(फल मूलके सर्वथा असम्भव हो जानेपर वानप्रस्थाश्रमी) जीवननिर्वाहके लिये केवल तपस्वी वानप्रस्थाश्रमियोंके यहां भिक्षाग्रहण करे और उनका भी

१. 'यथोक्तं यमेन—'पक्षोपवासिनः केचित्केचिन्मासोपवासिनः ।' इति । (म. मु.)

अभाव होनेपर वनमें निवास करनेवाले अन्य गृहस्थ द्विजोंसे भिक्षा ग्रहण करे-॥२७॥

ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन्।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा॥ २८॥

उन वनवासी गृहस्थोंका भी अभाव होनेपर वनमें ही निवास करता हुआ (वानप्रस्थ तपस्वी) ग्रामसे पत्रोंमें, या सकोरोंके खण्डोंमें अथवा हाथमें ही भिक्षाको लाकर केवल आठ ग्रास भोजन करे॥ २८॥

वेदका स्वाध्याय—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥ २९॥

वनमें निवास करता हुआ (वानप्रस्थ) ब्राह्मण इन नियमोंको तथा स्वशास्त्रोक्त नियमोंको सेवन करे और आत्मसिद्धि (ब्रह्मप्राप्ति) के लिये उपनिषदों तथा वेदोंमें कथित विविध वचनोंका अभ्यास करे॥ २९॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये॥ ३०॥

क्योंकि ब्रह्मज्ञानी ऋषियों, ब्राह्मणों और गृहस्थोंने विद्या (ब्रह्म-विषयक अद्वैत ज्ञान) और तपस्या (धर्म) की वृद्धिके लिये इन (उपनिषदों और वेदों) का सेवन (अभ्यास) किया है॥ ३०॥

महाप्रस्थान—

अपराजितां वाऽऽस्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः।
आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः॥ ३१॥

अचिकित्सित रोग आदिके उत्पन्न होनेपर सरल बुद्धिवाला (वानप्रस्थ यति) केवल जल और वायुके आहार पर रहता हुआ शरीरके पतन (मरण) होने तक दक्षिण दिशा की ओर चले॥ ३१॥

उक्त नियमपालनसे ब्रह्मप्राप्ति—

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम्।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते॥ ३२॥

पूर्वोक्त महर्षि-पालित नियमोंमेंसे किसी एकका पालन करता हुआ शोक तथा भयसे रहित ब्राह्मण शरीर त्यागकर ब्रह्मलोकमें पूजित होता (मोक्षको प्राप्त करता) है॥ ३२॥

परिव्राजक (संन्यास) काल—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥

अपनी वयके तीसरे भागको इस प्रकार (तपश्चर्यादिके द्वारा) वनमें बिताकर वयके चौथे भागमें सब विषय-सङ्गोंका त्यागकर संन्यासाश्रम का पालन करे ॥ ३३॥

विमर्श—यह पद्य जिसका वानप्रस्थाश्रममें मरण नहीं हो उसके लिये है। किसी भी प्राणीके वयका निश्चित काल किसी को ज्ञान नहीं रहता, अतः यहां पर वयका तीसरा भाग 'तृतीयं भागमायुषः' से 'वानप्रस्थाश्रममें तप आदिके द्वारा राग-द्वेष आदिके क्षय होने का समय-विशेष' समझना चाहिये, इसी वास्ते 'शङ्ख' तथा 'लिखित'[1] ने वनवासके बाद शान्त एवं क्षीण अवस्थावालेको संन्यास लेनेको कहा है।

ब्रह्मचर्यादिके क्रमसे ही संन्यास ग्रहण—

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः ।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें (ब्रह्मचर्याश्रमसे गृहस्थाश्रममें और गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थाश्रममें) जाकर यथाशक्ति हवनकर जितेन्द्रिय रहता हुआ, भिक्षाचरण एवं वलिकर्मसे श्रान्त (थका) हुआ द्विज विषयासक्तिका त्याग करता (संन्यास लेता) हुआ मरकर ब्रह्मभूत हो अतिवृद्धि (मुक्तिरूप अतिशयित सिद्धि) को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

देवर्षि-पितृ-ऋणसे मुक्त होनेपर ही संन्यासग्रहण—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥

तीन ऋणों (देव-ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण) को पूरा करके ही मनको मोक्षमें लगावे (संन्यास ग्रहण करे), उन ऋणोंको विना पूरा किये (उनसे विना छुटकारा पाये) मोक्षका सेवन (संन्यासका पालन) करनेवाला नरकको जाता है ॥ ३५ ॥

---

१. अत एव शङ्खलिखितौ 'वनवासादूर्ध्वं शान्तस्य परिगतवयसः परिव्राज्यम् ।' इत्याचख्यतुः, इति । (म० मु०)

विमर्श—'यदि त्वात्यन्तिकं वासं—' (२।२४३-२४४) श्लोकोक्त पक्षको न मान कर प्रत्येक आश्रमको सेवन करनेवालोंके लिये प्रकृत वचनद्वारा देव, ऋषि और पितरोंके ऋणसे क्रमशः यज्ञ, वेदस्वाध्याय और पुत्रोत्पादनद्वारा मुक्त होकर ही संन्यासाश्रममें प्रवेश करना चाहिये। 'उत्पन्न होते ही ब्राह्मण (द्विजमात्र) तीन ऋणोंसे युक्त हो जाता है' ऐसा सुना जाता है[1]।

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

विधिपूर्वक वेदोंको पढ़कर, धर्मानुसार पुत्रोंको उत्पन्नकर और शक्तिके अनुसार यज्ञोंका अनुष्ठानकर (द्विज) मोक्ष (मोक्षसाधक संन्यासाश्रमके पालन) में मनको लगावे ॥ ३६ ॥

अन्यथा आचरणसे दोष—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥ ३७ ॥

द्विज विना वेदका अध्ययन किये, तथा पुत्रोंको विना उत्पन्न किये और (अग्निष्टोम आदि) यज्ञोंका विना अनुष्ठान किये मोक्षको (संन्यासाश्रमके ग्रहण-द्वारा) चाहता हुआ नरकको जाता है ॥ ३७ ॥

प्राजापत्य यज्ञानुष्ठानके बाद संन्यासग्रहण—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ ३८ ॥

जिसमें समस्त सम्पत्तिको दक्षिणा रूपमें दे देते हैं ऐसे प्राजापत्य (प्रजापति जिसके देव हैं ऐसा) यज्ञको अनुष्ठानकर और उसमें कथित विधि से अपनेमें अग्निका आरोपकर ब्राह्मण घरसे (निकलकर) संन्यास आश्रमको ग्रहण करे ॥३८॥

विमर्श—'यजुर्वेदीयोपाख्यान' नामक ग्रन्थमें इस सर्वस्वदक्षिणाक प्राजापत्य यज्ञका विधान कहा गया है।

अभयदानफलम्—

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥

जो सब (स्थावर तथा जङ्गम) प्राणियोंके लिये अभय देकर गृहसे संन्यास

---

१. 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते, यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः, स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः इति श्रूयते। इति (म० मु०)।

ले लेता है, उस ब्रह्मज्ञानीके तेजोमय लोक (ब्रह्मलोक आदि) होते हैं अर्थात् वह उन लोकोंको प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥

जिस द्विजसे जीवोंको लेशमात्र भी भय नहीं होता, शरीरसे विमुक्त (मरे) हुए उस द्विजको कहींसे भी भय नहीं होता (वह सर्वदाके लिये निर्भय हो जाता है)॥

निःस्पृह होकर संन्यास ग्रहण—

अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

पवित्र कमण्डलु, दण्ड आदिसे युक्त मौन धारण किया हुआ घरसे निकला हुआ और उपस्थित (किसीके द्वारा लाये गये) इच्छा-प्रवर्तक वस्तु (स्वादिष्ट, भोज्य एवं मृदु वस्त्रादि) में निःस्पृह होकर संन्यास ग्रहण करे ॥ ४१ ॥

एकाकी रहना—

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

अकेले (दूसरेके संगरहित संन्यासी) के सिद्धिको देखता हुआ द्विज दूसरे किसीका साथ न करके अकेला ही मोक्षके लिये चले (घरसे निकले या रहे) इस प्रकार वह किसीको नहीं छोड़ता है और न उसे कोई छोड़ता है ॥ ४२ ॥

विमर्श—यहां एकाकी (अकेला) से पूर्व परिचित पुत्रादि तथा आगे मिलने वालोंका ग्रहण करना चाहिये । जब वह संन्यासाश्रममें प्रवेश करते हुए तथा बादमें अकेला ही रहेगा तब उसको किसीमें ममता नहीं रहेगी । और ममत्वसे हीन संन्यासी परमात्मामें चित्त लगाकर शीघ्र मुक्त होजायेगा ।

सन्यासीके नियम—

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥

लौकिक अग्निसे रहित, गृहसे रहित, शरीरमें रोगादि होनेपर भी चिकित्सा आदिका प्रबन्ध न करनेवाला, स्थिर बुद्धिवाला, ब्रह्मका मनन करनेवाला और ब्रह्ममें भी भाव रखनेवाला संन्यासी भिक्षाके लिये ग्राममें प्रवेश करे ॥ ४३ ॥

मुक्तके लक्षण—

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

(भिक्षाके लिये) कपाल (मिट्टीका फूटा-टूटा बर्तन), (रहनेके लिये) पेड़ोंकी जड़ (वृक्षके नीचेका भूभाग), पुराना व मोटा या वृक्षका वल्कल कपड़ा (लंगोटी आदि), अकेलापन, ममता और सबमें (ब्रह्मबुद्धि रखते हुए) समान भाव; ये मुक्तके लक्षण हैं ॥ ४४ ॥

जीवन-मरणकी इच्छाका त्याग—

नाभिनन्देत मरणं नाभिवन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥

मरने या जीने—इन दोनोंमें से किसीकी चाहना न करे, किन्तु नौकर जिस प्रकार वेतनकी प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार काल (स्वकर्माधीन मृत्यु-समय) की प्रतीक्षा करता रहे ॥ ४५ ॥

[ग्रैष्म्यान्हैमन्तिकान्मासानष्टौ भिक्षुर्विचक्रमेत्।
दयार्थं सर्वभूतानां वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ ३ ॥

[गर्मी तथा जाड़ेके आठ महीनोंमें भिक्षाके लिये (ग्रामोंमें) भ्रमण करे और बरसातमें सब प्राणियों पर दया करनेके लिये एक जगह निवास (चातुर्मास) करे ॥ ३ ॥

नासूर्यं हि व्रजेन्मार्गं नादृष्टां भूमिमाक्रमेत्।
परिभूताभिरद्भिस्तु कार्यं कुर्वीत नित्यशः ॥ ४ ॥

सूर्यके अभावमें (रातमें) रास्तेमें न चले और बिना देखे भूमिपर न चले तथा पवित्र (छाने हुए) पानीसे सब क्रिया करे ॥ ४ ॥

सत्यां वाचमहिंस्रां च वदेदनपकारिणीम्।
कल्कापेतामपरुषामनृशंसामपैशुनाम् ॥ ५ ॥]

सच्ची, किसीकी हिंसा न करनेवाली, बुराई न करनेवाली, दोष-रहित, कठोरता-रहित (मधुर), क्रूरता-रहित और किसीकी सच्ची या झूठी निन्दासे रहित वाणी बोले ॥ ५ ॥]

संन्यासीका आचार—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

देखनेसे पवित्र (बाल, कूड़ा, थूक-खकार आदिसे रहित) भूमिपर पैर रखे (चले या ठहरे), कपड़ेसे (छाननेसे) पवित्र जल पीवे, सत्यसे पवित्र बात कहे और मनसे पवित्र (कार्यका) आचरण करे ॥ ४६ ॥

सबसे वैरभावका त्याग—

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥

मर्यादासे बाहर (भी) किसीके कही हुई बातको सहन करे, किसीका अपमान न करे और इस (नश्वर) शरीरको धारणकर किसीके साथ वैर न करे ॥

क्रोध तथा व्यर्थ वचनका त्याग—

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

क्रोधसे युक्त भी किसीके ऊपर स्वयं क्रोध न करे । किसीके अपनी निन्दा करनेपर भी उससे मधुर (निन्दा रहित) बात कहे और सप्त द्वारोंसे निर्गत विनाश शील (व्यर्थ) वाणी न बोले ॥ ४८ ॥

विमर्श—नेत्र आदि पांच बाहरी इन्द्रियां तथा मन और बुद्धि-ये दो भीतरी; इस प्रकार इन सातोंसे गृहीत होनेपर ही वचन-प्रवृत्ति होती है, ऐसी तथा ब्रह्मभिन्नविषयक होनेसे नश्वर अर्थात् व्यर्थकी बातें न करे । गोविन्दराजने 'सप्त-द्वारावकीर्णां' का अर्थ—'धर्म १, अर्थ २, काम ३, धर्मार्थ ४, अर्थकाम ५, धर्मकाम ६ और धर्मार्थकाम ७—ये सात वचनप्रवृत्तिके द्वार हैं, इनसे विच्छिन्न वेद विषय रहित व्यर्थकी बातें न करे' किया है । कोई २ व्याख्याकार सातों भुवनोंको ही सप्तद्वार मानकर उनके विनाशशील होनेसे तद्विषयक बात भी असत्य (विनाश शील) ही होगी, ऐसी बाणीको न कहे, ऐसा अर्थ करते हैं।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥

ब्रह्मके ध्यानमें लीन, (स्वस्तिक, पद्म आदि) योगासनोंमें बैठा हुआ, अपेक्षा (कमण्डलु, दण्ड, वस्त्र आदिकी सुन्दरता, नवीनता या अधिकता आदिकी चाहना) से रहित, मांस (विषयोंके भोगका स्वादरूप मांस) की अभिलाषासे रहित और शरीर मात्र सहायकसे युक्त (बिलकुल अकेला) मोक्ष सुखको चाहनेवाला (संन्यासी) इस संसारमें विचरण करे ॥ ४९ ॥

भिक्षा ग्रहणमें आडम्बरका त्याग—

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ ५० ॥

उत्पात (भूकम्प, उल्कापात आदि), निमित्त (शरीर या नेत्रादिका फड़कना), नक्षत्र (अश्विनी आदि), अङ्गविद्या (हस्तरेखा आदि), अनुशासन (ऐसी राजनीति है इस मार्गसे चले आदि) और वाद (शास्त्रोंके अर्थ—कथात्मक आदि) से कभी भी भिक्षा लेनेकी इच्छा न करे ॥ ५० ॥

विमर्श—अमुक समयमें भूकम्प या उल्कापात आदि उपद्रव होगा, तुम्हारे अमुक अङ्गके स्फुरणका यह फल है आदि, आज अमुक नक्षत्र या तिथि है आदि, हस्तरेखाका फल कथन, नीति बतलाकर किसी व्यक्तिको किसी कार्यमें प्रवृत्त करना या शास्त्रीय कथा आदि कहकर भिक्षा लेनेकी इच्छा आदि न करे यहां इच्छा मात्रका भी निषेध किया है, भिक्षा लेनेकी बात तो और बड़ी है । भाव यह है कि भिक्षा प्राप्त करनेके लिये इन कार्योंको साधन न बनावे ।

बहुभिक्षुकादि युक्त गृहमें भिक्षार्थ गमननिषेध—

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वाऽन्यैरगारमुपसंव्रजेत् ॥ ५१ ॥

बहुतसे वानप्रस्थों या अन्य साधुओं, ब्राह्मणों, पक्षियों, कुत्तों या दूसरे भिक्षुकोंसे युक्त (जहां ये पहुंचे हों ऐसे) घरमें (भिक्षाके लिये) न जावे ॥५१॥

भिक्षापात्र–दण्डादि–सहित भिक्षाचरण—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥

बाल, नाखून और दाढ़ी-मूंछ कटवाकर (बिलकुल मुण्डन कराकर), भिक्षापात्र (मिट्टीका सकोरा आदि), दण्ड तथा कमण्डलुको लिये हुए सभी (किसी भी) प्राणीको पीडित न करता हुआ (संन्यासी) सर्वदा विचरण करे ॥

संन्यासीका अधातवीय पात्र—

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ५३ ॥

उस (संन्यासी) के भिक्षापात्र धातु—(सुवर्ण, चांदी, तांबा आदि) के न

हों[1], छिद्र रहित हों, उनकी शुद्धि यज्ञमें चमसके समान केवल पानीसे होती है ५३

अलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥

तुम्बा, लकड़ी, मिट्टी, बांसके पात्र यति (संन्यासि) यों के हों, ऐसा स्वयम्भू-पुत्र मनुने कहा है ॥ ५४ ॥

एक बार भिक्षाग्रहण—

एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥

संन्यासी जीवन-निर्वाहके लिये दिनमें एक बारही भिक्षाग्रहण करे तथा उसको भी अधिक प्रमाणमें लेनेमें आसक्ति न करे, क्योंकि भिक्षामें आसक्ति रखनेवाला संन्यासी (मुख्य धातुके बढ़नेसे स्त्री आदि) विषयोंमें भी आसक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥

भिक्षाका समय—

विधूमे सन्नमुशले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥

(गृहाश्रमियोंके) घरोंमें जब धूंआ दिखाई न पड़ता हो, मूसलका (अन्न कूटनेके लिये) शब्द न होता हो, आग बुझ गयी हो, सब लोग भोजनकर लिये हों और खानेके पात्र (मिट्टीके सकोरे पत्तल, दोने आदि) बाहर फेंक दिये गये हों; तब भिक्षाके लिये संन्यासी सर्वदा निकले ॥ ५६ ॥

विमर्श—घरके सभी लोग खा-पीकर सब प्रकार निवृत्त हो गये हों, ऐसे समयमें भिक्षाके लिये संन्यासीको जाना चाहिये इसी बातको महर्षि याज्ञवल्क्यने[2] दिनके तीन मुहूर्त (छ घटी) बाकी रहनेपर संन्यासीको भिक्षाके लिये निकलने का विधान किया है।

भिक्षाके मिलने या न मिलनेपर हर्ष या विषादका त्याग—

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ ५७ ॥

---

१. तथा च यमः—'सुवर्णरूप्यपात्रेषु ताम्रकांस्यायसेषु च।
गृह्णन् भिक्षां न धर्मोऽस्ति गृहीत्वा नरकं व्रजेत् ॥' इति।

२. तदुक्तम्—'अप्रमत्तश्चरेद्भैक्ष्यं सायाह्नेनाभिसन्धितः।' इति (या०स्मृ० ३।५९) तस्य 'सायाह्ने अह्नः पञ्चमे भागे' इति मिताक्षराकारेण व्याख्याऽपि कृता ॥

भिक्षाके न मिलनेपर विषाद और मिलनेपर हर्ष न करे। जितनी भिक्षासे जीवन-निर्वाह हो सके, उतनेही प्रमाणमें भिक्षा मांगे। दण्ड, कमण्डलु आदिकी मात्रामें भी आसक्ति न करे (यह सुन्दर या दृढ़ है इसे मैं धारण करूंगा और यह रुचिकर नहीं है इसे नहीं धारण करूंगा इत्यादि विचार न करे) ॥ ५७ ॥

विशिष्ट आदर सत्कारके साथ भिक्षाग्रहणका निषेध—

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते ॥ ५८ ॥

विशेष रूपसे आदर-सत्कारके साथ मिलनेवाली भिक्षाकी सर्वदा निन्दा (स्वीकार न) करे, क्योंकि पूजापूर्वक होनेवाली भिक्षाप्राप्तिसे मुक्त (शीघ्रही मुक्तिको पानेवाला) भी संन्यासी बँध जाता है। (आदर-सत्कारके साथ भिक्षा देनेवाले व्यक्तिमें ममत्व होनेसे उस संन्यासीको पुनः संसारमें जन्म लेना पड़ता है) ॥ ५८ ॥

इन्द्रिय-निग्रह—

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

(संन्यासी) विषयोंकी ओर आकृष्ट होती हुई इन्द्रियोंको थोड़ा भोजन और एकान्त वासके द्वारा रोके (वशमें करे) ॥ ५९ ॥

इन्द्रिय-निग्रह आदिसे मोक्षलाभ—

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥

(संन्यासी) इन्द्रियोंको अपने २ विषयोंसे रोकनेसे, राग और द्वेषके त्यागसे और प्राणियोंकी अहिंसा (किसी प्रकार भी पीड़ा न पहुंचाने) से मुक्तिके योग्य होता है ॥ ६० ॥

इन्द्रिय-निरोधक विषयवैराग्यके लिये संसारचिन्तन—

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥

(शास्त्रविहितका त्याग और शास्त्रनिन्दितका आचरण रूप) कर्मोंके दोषसे उत्पन्न मनुष्योंकी तिर्यग्योनि आदि गतियोंको, नरकमें गिरनेको तथा यमलोककी कठोर यातनाओंको विचार करे—॥ ६१ ॥

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः ।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

—प्रियों (मित्र, पुत्र, स्त्री आदि) से वियोग, अप्रियों (शत्रु, हिंसक जीव रोग, शोक आदि नहीं चाहे गये) से संयोग (साथ) होने, बुढ़ापेसे आक्रान्त होने और रोगोंसे पीड़ित होनेका विचार करे— ॥ ६२ ॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च सम्भवम् ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥

—इस शरीरसे जीवात्माका बाहर निकलने (मरने), फिर गर्भमें उत्पन्न होने, और इस अन्तरात्माका हजारों करोड़ (शृगाल, कीट, पतंग अत्यन्त नीच) योनियोंमें पैदा होनेका चिन्तन करे— ॥ ६३ ॥

अधर्मसे दुःख तथा धर्मसे सुखकी उत्पत्ति—

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

—शरीरधारियों (जीवों) के अधर्मसे उत्पन्न दुःख-सम्बन्धको धर्मकारणक ब्रह्मप्राप्ति रूप प्रयोजनसे अक्षय सुखके सम्बन्धका चिन्तन करे— ॥ ६४ ॥

ब्रह्मकी सूक्ष्मता तथा उत्तमादि शरीरमें उत्पत्ति—

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥

योग (विषयोंसे चित्त-व्यापारको रोकना) से परमात्मा की सूक्ष्मता (सर्व-व्यापकता) का और उत्तम, मध्यम तथा नीच शरीरोंमें (अपने कर्मोंको भोगनेके लिये) उत्पत्तिका चिन्तन करे ॥ ६५ ॥

चिह्न-विशेषको धर्मकारणत्वका अभाव—

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

जिस किसी भी आश्रममें रत रहता हुआ (उसके कुछ विरुद्ध आचरण करनेसे) दोषयुक्त होता हुआ भी सब जीवोंमें (ब्रह्मबुद्धि रखनेके कारण) समान दृष्टि होकर धर्मका आचरण करे, क्योंकि (कोई) चिह्न-विशेष धर्मका कारण नहीं होता है ॥ ६६ ॥

उक्त विषय में उदाहरण—

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥

यद्यपि निर्मलीका फल पानीको स्वच्छ करनेवाला है, किन्तु उसके नाममात्र लेनेसे पानी स्वच्छ नहीं होता। (इसी प्रकार केवल किसी धर्म के चिह्न धारण करनेसे और धर्मका पालन नहीं करनेसे धर्म नहीं होता) ॥ ६७ ॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

शरीरके पीडित होनेपर भी रातमें या दिनमें सब जीवों की रक्षाके लिये सर्वदा भूमिको देखकर चले ॥ ६८ ॥

विमर्श—पहले (४।४६) केश, हड्डी, थूक-खकार आदिसे दूषित भूमिसे बचकर चलनेके लिये कह आये हैं और यहां पर पैरके नीचे चींटी या अन्य कोई भी छोटा जीव न मर जाय अतः भूमिको देखकर चलनेका विधान है।

क्षुद्र जीवोंकी हत्याका प्रायश्चित्त—

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः ।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत् ॥ ६९ ॥

संन्यासी अज्ञानसे जिन जीवोंको दिन-रातमें मारता है, उन (की हत्यासे उत्पन्न पाप) की शुद्धिके लिये स्नानकर छः प्राणायाम करे ॥ ६९ ॥

प्राणायामकी प्रशंसा—

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥

व्याहृति और प्रणवसे युक्त विधिपूर्वक किये गये तीन प्राणायामको भी ब्राह्मण के लिये अतिश्रेष्ठ तप समझना चाहिये ॥ ७० ॥

विमर्श—सात व्याहृति तथा दश प्रणवसे और सशिरस्क गायत्रीसे युक्त[1] पूरक (मंत्रको पढ़ते हुए…नाकसे ऊपरकी ओर खींचा गया श्वास), कुम्भक (मंत्र

---

(१) 'प्राणायामश्च—

'सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥'
इति वसिष्ठोक्त्यात्र द्रष्टव्य इति । (म० मु०)

पढ़ते हुए श्वासको रोकना और रेचक[1] (मंत्र पढ़ते हुए···नाकसे छोड़ा गया श्वास) विधिसे प्राणायाम करनेका विधान है। ६ से अधिक करनेपर अधिक पापका क्षय होता है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥

जिस प्रकार सोना-चांदी आदि धातुकी मैल आगमें धौंकने (तपाने) से जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणवायुके रोकने (प्राणायाम करने) से इन्द्रियोंके दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ ७१ ॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥

प्राणायामोंसे रोगआदि दोषोंको, परमात्मामें मनको लगानेसे पापोंको, विषयोंसे इन्द्रियोंको रोककर विषय-संसर्गोंको और ध्यान से ईश्वर-भिन्न कामक्रोध लोभादि गुणोंको जलावे (नष्ट करे) ॥ ७२ ॥

ध्यानयोगसे आत्मदर्शन—

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥

इस अन्तरात्मा (जीव) की ऊंचे-नीचे (देव-पशु आदि) योनियोंमें शास्त्रसे असंस्कृत बुद्धिवाले व्यक्तियोंके द्वारा दुर्ज्ञेय गतिको परमात्म-ध्यानके अभ्याससे देखे। (इस प्रकारके अविद्या, काम्य तथा निषिद्ध कर्मोंसे ये गतियां मिलती हैं, यह जानकर ब्रह्मज्ञानसे युक्त हो जावे) ॥ ७३ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कारसे मुक्ति तथा तदभावसे संसारप्राप्ति—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

ब्रह्मके साक्षात्कारसे युक्त मनुष्य कर्मोंसे बांधा नहीं जाता (जन्म-जरा-मरणादि दुःख पानेके लिये संसारमें जन्म नहीं लेता अर्थात् मुक्त हो जाता है) और ब्रह्मसाक्षात्कारसे रहित मनुष्य संसारको प्राप्त करता (संसारमें बार २ जन्म लेता) है॥

---

(१) तथा योगियाज्ञवल्क्यः—
'नासिकोत्कृष्ट उच्छ्वासो ध्मातः पूरक उच्यते ।
कुम्भको निश्चलश्वासो मुच्यमानस्तु रेचकः ॥' इति । (म० मु०)

मुक्तिके साधक कर्म—

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥

अहिंसा, विषयोंकी अनासक्ति, वेदप्रतिपादित कर्म और कठिन तपश्चरणोंसे इस लोकमें उस पद (ब्रह्मपद) को साध लेते हैं। (इन कर्मोंके आचरणसे ब्रह्मप्राप्ति कर लेते हैं) ॥ ७५ ॥

देहका स्वरूप—

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥

(उक्त दो श्लोकोंसे क्रमशः ब्रह्मदर्शन तथा उसके सहकारी कर्मको मोक्षका साधन बतलाकर अब मोक्षके अन्तरङ्गभूत यत्न और संसारसे वैराग्यके लिये देहके स्वरूपको अग्रिम दो श्लोकोंसे कहते हैं—) हड्डीरूप खम्भोंवाला, स्नायु (रूप रस्सी) से युक्त, मांस और रक्तरूपी लेप (चूनेसे लिपना) वाला, चमड़ेसे ढका हुआ (पर्दे से युक्त), मलमूत्रसे भरा हुआ, दुर्गन्धयुक्त, बुढापा और शोकसे युक्त, रोगोंका घर, भूख-प्यास आदिसे पीडित, रज (धूलि, पक्षान्तरमें रजोगुण) से युक्त, अनित्य (नाशशील) इस भूत (भूतप्रेतादि, पक्षान्तरमें पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाशरूप पञ्चमहाभूतोंका आश्रय) इस (देह) को छोड़ दे (फिर देहको धारण नहीं करना अर्थात् संसारमें जन्म लेना नहीं पड़े, ऐसा उपाय करे) ॥

देह-त्यागमें उदाहरण—

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद् ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

जिस प्रकार पेड़ नदीके किनारेको छोड़ता (नदीवेगसे अपने पतनको नहीं जानता हुआ गिर जाता) है, और उस पेड़को स्वेच्छासे जैसे पक्षी छोड़ देता है; उसी प्रकार इस शरीरको छोड़ता हुआ (संन्यासी) कष्टकारक ग्राह (पुनः शरीर-धारण) से छूट जाता है ॥ ७८ ॥

प्रियाप्रियोंमें पुण्यपापका त्याग—

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।

विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ७९ ॥

(इस प्रकार संन्यासी) अपने प्रियोंमें पुण्यको और अप्रियोंमें पापको छोड़कर ब्रह्मध्यानके द्वारा सनातन ब्रह्मको पाता (ब्रह्ममें लीन हो जाता) है ॥ ७९ ॥

विमर्श—शास्त्रीय वचनके द्वारा 'अन्यकृत पाप या पुण्य अन्य व्यक्तिको प्राप्त होता है' इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये, उक्त प्राप्तिमें वेदवाक्य तथा यह मनु भगवान्का वचन स्पष्ट प्रमाण है। जैसे प्राणीका अङ्ग होनेसे शङ्ख आदिके समान नरकपालको शुद्ध माना जाता है, वैसे ही शास्त्रीय वचनसे यहां पर भी समझना चाहिये। मेधातिथि तथा गोविन्दराजने इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकारकी है—'यदि दूसरा कोई व्यक्ति अपना (संन्यासी) का प्रिय करे तो संन्यासीको यह समझना चाहिये कि यह प्रियकार्य मेरे ही ध्यानाभ्यासजन्य पुण्यका फल है तथा अप्रिय करे तो यह समझना चाहिए कि यह पूर्वजन्मकृत पापोंका फल है, इस प्रकार कल्पनाकर उस प्रिय तथा अप्रियके करनेवाले राग-द्वेष कारक पुरुषोंका त्यागकर संन्यासी नित्य ब्रह्मको प्राप्त करता है'। परन्तु 'विसृज्य' (छोड़कर) इस क्रियाके साथ मुख्य कर्म 'पुण्य-पाप'को छोड़कर 'प्रिय-अप्रियके करनेवाला' इस अध्याहृत कर्मका अन्वय करनेसे तथा दो कर्म मानने पर सुनी गयी क्रिया का त्याग एवं नहीं सुनी गयी क्रिया का अध्याहार करनेसे उक्त व्याख्यान ठीक नहीं है 'हर्ष-शोकका कारण प्रीति-परितापका इस प्रकार त्याग करना चाहिये। यह जो मेरा प्रिय या अप्रिय करता है, वह मेरे ही क्रमशः पुण्य तथा पापका फल है, उसका भोक्ता मैं ही हूं, यह अन्यथा यह कुछ नहीं कर सकता, इस प्रकार सन्यासीको ध्यानसे भावना करनी चाहिये, ऐसा करनेसे प्रिय या अप्रिय करनेवाले पर राग या द्वेष नहीं होने देना ही मुख्य लक्ष्य है' ऐसा 'नेने शास्त्री' का मत है।

विषयोंमें निःस्पृहता—

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥

जब (संन्यासी) विषयोंमें दोषकी भावनासे सब विषयोंसे निःस्पृह हो जाता है, तब [इस लोकमें (सन्तोषजन्य) तथा परलोकमें (मोक्षलाभरूप) नित्यसुखको प्राप्त करता है ॥ ८० ॥

---

१. तथा च श्रुतिः—'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। अपरा च श्रुतिः—तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' इति।' (म० मु०)

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥

इस प्रकार सब संगों (विषयासक्तियों) को धीरे २ छोड़कर तथा सब द्वन्द्वों (मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ आदि) से छुटकारा पाकर (संन्यासी) ब्रह्ममें ही लीन हो जाता है ॥ ८१ ॥

आत्मध्यानसे सर्वसिद्धि—

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥

यह सब (पूर्व श्लोकमें कहा गया पुत्र-धन दारादिमें ममत्वका त्याग, मानापमानका अभाव एवं ब्रह्मकी प्राप्ति) परमात्मा में ध्यानसे होता है । अध्यात्मज्ञानसे शून्य ध्यानका फल (पूर्वोक्त ममत्वत्याग आदि) कोई भी नहीं प्राप्त करता है ॥ ८२ ॥

वेदजयकी कर्तव्यता—

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥ ८३ ॥

(पहले ब्रह्मके ध्यान करनेके लिये कहकर अब वेदजप करने का उपदेश करते हैं—) यज्ञ तथा देवके प्रतिपादक वेदमंत्रको, जीवके स्वरूपका प्रतिपादक वेदमंत्रको और ब्रह्मप्रतिपादक ('सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि) वेदान्तमें वर्णित मंत्रको जपे ॥ ८३ ॥

एकमात्र वेद ही सबकी गति—

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥

वेदार्थको नहीं जाननेवालोंके लिये यही वेद शरण (गति) है, (क्योंकि अर्थज्ञानके विना भी वेदपाठ करनेसे पाप क्षय होता है) और वेदार्थ जाननेवालोंके लिये स्वर्ग (तथा मोक्ष) चाहनेवालोंके लिये भी यही वेद शरण (गति) है ॥ ८४ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते है कि—) इस क्रम (६।३३—८४) से जो द्विज संन्यास लेता है, वह इस संसारमें पापको नष्टकर (ब्रह्मके साक्षात्कार) के द्वारा

(औपाधिक शरीरके नष्ट होनेसे) उत्कृष्ट ब्रह्मको प्राप्त करता है (ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्तकर मुक्त हो जाता है) ॥ ८५ ॥

वेदसांन्यासिक कर्म—

एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम् ।
वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि) आप लोगोंसे मैंने मनको वशमें करनेवाले यतियों (कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंस भेदसे चतुर्विध[1] संन्यासियों) के सामान्य धर्मको कहा है, अब वेदसंन्यासिक (वेदविहित यज्ञादिका) करनेवाले (कुटीचर यतियों) के कर्मयोगको आप लोग सुनें ॥ ८६ ॥

विमर्शः—यहांपर वेदकर्मके त्यागसे केवल वेदोक्त यज्ञादि, शरीर कष्टकर तीर्थयात्रा तथा उपवासादि मात्रका त्याग अपेक्षित है; अतः आत्मचिन्तन जप आदि तो इन्हें भी करना ही होता है।

चार आश्रम—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति (संन्यास); ये चार आश्रम गृहस्थसे उत्पन्न हैं ॥ ८७ ॥

आश्रमोंके क्रमशः पालनसे मोक्षप्राप्ति—

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

शास्त्रके अनुसार ग्रहण किये गये ये चारों आश्रम (६।८७) विधिवत् अनुष्ठान करनेवाले ब्राह्मणको परमगति (मोक्षलाभ) को प्राप्त कराते हैं ॥ ८८ ॥

गृहस्थकी श्रेष्ठता—

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥ ८९ ॥

इन सभी आश्रमों (६।८७) मेंसे वेद तथा स्मृतियोंके अनुसार (अग्निहोत्र

---

(१) भारते चतुर्धा भिक्षवः (संन्यासिनः) उक्ताः—
'चतुर्धा भिक्षवस्तु स्युः कुटीचरबहूदकौ ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात्स उत्तमः ॥' इति । (म० मु०)

आदि) अनुष्ठान करनेसे गृहस्थ ही श्रेष्ठ कहा जाता है, क्योंकि वह इन तीनों (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) का (अन्नदान आदिके द्वारा) पालन करता है (इससे भी गृहस्थ ही श्रेष्ठ है) ॥ ८९ ॥

गृहस्थकी श्रेष्ठतामें दृष्टान्त—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९० ॥

जिस प्रकार सभी नदी और नद समुद्रमें स्थितिको पाते (मिलते) हैं उसी प्रकार सभी आश्रमवाले (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) गृहस्थमें ही स्थिति (भिक्षालाभादिसे आश्रय) को पाते हैं ॥ ९० ॥

दशविध धर्मकी सेव्यता—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥

इन चारों आश्रमोंमें रहनेवाले द्विजोंको दश प्रकारके (६।९२) धर्मका यत्नपूर्वक नित्य सेवन करना चाहिये ॥ ९१ ॥

दशविध धर्म—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच (पवित्रता) इन्द्रियोंको वशमें करना, ज्ञान, विद्या, सत्य, क्रोधका त्याग ये दश धर्मके लक्षण हैं ॥ ९२ ॥

दशविध धर्मानुष्ठानसे मोक्षलाभ—

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥

जो ब्राह्मण (द्विजमात्र) इन दश लक्षणवाले धर्मोंको अध्ययन करते हैं और अध्ययन करके उसका आचरण करते हैं, वे परमगति (मोक्ष) को जाते हैं ॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥ ९४ ॥

उक्त दश लक्षणवाले धर्म (६।९२) को पालन करता हुआ द्विज सावधान चित्त होकर वेदान्त (उपनिषद् आदि) को विधिवत् (गुरु मुखसे) सुनकर ऋणत्रय (६।३६-३७) से छुटकारा पाकर संन्यास ग्रहण करे ॥ ९४ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥

सब कर्म (गृहस्थके करने योग्य अग्निहोत्र यज्ञ आदि) का त्यागकर कर्मजन्य दोष (अज्ञातावस्थामें की हुई जीवहिंसा आदि) को प्राणायाम (६।६९) से नष्ट करता हुआ जितेन्द्रिय होकर ग्रन्थ तथा अर्थसे वेदोंका अभ्यासकर पुत्रके ऐश्वर्यमें रहे । (पुत्रके द्वारा प्राप्त भोजनवस्त्रका उपभोग करता हुआ रहे । यह 'कुटीचर' संन्यासीका लक्षण है) ॥ ९५ ॥

वेदके अतिरिक्त सब कर्मोंका संन्यास—

[संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत् ।
वेदसंन्यासतः शूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत् ॥ ६ ॥]

[सब (गृहस्थके अनुष्ठेय यज्ञ, अग्निहोत्रादि) का त्याग करे, किन्तु एक वेदका त्याग न करे । वेदके त्यागसे (द्विज) शूद्र हो जाता है, इस कारण वेदका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ६ ॥]

संन्यासका फल—

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ९६ ॥

इस प्रकार सब कर्मों (गृहस्थके याग अग्निहोत्रादि) का त्यागकर अपने (ब्रह्मसाक्षात्काररूप) कार्यको प्रधान मानता हुआ (स्वर्ग आदिमें भी) निस्पृह होकर संन्यासके द्वारा पापोंको नष्टकर (द्विज) परमगति (मोक्ष) को पाता है ॥

अध्यायका उपसंहार—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) आपलोगोंसे यह ब्राह्मणके चार प्रकार (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) का धर्म पुण्य तथा अक्षय फल देनेवाला कहा, अब (आपलोग) राजाओंके धर्मको (सातवें अध्यायमें) जानो ॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन्धर्मं तापस्यमादिकम् ।
श्रीरामभक्तकृपया षष्ठेऽस्मिन् पूर्णतामगात् ॥ १ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

राजधर्मका कथन—

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैं) राजा (अभिषिक्त नृपति) के के आचार उत्पत्ति और इस लोक तथा परलोकमें होनेवाली उत्तम सफलता होवे ऐसे राजधर्म (दृष्टादृष्ट कर्तव्य) को कहूंगा ॥ १ ॥

कृतसंस्कार राजाका प्रजारक्षण—

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

शास्त्रानुसार वेदको प्राप्त (उपनयन संस्कारसे युक्त) क्षत्रिय (अभिषिक्त राजा) न्यायपूर्वक (अपने राज्यमें रहनेवाली) सब प्रजाकी रक्षा करे ॥ २ ॥

विमर्श—इस वचनसे क्षत्रियका ही मुख्यतः प्रजापालन कर्तव्य बतलाया है। आपत्तिकालमें ब्राह्मण भी क्षत्रिय-वैश्यवृत्ति कर सकता है, वैश्य क्षत्रियवृत्ति कर सकता है और शूद्र भी क्षत्रिय-वैश्यवृत्ति कर सकता है; किन्तु ब्राह्मण शूद्रवृत्ति और शूद्र ब्राह्मणवृत्ति आपत्तिकालमें भी नहीं कर सकते, इसी विषयको आगे (१०।८१-८३) में कहेंगे। महर्षि नारदने[1] भी यही कहा है।

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥

इस संसारको विना राजाके होनेपर बलवानोंके डरसे (प्रजाओंके) इधर-उधर भागनेपर सम्पूर्ण चराचरकी रक्षाके लिये भगवान्‌ने राजा की सृष्टि की ॥ ३ ॥

इन्द्रादिके अंशसे राजाकी सृष्टि—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥

---

१. 'तदाह नारदः—न कथञ्चन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम् ।
वृषलः कर्म च ब्राह्मं पतनीये हि ते तयोः ॥
उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते ।
मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥
रक्षणं वेदधर्मार्थं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।' इति । (म० मु०)

(ईश्वरने) इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेरका सारभूत नित्य अंश लेकर (राजाकी सृष्टि की) ॥ ४ ॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥

चूंकि राजा इन्द्र आदि सब देवोंके नित्य अंशसे रचा गया है, इस कारण यह (राजा) तेजसे सब जीवोंको अभिभूत (पराजित) करता है ॥ ५ ॥

राजाकी प्रशंसा—

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥

यह राजा देखनेवालों के नेत्र तथा मनको सूर्यके समान संतप्त करता है, अतः पृथ्वीपर कोई भी इसे देखनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ६ ॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥

यह राजा प्रभाव (अपनी अधिक शक्ति) से अग्निरूप है, वायुरूप है, सूर्यरूप है, चन्द्ररूप है, धर्मराज (यम) रूप है, कुबेररूप है और महेन्द्ररूप है ॥

राजापमानका निषेध—

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥

(अतएव) 'यह मनुष्य ही तो है' ऐसा मानकर बालक राजाका भी अपमान न करे, क्योंकि यह राजाके रूपमें बड़ी देवता (दैवीशक्ति) स्थित रहता है ॥ ८ ॥

विमर्श—बालक राजाका भी अपमान करनेसे बड़े देवके अपमान करनेका दोष होता है, अतः बालक राजाका भी अपमान न करे, फिर वयस्क एवं वृद्ध राजाके लिये क्या कहना ? इस वचनसे राजापमान करनेका अदृष्ट दोष कहा गया है ।

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम् ।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥ ९ ॥

(अब राजापमान का दृष्ट दोष कहते हैं—) अग्नि केवल असावधानीसे स्पर्श करनेवालेको ही जलाती है, किन्तु राजाग्नि (क्रुद्ध राजरूप अग्नि) चिरसञ्चित पशु तथा धनके सहित समस्त कुल (वंश) को ही जला देती है ॥ ९ ॥

प्रयोजनानुसार राजाकी विविधरूपता—

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः॥ १०॥

वह (राजा) प्रयोजनके अनुसार कार्य तथा शक्तिका वास्तविक विचारकर धर्म (कार्य) सिद्धिके लिये बार २ अनेक रूप धारण करता है॥ १०॥

विमर्श—स्वयं असमर्थ रहनेपर क्षमा करता (दब जाता—चुप रह जाता) है, फिर समर्थ होकर समूल नष्ट कर देता है; और एक ही व्यक्तिमें प्रयोजन (अपने मतलब) के अनुसार कभी शत्रुता, कभी मित्रता और कभी उदासीनता रखता है; अतः अपनेको राजाका प्रियपात्र कदापि नहीं समझना चाहिये।

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥ ११॥

जिस (राजा) की प्रसन्नतामें लक्ष्मी, पराक्रममें विजय और क्रोधमें मरण रहते हैं, अतः वह राजा सर्वतेजोमय है॥ ११॥

राजद्वेषका कुपरिणाम—

तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम्।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः॥ १२॥

जो कोई अज्ञानवश होकर राजाके साथ द्वेष करता है, वह निःसंदेह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है; क्योंकि राजा उसके विनाशके लिये मनको नियुक्त करता (चेष्टायुक्त होता) है॥ १२॥

राजकृत नियमका अनुल्लङ्घन—

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत्॥ १३॥

अत एव वह राजा (शास्त्रमर्यादाके अनुसार) अपेक्षित कार्योंमें जिस धर्मकी व्यवस्था करता (जिस कानूनको बनाता) है, उसे नहीं चाहनेवालोंको अनिष्ट (अनभिलषित) भी उस धर्मका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये अर्थात् उस कानून-को तोड़ना नहीं चाहिये॥ १३॥

दण्डकी सृष्टि—

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥ १४॥

उस (राजा) की कार्यसिद्धिके लिये भगवान्ने सम्पूर्ण जीवोंको रक्षक, धर्मस्वरूप पुत्र, ब्रह्माके तेजोमय दण्डकी सृष्टि की ॥ १४ ॥

दण्डभयसे स्व-स्वभोगप्राप्ति—

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ १५ ॥

उस (दण्ड) के भयसे स्थावर तथा जङ्गम सभी जीव (अपने २) भोग (को भोगने) के लिये समर्थ होते हैं और अपने २ धर्म (राजनियम) से विचलित (भ्रष्ट) नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

विमर्श—एक बलवान् व्यक्तिसे पीड़ित दुर्बल व्यक्ति अपने भोगको नहीं भोगने पाता, और वह बलवान् व्यक्ति भी अपनेसे बलवान् दूसरे किसी व्यक्तिसे पीडित होकर भोग को नहीं भोग सकता; इस प्रकार सर्वत्र अव्यवस्थाका साम्राज्य छा जाता है । जङ्गम पशु पक्षी और स्थावर वृक्ष लतादि जीव भी बलवान् व्यक्तिसे किये गये मारण तथा छेदन आदिके द्वारा अपने २ भोग को नहीं भोगने पाते । इसके लिये ही राजदण्डकी रचना की गयी, जिससे समस्त जीव अपने-अपने कर्मको नियत रूपसे करते रहें ।

अन्यायियोंको दण्ड देना—

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥

(राजा) देश, काल, दण्डशक्ति और विद्या (जिस अपराधके लिये जो दण्ड उचित हो उसका ज्ञान) का ठीक २ विचारकर अन्यायवर्ती (अपराधी) व्यक्तियोंमें शास्त्रानुसार उस दण्डको प्रयुक्त करे अर्थात् अपराधियोंको उचित दण्ड दे ॥ १६ ॥

दण्डकी प्रशंसा—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७ ॥

वह दण्ड ही राजा है (क्योंकि दण्डमें ही राज करनेकी शक्ति है), वह दण्ड पुरुष (मर्द) है (और अन्य सभी लोग उस दण्डके विधेय (विनय ग्रहणमें शासनीय) होनेसे स्त्री तुल्य हैं), वह दण्ड नेता है (उस दण्डके द्वारा ही सब कार्य यथावत् प्राप्त होते हैं; अतः वह नेता—प्राप्त करानेवाला है),

वह दण्ड शासन करनेवाला है (क्योंकि दण्डकी आज्ञासे ही सब अपने २ कर्ममें संलग्न हैं) और वह दण्ड चारों आश्रमों (६।८७) के धर्मका प्रतिभू (जामिनदार मध्यस्थ मनु आदि महर्षियोंके द्वारा) कहा गया है ॥ १७ ॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥

दण्ड ही सब प्रजाओंका शासन करता है, दण्ड ही सब (प्रजाओं) की रक्षा करता है, सबके सोते रहनेपर दण्ड ही जागता है (क्योंकि उसी दण्डके भयसे चोर आदि चोरी आदि दुष्कर्म नहीं करते), विद्वान् लोग दण्डको धर्म (का हेतु) समझते हैं ॥ १८ ॥

उचित दण्डसे प्रजानुरञ्जन—

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥

शास्त्रानुसार यथावत् विचारकर दिया गया दण्ड सब प्रजाओंको अनुरक्त करता है और विना विचार किये धनलोभ या प्रमादसे दिया गया दण्ड सब तरफसे (धन-जनका) नाश करता है ॥ १९ ॥

दण्ड न देनेसे अव्यवस्था—

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ २० ॥

यदि राजा आलस्य छोड़कर दण्डके योग्यों (अपराधियों) में दण्डका प्रयोग नहीं करता, तो बलवान् लोग दुर्बलोंको जैसे मछलियोंको लोहेके छड़में छेदकर पकाते हैं, वैसे पकाने लगते—॥ २० ॥

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा ।
स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥ २१ ॥

—(यदि राजा अपराधियोंमें दण्ड-प्रयोग नहीं करता, तो) कौवा पुरोडाश (यज्ञान्न) को खाने लगता, कुत्ता हविष्यान्नको चाटने लगता (अनधिकारी वेदबाह्य मूर्ख यज्ञको दूषित करने लगते), किसी पर किसीका प्रभुत्व नहीं रह जाता (बलवान् दुर्बलकी सम्पत्ति छीन या लूटकर स्वयं मालिक बन बैठता) और नीच लोग ही बड़े बनने लगते ॥ २१ ॥

दण्डकी पुनः प्रशंसा—

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ २२ ॥

सब लोग दण्डसे जीते गये हैं (दण्डके भयसे ही नियमित होकर अपने २ कार्यमें लगे हैं), (बिना दण्डके) स्वभावसे ही शुद्ध मनुष्य दुर्लभ है, दण्डके भयसे ही सम्पूर्ण संसार (अपने-अपने धनादिको) भोगनेके लिये समर्थ होता है ॥

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २३ ॥

देव (इन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु आदि), दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और सर्प (नाग)—वे भी (परमात्माके) दण्डके भयसे[1] पीडित होकर भोग (वर्षा आदि करने) के लिये प्रवृत्त होते हैं ॥ २३ ॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥

दण्डके विभ्रम (अभाव या अनुचित प्रयोग) से सब वर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय आदि) दूषित (परस्त्री-संभोगसे वर्णसङ्कर) हो जांय, सब मर्यादा (चतुर्वर्ग-फल प्राप्तिका कारणभूत नियम) छिन्न-भिन्न हो जायं और सब लोगोंमें (चोरी, डाका, व्यभिचार आदिसे) क्षोभ उत्पन्न हो जाय ॥ २४ ॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥

श्याम वर्ण (शरीर वाला), लाल नेत्रोंवाला (दण्डका स्वरूप ऐसा शास्त्रोंमें वर्णित है) और पापनाशक दण्ड जिस देशमें विचरण करता (राजा आदि शासकोंके द्वारा प्रयुक्त किया जाता) है, उस देशमें यदि नेता (राजा आदि शासक) यदि उचित दण्ड देता है तो (वहां रहनेवाली) प्रजा दुःखित नहीं होती ॥ २५ ॥

दण्डप्रयोक्ता स्वरूप—

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

---

१. तदुक्तं कठोपनिषदि—'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥' इति ।

(मनु आदि महर्षियोंने) उस दण्ड प्रयोग करनेवाले राजा (या अन्य राज-नियुक्त शासक) को सत्यवादी, विचारकर करनेवाला, बुद्धिमान् और धर्म तथा अर्थका जानकार होना बतलाया है ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥

उस (दण्ड) का यथायोग्य प्रयोग करता हुआ राजा (या राज-नियुक्त पुरुष) त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) से समृद्धियुक्त होता है (और इसके विपरीत) विषयाभिलाषी, क्रोधी, क्षुद्र (नीच स्वभाव होनेसे विना विचार किये दण्ड प्रयोग करनेवाला) राजा दण्डके द्वाराही मारा जाता है (अमात्यादि प्रकृतिके कोप होनेपर नष्ट हो जाता है) ॥ २७ ॥

अनुचित दण्ड प्रयोगसे हानि—

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥

अति तेजस्वी तथा असंयत आत्मावालोंसे दुर्धर (कठिनतासे धारण करने योग्य) दण्ड धर्मसे भ्रष्ट (अनुचित दण्डप्रयोग करनेवाले) राजाको बान्धव सहित नष्ट कर देता है ॥ २८ ॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥

फिर अर्थात् सबान्धव राजाको नष्ट करनेके बाद (बिना दोषका विचार किये प्रयुक्त किया गया दण्ड) किला, राज्य, चराचरके सहित पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष-गामी मुनियों एवं देवताओंको (यज्ञादि भाग न मिलनेसे) पीडित करता है॥२९॥

दण्डप्रयोगके अयोग्य व्यक्ति—

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

असहाय, मूर्ख, लोभी, शास्त्र-ज्ञान-हीन और विषयोंमें आसक्त (राजा आदि) के द्वारा न्यायपूर्वक दण्डप्रयोग नहीं किया जा सकता है ॥ ३० ॥

दण्डप्रयोगके योग्य व्यक्ति—

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥

धनादिके विषयमें शुद्ध, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार व्यवहार करनेवाला, अच्छे सहायकों वाला और बुद्धिमान् (राजा आदि) के द्वारा दण्डका प्रयोग किया जा सकता है ॥ ३१ ॥

दण्डप्रयोगका प्रकार—

स्वराष्ट्रं न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३२ ॥

अपने राज्यमें न्यायानुसार दण्ड प्रयोग करे, शत्रुओंके देशमें कठोर दण्डका प्रयोग करे, स्वाभाविक मित्रोंमें सरल व्यवहार करे और (छोटे अपराध करनेपर) ब्राह्मणोंमें क्षमाको धारण करे ॥ ३२ ॥

न्यायी राजाकी प्रशंसा—

एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥

इस प्रकार व्यवहार न्यायसे (दण्डप्रयोग) करनेवाले, शिलोञ्छ (४।५ टिप्पणी) वृत्तिसे भी जीविका करनेवाले अर्थात् ऐश्वर्य हीन भी राजाका यश पानीमें तेलकी बूंदके समान संसारमें फैलता है ॥ ३३ ॥

अन्यायी राजाकी निन्दा—

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

इस (७।३१) के प्रतिकूल दण्ड प्रयोग करनेवाले, अजितेन्द्रिय राजाका यश पानीमें घीके बूंदके समान संक्षिप्त होता (घटता) है ॥ ३४ ॥

स्वेस्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥

अपने-अपने धर्ममें संलग्न सब वर्णों और आश्रमोंकी रक्षा करनेवाले राजाको ब्रह्माने बनाया है ॥ ३५ ॥

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः।
तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) भृत्यों (अपने अधीनस्थ अमात्यादि) के साथ प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजाका जो जो कर्तव्य है, वह वह क्रमसे शास्त्रानुसार मैं आप लोगोंसे कहूंगा ॥ ३६ ॥

वृद्ध विद्वान् ब्राह्मणोंकी सेवा—

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥

राजा (प्रतिदिन) प्रातःकाल उठकर ऋग्यजुःसामके ज्ञाता और विद्वान् (नीतिशास्त्रके ज्ञाता) ब्राह्मणोंकी सेवा करे और उनके शासनमें रहे (उनके कहनेके अनुसार कार्य करे) ॥ ३७ ॥

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन्।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

(ज्ञान तथा तपस्यासे) वृद्ध, वेदज्ञाता और शुद्ध हृदयवाले उन ब्राह्मणोंकी नित्य सेवा (आदर-सत्कार) करे, क्योंकि वृद्धोंकी सेवा करनेवालेको राक्षस (क्रूर प्रकृतिवाले) भी पूजा करते हैं (फिर मनुष्योंकी क्या बात है?) ॥ ३८ ॥

विनयी होना—

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥

उन (वृद्ध ब्राह्मणों) से पहलेसे विनय युक्त भी राजा सर्वदा (और अधिक) विनय सीखे, क्योंकि विनय युक्त राजा कभी नष्ट नहीं होता है ॥ ३९ ॥

अविनय-निन्दा तथा विनय-प्रशंसा—

बह्वोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥

अविनयके कारण बहुत-से राजा घोड़ा, हाथी आदि साधनोंके सहित नष्ट हो गये और विनयके कारण वनमें रहनेवाले (घोड़ा, हाथी आदि साधनोंसे रहित) भी राज्योंको पा लिये, (अतः विनयी होना परमावश्यक है) ॥ ४० ॥

अविनयसे नष्ट होनेका दृष्टान्त—

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥

अविनयके कारण वेन, नहुष, पिजवनके पुत्र सुदा, सुमुख और नेमि राजा नष्ट हो गये ॥ ४१ ॥

विनयसे समृद्धिमान् होनेका दृष्टान्त—

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ४२ ॥

विनयके कारण पृथु और मनुने राज्य, कुवेरने धन, ऐश्वर्य और विश्वामित्रने (क्षत्रिय होकर भी) ब्राह्मणत्वको प्राप्त किया ॥ ४२ ॥

विद्याग्रहण—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ ४३ ॥

(राजा) त्रिवेदीके ज्ञाता विद्वानोंसे त्रयी विद्या, नित्य दण्डनीति विद्या, आन्वीक्षिकी विद्या और लोक व्यवहारसे वार्ता विद्याको सीखे ॥ ४३ ॥

विमर्श—'त्रयी' विद्यासे धर्म विषयक ज्ञान होता है, उसे वेदज्ञाता विद्वान् ब्राह्मणोंसे ग्रहण करना चाहिये । 'दण्डनीति' विद्यासे नीति और अनीति—अर्थ शास्त्रका ज्ञान होता है । 'आन्वीक्षिकी' विद्यासे विज्ञान—तर्कविज्ञानका ज्ञान होता है । 'आत्मविद्या'से उन्नति तथा दुःखमें क्रमशः हर्ष तथा शोकका निग्रह (रुकावट) होता है और 'वार्ता' विद्यासे अर्थ और अनर्थ—खेती, व्यापार एवं पशुपालन आदि के लिये धनादि संग्रह तथा तद्विषयक उपायोंका ज्ञान होता है, किसान, व्यापारी आदिसे सीखना चाहिये । शास्त्रकारोंने आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति; इन चार विद्याओंको धर्मस्थितिका कारण बतलाया है(१) ।

इन्द्रियजय—

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ ४४ ॥

(राजा) इन्द्रियोंको जीतनेमें सर्वदा प्रयत्नशील रहे, क्योंकि जितेन्द्रिय (राजा) प्रजाओंको वशमें रखनेके लिये समर्थ होता है ॥ ४४ ॥

क्रोधजन्य व्यसनोंका त्याग—

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥

(राजा) कामजन्य दश तथा क्रोधजन्य आठ, अन्तमें दुःखदायी व्यसनोंको प्रयत्नपूर्वक त्याग कर दे ॥ ४५ ॥

---

(१) तदुक्तं कामन्दके—'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्या ह्येताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः ॥' इति ।
तासां विषयानाह तत्रैव । तद्यथा—
'आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥' इति ।

व्यसनोंमें आसक्ति से हानि—

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥

क्योंकि कामजन्य व्यसनों (६।४७) में आसक्त राजा अर्थ तथा धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है और क्रोधजन्य व्यसनों (६।४८) में आसक्त राजा आत्मासे ही भ्रष्ट (स्वयं नष्ट) हो जाता है ॥ ४६ ॥

कामजन्यदश व्यसनोंके नाम—

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥

मृगया (शिकार), जुआ, दिनमें सोना, परायेकी निन्दा, स्त्री में अत्यासक्ति, मद (नशा-मद्यपान आदि), नाच-गानेमें अत्यासक्ति और व्यर्थ (निष्प्रयोजन) भ्रमण; ये दश कामजन्य व्यसन हैं ॥ ४७ ॥

क्रोधजन्य आठ व्यसनोंके नाम—

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥

चुगलखोरी, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या (दूसरेके गुणको न सहना), असूया (दूसरोंके गुणोंमें दोष बतलाना), अर्थदोष (धनापहरण या धरोहर आदिको वापस नहीं करना), कठोर वचन और कठोरदण्ड; ये आठ क्रोधजन्य व्यसन हैं ॥

लोभका त्याग—

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४९ ॥

सब विद्वानलोग इन दोनों (कामज व्यसन-समुदाय तथा क्रोधज व्यसन-समुदाय, दे० ६।४७-४८) की जड़ जिसको जानते हैं, उस लोभको यत्नपूर्वक जीते अर्थात् छोड़ दें; क्योंकि ये दोनों (कामजन्य तथा क्रोधजन्य व्यसन-समुदाय) उस (लोभ) से उत्पन्न होनेवाले हैं ॥ ४९ ॥

अतिकष्टदायक व्यसन—

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥

कामजन्य व्यसन-समुदायमें (६।४७) में मद्यपान, जूआ, स्त्रियां, और शिकार (आखेट) इन चारोंको क्रमशः अत्यन्त कष्टदायक जाने ॥ ५० ॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ ५१ ॥

क्रोधजन्य व्यसन-समुदाय (६।४८)में दण्ड-प्रयोग, कटु वचन और अर्थ दूषण (अन्यायसे दूसरेकी सम्पत्ति हड़प लेना); इन तीनोंको क्रमशः सर्वदा अतिकष्टदायक जाने ॥ ५१ ॥

उक्त सात व्यसनोंमें पूर्व २ का अतिकष्टदायकत्व—

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

सम्पूर्ण राजमण्डलमें रहनेवाले इन सात व्यसन समुदाय (चार कामजन्य व्यसन-समुदाय-दे० ६।५० और तीन क्रोधजन्य व्यसन-समुदाय दे० ६।५१)में से पूर्व-पूर्व (अगले की अपेक्षा पहलेवाले) को जितेन्द्रियपुरुष गुरुतर (अधिक कष्टदायक) समझे ॥ ५२ ॥

विमर्श—कामजन्य १० व्यसनसमुदाय पहले (६।४७) कह चुके हैं, उनमें भी चार को अधिक कष्टदायक (६।५०) कहा है, किन्तु इन चारों (मद्यपान, जूआ, स्त्री-सेवन और आखेट) में भी आगेवालेकी अपेक्षा पहले वाला भारी अनिष्ट कारक है अर्थात् आखेट की अपेक्षा स्त्री-सेवन, स्त्री-सेवनकी अपेक्षा जूआ, जूएकी अपेक्षा मद्यपान अतिकष्टदायक है। इसी प्रकार क्रोधजन्य आठ व्यसन-समुदाय पहले (६।४८) कह चुके हैं, उनमें भी तीनको अधिक कष्टदायक (६।५१) कहा है, किन्तु इन तीनों (दण्ड प्रयोग, कटु वचन और अर्थदूषण) में भी आगेवालेकी अपेक्षा पहलेवाला अधिक अनिष्टकारक है अर्थात् अर्थदूषणकी अपेक्षा कटु वचन तथा कटुवचनकी अपेक्षा दण्ड प्रयोग अधिक कष्टदायक है। इसका विशेष स्पष्टीकरण 'मन्वर्थमुक्तावली' में देखना चाहिये।

मृत्युसे भी व्यसनका अधिक कष्ट दायकत्व—

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥ ५३ ॥

(व्यसन तथा मृत्यु-दोनों के कष्टकारक होनेपर भी) मृत्यु की अपेक्षा व्यसन अधिक कष्टकारक है, क्योंकि मरा हुआ व्यसनी पुरुष नरकोंमें (एकके बाद दूसरे नरकमें) जाता है और मरा हुआ व्यसनरहित पुरुष स्वर्ग में जाता है ॥५३॥

मन्त्रियों की नियुक्ति—

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ५४ ॥

(राजा) वंशक्रमागत, शास्त्रज्ञाता, शूरवीर, निशाना मारनेवाले (शस्त्र चलानेमें निपुण), उत्तम वंशमें उत्पन्न और परीक्षित (शपथ ग्रहण आदिसे परीक्षा किये गये) सात या आठ मन्त्रियों को नियुक्त करे ॥ ५४ ॥

मन्त्रियोंको नियुक्त करनेमें कारण—

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥

जो कार्य सरल है, वह भी एक आदमीके लिये कठिन होता है । विशेषकर महान् फलको देनेवाला राज्य असहाय (अकेले राजा) से कैसे सुसाध्य हो सकता है ? (कदापि नहीं हो सकता, अतः राजाको पूर्व श्लोकमें वर्णित गुणोंवाले मन्त्रियोंको नियुक्त करना चाहिये) ॥ ५५ ॥

सन्धि विग्रहादि-विचार—

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥

(राजा) उन (मन्त्रियों) के साथमें सन्धि-विग्रह (षड्गुण), स्थान, समुदय, गुप्ति और मिले हुएका उपयोग इनका चिन्तन (सलाह-मसविरा अर्थात् परामर्श) करे ॥ ५६ ॥

विमर्श—सन्धि आदि ६ 'गुण' (७।१६०) हैं । दण्ड, कोश (खजाना), नगर और राज्य; ये ४ 'स्थान' हैं, यहां पर हाथी-घोड़ा, रथ एवं पैदल यह चतुरङ्गिणी सेनाका पालन-पोषण 'दण्ड' चिन्ता, कोशके आय-व्ययका विचार 'कोश' चिन्ता, नगर (राजधानी) की रक्षा 'पुर' चिन्ता और राज्यके निवासी प्रजा एवं पशु आदिका चिन्तन 'राज्य' चिन्ता है । धान्य (विविध प्रकारके धान, गेहूं, चना, आदि अन्न) तथा सुवर्ण चांदी आदि खनिजोंके उत्पत्तिका स्थान 'समुदय' है । आत्मरक्षा (७।२१९) तथा राष्ट्ररक्षा (७।११३) 'गुप्ति' है । प्राप्त हुए धन-धान्यका सत्कार्यमें व्यय तथा रक्षण 'लब्धप्रशमन' है । इन सबका विचार राजाको मन्त्रियोंके साथ करना चाहिये ।

अपने हितकर कार्यका अनुष्ठान—

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥ ५७ ॥

(राजा) उन (मन्त्रियों) के अभिप्रायको (एकान्तमें) अलग २ तथा सबोंके अभिप्रायको इकट्ठा जानकर अपना हितकारी कार्य करे ॥ ५७ ॥

ब्राह्मण मन्त्री—

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥

राजा उन मन्त्रियोंमें से विद्वान् धर्मादि युक्त विशिष्ट एक ब्राह्मणके साथ षड्गुण (७।१६०) से युक्त श्रेष्ठ मंत्र (गुप्त विचार) की मन्त्रणा (विचार-विनिमय) करे ॥ ५८ ॥

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् ।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥ ५९ ॥

राजा उस (विद्वान् तथा धर्मात्मा ब्राह्मण) पर पूर्ण विश्वासकर (उसे) सब काम सौंप दे, तथा उसके साथ निश्चयकर बादमें कार्यका आरम्भ करे ॥ ५९ ॥

अन्य मंत्रियोंकी नियुक्ति—

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥

(राजा इसके अलावे) दूसरे भी शुद्ध (वंशपरम्परासे शुद्ध या घूस आदि न लेनेसे शुद्ध हृदयवाले), बुद्धिमान्, स्थिरचित्त (आपत्ति-कालमें भी नहीं घबड़ानेवाले या किसीके दबाव या लोभसे होनेपर भी राज-हितमें ही दृढ रहनेवाले), सब प्रकार न्यायपूर्वक धन-धान्य उत्पन्न करनेवाले सुपरीक्षित मन्त्रियों को (नियुक्त करे)—॥ ६० ॥

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥

इस (राजा) का कार्य जितने मनुष्योंसे पूरा हो; आलस्यरहित, कार्य-करनेमें उत्साही और कामके जानकार उतने ही मनुष्योंको (मंत्रीपदपर) नियुक्त करे ॥ ६१ ॥

कोश तथा रनिवास के कार्यकरनेवाले—

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥

(राजा) उन (मन्त्रियों) में-से शूरवीर, उत्साही, कुलीन या कुलक्रमागत,

शुद्धचित्त (घूस न लेनेवाले और चोरी अर्थात् गमन नहीं करनेवाले) मन्त्रियोंको धन-धान्यके संग्रह करनेमें (सोने आदिके खानों तथा अन्न उत्पादक स्थानोंमें) और भीरु (डरनेवालों) को महल (रनिवास, भोजन-गृह, शयनगृह आदि) में नियुक्त करे ॥ ६२ ॥

दूतकी नियुक्ति—

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥

(राजा) सब शास्त्रोंका विद्वान्; इङ्गित (वचन तथा स्वर अर्थात् काकु आदि अभिप्राय-सूचक भाव), आकार (क्रमशः प्रेम एवं उदासीनताका सूचक प्रसन्नता एवं उदासीनता) और चेष्टा (क्रोधादिका सूचक नेत्रोंका लाल होना, भौंह टेढ़ा करना आदि) को जाननेवाले, शुद्धहृदय (राजधनको अधिक व्यय करना, स्त्री-आसक्ति, द्यूत, मद्यपान आदिसे रहित); चतुर तथा कुलीन दूतको नियुक्त करे ॥ ६३ ॥

श्रेष्ठ राजदूतका लक्षण—

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित्।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

अनुरक्त, शुद्ध, चतुर, स्मरणशक्तिवाला, देश और कालका जानकार, सुरूप, निर्भय और वाग्मी राजदूत श्रेष्ठ होता है ॥ ६४ ॥

विमर्श—दूतके अनुरक्त होनेसे शत्रुराजाके लोगोंसे भी मेल-मिलाप रहनेसे अधिक कार्यसिद्धि होगी, शुद्ध (स्त्री तथा धनकी आसक्तिसे रहित) होनेसे धन या स्त्री आदिके लोभसे स्वामिकार्यका नाशक नहीं होगा, चतुर होनेसे अवसर (मौका) पर नहीं चुकेगा, स्मरणशक्तिवाला होनेसे संदेशको नहीं भूलेगा, देश और कालका जानकार होनेसे देश-कालानुसार अपने विचारसे भी कार्य कर लेगा, सुरूप होनेसे उसके वचनका प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा, निर्भय होनेसे अप्रिय तथा कठोर संदेश कहनेमें भी नहीं चुकेगा और वाग्मी होनेसे सुन्दर शास्त्रसे संस्कृत एवं युक्तियुक्त वचन कहेगा, ऐसे राजदूतसे राजकार्यकी अवश्य सिद्धि हो जायगी।

[सन्धिविग्रहकालज्ञान्समर्थानायतिक्षमान्।
परैरहार्याल्लुब्धांश्च धर्मतः कामतोऽर्थतः ॥ १ ॥

[(राजा) सन्धि, विग्रह (आदि षड्गुण—७।१६०) तथा समयको जानने वाले, समर्थ, आयति (आनेवाला समय) में समर्थ; और धर्म, अर्थ तथा कामसे शत्रुओंके द्वारा अपने पक्षमें नहीं किये जानेवाले (राजदूतोंको नियुक्त करे) ॥ १ ॥]

समाहर्तुं प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविपश्चितः ।
कुलीनान्वृत्तिसम्पन्नान्निपुणान्कोशवृद्धये ॥ २ ॥

अपना पक्ष प्रबल करनेके लिये सब शास्त्रोंका ज्ञाता और कोशवृद्धिके लिये कुलीन, अच्छी जीविका (वेतन) वाले तथा निपुण (राजदूतोंको नियुक्त करे) ॥२॥

आयव्ययस्य कुशलान्गणितज्ञानलोलुपान् ।
नियोजयेद्धर्मनिष्ठान्सम्यक्कार्यार्थचिन्तकान् ॥ ३ ॥

आय तथा व्यय करनेमें कुशल (उचित आयको नहीं छोड़नेवाला तथा अनुचित व्ययको नहीं करनेवाला), गणितज्ञ, निर्लोभ, धर्मयुक्त और अच्छी तरह कार्य एवं अर्थका विचार करनेवाले (राजदूतोंको नियुक्त करे) ॥ ३ ॥

कर्मणि चातिकुशलान्लिपिज्ञानायतिक्षमान् ।
सर्वविश्वासिनः सत्यान्सर्वकार्येषु निश्चितान् ॥ ४ ॥

कार्य (को करने) में अत्यन्त चतुर, (अनेक) लिपियोंको जाननेवाले, भविष्यकालके लिये समर्थ, सबका विश्वासपात्र, सच्चा, सब कार्योंमें निश्चित राजदूतोंको नियुक्त करे) ॥ ४ ॥

अकृताशांस्तथा भर्तुः कालज्ञांश्च प्रसङ्गिनः ।
कार्यकामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यन्तरचारिणः ॥ ५ ॥

आशा नहीं रखनेवाले (स्वामी मुझे कार्य-सिद्धि होनेपर कुछ हिस्सा देंगे, या बड़ा पारितोषिक देंगे, ऐसी आशा नहीं रखनेवाले—अन्यथा स्वामीकी कार्यसिद्धि होनेपर आशानुसार न मिलनेसे वही राजदूत भारी विरोधी हो सकता है तथा यदि आशा नहीं रखेगा तब सदा अनुकूल ही रहेगा), कालज्ञ (अवसर नहीं चुकनेवाले), प्रसङ्गानुसार कार्य करनेवाले; कार्य, काम तथा उपधा (धरोहर) में सच्चे और बाहर भीतर आने-जानेवाले दूतोंको नियुक्त करे ॥ ५ ॥

कुर्यादासन्नकार्येषु गृहसंरक्षणेषु च ।]

समीप (मन्त्री आदि) के कार्यमें तथा अन्तःपुर (रनिवास) की यथावत् रक्षा करनेमें दूतों को नियुक्त करे ॥]

सेनापति आदिके कार्य—

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥

सेनापतिके अधीन दण्ड (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल सेना), दण्डके

अधीन विनयकार्य (सबको विनम्र—वशमें रखना), राजाके अधीन कोष तथा राज्य और दूतके अधीन सन्धि और विग्रह होते हैं ॥ ६५ ॥

दूतप्रशंसा—

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥

दूत ही (शत्रुसे) मेल करा देता है और मिले हुए (शत्रु) से विग्रह करा देता है; दूत वह कार्य कर देता है, जिससे (मिले हुए भी) मनुष्य (परस्परमें) फूट जाते हैं ॥ ६६ ॥

दूतके अन्य कार्य—

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥

वह (राजदूत) इस (शत्रुराजा) के कृत्यों (कर्तव्य अर्थात् धन, स्त्री, पद या राज्य भागके द्वारा राजदूतोंको वशमें करना आदि) में शत्रुराजाके अनुचरोंके इङ्गित (अभिप्रायसूचक बात और स्वर आदि) तथा चेष्टाओं (हाथ, मुख-अङ्गुलि आदिकी इशारेबाजी) से (शत्रुराजाके) क्षुब्ध या लुब्ध भृत्योंमें (शत्रु राजाके) आकार मुखकी प्रसन्नता या उदासीनता आदि), इङ्गित, चेष्टा और चिकीर्षित (अभिलषित कार्य) को मालूम करे ॥ ६७ ॥

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथाऽऽत्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

शत्रु राजाके चिकीर्षित (अभिलषित कार्य) को ठीक २ मालूमकर वैसा प्रयत्न करे जिससे अपनेको कष्ट न हो ॥ ६८ ॥

राजाके निवास योग्य देश—

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम्।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥

(राजा) जाङ्गल, धान्य और अधिक धर्मात्माओंसे युक्त, आकुलतारहित, (फल-फूल लता वृक्षादिसे) रमणीय, जहां आस-पासके निवासी नम्र हों ऐसे, अपनी आजीविका (सुलभ व्यापार, खेती, आदि) वाले देशमें निवास करे ॥ ६९ ॥

विमर्श—जिस स्थानमें बहुत अधिक पानी न हो (अधिक पानी न बरसता

हो या अधिक बाढ न आती हो), खुली हवा हो, सूर्यका प्रकाश पर्याप्त रहता हो, धान्य आदि बहुत उत्पन्न होता हो, उसे 'जाङ्गल देश'[1] कहते हैं।

राजाके निवास योग्य दुर्गों के नाम—

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥

(राजा) धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, अथवा गिरिदुर्गका आश्रयकर नगर (राजधानी) में निवास करे ॥ ७० ॥

विमर्श—धन्वदुर्ग-कमसे कम वीसकोस तक पानी (और हरियाली एवं वृक्ष, घास आदि) से रहित रेतीली भूमि युक्त स्थान हो। महीदुर्ग-ईंट-पत्थर आदि उभर-खाबड़ (बहुत ऊंचे-नीचे) होनेसे विषम, युद्धके लिये अयोग्य तथा गुप्त गवाक्ष (छोटे २ छिद्रवाले जँगले) वाले परकोटा आदिसे युक्त भूमिवाला स्थान। जलदुर्ग—चारों तरफ बहुत दूर तक अगाध जलसे भरा हुआ स्थान। वृक्षदुर्ग—कमसे कम चार कोश तक सघन बड़े वृक्षों, कंटीली झाड़ियों एवं लताओं तथा विषम नदी नाले आदिसे युक्त देश। मनुष्यदुर्ग-चारों तरफ हाथी, घोड़ा, रथ एवं पैदल सेना एवं दूसरे बहुत मनुष्योंसे सुरक्षित स्थान। गिरिदुर्ग-अत्यधिक कठिनाई से चढ़ने योग्य तथा अधिक संकीर्ण मार्ग होनेके कारण बहुत कठिनाईसे प्रवेश करने योग्य नदियों, झरनों आदिवाले पहाड़ोंसे युक्त स्थान।

इस श्लोकमें वर्णित राजनिवास योग्यस्थानोंमें यह 'भारत वर्ष' अत्यन्त सुरक्षित है, जिसके तीन दिशाओंमें सुदूर तक अगाधजलपूर्ण हिन्दमहासागर आदि समुद्र तथा शेष उत्तर दिशामें उच्चतम शिखरवाला हिमालय पर्वत—जिसमें खैबर का दर्रा तथा बोलन अत्यन्त संकीर्ण है। किन्तु भारत और पाकिस्तान रूपमें देश—विभाजन हो जानेसे अब वह प्राकृतिक अजय्य सीमा भारतकी नहीं रही।

गिरिदुर्गकी श्रेष्ठता—

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥

(राजा) सब प्रयत्नसे गिरिदुर्गका आश्रय करे, क्योंकि इन दुर्गों (६।७०) में-से अधिक गुणयुक्त होनेसे गिरिदुर्ग श्रेष्ठ होता है ॥ ७१ ॥

---

१. तदुक्तम्—'अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः।
स ज्ञेयो जाङ्गलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः ॥' इति। (म० मु०)

उक्त दुर्गोंके निवासी जीव—

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः।
त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः॥ ७२॥

इन दुर्गों (६।७०) में-से पहलेवाले तीन दुर्गोंमें (धन्वदुर्ग, महीदुर्ग और जलदुर्गमें) मृग, बिलोंमें रहनेवाले (चूहा, खरगोश आदि) तथा जलचर (मगर आदि) और अन्तवाले तीन दुर्गोंमें (वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग और गिरिदुर्गमें) बानर, मनुष्य तथा अमर (देव) क्रमशः निवास करें॥ ७२॥

विमर्श—धन्वदुर्गमें मृग, भूमिदुर्गमें चूहा तथा खरगोश आदि बिलमें रहनेवाले जीव, जलदुर्गमें मगर, बड़ी २ मछलियां आदि जलचर जीव, वृक्षदुर्गमें बानर (व्याघ्र, सिंह आदि), मनुष्यदुर्गमें मनुष्य (हाथी, घोड़ा, रथ एवं पैदल सेना तथा अन्यरक्षक समूह) और गिरिदुर्गमें देवता (किन्नर, गन्धर्व आदि) निवास करें।

दुर्गकी प्रशंसा—

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः।
तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम्॥ ७३॥

जिस प्रकार इन (धन्व आदि) दुर्गोंमें रहनेवाले इन (मृग आदिको) शत्रु (व्याधा आदि) नहीं मार सकते हैं, उसी प्रकार दुर्गमें निवास करनेवाले राजाको शत्रु नहीं मार (जीत) सकते हैं॥ ७३॥

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते॥ ७४॥

(जिस कारणसे) किलेमें रहनेवाला एक धनुर्धारी (योद्धा) सौ योद्धाओंसे और सौ धनुर्धारी योद्धा दस हजार योद्धाओंसे लड़ता है, इस कारण राजनीतिज्ञ दुर्गकी प्रशंसा करते हैं॥ ७४॥

[मन्दरस्यापि शिखरं निर्मानुष्यं न शिष्यते।
मनुष्यदुर्गं दुर्गाणां मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्॥ ६॥]

[मनुष्य रहित मन्दरका शिखर भी नहीं बचता (शत्रुओंसे पराजित होता है, अत एव ब्रह्माके पुत्र मनुने मनुष्यदुर्गको श्रेष्ठ कहा है॥ ६॥]

दुर्गका अस्त्र-शस्त्रयुक्त बनाना—

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च॥ ७५॥

उस (किला) को हथियार (तलवार, धनुष आदि), धन (सुवर्ण चांदी आदि), धान्य (गेहूं, चावल, चना आदि), वाहन (हाथी, घोड़ा, रथ, ऊँट आदि), ब्राह्मणों, कारीगरों, यन्त्रों, चारा (घास, भूसा, खरी, कराई आदि पशुओंके भोज्य पदार्थों) और जलसे संयुक्त रखे ॥ ७५ ॥

दुर्गके बीचमें राजभवन-निर्माण—

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः ।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

राजा उस (किले) के बीचमें (स्त्री-गृह, देव-मन्दिर, अग्निशाला, स्नानागार आदि भवनोंके अलग २ होने से) बड़ा, (खाई, परकोटा अर्थात् चहारदीवारी, सेना आदि से) सुरक्षित (सब ऋतुओंमें फलने-फूलनेवाले वृक्ष, गुल्म और लता आदिसे युक्त होनेसे) सब ऋतुओंके अनुकूल, (चूना रंग आदिसे उपलिप्त होनेसे) शुभ्र, (बावली, पोखरा) आदि जलाशयों तथा पेड़ोंसे युक्त अपना महल (राज-भवन) बनवावे ॥ ७६ ॥

सवर्णाके साथमें विवाह—

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥

(राजा) उस महलमें निवासकर स्वजातीय, शुभ लक्षणोंवाली, श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न, हृदयप्रिय, तथा रूप एवं गुणसे युक्त स्त्रीसे विवाह करे ॥ ७७ ॥

पुरोहित आदिका वरण—

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥

(राजा आथर्वण विधिसे) पुरोहित और यज्ञ कर्म करनेके लिये ऋत्विक्‌को वरण करे तथा वे लोग (पुरोहित तथा ऋत्विक्) इस (राजा) के शान्तिकर्म तथा यज्ञ कर्मको करते रहें ॥ ७८ ॥

यज्ञ करना—

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥

राजा बहुत दक्षिणावाले (अश्वमेध, विश्वजित् आदि) अनेक यज्ञोंको करे

और धर्मके लिये ब्राह्मणोंको (स्त्री, गृह, शय्या, वाहन आदि) भोग-साधक पदार्थ तथा धन देवे ॥ ७९ ॥

कर-ग्रहण—

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥

(राजा) विश्वासपात्रोंसे वार्षिक कर वसूल करावे और लोगोंसे (कर लेने) में न्याययुक्त बर्ताव करे और मनुष्योंमें (राजा) पिताके समान बर्ताव करे ॥ ८० ॥

अध्यक्षोंकी नियुक्ति—

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥

(राजा) उन २ कार्यों (सेना, कोष संग्रह, दूतकार्य आदि) में अनेक प्रकारके अध्यक्षोंको नियुक्त करे तथा वे अध्यक्ष इस राजाके सब कार्यों को देखा करें ॥ ८१ ॥

ब्राह्मणोंको वृत्तिदान—

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥

(राजा) वेदाध्ययनके बाद गुरुकुलसे गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेवाले ब्राह्मणों की पूजा (धन-धान्य गृहादिको देकर आदर-सत्कार) करे; क्योंकि यह ब्राह्मण राजाका अक्षय निधि (खजाना) कहा गया है ॥ ८२ ॥

ब्राह्मणोंको वृत्तिदानकी प्रशंसा—

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥ ८३ ॥

उस (सत्पात्र ब्राह्मणमें दिये गये दान रूप कोष) को चोर नहीं चुराते, शत्रु नहीं छीनते और वह नष्ट नहीं होता है, अत एव राजा ब्राह्मणोंमें अक्षय कोष रखे (ब्राह्मणोंको दान दे) ॥ ८३ ॥

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ८४ ॥

अग्निमें हवन किये गये हविष्य (क्षीरान्न, घृत आदि हवनीय पदार्थ) की अपेक्षा ब्राह्मणके मुखमें किया गया हवन (ब्राह्मणको दिया गया दान) न कभी

नीचे गिरता है, न कभी सूखता है और न कभी नष्ट होता है (अतः अग्निहोत्रादि कर्मकी अपेक्षा ब्राह्मणको दान देना श्रेष्ठ है) ॥ ८४ ॥

वेदपारग ब्राह्मण को देनेका अनन्त फल—

समम्ब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥

ब्राह्मणभिन्न (क्षत्रिय आदि) में दिया गया दान सामान्य फलवाला, ब्राह्मण क्रियासे रहित अपनेको ब्राह्मण कहनेवाले ब्राह्मणमें दिया गया दान दुगुने फल वाला, विद्वान् ब्राह्मणमें दिया गया दान लाखगुने फलवाला और वेदपारगामी ब्राह्मणमें दिया गया दान अनन्त फलवाला होता है ॥ ८५ ॥

सत्पात्रमें दानकी प्रशंसा—

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च ।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते ॥ ८६ ॥

विद्या तथा तपसे युक्त पात्रकी अपेक्षासे (सुपात्रको प्राप्तकर) श्रद्धासे दिये गये दानके फलको परलोकमें मनुष्य प्राप्त करता है ॥ ८६ ॥

विमर्श—सामान्य, मध्यम या उत्तम पात्रके अनुसार ही श्रद्धा एवं भक्तिसे युक्त होकर दिये गये दानका क्रमशः सामान्य, मध्यम, या उत्तम फल मनुष्यको परलोकमें मिलता है; अत एव सत्पात्रको दान देना सर्वश्रेष्ठ है ।

[एष एव परो धर्मः कृत्स्नो राज्ञ उदाहृतः ।
जित्वा धनानि संग्रामाद् द्विजेभ्यः प्रतिपादयेत् ॥ ७ ॥

[राजाका सम्पूर्ण यही धर्म कहा गया है कि युद्धसे धनको जीतकर ब्राह्मणोंको दान कर दे ॥ ७ ॥]

देशकालविधानेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।
पात्रे प्रदीयते यत्तु तद्धर्मस्य प्रसाधनम् ॥ ८ ॥]

देश कालके अनुसार श्रद्धासे युक्त जो द्रव्य सत्पात्रमें दिया जाता है, वही धर्मका प्रसाधन (उत्तम साधन या भूषण) है ॥ ८ ॥]

युद्धसे विमुख होनेका निषेध—

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः ।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥

प्रजाओंका पालन करता हुआ राजा समान, अधिक या कम (बलवाले शत्रुओं)

के बुलाने (युद्धके लिये ललकारने) पर ('क्षत्रिय युद्धसे विमुख न होवे' इस) क्षत्रिय-धर्मको स्मरण करता हुआ युद्धसे विमुख न होवे ॥ ८७ ॥

राजाका श्रेष्ठ धर्म—

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥

युद्धसे (डरकर) नहीं भागना, प्रजाओंका पालन करना, और ब्राह्मणोंकी सेवा करना; राजाओंका अत्यन्त कल्याण करनेवाला (धर्म) माना गया है ॥८८॥

युद्धमें विमुख न होनेसे स्वर्गप्राप्ति—

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ८९ ॥

युद्धोंमें परस्पर प्रहार (चोट) करनेकी इच्छा करते हुए अपार शक्तिसे युद्ध करते हुए राजा विमुख न होकर (मरनेसे) स्वर्ग को जाते हैं ॥ ८९ ॥

कूट शस्त्रादिके प्रहारका निषेध—

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥

युद्ध करता हुआ (राजा या कोई योद्धा) कूटशस्त्र (बाहरमें लकड़ी आदि तथा भीतरमें घातक तीक्ष्णशस्त्र या लोहा आदिसे युक्त शस्त्र); कर्णिके आकार-वाला फल (बाणका अगलाभाग), विषादिमें बुझाये गये, अग्निसे प्रज्वलित अग्रभागवाले शस्त्रोंसे शत्रुओंको न मारे ॥ ९० ॥

युद्धमें मारनेके अयोग्य शत्रु—

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥

(रथपर बैठा हुआ) योद्धा भूमिपर स्थित, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, बाल खोले हुए, बैठे हुए और 'मैं तुम्हारा हूं' ऐसा कहते हुए (शरणागत) योद्धाको न मारे ॥ ९१ ॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥

सोये हुए, कवचसे रहित, नंगा, शस्त्रसे रहित, युद्ध नहीं करते हुए, (केवल

युद्धको) देखते हुए (जैसे-युद्ध संवाददाता आदि) और दूसरेके साथ युद्धमें भिड़े हुए योद्धाको न मारे ॥ ९२ ॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥

अपने शस्त्र-अस्त्रके टूटने आदिसे दुःखी, पुत्र आदिके शोकसे आर्त, बहुत घायल, डरे हुए और युद्धसे विमुख योद्धाको सज्जन क्षत्रियोंके धर्मका स्मरण करता हुआ (राजा या कोई भी योद्धा) न मारे ॥ ९३ ॥

युद्धसे विमुख होनेकी निन्दा—

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥

युद्धमें डरकर विमुख जो योद्धा शत्रुओंसे मारा जाता है; वह स्वामीका जो कुछ पाप है, उसे प्राप्त करता है ॥ ९४ ॥

विमर्श—गोविन्दराजके मतसे यहांपर युद्धसे पराङ्मुख व्यक्तिका पाप विवक्षित है, तथा मेधातिथि के मतसे यह वचन अर्थवाद (युद्धसे विमुख न होने-के लिये विशेषता-प्रदर्शकमात्र) है, किन्तु ये दोनों मत मनु भगवान्‌के अभिप्रायसे विरुद्ध होनेके कारण अग्राह्य है । युद्धसे विमुख हुए योद्धाको शत्रुके प्रहार करनेपर यह नहीं समझना चाहिये कि 'मैं स्वामीके लिये युद्धमें शत्रुका प्रहार सहकर स्वामीसे ऋणमुक्त हो रहा हूं ।' मन्वर्थमुक्तावलीकारका मत है कि-'दूसरेके पाप या पुण्यकर्मविशेषसे उससे भिन्न पुरुषको प्राप्त होना मनुभगवान् (६।८९) को भी सम्मत है'। 'इस तथा अग्रिम श्लोकोक्त वचनमें क्रमशः पाप तथा पुण्य प्राप्त करनेका उल्लेख केवल अर्थवादमात्र है, किसीका पुण्य या पाप दूसरेको प्राप्त नहीं होता, किन्तु पाप या पुण्यमेंसे एकके प्रबल होनेपर दूसरेका भोग चिरकालमें प्राप्त होता है' यह 'नेनेशास्त्री' का मत है ।

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥

डरकर युद्धसे पराङ्मुख होनेपर शत्रुसे अभिहित योद्धाका परलोकके लिये उपार्जित जो कुछ पुण्य है, वह सब स्वामी (उस योद्धाको वेतन देनेवाला राजा आदि) प्राप्त कर लेता है ॥ ९५ ॥

युद्धविजयी योद्धाको प्राप्य जीता गया धन—

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥

रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन, धान्य (सब प्रकारके अन्न), पशु (गौ, भैंस आदि), स्त्रियां (दासी आदि), सब तरहके द्रव्य (गुड़, नमक आदि), और कुप्य (सोना-चांदीके अतिरिक्त अन्य तांबा-पीतल आदि द्रव्य) को जो योद्धा जीतकर लाता है; वह उसीका होता है (सोना, चांदी, भूमि, रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुएं राजाकी होती हैं) ॥ ९६ ॥

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकीश्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥

[भृत्येभ्यो विजयेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत् ।
नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ॥ ६ ॥]

(युद्धमें विजय करनेवाले योद्धा) 'राजाके लिये उद्धार (सोना, चाँदी, जवाहरात तथा हाथी घोड़ा भी) देवें' यह वैदिक वचन है और राजा विजयी योद्धाओंके लिये सम्मिलित रूपमें जीतकर प्राप्त किये द्रव्योंमेंसे प्रत्येक पुरुषार्थके अनुसार विभागकर देवे ॥ ९७ ॥

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥ ९८ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि) अनिन्दित योद्धाओंका यह सनातन धर्म (मैंने) आप लोगोंसे कहा, युद्धमें शत्रुओंको मारता हुआ राजा इसे न छोड़े ॥ ९८ ॥

राजाका सामान्यतः कर्त्तव्य—

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ९९ ॥

(राजा) अप्राप्त (नहीं मिले हुए भूमि तथा सुवर्ण आदि) को पानेकी इच्छा करे, प्राप्त (भूम्यादि) की यत्नपूर्वक रक्षा करे, रक्षा किये गये को बढ़ावे और बढ़ाये हुए (द्रव्य, भूमि आदि) को सत्पात्रोंमें दान कर दे ॥ ९९ ॥

---

१. 'वाहनं च राज्ञ उद्धारं च' इति गोतमवचनात् । (म० मु०)

२. 'उद्धारदाने च श्रुतिः—'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा' इत्युपक्रम्य स महान् भूत्वा देवता अब्रवीत्तदुद्धारं समाहरत' इति' । (म० मु०)

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥

(राजा) चार प्रकारके पुरुषार्थोंका यह प्रयोजन जाने तथा आलस्यरहित होकर सर्वदा इसका पालन करे ॥ १०० ॥

अप्राप्तको प्राप्त करनेकी इच्छा आदि—

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ १०१ ॥

(राजा) अप्राप्त (नहीं मिले हुए सोना, चांदी, भूमि, जवाहरात आदि) को दण्डके द्वारा (शत्रुको दण्डदेकर या जीतकर) पानेकी इच्छा करे, प्राप्त (मिले हुए सोना आदि उक्त) द्रव्योंकी देख-भाल करते हुए रक्षा किये गये उनकी वृद्धिसे (जल-स्थल-मार्ग आदिसे व्यापार आदि करके) बढ़ावे और बढाये गये (उन द्रव्यों) को सत्पात्रोंमें दान कर दे ॥ १०१ ॥

सैनिक अभ्यास आदिकी नित्यकर्तव्यता—

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ १०२ ॥

(राजा) दण्डको सर्वदा उद्यत रक्खे (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल— इस प्रकार चतुरङ्गिणी सेनाको सर्वदा परेड करवाकर उनका अभ्यास बढ़ाता रहे), अपने पुरुषार्थ (सैनिकादि शक्ति) को प्रदर्शित करता रहे, गुप्त रखने योग्य (अपने विचार, राजकार्य एवं चेष्टा आदि) को सर्वदा गुप्त रखे और शत्रुके छिद्र (सेना या प्रकृतिके द्वेष आदिसे दुर्बलता) को सर्वदा देखता रहे ॥ १०२ ॥

सर्वदा दण्डयुक्त रहना—

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥

सर्वदा दण्ड (चतुरङ्गिणी सेनाकी शक्ति) से युक्त रहनेवाले (राजासे) सब संसार डरता रहता है, अत एव राजा सब लोगोंको दण्डद्वारा ही वशमें करे ॥ १०३ ॥

कपटका त्याग—

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया ।
बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥

(राजा) सर्वदा (मन्त्री आदिके साथ) निष्कपट वर्ताव करे, कपटसे किसी प्रकार वर्ताव न करे (कपट वर्ताव करनेसे राजा सबका अविश्वासपात्र हो जाता है) और स्वयं सब व्यवहारको गुप्त रखता हुआ शत्रुके कपटको (गुप्तचरोंके द्वारा) मालूम करे ॥ १०४ ॥

प्रकृति-भेद आदिको गुप्त रखना—

नास्य च्छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः॥ १०५॥

(राजा ऐसा यत्न करे कि-) इस (राजा) के छिद्र (अमात्य आदिके साथ फूट) को शत्रु न मालूम करे और राजा स्वयं शत्रुके छिद्रको मालूम करता रहे। कछुआ जैसे अपने अङ्गों (मुख एवं पैरों) को छिपा लेता है, वैसे ही (राजा भी) अङ्गों (स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, किला, कोष, सेना और मित्र-इन सात अङ्गों[1]) को गुप्त रखे और (कदाचित् आपसमें कोई छिद्र (मंत्री आदि प्रकृतिके फूट जानेसे कोई दोष) हो जाय तो उसे दूर करदे ॥ १०५ ॥

पूर्णतः विश्वास न करना—

[न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति॥ १०॥]

(राजा) अविश्वासीपर विश्वास न करे, विश्वासीपर भी अधिक विश्वास न करे, क्योंकि विश्वाससे उत्पन्न भय जड़से ही नाश कर देता है ॥ १० ॥

बगुले आदिके समान अर्थचिन्तनादि—

वकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्॥ १०६॥

(राजा) बगुलेके समान अर्थचिन्तन करे, सिंहके समान पराक्रम करे, भेड़ियोंके समान शत्रुका नाश करे और खरगोशके समान (शत्रुके घेरेसे) निकल जाय ॥ १०६ ॥

विमर्श—बगुला जिसप्रकार अतिचञ्चल एवं जलमें रहनेवाली मछलियोंको भी एकाग्रचित्त होकर पकड़ लेता है, वैसे ही राजा भी अत्यन्त विचारित तथा सुरक्षित अर्थके विषयमें एकाग्रचित्त होकर विचार करे। सिंह जैसे स्वल्पकाय होनेपर भी

---

१. कामन्दके—'स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रञ्च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥' इति।

बलवान् तथा विशालकाय मतवाले हाथियों पर पराक्रम करता है तथा क्षुद्र पशुओं-पर भी पूर्ण शक्तिसे ही आक्रमण करता है; वैसे ही राजा भी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर शत्रुपर आक्रमण करे। भेड़िया जिस प्रकार गोपाल आदिसे अत्यन्त सुरक्षित पशुके बच्चोंको जरा-सी असावधानी होनेपर झपटकर ले जाता है, उसी प्रकार राजा भी शत्रुके थोड़ी भी असावधानी करते ही उसका नाश करने लगे और खरगोश जिस प्रकार व्याधा आदिसे घिरे रहनेपर भी उनसे छिप या भागकर किसी सुरक्षित स्थानका आश्रय लेता है, उसी प्रकार राजा भी प्रबल शत्रुओंके द्वारा आक्रान्त होनेपर अवसर देख उसके पंजेसे निकलकर किसी बलवान् राजाका आश्रय ले।

विजय में बाधक वशीकरण—

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः॥ १०७॥

इस प्रकार विजय करते हुए इस राजाके विजयमें जो बाधक (राजा) हों, उन सबोंको साम आदि उपायोंसे वशमें लावे॥ १०७॥

सामादिके असफलतामें दण्डप्रयोग—

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत्॥ १०८॥

यदि वे (विजयमें बाधक राजा) पहले तीन उपायों (साम, दान और भेद) से (अपने हरकतोंको) नहीं छोड़ें, तब दण्डसे ही उनको बलपूर्वक वशमें करे॥ १०८॥

साम एवं दण्डकी प्रशंसा—

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये॥ १०९॥

पण्डित (राजनीतिज्ञ विद्वान्) साम आदि चारों उपायों (साम, दाम, भेद और दण्ड) में-से सर्वदा राज्यकी वृद्धिके लिये साम और दण्ड की प्रशंसा करते हैं॥

राज्यरक्षा—

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः॥ ११०॥

जिस प्रकार निकौनी (सोहनी) करनेवाला (किसान खेतमेंसे) घासको उखाड़ता है और धान्यको बचाता है, उसी प्रकार राजा राज्यकी रक्षा करे और शत्रुओंका नाश करे॥ ११०॥

प्रजापीडनसे राज्यभ्रंशादि—

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥ १११ ॥

जो राजा मोहवश अपने राज्यकी देख-रेख न करके धनग्रहण करता है (प्रजाकी रक्षा न करके भी अन्यायपूर्वक उनसे अनेक प्रकारका कर लेता है), वह शीघ्र ही राज्यसे भ्रष्ट हो जाता है और बान्धव-सहित जीवनसे भ्रष्ट हो जाता है (सपरिवार मर जाता है) ॥ १११ ॥

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥

जिस प्रकार शरीरधारियोंके प्राण (भोजनादिके अभावसे) शरीरके क्षीण होनेसे नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार राज्यके पीडित करनेसे राजाओंको भी प्राण (प्रकृति-कोप आदिसे) नष्ट हो जाते हैं (अतः राजाका कर्तव्य है कि यथावत् राज्यकी रक्षा करता रहे) ॥ ११२ ॥

राज्यरक्षासे सुख-समृद्धि—

राष्ट्रस्य सङ्ग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥

राज्यकी रक्षाके लिये राजा नित्य इन उपायोंको करे, क्योंकि अच्छी तरह राज्य-रक्षा करनेवाला राजा सुखपूर्वक बढ़ता (उन्नति करता) है ॥ ११३ ॥

ग्रामपति आदिकी नियुक्ति—

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥

(राजा) राज्यकी रक्षाके लिये दो २, तीन २ या पांच २ गावोंके समूहका एक २ रक्षक नियुक्त करे और सौ गांवोंका एक प्रधान रक्षक नियुक्त करे ॥११४॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥

(राजा) एक २ दश २, बीस २, सौ २ तथा हजार २ गावोंका एक २ रक्षक नियुक्त करे ॥ ११५ ॥

विमर्श—उक्त दो श्लोकोंमेंसे प्रथम श्लोकमें दो २, तीन २ या पांच २ गांवोंके रक्षककी नियुक्ति वर्तमानमें चौकी या थानेका एवं सौ गांवोंके प्रधान रक्षककी

नियुक्ति तहसिल, सब डिवीजन या जिलाका स्वरूप है। द्वितीय श्लोकमें कथित एक २ गांवके रक्षककी नियुक्ति सरपंच, दश २ गांवोंके रक्षककी नियुक्ति थाना, सौ २ गांवोंके रक्षककी नियुक्ति जिला, तहसिल या सबडिविजन और हजार गावोंके रक्षक की नियुक्ति कमिश्नरीका स्वरूप समझना चाहिये।

ग्रामका दोषको बड़े अधिकारीसे कहना—

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥ ११६ ॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥

चोर आदिके उपद्रवको शान्त करनेमें असमर्थ एक गांवका रक्षक दश गांवोंके रक्षकको, दश गांवोंका रक्षक बीस गांवोंके रक्षकको, बीस गांवोंका रक्षक सौ गांवोंके रक्षकको और सौ गांवोंका रक्षक हजार गांवोंके रक्षकको स्वयं (बिना पूछे ही) उक्त चोर आदिके उपद्रवोंको शीघ्र सूचित करे ॥ ११६–११७ ॥

उक्त गांवके रक्षकोंकी राजनियुक्त जीविका—

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

ग्रामवासी प्रजा राजाके लिये जो अन्न, इन्धन आदि देते हों; उसे वह एक गांवका रक्षक लेवे ॥ ११८ ॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ ११९ ॥

दश गांवोंका रक्षक एक 'कुल', बीस गांवोंका रक्षक पांचकुल, सौ गावोंका रक्षक एक मध्यम ग्राम और हजार गांवोंका रक्षक एक मध्यम पुर (कस्बा, अपनी जीविकाके लिये) राजासे प्राप्त करे ॥ ११९ ॥

विमर्श—जीविकाके लिये छः हलोंसे जोतने योग्य भूमिको 'मध्यम हल' कहते हैं, दो मध्यम हल (१२ हलोंसे जोतने योग्य भूमि) को 'कुल' कहते हैं।

---

१. कुल्लूकभट्टः—'अष्टागवं धर्महलं षड्गवं जीवितार्थिनाम्।
चतुर्गवं गृहस्थानां त्रिगवं ब्रह्मघातिनाम् ॥'

इति हारीतस्मरणात् षड्गवं मध्यमं हलमिति तथाविधहलद्वयेन यावती भूमिर्वाह्यते, तत् 'कुल' मिति वदति' इति। (म० मु०)।

ग्रामकार्योंका अन्य राजमन्त्रीद्वारा निरीक्षण—

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ १२० ॥

उन ग्राम-निवासियोंके ग्रामसम्बन्धी तथा अन्य (किये गये तथा नहीं किये गये) कार्योंको राजाका हितैषी दूसरा मंत्री आलसरहित हो कर देखा करे ॥१२०॥

प्रतिनगरमें उच्चपदाधिकारियोंको नियुक्त करना—

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥

राजा प्रत्येक नगरमें (हाथी, घोड़ा, रथ एवं पैदल सैनिकों के द्वारा दूसरोंमें) आतङ्क उत्पन्न करनेवाले, नक्षत्रोंमें शुक्र आदि ग्रहोंके समान तेजस्वी और सब विषयोंकी चिन्ता (देखभाल) करनेवाले एक उच्च पदाधिकारी को नियुक्त करे ॥

उक्त उच्चाधिकारी का कार्य—

सताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥

नगरमें नियुक्त वह उच्चपदाधिकारी उन (ग्रामाधिपति आदि ७।११५-११६) का सर्वदा स्वयं निरीक्षण करता रहे और दूतों के द्वारा राज्योंमें उन ग्रामाधिपतियोंके कार्य, वर्ताव आदि व्यवहारको मालूम करता रहे ॥ १२२ ॥

घूसखोरोंसे प्रजाकी रक्षा—

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२३ ॥

राजाके रक्षाधिकारी प्रायः दूसरोंका धन लेनेवाले (घुसखोर) हुआ करते हैं, उन शठोंसे (राजा) इन प्रजाओंकी रक्षा किया करे ॥ २२३ ॥

घूसखोरोंकी संपत्तिका हरण और राज्यबहिष्कार—

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥

जो पापबुद्धि अधिकारी काम पड़नेवालोंसे (अनुचितरूपमें) धन अर्थात् घूस ले, राजा उनकी सर्वस्व लेकर उन्हें राज्यसे बाहर निकाल दे ॥ १२४ ॥

दास-दासियों की वेतन एवं स्थान—

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥

राजा काममें नियुक्त दास-दासियोंके लिये कार्यके अनुसार प्रतिदिनका वेतन एवं स्थान निश्चित कर दे ॥ १२५ ॥

उक्त वेतनका प्रमाण—

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६ ॥

(राजा) साधारण कार्य (झाड़ू लगाना, पानी भरना आदि) करनेवाले निकृष्ट दास या दासीके लिये प्रतिदिन एक पण (एक पैसा, दे० ८।१३६), ६ मासमें एक जोड़ा वस्त्र, प्रतिमास एक द्रोण[1] (४ आढक = ८ सेर) धान्य और उत्तम दास या दासीके लिये प्रतिदिन ६ पण (पैसा) वेतन दे ॥ १२६ ॥

विमर्श—उत्तम दास-दासियोंके लिये प्रतिदिन ६ पैसा वेतन, प्रति छमाही ६ जोड़ा वस्त्र और प्रतिमास ६ द्रोण अन्न दे; इसी प्रकार मध्यम दास-दासियोंके लिये प्रतिदिन ३ पैसा वेतन, प्रतिछमाही ३ जोड़ा वस्त्र और प्रतिमास तीन द्रोण अन्न दे तथा साधारण दास-दासियोंके लिये प्रतिदिन १ पैसा वेतन, प्रति छमाही १ जोड़ा वस्त्र और प्रतिमास १ द्रोण (८ सेर) अन्न दे ।

व्यापारियोंका कर—

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥

(राजा) खरीद-बिक्री, मार्ग, भोजन मार्गादिमें चौर आदिसे रक्षाका व्यय, और लाभ को देख (सम्यक् प्रकारसे विचार) कर व्यापारीसे कर लेवे ॥१२७॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् ।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८ ॥

जिस प्रकार राजा देख-भाल आदिके और व्यापारी व्यापार आदिके फलसे युक्त रहें (दोनोंको अपने २ उद्योगके अनुसार उचित फल मिले), वैसा देख

---

१. 'अष्टमुष्टिर्भवेत्कुञ्ची कुञ्च्यष्टौ च पुष्कलम् ।
पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥
चतुराढको भवेद् द्रोणः……' इति । (म० मु०)

(अच्छी तरह विचार) कर राजा सर्वदा निश्चय कर राज्यमें कर लगावे ॥१२८॥

थोड़ा २ कर लेनेमें दृष्टान्त—

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥ १२९॥

जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़े-थोड़े अपने-अपने खाद्य (क्रमशः रक्त, दूध और मधु) को ग्रहण करता है; उसी प्रकार राजाको प्रजासे थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिये ॥ १२९ ॥

पशु, सुवर्ण तथा धान्यका ग्राह्य कर—

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥ १३०॥

राजाको पशु तथा सुवर्णका कर (मूल धनसे अधिक) का पचासवां भाग और धान्यका छठा, आठवां या बारहवां भाग (भूमिकी श्रेष्ठता अर्थात् उपजाऊपन एवं परिश्रम आदिका विचारकर) ग्रहण करना चाहिये ॥ १३० ॥

वृक्ष, मांस आदिका ग्राह्य कर—

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च॥ १३१॥
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च॥ १३२॥

वृक्ष, मांस, सहद्, घी, गन्ध, ओषधि, रस (नमक आदि), फूल, मूल, फल, पत्ता, शाक, घास, चमड़ा, बांस तथा मिट्टीके बर्तन और पत्थर की बनी सब वस्तुओंका छठा भाग कर रूपमें ग्रहण करे ॥ १३१-२३२ ॥

श्रोत्रियसे कर ग्रहणका निषेध—

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्।
न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन्॥ १३३॥

मरता हुआ (अतिनिर्धन) भी राजा श्रोत्रिय (वेदपाठी ब्राह्मण) से कर न ले, इस (राजा) के देशमें रहता हुआ श्रोत्रिय (जीविका न मिलनेसे) भूखसे पीडित न हो (ऐसा प्रबन्ध रखे) ॥ १३३ ॥

श्रोत्रियको क्षुधा पीडित होनेसे राज्यमें पीडा—

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १३४ ॥

जिस राजाके देशमें श्रोत्रिय भूखसे पीडित होता है, उस राजाका वह राज्य भी शीघ्र ही भूखसे पीडित होता है (राज्यमें अकाल पड़ता है) ॥ १३४ ॥

श्रोत्रियके लिये वृत्ति-कल्पना—

श्रुतवृत्ते विदित्वाऽस्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥

राजा इस (श्रोत्रिय) के शास्त्र (शास्त्र-ज्ञान) और आचरणका विचारकर धर्मयुक्त वृत्ति (जीविका) कल्पित करे और पिता जिस प्रकार अपने औरस पुत्रकी रक्षा करता है, उस प्रकार इस (श्रोत्रिय) की रक्षा करे ॥ १३५ ॥

श्रोत्रिय-रक्षासे राजाकी आयु आदिकी वृद्धि—

संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम् ।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

राजा द्वारा सुरक्षित होता हुआ श्रोत्रिय प्रतिदिन जिस धर्मको करता है, उससे राजाकी आयु, धन और राज्यकी वृद्धि होती है ॥ १३६ ॥

शाक आदिके विक्रेताओंसे स्वल्पतम कर—

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥

राजा अपने देशमें व्यवहार(शाक आदि सामान्यतम वस्तुओं की खरीद-विक्री से जीनेवाले साधारण श्रेणीके लोगोंसे कुछ (बहुत थोड़ा) वार्षिक कर ग्रहण करे ॥

शिल्पी आदिकसे कार्य करवाना—

कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १३८ ॥

कारीगर, बढ़ई-लोहार आदि, बोझ आदि ढोनेवाले (मजदूर आदि) से राजा प्रति महीनेमें एक दिन काम करवावे (इनसे दूसरा कोई कर न लेवें) १३८

कर त्याग तथा अधिक कर लेने का निषेध—

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥

राजा (स्नेहादिसे) अपनी जड़को और अधिक लोभसे प्रजाकी जड़को नष्ट न करे, क्योंकि अपनी जड़को नष्ट करता हुआ अपनेको और प्रजाओंकी जड़को नष्ट करता हुआ (राजा) प्रजाओंको पीडित करता है ॥ १३९ ॥

विमर्श—राजा प्रजाओं पर अधिक स्नेह आदिके कारण उनसे कर नहीं लेकर अपनी जड़को नष्ट (कोष आदिको क्षीण) करता हुआ स्वयं पीडित होता है तथा अधिक लोभके कारण प्रजासे बहुत कर लेता हुआ राजा प्रजाको पीडित करता है, अतएव राजा सर्वथा करका त्याग भी न करे, तथा अतिलोभसे बहुत कर लेकर प्रजाको पीडित भी न करे।

कार्यानुसार तीक्ष्ण या मृदु होना—

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः॥ १४०॥

राजा कार्यको देखकर कठोर या मृदु (सरल, दयालु) होवे; (क्योंकि समयानुसार) कठोर और मृदु राजा सबका प्रिय होता है ॥ १४० ॥

श्रान्त होनेपर प्रधानमंत्रीकी नियुक्ति—

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम्॥ १४१॥

(राज-कार्यकी अधिकता आदिसे उसे देखनेमें) असमर्थ या थका हुआ राजा धर्मज्ञाता, विद्वान्, जितेन्द्रिय, और कुलीन प्रधान मन्त्रीको प्रजाओंके कार्यको देखनेमें नियुक्त करे ॥ १४१ ॥

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः॥ १४२॥

इस प्रकार अपना सम्पूर्ण कर्तव्य करके उद्योगयुक्त और सावधान रहता हुआ (राजा) इन प्रजाओंकी रक्षा करे ॥ १४२ ॥

चोर आदिसे प्रजाओंकी रक्षा—

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति॥ १४३॥

मंत्री सहित जिस राजाके देखते अर्थात् राज्य करते रहनेपर राज्यसे चोरों (डाकू आदि) से प्रजा अपहृत होती है, वह राजा मरा हुआ है, जीता नहीं है (क्योंकि प्रजारक्षणरूप जीवित राजाका कार्यं वह नहीं करता, अतः मरा हुआ है) ॥ १४२ ॥

प्रजापालनकी श्रेष्ठता—

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४ ॥

प्रजाओंका पालन ही क्षत्रियोंका श्रेष्ठ धर्म है; क्योंकि (प्रजापालन द्वारा) शास्त्रोक्त फलको भोगनेवाला राजा धर्मसे युक्त होता है ॥ १४३ ॥

मन्त्रणाका समय—

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥ १४५ ॥

(राजा) रात्रिके अन्तिम पहरमें उठकर शौच (शौच, दन्तधावन एवं स्नानादि नित्यकर्म) करके अग्निमें हवन और ब्राह्मणोंकी पूजाकर शुभ (वास्तु-लक्षणसे युक्त) सभा (मंत्रणा-गृह) में प्रवेश करे ॥ १४५ ॥

मन्त्रियोंके साथ मन्त्रणा—

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥ १४६ ॥

वहां पर (सभाभवनमें दर्शनार्थ) स्थित प्रजाओंको (यथायोग्य किसीको भाषणसे किसीको प्रियदर्शनसे) संन्तुष्टकर विसर्जित करे। सब प्रजाओंको विसर्जित (भेज) कर मन्त्रियोंके साथ मन्त्रणा (गुप्त-परामर्श) करे ॥ १४६ ॥

एकान्तमें गुप्त मन्त्रणा—

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥ १४७ ॥

(राजा) पहाड़ पर चढ़कर, या एकान्त प्रासाद महलमें या निर्जनवनमें दूसरेसे अज्ञात होते हुए (मंत्रीके साथ) मंत्रणा (पञ्चाङ्ग[1] मन्त्रका विचार) करे ॥

विमर्श—मन्त्रणाको जाननेके लिये शत्रुके गुप्तचर अनेक उपाय करते हैं, अतः उनसे लक्षित न होकर पर्वतकी चोटी आदि एकान्त स्थानमें विचार करना चाहिये। इस मन्त्रणाके पाँच अङ्ग है; यथा—१-कर्मोंके आरम्भ करनेका उपाय, २-पुरुष-द्रव्य-सम्पत्ति, ३-देशकालका विभाग ४—विनिपातका प्रतीकार और ५-कार्यसिद्धि ।

---

१. तदुक्तम्—सहायाः साधनोपायाः विभागो देशकालयोः ।
विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते ॥' इति ।

मन्त्रगुप्तिका उत्तम फल—

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥ १४८ ॥

जिस (राजा) के मन्त्रको दूसरे लोग आकर नहीं जानते हैं; कोशसे हीन भी वह राजा सम्पूर्ण पृथ्वीका भोग करता है ॥ १४८ ॥

मन्त्र-समयमें जड़, मूकादिको हटाना—

जडमूकान्धबधिरांस्तैर्यग्योनान्वयोतिगान् ।
स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥ १४९ ॥

मन्त्रके समयमें (राजा) जड़, मूक (गूंगे), बहरे, तिर्यग् योनिमें उत्पन्न (सुग्गा—तोता, मैना आदि), अत्यन्त वृद्ध, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी, व्यङ्ग (कम या अधिक अङ्गवालों) को हटा दे ॥ १४९ ॥

जडादिसे मंत्र भेदकी शङ्का—

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्यग्योनास्तथैव च ।
स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥ १५० ॥

क्योंकि अपमानित जड़, मूक और बहरे तथा तिर्यग्योनिमें उत्पन्न तोता मैना आदि और विशेष कर स्त्रियां (अस्थिर बुद्धि होनेके कारण) मन्त्रका भेदन (अन्यत्र प्रकाशन) कर देती हैं; इस कारण उसमें (उन्हें हटानेमें) यत्नयुक्त होवे ॥ १५० ॥

धर्मार्थकामका चिन्तन—

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः ।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा ॥ १५१ ॥

मध्याह्नमें या आधीरातको मानसिक खेद तथा शारीरिक खिन्नतासे हीन होकर (राजा) उन (मंत्रियों) के साथमें या अकेला ही धर्म, अर्थ और काम का चिन्तन करे ॥ १५१ ॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥

प्रायशः परस्परविरुद्ध धर्म, अर्थ और काममेंसे विरोधको बचाता हुआ राजा उनकी प्राप्तिके उपायका (अपने धर्मकी वृद्धिके लिये) कन्याके दानका और अपने पुत्रोंकी राजनीति, विनयी बनाना आदिकी शिक्षा का (चिन्तन करे)॥

दूत भेजने आदिका चिन्तन—

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ १५३ ॥

दूत भेजनेका, बचे हुए कार्यका, अन्तःपुर (रनिवास) के प्रचारका और गुप्तचरोंकी चेष्टाका (चिन्तन करे) ॥ १५३ ॥

विमर्श—गुप्त लेख आदिको लेकर अन्य राज्योंमें दूत भेजने आदिका चिन्तन करे। स्त्रियोंकी चेष्टाओंको विषम होनेसे अन्तःपुरमें 'कौन कब और क्यों आता या जाता है' यह विचार करे। चोटीमें छिपाये हुए शस्त्रसे रानीने विदूरथको तथा काशीराजकी विरक्त पटरानीने विषमें बुझे हुए नूपुरसे काशीराजको मार दिया था[1], अतः अन्तःपुरके विषयमें राजाको विशेष चिन्तन करना चाहिये।

अष्टविध कर्मादिका चिन्तन—

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४ ॥

(राजा) आठ प्रकारके सब कर्म, पञ्चवर्ग, अनुराग, अपराग और राजमण्डल को प्रचारका वास्तविक रूपसे—(चिन्तन करे) ॥ १५४ ॥

विमर्श—(१)आठ प्रकारके सब कर्म कई प्रकारके शास्त्रोंमें आचार्योंने बतलाये हैं, उनमें तीन प्रकारके यहां लिखते हैं।

(क) १—आदान (कर लेना), २—विसर्ग (नौकर आदिको वेतनादिके रूपमें द्रव्य देना), ३—प्रेषण (मन्त्री या दूत आदिको शास्त्रादिके अनुकूल कार्य करनेके लिये यथोचित स्थानोंमें भेजना), ४—निषेध (शास्त्र एवं राजनीतिसे विरुद्ध कर्मका त्याग करना), ५—अर्थ-वचन (किसी विषयमें बहुमत होनेपर राजाज्ञाके ही अनुसार उस कार्यका निर्णय करना), ६—व्यवहार (प्रजाओंके ऋण आदि लेने या देनेके विवादको देखना), ७—दण्डग्रहण (हारे या आत्मसमर्पण किये हुए शत्रुसे शास्त्रोक्त मर्यादा एवं अपनी हानि तथा उसके अपराधके अनुसार दण्डस्वरूप धनराशि लेना) और ८—शुद्धि (पाप करने पर पापियोंसे प्रायश्चित्त करना)[2]।

---

१. तदुक्तम्—'शस्त्रेण वेणीविनिगूहितेन विदूरथं वै महिषी जघान।
विषप्रदिग्धेन च नूपुरेण देवी विरक्ता किल काशिराजम् ॥' इति।

२. तथा चोशनसोक्तम्—
आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः। पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥
दण्डशुद्ध्योः सदा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः। अष्टकर्मा दिवं याति राजा शक्राभिपूजितः॥'
इति। एतस्य विशदाशयो म० मुक्तावल्यां द्रष्टव्यः।

(ख) मेधातिथिने इन आठ प्रकारके कर्मोंको इस प्रकारसे कहा है—१—नहीं आरम्भ किये हुए कर्मको आरम्भ करना, २—आरम्भ किये हुए कर्मको पूरा करना, ३—पूरा किये हुए कर्मको बढ़ाना, ४—कर्मके फलोंका संग्रह करना, ५—साम, ६—दान, ७—दण्ड और ८—भेद।

(ग) १—व्यापार मार्ग, २—पानी (नदी आदि) में पुल बनवाना, ३—किला बनवाना, ४—किये हुए संस्कारका निर्णय करना, ५—हाथी (घोड़ा आदि) का बन्धन, ६—खानोंको खोदवाकर धातु उपधातु आदिको निकलवाना, ७—शून्य (सून-सान अर्थात् निर्जन या बीहड़) स्थानमें प्रवेश करना और ८—लकड़ीके बनको कटवाना।

(२) पञ्चवर्ग ये हैं—१—कापटिक, २—उदास्थित, ३—गृहपति (किसान, गृहस्थ), ४—वैदेहिक (व्यापारी), और ५—तापसके वेषवाला। इनका स्पष्ट वर्ण निम्न है—

१—कापटिक—परामर्शका ज्ञाता, ढीठ छात्रवाला, कपट व्यवहारमें निपुण तथा जीविकाभिलाषी को धन देकर और आदर-सत्कार कर राजा एकान्तमें उससे कहे कि—'तुम जिसका दुराचार आदि देखो उसको मुझसे शीघ्र कहो'।

२—उदास्थित—पतित संन्यासी, लोकमें प्रसिद्ध दोष वाला, बुद्धिमान् और शुद्ध अन्तःकरणवाले तथा जीविकाके इच्छुक व्यक्तिसे राजा एकान्तमें पूर्ववत् (कापटिकके समान) कहे और जिस मठमें अधिक आय हो, उसमें रखे तथा अधिक उपजाऊ भूमि उसे दे; और वह व्यक्ति राजाके गुप्तचरोंका काम करनेवाले दूसरे संन्यासियोंको भी अन्न-वस्त्र देकर राजाकाकार्य करावे।

३—गृहपति (किसान या गृहस्थ)-जीविकाहीन, बुद्धिमान्, शुद्धहृदय, किसान-के रूपमें रहनेवाला (परन्तु वास्तविक किसान न होकर राजाका गुप्तचर हो), उससे भी राजा कापटिकके समान कहकर खेतीका काम करावे।

४—व्यापारी—जो जीविकासे रहित एवं व्यापारीके रूपमें रहनेवाला (परन्तु वास्तविकमें व्यापारी न होकर राजदूतके योग्य हो), उससे भी कापटिकके समान कहकर राजा धन-मानादिसे अपना आत्मीय बनाकर व्यापार करावे।

५—तापस—जो मूंड मुंड़ाया हो या जटादि बढ़ायाहो, जीविकाभिलाषी हो, तपस्वी (संन्यासी या साधु आदि) के वेषमें हो (परन्तु वास्तविक तपस्वी न होकर राजदूतका कार्य करता हो), उससे भी कापटिकके समान एकान्तमें कहकर राजा किसी आश्रम, मठ या मन्दिर आदि में नियुक्त करे। वह मुण्डित या जटाधारी व्यक्ति साधु आदिके बीचमें रहता हुआ, कपटी (कपटवेषधारी—प्रत्यक्षमें शिष्य, किन्तु वास्तविकमें उसकी आज्ञासे राजदूतका काम करनेवाले) शिष्योंसे युक्त, राजासे गुप्तरूपमें वृत्ति लेता हुआ तपस्या करे—

सबके प्रत्यक्षमें तो कई दिनों, सप्ताहों या महीनोंपर एक दो मुट्ठी बेर या अन्य सामान्य फल मूलादि खाय तथा एकान्तमें राजाके द्वारा प्राप्त सुन्दर स्वादिष्ट भोजन करे, उसके पूर्वोक्त शिष्य 'मेरे गुरुदेव त्रिकालके ज्ञाता हैं, सबको सिद्धि देनेवाले हैं……' उसकी प्रसिद्धि जनतामें करें तथा जनता उसकी सिद्धतापर विश्वासकर अपने अभिलषित कार्यकी सिद्धिके लिये उससे भला या बुरा सब कुछ अपना मनोभिलषित कहेंगे तथा दूसरेके भले या बुरे कार्योंको बतलावेंगे; इस प्रकार राजाको वह सर्वदा खबर पहुंचाता हुआ राजदूतका काम करता रहेगा। इस प्रकार पञ्चवर्गका चिन्तन राजा करे।

(६) अनुराग तथा अपराग—मंत्री, सेनापति आदि निजप्रकृतियोंमें; भाई, बान्धव, राजकुमार आदि सम्बन्धियोंमें और गुप्तचर तथा प्रजाओंमें अपने प्रति अनुराग या अपराग (स्नेहका अभाव) को मालूम कर उसका उपाय करे।

(७) राजमण्डल का प्रचार—शत्रुभूत राजाओंमें कौन मुझसे सन्धि करना चाहता है, तथा कौन युद्ध करना चाहता है, और इसी प्रकार मित्र, उदासीन, पार्श्ववर्ती आदि राजाओंके विषयमें भी चिन्तनकर तदनुसार कार्य करे।

[वने वनेचराः कार्याः श्रमणाटविकादयः।
परप्रवृत्तिज्ञानार्थं शीघ्राचारपरम्पराः॥ ११॥

[(राजा) बनमें वनेचर, भिक्षुक या फटे पुराने कपड़े पहनने वाले एवं शीघ्र कार्य करनेवाले जङ्गली मनुष्योंको शत्रुके कार्यको मालूम करनेके लिये नियुक्त करे॥ ११॥

परस्य चैते बोद्धव्यास्तादृशैरेव तादृशाः।
चारसंचारिणः संस्थाः शठाश्चागूढसंज्ञिताः॥ १२॥]

वैसे ही गुप्तचरोंके द्वारा शत्रुओंके वैसे गुप्तचरोंसे व्याप्त स्थानों तथा नाम छिपाकर कार्य करनेवाले धूर्त गुप्तचरोंको मालूम करे॥ १२॥]

मध्यमादि राजाओंके प्रचार का चिन्तन—

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः॥ १५५॥

राजा मध्यम, उदासीन और शत्रुके प्रचार तथा विजिगीषुकी चेष्टाका चिन्तन (परिज्ञान एवं प्रतिकार) करे॥ १५५॥

विमर्श—१—मध्यम—जो राजा विजिगीषु (लक्षण आगे कहेंगे) राजाकी सीमाके पास रहता हो अर्थात् (मध्यम तथा विजिगीषु) राजाओंकी राज्य-सीमा मिली हुई हो, दोनों विरोधियोंमें सन्धि होनेपर अनुग्रह करनेमें तथा विरोध

होनेपर दण्डित करनेमें समर्थ हो; वह राजा 'मध्यम' है। २—उदासीन—जो विजिगीषु तथा मध्यम राजाओंके एकमत होनेपर अनुग्रह करनेमें और विरोध होनेपर निग्रह (दण्डित) करनेमें समर्थ हो, वह राजा 'उदासीन' है। ३—शत्रु—इसके तीन भेद हैं—(क) सहज शत्रु (चचेरा भाई आदि), (ख) कृत्रिम (बुराई आदिके कारण बना हुआ) शत्रु और (ग) राज्यकी भूमि (सीमा) का पार्श्ववर्ती शत्रु। और ४—विजिगीषु—जो राजा अधिक उत्साह, गुण एवं प्रकृति (स्वभाव या मंत्री सेनापति आदि) से समर्थ तथा विजयाभिलाषी हो, वह राजा 'विजिगीषु' है।

राजमण्डलकी बारह प्रकृतियां—

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः॥ १५६॥

राजमण्डलकी ये चार (मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु) मूल प्रकृतियां हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर राजमण्डलकी बारह प्रकृतियां हुईं॥१५६॥

विमर्श—'शाखाप्रकृतियां' आठ हैं—१—मित्र, २—अरिमित्र, ३—मित्र-मित्र, ४—अरि-मित्र-मित्र, ये चारों शत्रुकी भूमिसे आगेकी ओर तथा ५—पार्ष्णिग्राह, ६—आक्रन्द, ७—पार्ष्णिग्राहासार और ८—आक्रन्दासार—ये चारों शत्रुकी भूमिसे पीछे की ओर। इस प्रकार ये आठ शाखाप्रकृतियां तथा पूर्व कथित चारमूल प्रकृतियां मिलकर राजमण्डलकी बारह प्रकृतियां होती हैं।

राज-मण्डलकी ७२ प्रकृतियां—

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः॥ १५७॥

राजमण्डलकी पूर्वोक्त (७।१५६) १२ प्रकृतियोंमें से प्रत्येक की—१—अमात्य (प्रधान मन्त्री), २—राष्ट्र, ३—दुर्ग (किला), ४—अर्थ (धन—कोष) और ५—दण्ड—ये ५ द्रव्यप्रकृतियां हैं (अतः १२ × ५ = ६० द्रव्यप्रकृतियां होती हैं) तथा पूर्वोक्त (७।१५६) १२ प्रकृतियों को सम्मिलित कर (६० + १२ = ७२) राजमण्डलकी कुल ७२ प्रकृतियां मुनियोंने कही हैं॥

अरि आदिके लक्षण—

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम्॥ १५८॥

विजिगीषु (अपने राज्यके पार्श्ववर्ती) तथा शत्रुकी सेवा करनेवाला राजा 'अरि' अरिके बादमें रहनेवाला 'मित्र' और उन दोनोंसे भिन्न राजा 'उदासीन' होता है॥

विमर्श—इन्हीं प्रकृतियोंका आगे और पीछे की ओर का भेद है, इनमें ये चार पहले कहे गये 'अरि' आदि 'व्यपदेश' तथा अन्तमें कहे गये 'पार्ष्णिग्राह' आदि 'व्यपदेशभागी' हैं।

[विप्रकृष्टेऽध्वनो यत्र उदासीनो बलान्वितः ।
स खिलो मण्डलार्थस्तु यस्मिञ्ज्ञेयः स मध्यमः ॥ १३ ॥]

[जिस दूर मार्गमें सेनासहित उदासीन राजा हो, वह खिल मण्डलार्थ जिसमें हो उसे मध्यम जानना चाहिये ॥ १३ ॥]

सामादिसे वशीकरण—

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥

राजा अलग-अलग या मिले हुए सामादि (साम, दान, भेद और दण्ड) उपायोंसे, पुरुषार्थसे और नीतिसे उन सबको अपने वशमें करे ॥ १५९ ॥

षड्गुणोंका चिन्तन—

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥

सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय—इन छः गुणोंका सर्वदा विचार करे ॥ १६० ॥

विमर्श—(१) सन्धि—दोनोंके सुख-चैनके लिये हाथी, घोड़ा, आदि सैनिक शक्ति तथा सुवर्ण आदि धनके द्वारा परस्परमें एक दूसरेकी सहायता करनेका निश्चय करना। (२) विग्रह—युद्ध आदि द्वारा विरोध करना। (३) यान—शत्रुके ऊपर चढ़ाई करनेके लिये आगे बढ़ना। (४) आसन—शत्रुकी उपेक्षाकर चुप मारकर किले आदि सुरक्षित स्थानमें बैठ जाना। (५) द्वैधीभाव अपने कार्यकी सिद्धिके लिये सेनाको दो हिस्सोंमें करके कार्य करना। और (६) संश्रय—शत्रुसे दबाये जानेपर उससे बलवान् दूसरे राजाका आश्रय लेना। इन ६ गुणोंमेंसे जिसके ग्रहण करनेसे शत्रुकी हानि एवं अपनी वृद्धि हो उसका विचार करना चाहिये। इन्हींको 'षड्गुण' कहते हैं।

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च ।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥

राजा अपनी हानि एवं लाभको विचारकर आसन, यान, सन्धि, विग्रह तथा द्वैध एवं संश्रय करे ॥ १६१ ॥

विमर्श—पूर्व दो (७।१६०-१६१) श्लोकमें परस्पर निरपेक्ष सन्धि आदि षड्गुणोंका चिन्तन कार्य बतलाकर इस श्लोकमें उनके उचित पालनके लिये बतलाते हैं—किसी राजाके साथ सन्धिकर आसन (युद्धादिका उद्योग छोड़ चुपचाप बैठ जाना) या किसीसे विग्रह करके यान (चढ़ाई) कर देना अथवा द्वैधीभाव और बली राजाका आश्रय करना आदि कार्य राजाको करना चाहिये।

सन्ध्यादिके २-२ भेद—

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥ १६२॥

राजा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय (तथा द्वैध) इनमें प्रत्येकको दो प्रकारका जाने। (उनके प्रकार आगे कह रहे हैं)॥ १६२॥

सन्धिके २ भेद—

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः॥ १६३॥

सन्धिके दो भेद हैं—(१) समानकर्मा सन्धि और असमानकर्मा सन्धि। तात्कालिक या भविष्यके लाभकी इच्छासे किसी दूसरे राजासे मिलकर यान (शत्रुपर चढ़ाई) करना 'समानधर्मा' नामक सन्धि है, तथा (२) तात्कालिक या भविष्यमें लाभकी इच्छासे किसी राजासे 'आप इधर जाइये, मैं इधर जाता हूँ' ऐसा कहकर पृथक्-पृथक् यान (शत्रुपर चढ़ाई) करना 'असमानधर्मा' नामक सन्धि है॥ १६३॥

विग्रहके २ भेद—

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः॥ १६४॥

विग्रहके दो भेद हैं—(१) शत्रुपर विजय पानेके लिये शत्रुव्यसन (मंत्री या सेनापति आदिसे विरोध) मालूमकर समय (७।१८० में कथित अगहन मास आदि) के अलावे असमयमें भी अथवा समय (अगहन मास आदि) में स्वयं किया गया विग्रह प्रथम भेद है तथा (२) दूसरे किसी राजाके द्वारा अपने मित्रपर आक्रमण या उसकी किसी प्रकार हानि पहुंचानेपर मित्रकी रक्षाके लिये किया गया विग्रह द्वितीय भेद है॥ १६४॥

विमर्श—इस श्लोकके तृतीय पादके स्थानमें 'मित्रेण चैवापकृते' पाठ मानकर गोविन्दराजका तथा मेधातिथि आदिका सम्मत अर्थ म० मु० में देखना चाहिये।

यानके २ भेद—

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥

यान के दो भेद होते हैं—शत्रुको आपत्तिमें फंस जानेपर अकस्मात् (एकाएक) समर्थ राजाका आक्रमण करना प्रथम 'यान' है तथा स्वयं समर्थ न होनेपर मित्रके साथ आक्रमण करना द्वितीय 'यान' है ॥ १६५ ॥

आसनके २ भेद—

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥

आसनके दो भेद हैं—भागवश या पूर्वजन्मके कार्यवश सेना, कोष आदिके क्षीण हो जानेपर या समृद्ध रहनेपर भी राजाका घेरे पड़े रहना प्रथम 'आसन' है तथा मित्रके अनुरोधसे उसकी रक्षाके लिये शत्रुका घेरे पड़े रहना द्वितीय 'आसन' है ॥

द्वैधके २ भेद—

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥ १६७ ॥

षाड्गुण्य (७।१६० में कथित सन्धि आदिके उपयोग अर्थात् लाभ) को जाननेवाले द्वैधके दो भेद कहते हैं—अपने कार्यकी सिद्धिके लिये हाथी-घोड़ा आदि चतुरङ्गिणी सेनाका एक भाग शत्रुसे बचनेके लिये सेनापतिके अधीन करना प्रथम 'द्वैध' तथा उक्त सेनाका शेष भाग किला आदिमें राजाके अधीन रखना द्वितीय 'द्वैध' है ॥ १६७ ॥

संश्रयके २ भेद—

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

संश्रय दो प्रकारका है—शत्रुसे पीडित होते हुए आत्मरक्षार्थ किसी बलवान् राजाका आश्रय लेना प्रथम 'संश्रय' तथा भविष्यमें शत्रुसे पीडित होनेकी आशङ्कासे आत्मरक्षार्थ किसी बलवान् राजाका आश्रय लेना द्वितीय 'संश्रय' है ॥ १६८ ॥

सन्धि-विग्रह आदिके योग्य समय—

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत् ॥ १६९ ॥

जब राजा भविष्यमें अपनी (सेना आदि की) निश्चितरूपसे अधिकता तथा वर्तमान सामान्य हानि देखे तो शत्रुसे सन्धि (मेल, सुलह) करले ॥ १६९ ॥

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।
अत्युच्छ्रितं तथाऽऽत्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ १७० ॥

जब राजा सब प्रकृतियों (७।१५६-१५७) को (दान-मान आदिसे) अत्यन्त सन्तुष्ट तथा अपनी सेनाको बलशालिनी समझे तो शत्रुको लक्ष्य कर अभियान (युद्ध के लिये यात्रा) कर दे ॥ १७० ॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १७१ ॥

जब राजा अपनी सेना आदिको हृष्ट-पुष्ट (बलवती) तथा शत्रुकी सेना आदिको इसके विपरीत (दुर्बल) समझे, तब उस पर चढ़ाई कर दे ॥ १७१ ॥

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥ १७२ ॥

जब राजा हाथी आदि बाहनों (सवारियों) से तथा अमात्य आदि शक्तियोंसे अपनेको अत्यन्त क्षीण (दुर्बल) समझे तब यत्नपूर्वक शत्रुको शान्त करता हुआ चुप हो कर बैठ जावे ॥ १७२ ॥

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥ १७३ ॥

जब राजा शत्रुको सब प्रकार (अपनेसे) बलवान् समझे तब अपनी सेना को दो भागोंमें विभक्तकर (एक भागको शत्रुको रोकनेके लिये सेनापतिके अधीन कर) तथा दूसरे भागको आत्मरक्षार्थ अपने अधीन (किला आदि सुरक्षित स्थानमें रखकर) अपना कार्य (मित्र आदि सहायक साधनोंका संग्रह) करे ॥

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४ ॥

जब राजा (अमात्यादिके दोषसे पूर्व श्लोकानुसार सेनाको दो भागोंमें विभक्त कर आत्मरक्षाका उपाय करने पर भी) शत्रुद्वारा अपनेको पराजित होने योग्य समझे, तब शीघ्र ही बलवान् (अग्रिम श्लोकोक्त गुणयुक्त) राजाका आश्रय करे ॥ १७४ ॥

बलवान्‌का संश्रय—

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च ।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥

जो राजा (बिगड़ी हुई अमात्य आदि ७।१५६–१५७) प्रकृतियों तथा शत्रुकी सेनाका निग्रह करे (दण्डित करे), उस राजा की सेवा (दुर्बल राजा) करे ॥ १७५ ॥

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥

जब राजा उक्त प्रकारसे (७।१७४–१७५) संश्रय करने पर भी दोष (अपनी कार्य सिद्धिका अभाव) देखे, तब निर्भय हो कर उस (दुर्बल) अवस्थामें भी पूरी शक्ति के साथ युद्ध करे ॥ १७६ ॥

मित्र, उदासीन आदि बढ़ानेका निषेध—

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथाऽस्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १७७ ॥

राजा सब उपायों (साम, दान, दण्ड और भेद) से ऐसा करे कि जिससे इसके शत्रु, मित्र तथा उदासीन अधिक न होवें ॥ १७७ ॥

विमर्श—उनकी अधिकता होनेपर धन–लोभसे मित्रके भी शत्रु होनेसे उसे पराधीन होने की सम्भावना रहती है ।

भावी आदिके गुण–दोषका चिन्तन—

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८ ॥

राजा उत्तरकाल (आगेवाले समय) वर्तमान काल और अतीत कालके गुण–दोषोंका चिन्तन करे ॥ १७८ ॥

विमर्श—भविष्यमें मुझे जो कार्य करना हैं, उस में गुण–दोष का क्या विचार करे, वर्तमान कालमें जो कार्य चल रहा है गुण–दोष का विचार कर उसे पूरा करने की चेष्टा करे; तथा जो कार्य समाप्त हो चुका है, उसके गुण–दोष (उस में क्या ठीक हुआ और क्या बिगड़ गया या क्या हानि अथवा लाभ है, यह) विचार करे ।

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥

भविष्य कालके कार्योंके गुण–दोषोंको जाननेवाला, वर्तमान काल के कार्यों

के विषयमें शीघ्र निश्चय करनेवाला और बीते हुए कार्यशेष को जाननेवाला राजा शत्रुओंसे पराजित नहीं होता है ॥ १७९ ॥

राजनीतिका सामान्य लक्षण—

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥ १८० ॥

शत्रु, मित्र या उदासीन राजा जिस कार्यके करनेसे उस राजाको पीडित (पराजित) न करें; संक्षेपमें यही राजनीति है ॥ १८० ॥

शत्रुपर अभियानकी विधि—

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः।
तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥

जब राजा शत्रुपर अभियान (चढ़ाई) करे, तब इस (आगे कहे हुए) विधिसे धीरे-धीरे शत्रुके नगरकी ओर बढ़े ॥ १८१ ॥

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः।
फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥ १८२ ॥

राजा शुभ मार्गशीर्ष (अगहन) मासमें या फाल्गुन अथवा चैत्र मासमें अपनी सेनाके अनुसार शत्रुके नगर की ओर बढ़े ॥ १८२ ॥

विमर्श—चतुरङ्गिणी (हयदल, गजदल, रथदल तथा पैदल) सेनासे युक्त जो राजा मन्द चलनेवाले हाथियों तथा रथोंके गमनकर विलम्बमें पहुंचनेवाला हो तथा हेमन्त-सम्बन्धी धान्यसे परिपूर्ण शत्रु राजापर चढ़ाई करना चाहे; वह मार्गशीर्ष में तथा शीघ्रगामी घोड़ों की सेनासे गमनकर शीघ्र पहुंचनेवाला हो तथा सर्वविध धान्यपूर्ण शत्रुदेशपर चढ़ाई करना चाहे; वह अपने बल (सैन्यशक्ति) के अनुसार फाल्गुन या चैत्र मास में चढाई करे।

उक्त समयसे भिन्न कालमें भी अभियान—

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुवं जयम्।
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ १८३ ॥

दूसरे समयमें भी जब राजा अपनी विजय निश्चित समझे अपने सैन्यबलसे युक्त हो, तब विग्रहकर शत्रुपर चढ़ाई करे और जब शत्रुको अमात्य आदिके विरोध (फूट-वैर) या कठोर दण्ड आदिसे व्यसनमें पड़ा हुआ समझे तब भी (ग्रीष्म आदि) अन्य समयमें शत्रुपर चढ़ाई करे ॥ १८३ ॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥ १८४ ॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥

अपने किला तथा देशकी रक्षाके लिये प्रधान पुरुषसे युक्त सेनाका एक भाग रखकर; यात्राके योग्य शास्त्रोक्त सवारी, शस्त्र, कवच आदि से युक्त हो कर; दूसरे राजाके राज्यमें जानेपर मार्ग तथा स्थिति पानेके लिये उनके भृत्य आदिको अपने पक्षमें करके; कपटवेशधारी गुप्तचरोंको शत्रु-देशकी प्रत्येक बात मालूम करनेके लिये भेजकर; जाङ्गल, आनूप तथा आटविक भेदसे तीन प्रकारके मार्गोंको पेड़ लता झाड़ी कंटक आदि कटवाने तथा नीची ऊँची भूमिको बराबर करानेसे गमनके योग्य बनाकर और हाथी घोड़ा, रथ, पैदल, सेना एवं कार्यकर्तारूप छः प्रकार के बल (सेना) को उचित भोजन-वस्त्र, मान-सत्कार एवं औषध आदि से शुद्धकर यात्राके योग्य विधानसे धीरे २ शत्रुके देशको प्रस्थान करे ॥

शत्रु-सेवी मित्रादिसे सावधानी रखना—

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत् ।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥

गुप्तरूपसे शत्रुकी ओर मिले हुए मित्रमें और पहले विरक्त होकर फिर वापस आये हुए व्यक्ति (सैनिक या गुप्तचर आदि) में अत्यन्त सावधानी रखे, क्योंकि वे अत्यन्त कष्टकर (अत एव दुर्निग्रह) शत्रु है ॥ १८६ ॥

व्यूह-रचना

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा ।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥

(राजा मार्गमें भय रहनेपर) दण्डव्यूहसे या शकटव्यूहसे या वराहव्यूहसे या मकरव्यूहसे या सूचीव्यूहसे अथवा गरुडव्यूहसे मार्गमें चले ॥ १८७ ॥

विमर्श—(१) दण्डव्यूह—आगे बलाध्यक्ष (दे० ७।१८९ निष्कर्ष), बीचमें राजा, पीछे सेनापति (दे० ७।१८९ का निष्कर्ष) दोनों पार्श्वों (बगलों) में हाथी, उनके पास घोड़े और उन घोड़ोंके पासमें पैदल सैनिक; इस प्रकार दण्डके समान बराबर तथा लम्बी सेनाकी रचना 'दण्डव्यूह' है । (२) शकटव्यूह—आगेके भागमें पतली तथा पीछेके भागमें फैली हुई अत एव गाड़ीके समान सेनाकी रचना

'शकटव्यूह' है । (३) वराहव्यूह—आगे तथा पीछेके भागोंमें पतली तथा मध्य भागमें फैली हुई सेनाकी रचना 'वराहव्यूह' है । (४) मकरव्यूह—'वराहव्यूह' के विपरीत अर्थात् आगे तथा पीछेके भागोंमें फैली हुई और मध्यभागमें पतली सेनाकी रचना 'मकरव्यूह' है । (५) सूचीव्यूह—चींटियोंकी पंक्तिके समान आगे-पीछे सटी (मिली) हुई तथा प्रत्येक सैनिक स्थितिमें मुख्य एवं शीघ्र शूरवीरसे युक्त सेनाकी रचना 'सूचीव्यूह' है । (६) गरुडव्यूह—'वराहव्यूह' के समान किन्तु बीचमें अधिक फैली हुई सेनाकी रचना 'गरुडव्यूह' है ।

इनमें-से मार्गमें सब ओरसे भय रहनेपर 'दण्डव्यूह' से, पीछे की ओरसे भय रहनेपर 'शकटव्यूह' से, पार्श्वभाग (दाहिने बांये की ओर) से भय रहने पर 'वराहव्यूह' और 'गरुडव्यूह' से, आगे तथा पीछे—दोनों ओरसे भय रहनेपर 'मकरव्यूह' से तथा आगे (सामने) की ओरसे भय रहनेपर 'सूचीव्यूह' से यात्रा करे ।

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥

(राजा) जिधरसे भयकी आशङ्का हो, उधर ही सेनाका विस्तार करे और स्वयं सर्वदा 'पद्मव्यूह' से (नगरसे निकाल कर कपटपूर्वक) शत्रुदेशमें प्रवेश करे ॥ १८८ ॥

विमर्श—पद्मव्यूह-जिसमें सब ओरसे समान रूपसे सेना फैलायी गयी हो और बीचमें जिगीषु (विजयाभिलाषी) राजा बैठा हो, वैसी सेनाकी रचना 'पद्मव्यूह' है ।

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥ १८९ ॥

(राजा) सेनापति तथा बलाध्यक्षको सब दिशाओंमें फैलाकर नियुक्त करे तथा जिस दिशाकी ओरसे भयको आशङ्का हो, उस दिशाको पूर्व दिशा मानकर आगे उसी दिशाको करे ॥ १८९ ॥

विमर्श—हाथी, घोड़ा, रथ और पैदलके दश अङ्गोंका स्वामी 'पत्तिक' कहा जाता है; दश 'पत्तिकों'का स्वामी 'सेनापति' तथा दश 'सेनापतियों'का स्वामी 'बलाध्यक्ष' कहा जाता है ।

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समंततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥ १९० ॥

(राजा) रुकने, भागने या युद्ध करनेके लिये विश्वासपात्र, शंखभेदी

नगाड़ा आदिवाद्योंके सङ्केतितः रुकनेमें तथा युद्धमें चतुर, निडर और कभी विकृत नहीं होनेवाले सेनाके एक भागको चारो तरफ दूर तक शत्रुके प्रवेशको रोकने तथा उसकी चेष्टाको मालूम करते रहनेके लिये नियुक्त करे ॥ १९० ॥

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥ १९१ ॥

(राजा) थोड़े योद्धा हों तो उन्हें थोड़ी दूरमें ही संगठित कर तथा अधिक योद्धा हों तो उन्हें दूर तक फैलाकर सूचीव्यूह (७।१८७ निष्कर्ष) या 'वज्रव्यूह' से मोर्चाबन्दीकर युद्ध करावे ॥ १९१ ॥

विमर्श—तीन ओरसे सेनाको फैलाना 'वज्रव्यूह' कहा जाता है।

समतल आदि भूमिमें युद्धप्रकार—

स्यन्दनाश्वैः समे युद्ध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥

(राजा) समतल युद्धभूमिमें रथ और घोड़ोंसे, जलप्राय युद्धभूमिमें नाव तथा हाथियोंसे, पेड़ तथा झाड़ियोंसे गहन युद्धभूमिमें धनुषोंसे और कंटक-पत्थर आदिसे वर्जित युद्धभूमिमें ढालतलवार एवं भाला-बर्छा आदिसे युद्ध करे ॥१९२॥

व्यूहके आगे रखने योग्य सैनिक—

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालाञ्शूरसेनजान् ।
दीर्घाँल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥ १९३ ॥

(राजा) कुरुक्षेत्र, मत्स्य (विराट), पाञ्चाल (कान्यकुब्ज तथा अहिच्छेत्र) और शूरसेन (मथुरा) देशमें उत्पन्न लम्बे कदवाले योद्धाओंको तथा अन्य देशोत्पन्न लम्बे या छोटे कदवाले युद्धाभिमानी योद्धाओंको युद्धके आगेवाले मोर्चे-पर नियुक्त करे ॥ १९३ ॥

सैनिकोंका उत्साहवर्द्धन तथा परीक्षण—

प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥ १९४ ॥

(राजा) मोर्चा बनाकर सैनिकोंको उत्साहित करे, उनकी अच्छी तरह जांच करे तथा शत्रुओंसे लड़ते हुए उनकी चेष्टाओंको मालूम करता रहे ॥१९४॥

विमर्श—'युद्धमें विजय होनेपर धन और धर्मकी तथा मृत्यु होनेपर स्वर्गकी प्राप्ति होती है और इसके विपरीत युद्धभूमिसे भागनेपर योद्धा राजाके पापका

भागी तथा नरकगामी होता है एवं उसका अपयश होता है' इत्यादि वाक्योंसे उत्साहवर्द्धन करे। ये योद्धा किन २ कारणोंसे प्रसन्न होते हैं तथा किन २ कारणोंसे खिन्न होते हैं, इत्यादि जांच करे। लड़ते हुए योद्धाओंके सोपधि (सकपट) एवं अनुपधि (निष्कपट) चेष्टाओंको मालूम करता रहे।

परराष्ट्र पीडन—

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥

(राजा दुर्गमें या दुर्गके बाहर स्थित) शत्रुपर घेरा डालकर रहे, इसके देशको (लूट-पाट आदिसे) पीडित करे और इसके भूसा घास, अन्न जल और इंधनको सर्वदा नष्ट करे अर्थात् दूषित द्रव्य (विष आदि) मिलाकर उपयोगके अयोग्य बना दे ॥ १९५ ॥

तडागादिका भेदन—

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्रकारपरिखास्तथा।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥

(राजा) शत्रुके उपजीव्य तडाग, नहर कूप आदिको नष्ट कर दे; किले या नगरके परकोटे (चहारदिवारी) को तोड़ दे, खाईको मिट्टी आदिसे भर कर सुखा दे (सुप्रवेश्य कर दे) इस प्रकार निर्भय होकर शत्रुको दबा दे तथा रातमें नगाड़ा आदि युद्धके बाजाओंको बजवाकर शत्रुको भयभीत करता रहे ॥ १९६ ॥

शत्रुके प्रकृतियोंका भेदन—

उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम्।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥

(राजा) राज्याभिलाषी तथा भेद योग्य, शत्रुके दायादों को या मन्त्री सेनापति आदि प्रकृतिको फोड़े (विजय होनेपर राज्य आदिका लोभ देकर अपने पक्षमें करे), उस (शत्रु) के द्वारा किये ऐसे कार्य (भेद) को स्वयं मालूम करे और विजयाभिलाषी राजा निर्भय होकर शुभ मुहूर्तमें शत्रुसे युद्ध करे॥

सामादि तीन उपायोंसे विजयप्रयत्न—

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥

(राजा) साम (प्रेम-प्रदर्शन), दान, भेद (शत्रुके राज्यार्थी दायाद या

मंत्री आदिको विजय होनेपर राज्य आदिका लोभ देकर अपने पक्षमें करना) इन तीनों उपायोंसे अथवा इनमें-से किसी एक या दो उपायोंसे शत्रुओं को जीतनेका प्रयत्न करे, (पहले) युद्धसे जीतनेकी कदापि चेष्टा न करे ॥ १९८ ॥

अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥

क्योंकि युद्ध करते हुए दो पक्षोंकी विजय तथा पराजय युद्धमें अनिश्चित रहती है, इस कारण युद्धका त्याग करे ॥ १९९ ॥

उपायत्रयके अभावमें युद्ध—

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
तथा युध्येत सम्पन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥ २०० ॥

(राजा) पूर्वोक्त तीनों (साम, दान और भेद) उपायोंके साधक न होनेपर ही सैन्यादि-शक्तिसे संयुक्त होकर वैसा युद्ध करे, जिससे शत्रुओंको जीत ले । (क्योंकि विजय होनेसे राज्यलाभ तथा युद्धमें सामने मरनेपर स्वर्गलाभ होता है । किन्तु यदि निश्चित रूपसे पराजयकी ही सम्भावना हो तो युद्ध त्यागकर आत्मरक्षा करनी चाहिये—वहांसे हट जाना चाहिये, क्योंकि मरनेपर मनुष्य कोई कार्यसाधन नहीं कर सकता, जिससे वह सुखी हो । इसी कारण मनु भगवान्ने आगे (७।२१३) आत्मरक्षा करने पर जोर दिया है) ॥ २०० ॥

विजयलाभके बाद कर्तव्य—

जित्वा सम्पूजयेद् देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥

विजय लाभकर देवताओं तथा धार्मिक ब्राह्मणोंको गो, भूमि तथा सुवर्ण आदि दान देकर पूजा करे । 'जीती गयी वस्तुओंमें-से इतना अंश देवताओं तथा ब्राह्मणोंके लिये मैंने दान दिया' ऐसा वहांके निवासियोंमें घोषणा करे तथा 'राज-भक्तिसे जिन लोगोंने अपने राजाका पक्ष लेकर मेरे विरुद्ध आचरण किया है उन्हें भी मैं अभयदान देता हूँ' (वे निर्भय होकर अपने-अपने कार्योंको करे) ऐसी भी घोषणा करे ॥ २०१ ॥

शत्रुके वंशजको राज्यदान तथा समयक्रिया—

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम् ।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥

उस शत्रु राजा तथा मंत्री एवं प्रजाके मुख्य लोगोंकी अभिलाषाको मालूम कर उसी वंशमें उत्पन्न व्यक्तिको उस राज्यमें पुनः अभिषिक्त करे और उसके साथ समय-क्रिया (शर्तनामा—अमुक २ कार्य तुम्हें स्वेच्छानुसार करना होगा तथा अमुक २ कार्य मेरी आज्ञासे करना होगा इत्यादि) करे ॥ २०२ ॥

धार्मिक कार्योंको पूर्ववत् चलाना आदि—

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान् ।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥

विजयी राजा उन (जीते हुए देशके निवासियों) के धार्मिक कार्योंको प्रमाणित करे (उन्हें पूर्ववत् चालू करे) और मंत्री आदि मुख्य लोगोंके साथ उस नवाभिषिक्त राजाको रत्न आदि भेंट देकर सत्कृत करे ॥ २०३ ॥

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् ।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

(क्योंकि यद्यपि किसी की) अतिप्रिय वस्तुओंको ले लेना अप्रिय तथा दे देना प्रिय होता है, तथापि विशेष अवसरों पर ले लेना तथा दे देना—ये दोनों ही कार्य श्रेष्ठ होते हैं (अतः नये राजाके लिये रत्नादिका उपहार देना ही श्रेष्ठ है) ॥ २०४ ॥

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ।
तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥

इस संसारमें जो कुछ कार्य हैं, वे सब भाग्य तथा मनुष्यके अधीन हैं; उनमें दैव (पूर्वजन्मकृत) कार्य अचिन्त्य हैं (कब क्या होने वाला है, इसे कोई नहीं जानता) और मानुष (मनुष्य सम्बन्धी अर्थात् वर्तमानमें किया जानेवाला) कार्यमें पर्यालोचन है (अत एव मनुष्यको स्व-कार्य-सिद्धिके लिए यत्न करते रहना चाहिये) ॥ २०५ ॥

[दैवेन विधिना युक्तं मानुष्यं यत्प्रवर्तते ।
परिक्लेशेन महता तदर्थस्य समाधकम् ॥ १४ ॥

[भाग्य-विधानके सहित जो मनुष्य-कार्य किया जाता है, वह बड़े कष्टसे सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

संयुक्तस्यापि दैवेन पुरुषकारेण वर्जितम् ।
विना पुरुषकारेण फलं क्षेत्रं प्रयच्छति ॥ १५ ॥

भाग्यसे संयुक्त भी पुरुषार्थसे रहित कार्य, पुरुषार्थके बिना खेतमें पड़े हुए बीजके समान फल देता है ॥ १५ ॥

चन्द्रार्काद्या ग्रहा वायुरग्निरापस्तथैव च ।
इह दैवेन साध्यन्ते पौरुषेण प्रयत्नतः ॥ १६ ॥]

चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह तथा वायु, अग्नि और जल पुरुषार्थसे यत्नके द्वारा दैव (ईश्वरीय) पुरुषार्थसे इस संसारमें साधे जा रहे हैं ॥ १६ ॥]

करग्रहणकर सन्धि करना—

सह वाऽपि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः ।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥ २०६ ॥

(विजिगीषु राजा पूर्वोक्त प्रकारसे युद्ध करे) अथवा उसके साथ मित्रताकर उस शत्रु राजा द्वारा दिये गये सुवर्ण-(रत्नादि सम्पत्ति) तथा राज्यकी एक भाग भूमि—इन तीन (मित्र, सुवर्ण तथा भूमि) को युद्धयात्राका फल मानकर यत्नपूर्वक उस राजाके साथ सन्धि करे ॥ २०६ ॥

पार्ष्णिग्राहादिका विचारकर युद्ध यात्रा—

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले ।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥

(विजिगीषु राजा) पार्ष्णिग्राह तथा आक्रन्द राजाका अपने मण्डलमें ध्यान कर यात्रा करे और मित्र (सन्धि किया हुआ शत्रु) या अमित्र (हारा हुआ शत्रु) राजासे यात्राका फल (मित्रता, सुवर्ण तथा भूमि) को अवश्य लेवे ॥२०७॥

विमर्श—विजयाभिलाषी राजाके शत्रुपर चढ़ाई करनेके लिये यात्रा करनेके बाद उसके देशपर आक्रमण करनेवाला 'पार्ष्णिग्राह' कहलाता है तथा वैसा करने वाले 'पार्ष्णिग्राह' राजाका नियामक उसका अनन्तरवर्ती राजा 'आक्रन्द' कहलाता है ।

मित्र-प्रशंसा—

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८ ॥

राजा मित्र तथा राज्यकी प्राप्तिसे वैसी उन्नति नहीं करता, जैसी वर्तमानमें दुर्बल होनेपर भी भविष्यमें उन्नतिकरनेवाले स्थायी मित्रकी प्राप्तिसे (उन्नति) करता है ॥ २०८ ॥

श्रेष्ठ मित्रके गुण—

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०६ ॥

धर्मज्ञ, कृतज्ञ, संन्तुष्ट अमात्य आदि प्रकृतिवाला, अनुरक्त, स्थिर कार्यारम्भ करनेवाला छोटा भी मित्र श्रेष्ठ होता है ॥ २०९ ॥

शत्रुके गुण—

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २१० ॥

विद्वान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दानी, कृतज्ञ, और (सुख-दुःखमें) धैर्ययुक्त शत्रुको विद्वान् लोग कष्टसाध्य (कठिनतासे जीत ने योग्य) कहते हैं। (अत एव ऐसे शत्रु से सन्धि कर लेना चाहिये) ॥ २१० ॥

उदासीन के गुण—

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥

सज्जनता, मनुष्योंकी पहचान करना, शूरता, कृपालुता और सर्वदा बहुत दान देना-ये सब उदासीन राजाके गुण हैं। (अत एव इस प्रकारके उदासीन राजाका आश्रय कर पूर्वोक्त (२।२१०) लक्षण-वाले शत्रुसे भी युद्ध करना चाहिये) ॥

आत्मरक्षार्थ भूमि आदिका त्याग—

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥

(नीरोगता आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण) कल्याणप्रद, (नदी, नहर, तडागादि होनेसे वृष्टिके अभाव होनेपर भी) धान्य उत्पादन करनेवाली, (अधिक घास आदि होनेसे) पशुओं की वृद्धिमें सहायक भूमिको राजा आत्मरक्षाके लिये बिना विचार किये छोड़ दे ॥ २१२ ॥

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥

आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धनोंके द्वारा स्त्रियोंकी रक्षा करे और धन तथा स्त्रियोंके द्वारा सर्वदा अपनी रक्षा करे (यह सर्व-सामान्य धर्म माना गया है) ॥

आपत्तियोंमें उपायोंका प्रयोग—

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद् बुधः ॥ २१४ ॥

सब आपत्तियों (कोषक्षय, अमात्यादि प्रकृतिकोप तथा मित्रादिव्यसन प्रभृति) को अधिक मात्रामें एक साथ उपस्थित जानकर विद्वान् राजा (घबड़ावे नहीं, किन्तु) सम्मिलित या पृथक् २ सब उपायों (साम, दान, दण्ड और भेद) को काममें लावे ॥ २१४ ॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥

(राजा) उपेता (प्राप्तिकर्ता अर्थात् अपने), उपेय (प्राप्ति करने योग्य अर्थात् शत्रु) तथा परिपूर्ण सामादि सब उपाय—इन तीनोंको अवलम्बनकर प्रयोजन की सिद्धिके लिये प्रयत्न करे ॥ २१५ ॥

राजाका भोजन-काल—

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ २१६ ॥

राजा इस प्रकार इन सब विषयोंको मन्त्रियोंके साथमें विचार (गुप्त परामर्श) कर (मुद्गर या अन्य शस्त्र आदिके अभ्याससे) व्यायाम कर दोपहरको स्नान (तथा मध्याह्नकृत्य-सन्ध्योपासनादि नित्यकर्मसे निवृत्त हो) कर भोजन करनेके लिये अन्तःपुर (रनिवास) में प्रवेश करे ॥ २१६ ॥

अन्नादि भोज्य पदार्थोंकी परीक्षा—

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥

वहां (अन्तःपुरमें) अपने तुल्य, भोजन-समयके ज्ञाता, किसी शत्रु आदिसे फोड़कर अपने पक्षमें नहीं करने योग्य परिचारकों (पाचक आदि) से बनाये गये एवं परीक्षा किये गये अन्न आदि (भोज्य, पेय, लेह्य, चोष्य आदि पदार्थ) को विषनाशक मन्त्रोंसे (गारुडादि मंत्रोंको जपकर) भोजन करे ॥ २१७ ॥

निष्कर्ष—सविष अन्नको देखकर चकोर पक्षीकी आँखें लाल हो जती हैं, अग्नि में डालानेसे अन्न चिट २ शब्द करता है, सुवर्णपात्रमें उसका रंग बदल जाता है; इत्यादि उपायोंसे सविष अन्नकी परीक्षा करनी चाहिये ।

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

राजा विषनाशक औषधोंसे (खानेके लिये दिये गये) सब अन्नको संयुक्त करे तथा सावधान रहते हुए विषनाशक (गारुडादि) रत्नोंको सर्वदा धारण करे ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः ।
वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २१९ ॥

(गुप्त चरोंके द्वारा) परीक्षित, (गुप्त शस्त्र रखने तथा विष-लिप्त भूषण आदि धारण करनेकी आशङ्कासे) नियत वेष तथा भूषणोंसे अच्छी तरह शुद्ध (दोषरहित) स्त्रियां (परिचारिकायें अर्थात् दासियाँ) चामर आदिसे हवा करने, स्नान तथा पीनेके लिये पानी देने और सुगन्धित धूप आदि करनेसे राजाकी सेवा करें ॥

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने ।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालङ्कारकेषु च ॥ २२० ॥

राजा (अपने) यान (सवारी अर्थात् रथ, अश्व गज आदि), शय्या (पलँग या शयनगृह), आसन (बैठनेके सिंहासन या अन्य चौकी आदि), अशन (भोजन), स्नान, प्रसाधन (तेल आदिका मर्दन या चन्दन आदिका) लेपन और सब प्रकारके भूषणोंके धारण करनेमें इसी प्रकार अच्छीतरह परीक्षाकर उन्हें अपने व्यवहारमें लानेका प्रबन्ध करे ॥ २२० ॥

रानियोंके साथ विहार—

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह ।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥

भोजनकर राजा रनिवासमें रानियोंके साथ विहार (क्रीडा आदि) करे तथा यथासमय (दिनके सप्तम भागमें विहारकर) फिर (दिनके अष्टम भागमें) राजकार्योंका चिन्तन करे ॥ २२१ ॥

सैनिकादिका निरीक्षण—

अलङ्कृतश्च सम्पश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥ २२२ ॥

अलङ्कार आदि पहना हुआ राजा फिर शस्त्रधारी सैनिकों, हाथी-घोड़ा आदि वाहनों, खड्ग तोमर कुन्तादि सब अस्त्र-शस्त्रों और भूषणोंका निरीक्षण करे ॥२२२॥

गुप्तचरोंकी बातोंको सुनना आदि—

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ २२३ ॥
गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् ।
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २२४ ॥

(फिर राजा) सायङ्कालका सन्ध्योपासन करके दूसरे कक्षा (ड्योढ़ी) के भीतर एकान्त स्थानमें स्वयं शस्त्रको धारणकर गुप्त समाचारोंको बतलानेवाले गुप्तचरोंके कामोंको सुने और उसके बाद उन्हें विदाकर परिचारिकाओं (दासियों) से परिवृत होकर भोजनके लिये फिर अन्तःपुरमें प्रवेश करे ॥

वाद्यश्रवण, भोजन एवं शयन—

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः ।
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ २२५ ॥

वहां (रनिवास) में बाजाओंके शब्दोंसे प्रहर्षित होकर फिर कुछ भोजनकर यथासमय सो जावे और श्रमरहित होकर शेष रात्रिमें उठ (जग) जावे ॥ २२५ ॥

मुख्य मन्त्रीसे राजकार्य कराना—

एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः ।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

निरोग राजा इन सब कार्योंको स्वयं करे तथा अस्वस्थ हो तब इन सब कार्योंको मुख्य मन्त्रियों (के उत्तरदायित्व) पर सौंपे ॥ २२६ ॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् राजधर्मस्य वर्णनम् ।
शारदायाः प्रसादेन सप्तमे पूर्णतामगात् ॥ १ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

व्यवहारदर्शनेच्छु राजाका न्यायालयमें जाना—

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥

(प्रजाओंके वक्ष्यमाण–८।४–७) व्यवहार अर्थात् मुकदमोंको देखनेका इच्छुक राजा (आगे कहे जानेवाले लक्षणोंसे युक्त) ब्राह्मणों तथा पूर्वोक्त पञ्चाङ्गोंसे

युक्त मन्त्रोंको जाननेवाले मन्त्रियोंके साथ नम्रभावसे (वचन, हाथ-पैर तथा नेत्रादि की चञ्चलतासे रहित होकर) राजसभा (न्यायालय) में प्रवेश करे ॥ १ ॥

विमर्श—'वि + अव + हार' से 'व्यवहार' शब्दकी सिद्धि होती है, उक्त शब्दों का अर्थ अनेक प्रकारके सन्देहोंको हरण (दूर) करना होता है[1]।

तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २ ॥

(राजा) वहांपर अर्थात् न्यायालयमें बैठकर या खड़ा होकर दहने हाथको उठाकर विनम्र (शान्त एवं निर्भयकारक) भेष-भूषासे युक्त होकर कार्यार्थियोंके कार्योंको देखे ॥ २ ॥

कुल-देशानुसार कार्यदर्शन—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक् ॥ ३ ॥

अट्ठारह (८।४-७) व्यवहार-मार्गोंके कार्योंको देश, जाति तथा कुलके व्यवहारोंसे और साक्षी, द्रव्य आदि कारणोंसे प्रतिदिन पृथक्-पृथक् विचार करे ॥३॥

[हिंसां यः कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति ।
स्थाने ते द्वे विवादस्य भिन्नोऽष्टादशधा पुनः ॥ १ ॥]

[जो कोई हिंसा करता है अर्थात् किसीको मारता या किसी प्रकार पीडित करता है तथा देय (देने योग्य धन, भूमि आदि) नहीं देता है, ये दो विवाद (झगड़े) के स्थान हैं और फिर वे १८ प्रकारके हैं ॥ १ ॥]

व्यवहारोंके १८ भेद—

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥

---

१. 'वि नानार्थेऽव संदेहे हरणं हार उच्यते ।
नानासन्देहहरणाद्व्यवहार इति स्मृतः ॥' (म० मु०)

स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥
एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥

१ ऋण लेना, २ धरोहर (थाती) रखना, ३ किसी वस्तु या भूमि आदिका स्वामी न होनेपर भी उसे बेंच देना, ४ अनेक व्यक्तियों (व्यापारी आदि) का मिलकर संयुक्त रूपसे कार्य करना, ५ दान आदिमें दी गयी सम्पत्ति या किसी वस्तुको क्रोध, लोभ या अपात्रताके कारण वापस ले लेना, ६ नौकरोंका वेतन या मजदूरोंकी मजदूरी नहीं देना, ७ पूर्व निर्णीत व्यवस्था (सन्धि पत्रादि) को नहीं मानना, ८ क्रय-विक्रय (खरीदना-बेचना) में विवाद उपस्थित होना, ९ स्वामी तथा पालक (रखवाली करनेवाले) में परस्पर विवाद होना, १० सीमाके विषयमें विवाद होना, ११ दण्ड-पारुष्य (अत्यधिक मार-पीट करना), १२ वाक्पारुष्य (अनधिकार गाली आदि देना), १३ चोरी करना, १४ अतिसाहस करना (डाका डालना, आग लगाना आदि), १५ स्त्रीका परपुरुषके साथ सम्भोग आदि करना, १६ स्त्री-पुरुषका धर्म, १७ पैतृक (पिताके) धन-सम्पत्ति या भूमि आदिका बटवारा करना और १८ जुआ खेलना या द्रव्यादि रखकर (बाजी लगाकर अर्थात् दांवपर धन आदि लगाकर) पशु (भेंड़ा, भैंसा आदि) पक्षी (मुर्गा, तीतर, बटेर आदि) को लड़ाना ये १८ स्थान व्यवहार (मुकदमे) की स्थितिमें कहे गये हैं। राजा इन व्यवहार स्थानोंमें (मुकदमोंके विषयोंमें इसी प्रकारके अन्यान्य विवादस्थ विषयोंमें भी) परस्पर विवाद करते (झगड़ते) हुए लोगोंके वंशादि क्रमागत नित्यधर्मका विचारकर निर्णय (न्याय) करे ॥४-८॥

राजाके अभावमें ब्राह्मण द्वारा व्यवहार-निर्णय—

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥

यदि राजा स्वयं विवादों (मुकदमों) का न्याय (फैसला) न करे तो उस कार्यको देखनेके लिये विद्वान् ब्राह्मणको नियुक्त करे ॥ ९ ॥

तीन सदस्योंके साथ न्याय करना—

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥ १० ॥

वह (राजाके द्वारा नियुक्त विद्वान् ब्राह्मण) भी तीन सदस्यों (धार्मिक एवं कार्यज्ञ ब्राह्मणों) के साथ ही न्यायालयमें जाकर आसनपर बैठकर या खड़ा होकर (राजाके देखने योग्य उन) कार्योंको देखे अर्थात् उन मुकदमोंका फैसला करे ॥

सभा-लक्षण—

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥ ११ ॥

जहांपर वेदज्ञ (ऋक्, यजुष् तथा सामवेदके ज्ञाता) तीन ब्राह्मण तथा राजासे अधिकार प्राप्त विद्वान् ब्राह्मण बैठते हैं, उसे (विद्वान् लोग चतुर्मुख अर्थात् ब्रह्माकी सभाके समान) 'सभा' कहते हैं ॥ ११ ॥

विमर्श—इस मनु-वचनके आधारपर ही आजकल न्यायालयोंमें राजनियुक्त न्यायाधीश (जज आदि) तथा जुरी आदि व्यवहार देखते हैं ।

अधर्म होनेपर सदस्योंको दोष—

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ १२ ॥

जिस सभा (न्यायालय) में धर्म (सत्य भाषण) अधर्म (असत्य भाषण) से पीडित होकर रहता है अर्थात् असत्य बात कहकर सच्ची बात छिपायी जाती है, (और सभामें स्थित सदस्य) वे ब्राह्मण इस धर्म पीडाकारक शल्यको दूर नहीं करते अर्थात् असत्य पक्षको छोड़कर सत्य पक्षका आश्रय नहीं लेते, सभामें (सदस्य अर्थात् न्यायाधीश रूपसे) स्थित वे ब्राह्मण ही अधर्मरूपी शल्यसे विद्ध (पीडित) होते हैं ॥ १२ ॥

सभामें सत्य भाषण करना—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्विषी ॥ १३ ॥

या तो सभा (न्यायालय) में जाना ही नहीं चाहिये, या वहां जाकर सत्य ही बोलना चाहिये । सभामें जाकर कुछ नहीं कहता हुआ अर्थात् विवाद विषयको जानकर भी किसीके भयसे या पक्ष लेकर सत्य भाषणको छिपानेके उद्देश्यसे कुछ नहीं कहता हुआ मनुष्य तत्काल पाप भागी होता है ॥ १३ ॥

असत्य बोलनेवालेको दण्डित करना—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।

हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

जिस सभामें (न्यायालय) में सभासदों (न्यायाधीशों-जज, मजिस्ट्रेट आदि) के सामने (अर्थी तथा प्रत्यर्थी अर्थात् क्रमशः मुद्दई और मुद्दालह दोनोंके द्वारा या इनमेंसे किसी एकके द्वारा) धर्म अधर्मसे तथा सत्य असत्यसे पीडित होता (छिपाया जाता) है, उस सभामें वे सदस्य ही पापसे नष्ट होते हैं (अतः उनका कर्तव्य है कि वे असत्य बोलनेवालोंको दण्डित करें) ॥ १४ ॥

धर्मरक्षा करना—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १५ ॥

नष्ट किया गया धर्म ही (इष्ट अनिष्टके साथ) नष्ट करता है और सुरक्षित धर्म ही (इष्ट अनिष्टके साथ) रक्षा करता है, अत एव धर्मको (असत्य भाषणसे) नष्ट नहीं करना चाहिये; क्योंकि नहीं नष्ट हुआ अर्थात् सुरक्षित धर्म ही नहीं मारता (रक्षा करता) है, अथवा—'नष्ट हुआ धर्म हम लोगोंको नष्ट नहीं करे' यह जानकर धर्मको नष्ट नहीं करना चाहिये (अपितु असत्य भाषण करने वालेको दण्डित कर भाषणके द्वारा धर्मकी रक्षा करनी चाहिये) ॥ १५ ॥

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥

भगवान् धर्मको 'वृष' (काम अर्थात् मनोभिलषितको बरसानेवाला) कहते हैं, जो मनुष्य उसका वारण (नाश) करता है, उसे देवता लोग 'वृषल' (धर्मको लेने या काटने वाला) अर्थात् शूद्र कहते हैं, अत एव धर्मका नाश न करे ॥१६॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥

इस संसारमें एक धर्म ही मित्र है, जो मरनेपर भी साथ जाता है और सब (स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि सम्पत्ति) तो शरीरके साथ ही नष्ट हो जाते हैं ॥१७॥

विमर्श—शरीरके साथ स्त्री-पुत्रादिके नष्ट हो जानेका तात्पर्य यह है कि वे सब शरीरके नष्ट होनेपर ज्योंके त्यों यहीं रह जाते हैं, साथ नहीं जाते। अत एव इन स्त्री-पुत्र आदिके साथ स्नेह करनेकी अपेक्षा धर्मके साथ स्नेह करना श्रेयस्कर है।

व्यवहार ठीक न देखनेसे अधर्म—

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।

पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति॥ १८॥

व्यवहार (मुकदमे) को ठीक न देखनेपर (न्यायाधीशके उचित न्याय न करनेपर) अधर्मका प्रथम चतुर्थांश अधर्म करनेवालेको, द्वितीय चतुर्थांश गवाह (साक्षी) को, तृतीय चतुर्थांश सदस्यों (न्यायाधीशों—राजद्वारा नियुक्त जज, मजिस्ट्रेट आदि) को तथा चतुर्थ चतुर्थांश राजाको मिलता है॥ १८॥

अधर्मीको दण्डित करनेपर—

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दाऽर्हो यत्र निन्द्यते॥ १९॥

जिस सभा (न्यायालय = कचहरी) में निन्दनीय अर्थी (मुद्दई) तथा प्रत्यर्थी (मुद्दालह) निन्दित अर्थात् न्यायपूर्वक दण्डित होता है, उस सभामें पापकर्ता ही पापभागी होता है और राजा तथा सभासद (न्यायाधीश) को दोष नहीं लगता (अतएव राजाका कर्तव्य है कि वह धर्मात्मा सभासदोंको इस काममें नियुक्त करे तथा सभासदोंका कर्तव्य है कि वे धर्मको लक्ष्यकर अपराधके अनुसार अपराधीको दण्डित करें)॥ १९॥

व्यवहार देखनेमें शूद्रका निषेध—

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न्न तु शूद्रः कथञ्चन॥ २०॥

केवल जाति (ब्राह्मणमात्र) होनेसे अन्य जातिकी जीविका करनेवाला अर्थात् ब्राह्मणकी वृत्तिको छोड़कर जीवन निर्वाहके लिये क्षत्रिय या वैश्यका कार्य करनेवाला अथवा (ब्राह्मणत्वमें सन्देह होनेपर भी) अपनेको ब्राह्मण कहनेवाला किसी व्यवहार (मुकदमे) को देखनेमें राजाका धर्मप्रवक्ता (न्यायाधीश) हो सकता है, किन्तु किसी प्रकार (ब्राह्मणका कर्म करता हुआ या धर्मात्मा) भी शूद्र धर्मप्रवक्ता नहीं हो सकता॥ २०॥

विमर्श—यहां ब्राह्मणके धर्मप्रवक्ता होनेका विधान करनेसे ही शूद्रका निषेध स्वतः सिद्ध था, फिर इस वचनसे शूद्रका निषेध करनेसे 'योग्य ब्राह्मणके अभावमें क्षत्रिय तथा उसके अभावमें वैश्य तो धर्मप्रवक्ता हो सकता है, किन्तु शूद्र कदापि धर्मप्रवक्ता नहीं हो सकता' यह सूचित होता है[1]।

---

१. 'यत्र विप्रो न विद्वान् स्यात्क्षत्रियं तत्र योजयेत्।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं, शूद्रं यत्नेन वर्जयेत्॥' (म० मु०)

शूद्रके धर्मप्रवक्ता होनेसे राष्ट्र सङ्कट—

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् ।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः ॥ २१ ॥

जिस राजाके राज्यमें विचार शूद्र करता है, उस राजाके देखते-देखते उसका राज्य कीचड़में फँसी हुई गौके समान दुःखित होता है ॥ २१ ॥

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ।
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ २२ ॥

जो राज्य बहुत-से शूद्रों तथा नास्तिकों (परलोक तथा ईश्वरको नहीं मानने-वालों) से व्याप्त तथा ब्राह्मणोंसे रहित है, दुर्भिक्ष तथा व्याधियोंसे पीड़ित वह सम्पूर्ण राज्य ही नष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

लोकपालोंको प्रणामकर व्यवहार आरम्भ—

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ २३ ॥

(धर्मकार्य देखनेके लिये) धर्मासनपर बैठकर, शरीरको ढककर, एकाग्र-चित्त होकर तथा लोकपालोंको प्रणामकर सभासद कार्य अर्थात् मुकदमेको देखना आरम्भ करें ॥ २३ ॥

विमर्श—यहां 'धर्मासन' शब्दसे राजाके द्वारा नियत न्यायाधीशकी कुर्सी तथा 'देहको आच्छादित करनेका विधान करनेसे' राजाके द्वारा प्रदत्त वस्त्र-विशेष (जिसे चोगा या 'गाउन' कहते हैं) विवक्षित है ।

ब्राह्मणादि क्रमसे व्यवहार दर्शन—

अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ।
वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २४ ॥

(सभासद क्रमशः प्रजापालन तथा प्रजोच्छेदनरूप) अर्थ तथा अनर्थ और धर्म तथा अधर्मको जानकर सब कार्यार्थियों (मुद्दई-मुद्दालह) के कार्यों (मुकदमों) को वर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय आदि) के क्रमसे देखे ॥ २४ ॥

स्वर, वर्ण आदिसे अन्तश्चेष्टाज्ञान—

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥

(न्यायाधीश) बाहरी चिह्नोंसे, स्वर (बोलनेके समय रुकना घबड़ाना,

गद्गद होना आदि), वर्ण (मुखका उदास या प्रसन्न होना आदि), इङ्गित (सामने नहीं देख सकना अर्थात् नीचेकी ओर या इधर-उधर देखना), आकार (कम्पन, स्वेद, रोमाञ्च आदिका होना) और चेष्टित (हाथोंको मसलना, अङ्गुलियोंको चटखाना, अङ्गोंको मरोड़ना आदि) से मनुष्यों (अर्थी, प्रत्यर्थी, साक्षी आदि) के भीतरी भावोंको मालूम करे ॥ २५ ॥

उक्त विषयमें कारणकथन—

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

आकार, इङ्गित, गमन, चेष्टा, भाषण तथा नेत्र एवं मुखके विकारोंसे (मनुष्यों-का) भीतरी भाव मालूम होता है ॥ २६ ॥

नाबालिग तथा वन्ध्यास्त्री आदि के धनकी राजाद्वारा रक्षा—

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजाऽनुपालयेत् ।
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥

राजाको नाबालिग या अनाथके धनकी तबतक रक्षा करना चाहिये, जबतक उसका समावर्तन संस्कार (ब्रह्मचर्यकी पूर्तिके बादका तथा गृहस्थाश्रममें प्रवेशके पहलेका संस्कार-विशेष) न हो जाय या उसकी अवस्था सोलह वर्षकी न हो जाय ॥

विमर्श—पूर्ववचन (३।१) के अनुसार ३६ या १८ या ९ वर्षोंमें गुरुकुलमें वेदाध्ययन समाप्तकर समावर्तन संस्कार का विधान है, अथवा किसी कारण-विशेषसे उक्त समयसे पहले समावर्तन हो जानेपर भी कमसे कम १६ वर्षकी अवस्था उस सम्पत्तिके स्वामीकी न हो जाय तबतक उसकी सम्पत्तिकी अन्याय पूर्वक उस धनको हरण करनेवाले चाचा आदि से रक्षा करे, १६ वर्षकी अवस्था होने पर बचपन नहीं रहता।

वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥

वन्ध्या, पुत्र या कुल (सपिण्ड) से हीन पतिव्रता विधवा और रोगिणी स्त्रियों-की सम्पत्तिकी रक्षा भी पूर्वोक्त वचन (८।२७) के अनुसार ही राजाको करना चाहिये ॥ २८ ॥

विमर्श—वन्ध्या—पुत्रोत्पादन न कर सकनेके कारण जिसका पति दूसरा विवाहकर लिया हो तथा प्रथम स्त्रीके जीवन-निर्वाहके लिये कुछ धन देकर उसकी

रक्षासे सर्वथा निरपेक्ष हो गया हो; वह वन्ध्यास्त्री। पुत्रसे हीन—जो सधवा पुत्र-पौत्रादिसे रहित हो तथा पतिके परदेशगमन आदि किसी कारण-विशेषसे अरक्षितावस्थामें हो वह स्त्री। कुलसे हीन—अपने वंशके सात पुरुषों (सपिण्डों) से रहित एवं अरक्षित सम्पत्तिवाली स्त्री। इन स्त्रियोंके तथा पतिव्रता आदि अन्य स्त्रियोंके धनको दायाद (बन्धु-बान्धव आदि) या दूसरा कोई व्यक्ति अन्यायसे दबाकर अपने अधीन न कर ले, इस कारण राजा इन स्त्रियोंके धनकी रक्षाका प्रबन्ध करे। इसी वचनके अनुसार आजकल 'कोर्ट ऑफ वार्ड्स' द्वारा राजा ऐसी सम्पत्तियोंका प्रबन्ध अपने हाथमें लेकर उनकी रक्षा करता है।

[एवमेव विधिः कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि।
वस्त्रान्नपानं देयं च वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ २ ॥]

[(राजा) पतित स्त्रियों (के धन) के विषयमें भी यही (८।२८) व्यवस्था करे, उनके लिये उचित भोजन वस्त्र (खानेके लिये अन्न तथा पहननेके लिये वस्त्र) दे और वे स्त्रियां घरके पास ही निवास करें ॥ २ ॥]

जीवित स्त्रियोंका धन लेनेवालेका शासन—

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥

उन जीवित स्त्रियों (८-२८) का धन जो बान्धव आदि रक्षा करनेके बहानेसे या अन्य प्रकारसे दबाकर ले धर्मात्मा राजा चोरके समान दण्डित कर उनका शासन करे ॥ २९ ॥

अस्वामिक धनकी रक्षाका समय—

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३० ॥

राजा अस्वामिक (लावारिस) धनको तीन वर्ष तक सुरक्षित रखे ('यह किसका धन है? कहां तथा किस प्रकार खो गया था?' इत्यादि घोषणाकर राजद्वार आदि सबके देखने योग्य स्थान पर रखे), तीन वर्षके पहले उस धनका स्वामी (प्रमाण देकर) उस धनको ले जावे तथा तीन वर्षके बाद राजा उस धनको अपने अधीन कर ले अर्थात् अपने कोषमें सम्मिलित करले ॥ ३० ॥

अस्वामिक धनका परिचयपूर्वक लेना—

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि।
संवाद्य रूपसंख्यादीन्स्वामी तत् द्रव्यमर्हति ॥ ३१ ॥

(उस अस्वामिक अर्थात् लावारिस धनको) जो कोइ 'यह मेरा है' ऐसा कहे, उससे राजा विधिपूर्वक प्रश्न करे (धनका रंग, रूप, तौल या गिनती आदि प्रमाण, नष्ट होनेका स्थान तथा समय तथा आदि पूछे) और उसके कहनेके अनुसार धनका रंग संख्या आदि प्रमाण ठीक-ठीक मिल जाय तो उस धनका वह मनुष्य अधिकारी होता है (अत एव राजा वह धन उस मनुष्यको दे दे) ॥३१।

अस्वामिक धनके लिये असत्य बोलने पर दण्ड—

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

अस्वामिक (लावारिस) धनके नष्ट होने (भूलने) स्थान, रंग, रूप तथा प्रमाणको ठीक-ठीक नहीं बतलानेपर (उस धनको अपना कहनेवाले) व्यक्तिसे जितना धन हो, उतना ही दण्ड ले (जुर्माना करे) ॥ ३२ ॥

अस्वामिक धनसे ग्राह्य राजकर—

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः ।
दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ३३ ॥

अस्वामिक (लावारिस) धनको अपना बतलानेवाला व्यक्ति (उस धनके रंग, रूप, नष्ट होनेका स्थान, प्रमाण आदि ठीक-ठीक बतला दे, तब राजा उस धनमें से पात्रके अनुसार षष्ठांश, दशमांश या द्वादशांश धनको धर्मका स्मरण करता हुआ ('ऐसे अस्वामिक धनमें-से इतना भाग लेना राजाका धर्म है' यह मानता हुआ) ग्रहण करे (तथा शेष धन उस व्यक्तिको देवे) ॥ ३३ ॥

चोरोंको दण्ड—

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम् ।
यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥ ३४ ॥

यदि चोरी किये गये हुए धनको राजपुरुष (पुलिस आदिके) द्वारा प्राप्त करलें तो राजा योग्य रक्षकोंके द्वारा उस धनकी रक्षा करावे तथा उस धनके चोरको हाथीसे मरवा डाले ॥ ३४ ॥

विमर्श—'शतादभ्यधिके वधः अर्थात् 'सौ अशर्फियोंसे अधिककी सम्पत्ति होने पर प्राणदण्ड करे' ऐसा वचन होनेसे उससे कम धन होने पर प्राणदण्ड न दे यह गोविन्द राजका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'सन्धिं छित्त्वा·········(९।२७६)'

वचनके अनुसार थोड़े धनके चुराने पर भी प्राण दण्डका विधान होनेसे उक्त वचन 'शतादभ्यधिके वधः' विशेषतः कथित वधसे भिन्न-विषयक है।

चोरी किये गये धनमें-से प्राह्य राज भाग—

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः।
तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५ ॥

स्वयं या राजपुरुष (पुलिस आदि) के द्वारा प्राप्त चोरी किये गये धनको जो मनुष्य सत्य-सत्य (उस धनका रंग, रूप, सङ्ख्या या तौल आदि प्रमाण, भूलने का स्थान आदि ठीक-ठीक) बतला दे, (राजा पात्रानुसार) उन धनमें-से षष्ठांश या द्वादशांश लेकर शेष धन उस मनुष्यको वापस दे दे ॥ ३५ ॥

परधनको अपना कहनेवालेको दण्ड—

अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम्।
तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम् ॥ ३६ ॥

दूसरेके धनको अपना बतलानेवाले अपराधीको उसके धनका अष्टमांश या उसी धन (जिसे वह अपना बतलाता था) के बहुत थोड़े भागसे दण्डित करे अर्थात् उससे जुर्माना वसूल करे ॥ ३६ ॥

विद्वान् ब्राह्मण सम्पूर्ण धनका अधिकारी—

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्।
अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥

विद्वान् ब्राह्मण तो पूर्वस्थापित धनको देखकर सब धन ले ले (षष्ठांश भाग भी राजाको न दे) क्योंकि वह (विद्वान् ब्राह्मण) सबका स्वामी है ॥ ३७ ॥

विमर्श—इसी कारण 'सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदम्' (१।१००) अर्थात् 'सब धन ब्राह्मणका है' ऐसा वचन कहा गया है। अतः नारद[1] तथा याज्ञवल्क्यके[2] वचनोंके अनुसार राजाद्वारा दूसरेका स्थापित धन ब्राह्मणको लेनेके लिये कथित यह वचन होनेसे मेधातिथि तथा गोविन्दराजका 'मेरा यह धन है' (८।३५) इस वचनसे

---

१. नारदः—'परेण निहितं लब्ध्वा राजा ह्यपहरेन्निधिम्।
राजगामी निधिः सर्वः सर्वेषां ब्राह्मणादृते ॥' (म० मु०)

२. 'राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद्द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः।
विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥' (या० स्मृ० २।३४)

कथित षष्ठांश या द्वादशांश भाग जो राजाको लेनेके लिये कहा गया है 'वह पिता आदिके स्थापित धनके विषयमें है' कथन ठीक नहीं है।

[ब्राह्मणस्तु निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ञे निवेदयेत्।
तेन दत्तं तु भुञ्जीत स्तेनः स्यादनिवेदयन् ॥ ३ ॥]

[ब्राह्मण निधि (स्थापित धन) को लेकर राजाके लिये निवेदन करे अर्थात् देवे, उससे दिये हुएका वह भोग करे, विना दिये (भोग करनेपर वह) चोर होता है ॥ ३ ॥]

भूगर्भसे प्राप्त धनका अधिकारी—

यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ।
तस्माद् द्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

पृथ्वीमें गड़े हुए (अस्वामिक अर्थात् लावारिस) प्राचीन जिस धनको राजा देखे अर्थात् प्राप्त करे, उसमें-से आधा ब्राह्मणको दे और आधा अपने खजानेमें जमा करे ॥ ३८ ॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥

पृथ्वीमें गड़े हुए प्राचीन (ब्राह्मणको छोड़कर दूसरेके धनका तथा धातुओं के खानों) का आधा भाग रक्षा करनेसे राजा लेवे, क्योंकि वह पृथ्वीका स्वामी है ॥

चुराये गये धनका वितरण—

दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम्।
राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥

राजाको चोरोंके द्वारा चुराया गया धन (उन चोरोंसे लेकर) सब वर्णोंके लिये दे देना चाहिये। उस धनका उपयोग करता (अपने काममें लाता) हुआ राजा चोरके पापको प्राप्त करता है ॥ ४० ॥

जाति-देशादिके अनुसार व्यवस्था—

जातिजानपदान्धर्माञ्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥

धर्मज्ञ (राजा) जातिधर्म (ब्राह्मणादिके लिये यज्ञ करना कराना आदि), देशधर्म (देशानुसार शास्त्रानुकूल व्यवस्थित धर्म) श्रेणिधर्म (बनिया अर्थात् व्यापारी आदिके लिये नियत धर्म-विशेष) और कुलधर्म (वंशपरम्परानुसार

नियत धर्म) को देखकर तदनुसार उनके अपने-अपने धर्मकी व्यवस्था करे ॥४१॥

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥ ४२ ॥

(जाति-देश-कुल-धर्मानुसार) अपने कार्योंको करते तथा अपने-अपने कार्यमें स्थित होकर दूर रहते हुए (साक्षात् नित्य-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं रहनेपर) भी मनुष्य लोकप्रिय हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

राजाको विवाद खड़ा करनेका निषेध—

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥ ४३ ॥

राजा या राजपुरुष स्वयं विवाद (झगड़े) को उत्पन्न (खड़ा-पैदा) न करे और दूसरे (अर्थी या प्रत्यर्थी अर्थात् मुद्दई या मुद्दालह) के लाये हुए विवादको किसी प्रकार (लोभ आदिके कारण) दबावे नहीं अर्थात् उसकी उपेक्षा नहीं करके उसका न्याय करे ॥ ४३ ॥

अनुमानसे विवाद निर्णय—

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।
नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥

जिस प्रकार शिकारी मृगके रक्तपात (से चिह्नित मार्ग) से स्थानका निश्चय कर लेता है, उसी प्रकार राजाको अनुमान (८।२५-२६, या प्रत्यक्ष प्रमाण) से धर्मके तत्वका निर्णय करना चाहिये ॥ ४४ ॥

सत्यादिसे व्यवहार-दर्शन—

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥

व्यवहार अर्थात् मुकदमा देखनेके लिये तैयार राजा सत्यसे युक्त व्यवहारको, अपनेको, (अन्याय करनेसे स्वर्गादि प्राप्ति नहीं होगी इत्यादि) साक्षियों (गवाहों) को; देश, कालके अनुसार स्वरूप (छोटा या बड़ा इत्यादि) को देखे ॥ ४५ ॥

सदाचार-पालन—

सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

सज्जन (श्रेष्ठ विद्वान्) एवं धार्मिक ब्राह्मणोंने जिसका पालन किया हो, देश,

कुल (वंश) तथा जातिके अनुसार उस व्यवहारका निर्णय करे ॥ ४६ ॥

ऋण ग्रहण करने पर—

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः।
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥

(यहां तक साधारण रूपसे व्यवहार देखनेकी विधि कहकर आगे ऋण लेनेपर व्यवहार देखनेकी विधि कहते हैं—) ऋण देनेवालेने अपना ऋण पानेके लिये राजाके यहां प्रार्थना की हो तो वह राजा (आगे कहे गये लेख, साक्षी आदि प्रमाणोंसे प्रमाणित) धनको ऋण लेनेवालेसे ऋण देनेवालेके लिये दिलवावे ॥४७॥

यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः।
तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥

जिन जिन उपायोंसे (उक्त लेख साक्षी आदि उपायोंसे प्रमाणित) धन ऋण देनेवालेको मिल सके, उन-उन उपायोंसे ऋण लेनेवालेको वशमें करके राजा उक्त प्रमाणित धन ऋण देनेवालेको दिलवावे ॥ ४८ ॥

ऋण प्राप्त करनेके उपाय—

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥

धर्म, व्यवहार, छल, आचरण और पांचवे बलात्कारके द्वारा ऋण लेनेवाले व्यक्तिसे धनी (ऋण देनेवाले) का धन दिलवावे ॥ ४९ ॥

विमर्श—(१) मित्रों या सम्बन्धियोंके संदेशोंसे, सामने तथा अनुगमनसे ऋण लेनेवालेके द्वारा ऋण देनेवालेका धन दिलवाना 'धर्म' है। (२) आगे (१०।५१) कहा जानेवाला प्रकार 'व्यवहार' है। (३) (क) ऋण लेनेवालेसे छलपूर्वक धन लाना, (ख) दूसरे किसीके द्वारा ऋण लेनेवालेसे धन मंगवाकर उसे रोक लेना 'छल' है। (४) ऋण लेनेवालेके स्त्री, पुत्र या पशु आदिको मार-पीटकर या उसके द्वारपर बैठकर ऋण देनेवालेका धन लेना 'आचरित' है और (५) ऋण लेनेवालेको अपने यहां बुलाकर उसे उस-धनका कर या मार-पीटकर ऋण देनेवालेका धन लेना 'बल' अर्थात् 'बलात्कार' है। मेधातिथिका मत है कि—'जो निर्धन हो, उसे व्यवहारसे ऋण दिलवाना चाहिये, दूसरे कार्योंका साधन धन देकर व्यापार या खेती आदिसे व्यवहार कराकर उसमें उत्पन्न धन उस ऋण लेनेवालेसे लेना चाहिये।' इसपर पूज्यचरण 'नेने' शास्त्रीका कथन है कि—'ऋण लेनेवालेके परिवारकी रक्षा करते हुए थोड़ा-थोड़ा अर्थात् 'किस' रूपमें धन लेना 'धर्म' है।

जो निर्धन है, उसे 'व्यवहार' से दिलवाना चाहिये। अन्यत्र थोड़ा-सा धन देकर उस धनसे खेती या व्यापार करावे और उसमें पैदा हुए धनको उससे ग्रहण करे। जो राजाके यहां निवेदन करने योग्य अर्थात् मुकदमा करने योग्य है, उसको सब उपायोंके सफल नहीं होनेपर काममें लावे और बलात्कारसे भी धन ग्रहण करे। जो धन रहते हुए भी ऋण लिया हुआ धन नहीं देवे, उससे कपटपूर्वक धनले अर्थात् विवाह आदिके छलसे भूषण आदि लाकर रोक ले तथा उस ऋणके धनके वसूल होनेपर उस भूषण आदिको वापस करे'।

बलसे धन वसूल करनेवाले ऋणदाताको अनिषेध—

यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात्।
न स राज्ञाऽभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥

जो ऋण देनेवाला ऋण लेनेवालेसे बल आदिके द्वारा अपना ऋणमें दिया हुआ धन वसूल करता हो, उसे राजा मना न करे अर्थात् अपना ऋण वसूल कर लेने दे॥

ऋण लेकर अपलाप करनेपर—

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम्।
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥

यदि ऋण लेनेवाला ऋणको मुकर जाय अर्थात् 'मैंने नहीं ऋण लिया है' ऐसे मना कर दे तथा लेख और साक्षीके द्वारा उसका ऋण लेना प्रमाणित हो जाय तो राजा ऋण लेनेवालेसे ऋणमें लिया हुआ धन ऋण-पूर्तिरूपमें तथा उक्त ऋणका दशमांश अतिरिक्त धन दण्डरूपमें ऋण देनेवालेके लिये (१०।१३९ के अनुसार) दिलवावे ॥ ५१ ॥

[यत्र तत्स्यात्कृतं यत्र करणं च न विद्यते।
न चोपलम्भपूर्वोक्तस्तत्र दैवी क्रिया भवेत् ॥ ४ ॥]

[जहांपर ऋण लिया गया हो, जहां साधन उत्तम साधन (लेख साक्षी आदि) न हो और उसकी प्राप्ति न हो; वहांपर दैवी क्रिया करनी चाहिये ॥ ४ ॥]

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि।
अभियोक्ता दिशेद्देश्यं करणं वाऽन्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

न्यायालयमें न्यायाधीशके 'इस धनी (ऋण देनेवाला) का धन दे दो' ऐसा कहनेपर ऋण देनेवाला यदि मुकर जाय (ऋण लेनेका निषेध कर दे) तो अर्थी (मुद्दई अर्थात् ऋणदेनेवाला) साक्षी या अन्यान्य प्रमाण (लेख आदि) बतलावे ॥५२॥

ऋणदत्त धनका अनधिकारी होनेके कारण—

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः।
यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥ ५३ ॥
अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति।
सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥
असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥
ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत्।
न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥ ५६ ॥

यदि ऋणदाता ऐसे स्थानपर ऋण देना बतलावे जहां ऋण ग्रहीताका उस समय रहना सर्वथा असम्भव हो, अथवा किसी स्थानको पहले कहकर बादमें उसे कहना स्वीकार न करे, बातको पूर्वापर विरुद्ध कहे (पहले कही हुई बातसे बादमें कही हुई बातका मिलान नहीं हो दोनों एक-दूसरेके विरुद्ध पड़ती हों), पहले अपने हाथसे ऋण देना बतलाकर बादमें अपने पुत्र आदिके हाथसे ऋण देना कहने लगे, तथा न्यायाधीशके 'क्यों तुमने रातमें एकान्तमें या बिना किसी साक्षीके रहते या बिना कागज (स्टाम्प—हैंडनोट आदि) लिखवाये आदि के धन दिया, इत्यादि पूछनेपर ऋणदाता सन्तोषजनक उत्तर न दे, जो ऋणदाता साक्षियोंको एकान्तमें ले जाकर बातचीत करे (साक्षीको सिखलावे), जो पूर्वकथित विषयकी दृढताके लिये न्यायाधीश (या प्रतिपक्षी या उसके वकील आदि) से पूछे गये प्रश्नों (जिरहों) की चाहना न करे, जो कहे गये व्यवहारोंको पहले नहीं कहकर इधर-उधरकी बातें कहे, न्यायाधीशके 'कहो' ऐसा कहनेपर भी जो नहीं कहे, जो पूर्वकथित बातोंका समर्थन प्रमाणोंद्वारा नहीं करे, 'कौन बात मुझे कहनी है?' यह (घबड़ानेके कारण) नहीं समझकर दूसरी (अपने प्रतिकूल एवं प्रतिपक्षीके अनुकूल) ही बात कहने लग जाय अर्थात् घबड़ानेसे आगे-पीछेकी बात या अपने कार्यको सिद्ध करनेवाली बात नहीं कहकर चाहे जो कुछ कहे, वह ऋणदाता उक्त ऋणका (धनका) अधिकारी नहीं होता है ॥ ५३-५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥

जो (ऋणदाता) 'मेरे साक्षी हैं' ऐसा कहनेपर न्यायाधीशके 'उन साक्षियोंको यहां उपस्थित करो' ऐसा कहनेके बाद उन्हें नहीं उपस्थित कर सके; न्यायासनपर स्थित वह न्यायाधीश उन कारणोंसे उस ऋणदाताके लिये ऋणग्रहीतासे ऋणमें लिये हुए धनको न दिलबावे ॥ ५७ ॥

वादीको दण्डादि—

अभियोक्ता न चेद् ब्रूयाद्वध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः ।
न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५८ ॥

जो वादी (अर्थी = मुद्दई पहले मुकदमा दायरकर) बादमें कुछ न कहे, वह धर्मानुसार (बड़े-छोटे मुकदमेके अनुसार) वध्य (फांसी देने योग्य) या दण्ड्य (ताडन या अर्थदण्ड जुर्माना करने योग्य) है और यदि प्रत्यर्थी (मुद्दालह) तीन पक्षमें कुछ नहीं बोले अर्थात् मुद्दईकी बातोंका सन्तोषजनक उत्तर न दे तो वह धर्मानुसार (कपटपूर्वक नहीं) पराजित होता है ॥ ५८ ॥

विमर्श—पहले मुकदमोंका फैसला जल्दी हुआ करता था, अतः यहां १॥ मासका समय मुद्दालहको जवाब देनेके लिये दिया गया है। वर्तमान समयमें जल्दी फैसले नहीं होते, अत एव तीन पक्षके स्थानमें तीन पेशी (तारीख) मानना उचित प्रतीत होता है; इस प्रकार मुद्दालह यदि तीन पेशी तक बराबर मुहलत मांगता रहे और कोई जवाब न दे तो वह धर्मानुसार ही पराजित होता है।

असत्य धनपरिमाण बतलाने पर दण्ड—

यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् ।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद् द्विगुणं दमम् ॥ ५९ ॥

जो प्रत्यर्थी (मुद्दालह) जितने धनको छिपावे अर्थात् अधिक धन लेकर भी जितना कम बतलावे तथा जो अर्थी (मुद्दई) जितने धनको असत्य बोले अर्थात् कम धन देकर भी जितने अधिक धनका दावा करे अधर्मको जाननेवाला राजा (या राज-नियुक्त न्यायाधीश) उसका दुगुने धनसे उन्हें दण्डित करे ॥ ५९ ॥

विमर्श—'अधर्मज्ञ' शब्दके कहनेसे यदि ज्ञानपूर्वक (जान-बुझकर) प्रत्यर्थी धनको छिपावे या अर्थी अधिक बतलावे तो द्विगुणित दण्डकी व्यवस्था भगवान् मनुने कही है, प्रमाद आदिके कारण अज्ञानपूर्वक वैसा करनेपर शतांश या दशांश दण्डकी व्यवस्था आगे कही है।

साक्षि-संख्या—

पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा ।
त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसंनिधौ ॥ ६० ॥

धन चाहनेवाले (मुद्दई के मुकदमा करनेपर मुद्दालह) धन लेना स्वीकार न करे तो राजाधिकारी ब्राह्मण (न्यायाधीश) के सामने वादी (मुद्दई) कमसे कम तीन साक्षियों (गवाहों) से अपनी बातको प्रमाणित करे ॥ ६० ॥

साक्षि-कथन—

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ।
तादृशान्सम्प्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥ ६१ ॥

महर्षियोंसे भृगु मुनि कहते हैं कि—धन देनेवालों (साहूकार = महाजन) को मुकदमोंमें जैसे साक्षी बनाने चाहिये, उन्हें कहता हूं तथा जिस प्रकार उनको सत्य कहना चाहिये वह भी कहता हूं—॥ ६१ ॥

साक्षीके योग्य व्यक्ति—

गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः ।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥ ६२ ॥

गृहस्थ, पुत्रवाले, पहलेसे वहां निवास करनेवाले, क्षत्रिय वैश्य शूद्र जातिवाले ये लोग मुद्दईके कहनेपर साक्षी हो सकते हैं; आपत्तिकाल को छोड़कर (धनादिके लेन-देनमें) चाहे जो कोई साक्षी नहीं हो सकता है ॥ ६२ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥

सब वर्णोंमें (ब्राह्मणोंमें भी) आप्तों (राग-द्वेषसे रहित होकर निष्पक्ष बोलनेवाले) को, सब धर्मोंके ज्ञाता, निर्लोभी—इन लोगोंको सब वर्णों (ब्राह्मणोंमें भी) में साक्षी बनाना चाहिये तथा इनके प्रतिकूल (राग-द्वेषपूर्वक पक्षपातसे बोलने-वाले, धर्मज्ञानशून्य तथा लोभी) लोगोंको (साक्षी बनानेमें) छोड़ देना चाहिये ॥६३॥

साक्षीके अयोग्य व्यक्ति—

नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।
न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥ ६४ ॥

ऋणादिके देने या लेनेके सम्बन्धवाले, मित्र, सहायक (नौकर आदि), शत्रु (मुद्दालहका विरोधी), जिसने दूसरे किसी बातमें झूठी गवाही दी हो वह रोग

पीडित तथा महापातक आदिसे दूषित लोगोंको साक्षी न बनावे ॥ ६४ ॥

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥ ६५ ॥

राजा, कारीगर (पाचक, बढई, लोहार आदि), नट-भाट आदि, वैदिक, ब्रह्मचारी तथा संन्यासी--इनको साक्षी न बनावे ॥ ६५ ॥

नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् ।
न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥ ६६ ॥

अत्यन्त अधीन (गर्भ-दास या क्रीत दास आदि) लोक निन्दित, क्रूर कर्म करनेवाला, बूढा, बालक, अकेला, चण्डाल और विकलेन्द्रिय इनको साक्षी नहीं बनाना चाहिये ॥ ६६ ॥

नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः ।
न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७ ॥

(बान्धवादिके विनाशादिके कारण) दुःखी, मत्त, पागल, भूख-प्याससे पीडित, थका, कामी, क्रोधी और चोर—इनको साक्षी नहीं बनावे ॥ ६७ ॥

स्त्री आदिके मुकदमेमें स्त्री आदिको साक्षी बनाना—

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ६८ ॥

स्त्रियोंके (व्यवहार मुकदमेमें) स्त्रियोंको, द्विजोंके (व्यवहारमें) सदृश द्विजोंको, शूद्रोंके (व्यवहारमें) शूद्रोंको तथा चण्डालोंके (व्यवहारमें) चण्डालोंको साक्षी बनाना चाहिये ॥ ६८ ॥

विमर्श—परस्पर व्यवहारमें समान जातिवाले साक्षीके मिल सकनेपर यह विधान है, नहीं मिल सकनेपर विजातीय साक्षी भी बनाया जा सकता है।

धन-ग्रहणादिसे भिन्न व्यवहारमें साक्षी—

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥ ६९ ॥

घरके भीतर, वन आदिमें, चौर आदिके द्वारा शरीरमें चोट आने या मारे जानेपर, जो भी कोई मिल जाय, उसे ही वादी और प्रतिवादी (मुद्दई और मुद्दालह)—दोनों पक्षका साक्षी बनाना चाहिये (किन्तु ऋण आदिके लेन-देनमें जिस किसीको साक्षी नहीं बनाना चाहिये) ॥ ६९ ॥

अभावमें बालक आदिको साक्षी बनाना—

स्त्रियाऽप्यसम्भवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा।
शिष्येण बन्धुना वाऽपि दासेन भृतकेन वा ॥ ७० ॥

उक्त स्थानों (८।६९) में दूसरे साक्षी नहीं मिलनेपर बालक, वृद्ध, शिष्य, बन्धु, दास और कर्मकर (नौकर) को साक्षी बनाना चाहिये ॥ ७० ॥

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा।
जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ७१ ॥

गवाहीमें असत्य बोलनेवाले बालक, स्त्री, वृद्ध और अस्थिर चित्तवालोंकी बातें अस्थिर होती हैं (अत एव अस्थिर बात कहनेपर न्यायाधीश उनकी गवाहीको असत्य माने) ॥ ७१ ॥

साहसादि कार्योंमें साक्षिपरीक्षाका निषेध—

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥

साहस कार्य (घर या गल्ले आदिमें आग लगाना आदि), चोरी, आचार्य-स्त्री-संग्रहण, वचन तथा दण्डकी कठोरता—इनमें साक्षियोंकी परीक्षा (८।६२-६९ के अनुसार) नहीं करनी चाहिये (किन्तु ८।६९-७० के अनुसार स्त्री-बालक आदि साक्षियोंको भी स्वीकृत कर लेना चाहिये) ॥ ७२ ॥

साक्षियोंके परस्पर विरुद्ध कहनेपर कर्तव्य—

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥

साक्षियोंके परस्पर विरुद्ध वचन कहने पर राजा (या राजाद्वारा नियुक्त न्यायाधीश) बहुमतको तथा दोनोंके समान होनेपर श्रेष्ठ गुणवालोंको और उन (गुणियों) में भी विरोध आनेपर क्रियानिष्ठोंको (गोविन्दराजके मतसे ब्राह्मणोंको) प्रमाणित माने ॥ ७३ ॥

साक्षीको सत्यभाषण करना—

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥

देखने योग्य विषयमें प्रत्यक्ष देखने तथा सुनने योग्य विषयमें स्वयं सुननेसे साक्षित्व (गवाही) ठीक होता है, उस विषयमें सत्य कहनेवाला साक्षी धर्म-अर्थसे

हीन नहीं होता है (अन्यथा असत्य कहनेवाला साक्षी धर्मच्युत तो होता ही है, अर्थ दण्ड (जुर्माना आदि) होनेसे अर्थच्युत भी होता है) ॥ ७४ ॥

असत्य साक्षित्वमें दोष--

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि ।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥

यदि साक्षी देखे या सुने हुए विषयको न्यायालयमें असत्य कहता है, तो वह अधोमुख (उल्टा होकर नीचे मुख किये) नरकमें गिरता है तथा (अन्य पुण्य कर्मोंसे प्राप्त होनेवाला स्वर्ग भी उसे नहीं मिलता है ॥ ७५ ॥

श्रुतसाक्षी--

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वाऽपि किञ्चन ।
पृष्टस्तत्रापि तद् ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥

वादी या प्रतिवादीके द्वारा साक्षी नहीं बनाये जानेपर ('मेरा साक्षी बनो' ऐसा उनके नहीं कहने पर) भी वह जैसा देखे तथा सुने, न्यायाधीशके पूछनेपर वैसा ही कहे ॥ ७६ ॥

निर्लोभ साक्षीकी श्रेष्ठता--

एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद् बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः ।
स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥ ७७ ॥

निर्लोभ एक भी साक्षी ठीक होता है, स्त्री-बुद्धिके अस्थिर होनेसे आत्मशुद्धियुक्त भी बहुत-सी स्त्रियां ठीक साक्षी नहीं होतीं; तथा चोरी आदिके दोषोंसे युक्त साक्षी भी (चाहे वे पुरुष ही क्यों न हों) ठीक नहीं होते ॥ ७७ ॥

विमर्श--मेधातिथि तथा गोविन्दराजने 'एको लुब्धस्त्वसाक्षी स्यात्' ऐसा पाठ मानकर 'लोभी एक व्यक्ति साक्षी नहीं होता है, अलोभी गुणवान् एक भी किसी अवस्थामें साक्षी हो सकता है, ऐसा अर्थ किया है। इस पाठमें एकका प्रतिषेध निर्लोभीके प्रति ये सबके लिए किया गया है, अतः एक भी साक्षीके सत्यवादी निश्चित हो जानेपर उसका साक्षित्व प्रमाणित मानना चाहिये। स्त्री बुद्धिके स्वभावतः चञ्चल होनेसे प्रमादादि दोषके कारण वे शुद्ध होकर भी अन्यथा कह सकती हैं, अतः उनका साक्षित्व उस निर्लोभ एवं सत्यवादी पुरुषकी अपेक्षा ठीक नहीं है।

साक्षीके स्वाभाविक वचनकी प्रामाणिकता--

स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥ ७८ ॥

साक्षी (भय या दबाव आदि न होनेपर) स्वभावतः जो कुछ कहे, न्यायाधीशको उसे ही ठीक मानना चाहिये; अन्य किसी कारण (भय, दबाव, शील या सङ्कोच आदि) से धर्मविरुद्ध निष्प्रयोजन बातें वह कहे तो उसे ठीक नहीं मानना चाहिये ॥ ७८ ॥

साक्षीसे प्रश्न करनेकी विधि--

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥ ७९ ॥

वादी तथा प्रतिवादी (मुद्दई तथा मुद्दालह) के सामने न्यायालयमें उपस्थित साक्षियोंसे न्यायाधीश प्रियभाषण करता हुआ इस विधिसे (८।८०-८६) प्रश्न करे ॥

यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ८० ॥

तुम लोग इन दोनों (अर्थी-प्रत्यर्थियों) के व्यवहार (मुकदमे) में जो कुछ जानते हो, उन्हें सत्य-सत्य कहो, क्योंकि तुम लोगोंकी यहां गवाही है ॥ ८० ॥

साक्षियोंको सत्य बोलना--

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥

गवाहीमें सत्य कहनेवाला साक्षी मरनेपर श्रेष्ठ लोकों (स्वर्ग आदि) को पाता है और इस लोकमें श्रेष्ठ यश (नामवरी) पाता है, क्योंकि यह सत्यभाषण ब्रह्मासे पूजित है ॥ ८१ ॥

[विक्रियाद्यो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ।
क्रमेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ ५ ॥]

जो व्यक्ति व्यापारि-समूहके सामने किसी वस्तुको बेचे या खरीदे, वह व्यक्ति उस निर्दोष धनको न्यायानुसार प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम्।
विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥ ८२ ॥

गवाहीमें असत्य बोलता हुआ मनुष्य वरुणके पाश (सर्परूप रस्सी) से बाँधा जाता है तथा जलोदर रोगके परवश होकर सौ जन्मतक पीडित होता है; इस कारण गवाहीमें सत्य बोलना चाहिये ॥ ८२ ॥

सत्यकी श्रेष्ठता--

[ब्राह्मणो वै मनुष्याणामादित्यस्तेजसां दिवि ।
शिरो वा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ॥ ६ ॥

मनुष्योंमें ब्राह्मण, आकाशीय तेजोंमें सूर्य और सम्पूर्ण शरीरोंमें मस्तकके समान सब धर्मोंमें सत्य श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
साक्षिधर्मे विशेषेण तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥ ७ ॥

सत्यसे बढ़कर दूसरा धर्म और असत्यसे बढ़कर दूसरा पाप नहीं है, इस कारण गवाहीमें विशेष रूपसे सत्य श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ७ ॥

एकमेवाद्वितीयं तु प्रब्रुवन्नावबुध्यते ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ८ ॥]

जो केवल सत्य हो बोलता है, दूसरा (असत्य) नहीं बोलता, वह कदापि भूलता नहीं है, समुद्रकी नावके समान सत्य स्वर्गकी सीढ़ी है ॥ ८ ॥

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥

गवाह सत्यसे पवित्र होता (पापसे छूट जाता) है, सत्यसे उसका धर्म बढ़ता है, इस कारण गवाहोंको सब वर्णों के विषयमें सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ८३ ॥

साक्षिरूप स्वात्माके अपमानका निषेध—

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथाऽऽत्मनः ।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥

आत्मा ही शुभ और अशुभ कर्मों का साक्षी (गवाह) है और आत्माकी गति भी आत्मा ही है, इस कारण मनुष्योंके श्रेष्ठ साक्षी आत्माका (असत्य बोल कर) अपमान मत करो ॥ ८४ ॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ८५ ॥

पापी पुरुष समझते हैं कि 'हमको कोई नहीं देखता'; (किन्तु) उनको अग्रिम श्लोकमें कहे जानेवाले देवता देखते हैं तथा अपने ही अन्तःकरणमें स्थित पुरुष देखता है ॥ ८५ ॥

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः।
रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ ८६ ॥

आकाश, भूमि, जल, हृदय, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, दोनों सन्ध्याएं (प्रातः सन्ध्या तथा सायंसन्ध्या) और धर्म-ये शरीरधारियोंके व्यवहार (शुभाशुभ कर्म) को जानते हैं ॥ ८६ ॥

ब्राह्मणादि साक्षीसे प्रश्नविधि—

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्।
उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ॥ ८७ ॥

शुद्ध हृदय न्यायकर्ता देवताकी प्रतिमा और ब्राह्मणके पासमें पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके खड़े हुए सत्यवक्ता द्विजोंसे (या अन्य जातीय साक्षियोंसे भी) पूर्वाह्ण समयमें (दोपहरके पहले) गवाही लेवे ॥ ८७ ॥

ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम्।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

न्यायाधीश ब्राह्मणोंसे 'कहो', क्षत्रियोंसे 'सत्य कहो', वैश्योंसे 'गौ बीज और सोना चुराना पाप है वह पाप तुम्हें असत्य गवाही देनेपर लगेगा' तथा शूद्रोंसे 'तुम्हें सब पाप लगेंगे, यदि तुम असत्य गवाही दोगे' ऐसा (८।८९-१०१) कहकर गवाही लेवे ॥ ८८ ॥

असत्य गवाही देनेसे दोष—

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ ८९ ॥

ब्राह्मण, स्त्री तथा बालककी हत्या करनेवाले, मित्रद्रोही तथा कृतघ्नको जो नरक आदि लोक प्राप्त होते हैं; वे सब असत्य बोलते हुए तुम्हें प्राप्त होवें ॥८९॥

जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं भद्र! त्वया कृतम्।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥

हे भद्र! यदि तुम अन्यथा अर्थात् असत्य बोलो तो जन्मसे लेकर जो कुछ तुमने पुण्य किया है, वह सब कुत्तोंको प्राप्त हो अर्थात् वह सब पुण्य नष्ट हो जाय ॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण! मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥ ९१ ॥

हे कल्याणकारी चरित्रवाले ! जो तुम 'मैं अकेला हूं' ऐसा आत्मा (जीवात्मा) को मानते हो (वैसा मत मानो, क्योंकि) पुण्य-पापको देखनेवाला सर्वज्ञ (परमात्मा) तुम्हारे हृदयमें सर्वदा वर्तमान रहता है ॥ ९१ ॥

सत्यकी प्रशंसा—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥ ६२ ॥

तुम्हारे हृदयमें रहनेवाला जो यह यम अर्थात् दण्डकर्ता परमात्मा रहता है, उसके साथ यदि तुम्हारा विवाद नहीं है, तब तुम (असत्य-भाषणरूप पाप कर्म का प्रायश्चित्त करनेके लिये) गङ्गाजी और कुरुक्षेत्र मत जावो अर्थात् सत्य बोलने पर पाप नहीं लगनेके कारण तुम्हें गङ्गाजी या कुरुक्षेत्र जाकर प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ९२ ॥

विमर्श—दण्ड देनेवाला यमाख्य परमात्मा सबके अन्तःकरणमें निवास करता है—किसीसे दूर नहीं है—अतः यह जीवके द्वारा किये गये समस्त कर्मोंको साक्षात् देखता है, इस अवस्थामें असत्य बोलना उस परमात्माके साथ एक प्रकारसे महान् विवाद अर्थात् विरोध (पाप) करना है, और इसके दूर करनेके लिये गङ्गाजी तथा कुरुक्षेत्रमें जानेकी आवश्यकता नहीं, यदि तुम सत्य भाषण करो।' ऐसा कहे।

असत्यकी निन्दा—

नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ।
अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ६३ ॥

गवाहीमें जो व्यक्ति असत्य बोलता है, वह अगले जन्ममें नङ्गा, शिर मुड़ाया, अन्धा, भूख-प्याससे युक्त और कपाल (फूटा ठिकरा) लिये हुए भीख मांगनेके लिए शत्रुओंके यहां जाता है ॥ ९३ ॥

अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् ।
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन् धर्मनिश्चये ॥ ६४ ॥

धर्मनिर्णय (गवाही) में न्यायाधीशके सामने पूछनेपर जो असत्य बोलता है, वह पापी अधोमुख होकर घोर अन्धकारवाले नरकको जाता है ॥ ९४ ॥

अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह ।
यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ६५ ॥

जो न्यायालयमें जाकर बातको अस्तव्यस्तकर (गड़बड़ करके असत्य)

बोलता है या विना देखी हुई बात कहता है, वह मनुष्य कांटे सहित मछलीको खानेवाले अन्धेके समान दुःखी होता है ॥ ९५ ॥

पुनः सत्यकी प्रशंसा—

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥

गवाहीमें बोलते हुए जिस मनुष्यका सर्वज्ञ अन्तर्यामी ('यह असत्य बोलता है या सत्य' ऐसी शङ्का नहीं करता, किन्तु यह सत्य ही बोलता है, ऐसा) निशङ्क रहता है अर्थात् गवाही देनेवाले मनुष्यके मनमें कोई शङ्का नहीं होती; संसारमें उससे अधिक श्रेष्ठ किसी दूसरेको देवता लोग नहीं मानते हैं ॥ ९६ ॥

विषयभेदसे सत्यका फल—

यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् ।
तावतः संख्यया तस्मिञ्छृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥ ९७ ॥

हे सौम्य ! गवाहीमें असत्य कहकर मनुष्य जितने बान्धवोंको नरकमें डालता है (या जितने बान्धवोंकी हत्या करनेका फल पाता है), उनकी सङ्ख्या क्रमशः मुझसे सुनो— ॥ ९७ ॥

[एवं संबन्धनात्तस्मान्मुच्यते नियतावृतः ।
पशून्गोश्वपुरुषाणां हिरण्यं भूर्यथाक्रमम् ॥ ६ ॥]
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८

पशुके विषयमें असत्य बोलनेपर पांच, गौके विषयमें असत्य बोलनेपर दश, घोड़ेके विषयमें असत्य बोलनेपर सौ तथा मनुष्यके लिये असत्य बोलनेपर सहस्र बान्धवोंको नरकमें डालता (या उनकी हत्या करनेका फल पाता) है ॥ ९८ ॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः ॥ ९९ ॥

सुवर्णके विषयमें असत्य बोलता हुआ मनुष्य उत्पन्न (पिता, दादा आदि) तथा नहीं उत्पन्न हुए (पुत्र पौत्र आदि) को नरकमें डालता (या उनकी हत्या करनेका फल पाता) है और पृथ्वीके विषयमें असत्य बोलनेपर सबको नरकमें डालता (या उनकी हत्या करनेका फल पाता) है, इस कारणसे भूमिके विषयमें असत्य (कभी) मत बोलो ॥ ९९ ॥

[पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यश्चान्यत्पशुसंभवम् ।
गोवद्वस्त्रहिरण्येषु धान्यपुष्पफलेषु च ॥
अश्ववत्सर्वयानेषु खरोष्ट्रवतरादिषु ॥ १०३ ॥]

सहद तथा घृत और पशुसे उत्पन्न अन्य वस्तु (दूध, दही, मक्खन आदि) के विषयमें असत्य बोलनेपर पशुके विषयमें असत्य बोलनेके समान, कपड़ा, सोना, धान्य (गल्ला), फूल और फलके विषयमें असत्य बोलनेपर गौके विषयमें असत्य बोलनेके समान; गधा-ऊँट, नाव आदि सवारियोंके विषयमें असत्य बोलनेपर घोड़ेके विषयमें असत्य बोलनेके समान मनुष्य पापी होता है अर्थात् क्रमशः पांच, दश और सौ बान्धवोंको नरकोंमें डालता (या उनकी हत्या करनेके समान फल पाता) है ॥ १०३ ॥

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।
अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥ १०० ॥

पानी (तालाब, कूआँ, नहर आदि), स्त्री-भोग मैथुन, कमल, रत्न और पत्थरकी बनी सब प्रकारकी वस्तुओंके विषयमें असत्य बोलने पर भूमिके विषयमें असत्य बोलनेके समान पाप लगता है अर्थात् वह मनुष्य सब बान्धवोंको नरकमें डालता (या उनकी हत्या करनेके समान फल पाता) है ॥ १०० ॥

[पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यानेषु च तथाश्ववत् ।
गोवद्रजतवस्त्रेषु धान्ये ब्राह्मणवद्विधिः ॥ ११ ॥]

शहद तथा घृतके विषयमें असत्य बोलनेपर पशुके विषयमें असत्य बोलनेके समान, सवारियोंके विषयमें असत्य बोलनेपर घोड़ेके विषयमें असत्य बोलनेके समान, चांदी तथा कपड़ोंके विषयमें असत्य बोलनेपर गौके विषयमें असत्य बोलनेके समान और धान्यके विषयमें असत्य बोलनेपर ब्राह्मणके विषयमें असत्य बोलनेके समान पाप लगता है अर्थात् पशु आदिके विषयमें असत्य बोलनेपर जितने-जितने बान्धवोंको नरकमें डालता (या उनके मारनेके समान फल पाता है), शहद-घी आदिके विषयमें असत्य बोलकर उतने-उतने बान्धवोंको नरकमें डालता (या उनकी हत्या करनेके समान फल पाता) है ॥ ११ ॥

एतान्दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१ ॥

(न्यायाधीश साक्षी (गवाह) से कहे कि—) तुम असत्य बोलनेपर इन (८।८०–१००) सब दोषोंको देख (जान) कर जैसा देखा और जैसा सुना है, वैसा ही सब कहो ॥ १०१ ॥

निन्दित ब्राह्मणसे शूद्रवत् प्रश्न—

गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ १०२ ॥

गोरक्षा, व्यापार, बढ़ई-लोहार या सूप-डाला आदि बनाने, नाचने-गाने, दास (सन्देश पहुंचाने) और निन्दित कर्म करने (या सूद लेने) की जीविका करनेवाले ब्राह्मणोंसे (साक्षीके विषयमें प्रश्न करते समय राजा) शूद्रके समान वर्ताव करे ॥ १०२ ॥

[येऽप्यतीताः स्वधर्मेभ्यः परपिण्डोपजीविनः ।
द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्ति तांश्च शूद्रान्निवाचरेत् ॥ १२ ॥]

जो अपने धर्मसे भ्रष्ट होकर भोजनके लिए दूसरोंके आश्रित हों तथा ब्राह्मण बनना चाहते हों; उनके साथ भी (साक्षीके विषयमें राजा) शूद्रके समान वर्ताव करे ॥ १२ ॥

धर्मबुद्धिसे असत्य साक्षिमें दोषाभाव—

तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः ।
न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्दैवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥ १०३ ॥

बातको जानता हुआ भी धर्म (दया, जीवरक्षा आदि) के कारण आगे वक्ष्यमाण विषयोंमें अन्यथा कहनेवाला मनुष्य स्वर्गलोकसे भ्रष्ट नहीं होता अर्थात् धर्मबुद्धिसे असत्य साक्षी देनेवालेका स्वर्ग नहीं बिगड़ता है (मनु आदि महर्षि गण) उस वाणीको दैवी (देव-सम्बन्धिनी) वाणी कहते हैं ॥ १०३ ॥

शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः ।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥ १०४ ॥

जहां सत्य कहनेपर शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मणको प्राणदण्ड (फांसी) होवे; वहां असत्य कहना (गवाही देना) चाहिये, क्योंकि वह (असत्य कहना) सत्य कहनेसे श्रेष्ठ है ॥ १०४ ॥

विमर्श—प्रमादादिके कारण शूद्रादिसे अपराध हो जानेपर साक्षीको सत्य बातको जानते हुए भी असत्य कहकर उस प्रमादापराधीकी प्राणरक्षा करनी

चाहिये, किन्तु ऐसे असत्य बोलनेपर दोष तो लगता ही है अत एव उसके निवारणार्थ अग्रिम (८।१०५) श्लोकोक्त प्रायश्चित्त कहा गया है, द्वेषवश जान-बूझकर अपराध करनेवालेकी प्राणरक्षाके लिए अपराधको जानते हुए झूठ नहीं बोलना चाहिये। यद्यपि वक्ष्यमाण 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' (८।३८०) वचनके द्वारा ब्राह्मणको प्राणदण्ड देनेका निषेध होनेसे उसके वधकी सम्भावना नहीं है, तथापि बड़ा अपराध होनेपर कठिन दण्ड देना भी सम्भव है, अतः इस श्लोकमें 'ब्राह्मणके वध उपस्थित होनेपर असत्य साक्ष्य देकर उसकी प्राणरक्षाका आदेश दिया गया है। वधका अमङ्गल होनेसे 'वर्णानामानुपूर्व्येण' वार्तिकसे ब्राह्मणादि क्रमसे 'विप्रक्षत्रविट्शूद्राणां' कहना उचित था, किन्तु वध कार्यके अमङ्गल होनेसे शूद्रादि प्रतिकूल वर्णक्रमसे कहा गया है।

उक्त असत्य बोलनेपर प्रायश्चित्त—

वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम्।
अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम्॥ १०५॥

उस असत्यका निवारण करते हुए वे (असत्य कहनेवाले साक्षी) चरुओंसे वाणी हैं देवता जिसकी ऐसा सरस्वतीका याग करें॥ १०५॥

कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद् घृतमग्नौ यथाविधि।
उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाब्दैवतेन वा॥ १०६॥

अथवा (उक्त असत्य कहनेवाला साक्षी उक्त दोषके निवारणार्थ) कुष्माण्ड (यद्देवा देवहेडनम् यजु० २०।१४) मन्त्रोंसे, या वरुण देवताको (वरुण है देवता जिसका ऐसे) 'उदुत्तमं वरुणपाशम् (यजु० १२।१२)' मन्त्रसे अथवा जल है देवता जिसका ऐसे 'आपो हि ष्ठा मयो भुवः (यजु० ११।५०)' मन्त्रसे विधिपूर्वक (स्वगृह्योक्त परिस्तरणादिके साथ) अग्निमें हवन करे॥ १०६॥

तीन पक्षतक साक्षीके साक्ष्य नहीं देनेपर पराजय—

त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः।
तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः॥ १०७॥

यदि स्वस्थ रहता हुआ भी साक्षी तीन पक्ष (डेढ़ मास) तक ऋणके मुकदमेमें साक्ष्य गवाही न दे तो ऋणी मनुष्य ऋणदाता (महाजन) को सब लिया हुआ धन देवे तथा राजाको दण्डस्वरूप उक्त ऋणद्रव्यका दशवां भाग देवे॥१०७॥

विमर्श—यहां तीन पक्षसे तीन तारीखों अर्थात् पेशियोंको समझना चाहिये।

साक्षीके यहां आपत्ति आनेपर--

यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥ १०८ ॥

गवाही देनेवाले गवाहके यहां (गवाही देनेके बाद) एक सप्ताहमें रोग, आग लगना, अथवा बान्धवों (पुत्रादि निकट सम्बन्धियों) का मरण हो जाय तो ऋणी महाजनको सब धन देवे तथा राजाको दण्डस्वरूप (ऋणद्रव्यका दशांश धन) देवे ॥

साक्षीके अभावमें शपथसे निर्णय—

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः ।
अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥ १०९ ॥

विना साक्षीवाले मुकदमोंमें परस्पर विवाद करते हुए वादी तथा प्रतिवादी (मुद्दई तथा मुद्दालह) से ठीक ठीक सचाई नहीं मालूम पड़नेपर राजा (न्यायाधीश) शपथ करके सचाईको मालूम करे ॥ १०९ ॥

शपथद्वारा निर्णय करनेमें सहेतुक दृष्टान्त—

महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ।
वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे पैजवने नृपे ॥ ११० ॥

महर्षियों तथा देवोंने सन्दिग्ध कार्यके निर्णयार्थ शपथको बनाया । ('इस वसिष्ठ मुनिने सौ पुत्रोंको भक्षण किया है' ऐसा विश्वामित्रके कहनेपर वसिष्ठने अपनेको निर्दोष बनानेके लिए) पैजवन (पिजवनके पुत्र) 'सुदास्' नामक राजाके यहां शपथ किया था ॥ ११० ॥

असत्य शपथमें दोष—

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः ।
वृथा हि शपथं कुर्वन्प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥

विद्वान् (समझदार) मनुष्य छोटे कामके लिए भी असत्य शपथ न करे, क्योंकि असत्य शपथ लेता हुआ मनुष्य परलोकमें (मरकर नरक पानेसे) तथा इस लोकमें भी (अपयश बदनामी पानेसे) नष्ट होता है ॥ १११ ॥

असत्य शपथका प्रतिप्रसव—

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने ।
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ११२ ॥

कामिनीके विषयमें (अनेक अपनी स्त्रियोंके रहनेपर 'मैं तुमसे ही बहुत प्रेम करता हूं दूसरीसे नहीं' ऐसा शपथकर रति आदि करनेके विषयमें), विवाहोंमें (मैं दूसरी स्त्रीके साथ विवाह नहीं करूंगा ऐसा, अथवा—कन्यादिके विवाहके विषयमें अर्थात् बहुत गुणवती एवं सुन्दरी है' इत्यादि कहकर कन्याके विवाह करानेमें), गौओंके भूसा-घास आदिके विषयमें, होमके लिए लकड़ी लेनेके विषयमें तथा ब्राह्मणरक्षार्थ स्वीकृत धनादिके विषयमें असत्य शपथ करनेमें पाप नहीं होता है॥

ब्राह्मणादिसे सत्यादिका शपथ—

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥

ब्राह्मणको सत्यकी, क्षत्रियको वाहन (हाथी घोड़ा आदि) तथा शस्त्रकी; वैश्यको गौ, व्यापार तथा सुवर्ण आदि धनकी और शूद्रको सब पापोंका शपथ करावे ॥

विमर्श—न्यायाधीश शपथ कराते समय ब्राह्मणसे 'यदि मैं असत्य शपथ करू तो मेरे अबतक किये गये सम्पूर्ण सत्यभाषणसे उत्पन्न पुण्य नष्ट हो जाय' ऐसा कहलाकर; क्षत्रियसे 'यदि मैं असत्य शपथ करूं तो मेरे वाहन मर जांय तथा हथियार निष्क्रिय हो जांय' ऐसा कहलाकर, वैश्यसे 'यदि मैं असत्य शपथ करूं तो मेरे गौ आदि पशु, बीज [अर्थात् खेती तथा सुवर्णादि धन नष्ट हो जांय' ऐसा कहलाकर और शूद्रसे' यदि मैं असत्य शपथ करूं तो मुझे सब पाप लगें' ऐसा कहलाकर शपथ करावे।

कार्यापेक्षासे शूद्रादिसे शपथ—

अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ।
पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥

अथवा (मुकदमेके बड़ा या छोटा होनेकी अपेक्षा) इस शूद्रसे अग्नि लेकर सात कदम चलावे, जोंक आदिसे रहित पानीमें डुबावे अथवा इसके पुत्र तथा स्त्रीके शिरका पृथक्-पृथक् स्पर्श करावे ॥ ११४ ॥

विमर्श—तौलमें पचास पल (ढाईसेर) लोहेके आठ अङ्गुल लम्बे गोलेको अग्निके समान लाल तपाकर पीपलके सात पत्तोंको उसके हाथपर रखके उन्हें श्वेत सात सूतोंसे बाँधकर फिर सात पत्तोंको रखकर उनके ऊपर उस तपाये लोहेको रखकर साक्षी करनेवाले उस शूद्रको 'त्वमग्ने—' (याज्ञ० २।१०४) श्लोकको कहते हुए सात पग चलनेको कहे तथा ऐसा करनेपर यदि उसके हाथ नहीं जलें तो उसके साक्षीको सत्य माने तथा यदि बीच मार्गमें ही वह लोहा गिर

पड़े तो पुनः वैसे ही तपे लोहेको लेकर दुबारा चलनेको कहे। हाथके अतिरिक्त दूसरे अङ्ग या वस्त्र यदि प्रमादादिसे जल जांय तो भी उसके साक्षीको सत्य ही माने। अथवा अन्य स्मृतियोंमें कही गयी विधिसे जलमें डूबाकर उसकी साक्षीके सत्यासत्यत्वका ज्ञान करे।

शपथमें शुद्धिका ज्ञान—

यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च।
न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः॥ ११५॥

(वैसा करनेपर) जिस साक्षी करनेवालेको अग्नि (तपाया हुआ लौह) नहीं जलावे, पानी ऊपरको नहीं फेंके तथा शीघ्र वह दुःख नहीं पावे; उस साक्षी करनेवालेको शपथमें सच्चा समझना चाहिये॥ ११५॥

उक्त विषयमें प्राचीन दृष्टान्त—

वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा।
नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पशः॥ ११६॥

पूर्वकालमें (सौतेले) छोटे भाईके द्वारा 'तुम ब्राह्मण नहीं हो, शूद्रकी सन्तान हो' ऐसा दूषित वत्स ऋषिके रोमको (भी संसारके शुभाशुभ जाननेमें) गुप्तचर रूप अग्निने सत्यके कारणसे नहीं जलाया॥ ११६॥

असत्य प्रतीत होनेपर पुनर्विचार—

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्।
तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत्॥ ११७॥

जिस-जिस विवाद (झगड़े—मुकदमे) में असत्य गवाही हो, (न्यायाधीश) उस-उस विवादको फिर विचार करे और जिस विवादमें दण्ड-विधानादि (जुर्माने आदिका फैसला) हो चुका हो, वह समाप्त होकर भी नहीं समाप्तके समान है (अतः उस पर भी पुनर्विचार करे)॥ ११७॥

लोभादिसे साक्ष्यकी असत्यता—

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च।
अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते॥ ११८॥

लोभ, मोह (विपरीत ज्ञान अर्थात् उल्टा समझना), भय, प्रेम, काम, क्रोध, अज्ञान तथा असावधानी (या लड़कपन) से साक्षी असत्य माना जाता है॥११८॥

लोभादिसे साक्ष्य देनेपर दण्डविशेष—

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥

(भृगु मुनि ऋषियोंसे कहते हैं कि—) उक्त (८।११८) लोभादिमें-से किसी एकके कारणसे (भी) जो असत्य गवाही दे, उसके दण्डविशेषको हम क्रमशः कहते हैं—॥ ११९ ॥

लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥
कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥ १२१ ॥

लोभसे असत्य गवाही देनेपर १००० पण, मोहसे असत्य गवाही देनेपर प्रथम साहस, भयसे असत्य गवाही देनेपर दो मध्यम साहस, मित्रता (प्रेम) से असत्य गवाही देनेपर चौगुना अर्थात् चार प्रथम साहस, कामसे असत्य गवाही देनेपर दश गुना प्रथम साहस, क्रोधसे असत्य गवाही देनेपर तिगुना मध्यम साहस, अज्ञानसे असत्य गवाही देनेपर दो सौ पण और असावधानीसे असत्य गवाही देनेपर सौ पणका 'दण्ड' (जुर्माना, न्यायाधीश उस असत्य गवाही देनेवालेपर) करे ॥

विमर्श—प्रथम साहस = २५० पण । मध्यम साहस = ५०० पण । पण = १ पैसा (तांबेका) विस्तृत प्रमाणका विचार आगे (८।१३१-१३८) कहेंगे ।

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः ।
धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ १२२ ॥

(मनु आदि) विद्वानोंने धर्मके स्थापन तथा अधर्मके निवारणके लिए असत्य गवाहियोंमें इन (८।१२०-१२१) दण्डोंको बतलाया है ॥ १२२ ॥

वार-वार असत्य गवाही देनेपर दण्ड—

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः ।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ १२३ ॥

धार्मिक राजा बार-बार असत्य गवाही देनेवाले तीन वर्णों (क्षत्रिय-वैश्य तथा शूद्र) को उक्त (८।१२०-१२१) प्रकारसे दण्डित कर राज्यसे निकाल दे और ब्राह्मणको केवल राज्यसे निकाल दे अर्थात् उसे दण्डित न करे ॥ १२३ ॥

विमर्श—उक्त वचनानुसार बार-बार असत्य गवाही देनेवाले ब्राह्मणको उसके धन सहित राज्यसे निकाल देना चाहिये। गोविन्दराजके मतसे 'ऐसे ब्राह्मणको बार-बार उक्त (८।१२०-१२१) दण्डसे दण्डितकर नग्न कर दे' यह अर्थ है तथा मेधातिथिके मतसे ऐसे ब्राह्मणको नग्न कर दे या उसका घर ढहवाकर गृहहीन कर दे' यह अर्थ है।

दण्डके दश स्थान—

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ १२४ ॥

ब्रह्माके पुत्र मनुने तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) के विषयमें दण्डके दश स्थानोंको (८।१२५) कहा है और ब्राह्मण तो पीडारहित अर्थात् विना किसी प्रकार दण्डित किये केवल राज्यसे निकाल दिया जाता है ॥ १२४ ॥

दश दण्ड-स्थानोंके नाम—

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥

उपस्थ (मूत्रमार्ग), पेट, जीभ, हाथ, पैर, नेत्र, नाक, कान, धन और देह (ये दण्डके दश स्थान हैं) ॥ १२५ ॥

विमर्श—उक्त अङ्गोंसे महापातकादि बड़े अपराध करनेपर उक्त अङ्गोंका पीडन या छेदन अपराधके छोटे-बड़े अनुसार करना चाहिये, किन्तु साधारण अपराध करनेपर तो केवल अर्थदण्ड ही करना चाहिये।

अपराधादिके अनुसार दण्डविधान—

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ १२६ ॥

(न्यायाधीश या राजा) बार-बार किये गये अपराध, देश (ग्राम, वन आदि), काल (रातदिन आदि), अपराधीकी शारीरिक तथा आर्थिक शक्ति और अपराधके गौरव-लाघवका वास्तविक विचार कर दण्डनीय व्यक्तिको दण्डित करे ॥ १२६ ॥

धर्मविरुद्ध दण्डकी निन्दा—

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥

धर्मविरुद्ध दिया गया दण्ड (राजा) के यश (जीवित अवस्थामें प्रसिद्धि)

तथा कीर्ति (मरनेपर प्रसिद्धि) का नाश करनेवाला तथा परलोकमें भी दूसरे धर्मसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गका प्रतिबन्धक है; अतएव उसका त्याग करना चाहिये ॥

अदण्ड्यके दण्ड तथा दण्ड्यके त्यागसे हानि—

अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ १२८ ॥

अदण्डनीयको दण्डित करता हुआ तथा दण्डनीयको छोड़ता हुआ राजा बड़ा अयश पाता है तथा नरकको भी जाता है ॥ १२८ ॥

वाग्दण्ड, धिग्दण्डादि—

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥ १२९ ॥

राजा गुणियोंको प्रथम वार अपराध करनेपर वाग्दण्ड, उसके बाद (दूसरी वार अपराध करनेपर) धिग्दण्ड, तीसरी वार आर्थिक दण्ड (जुर्माना) और इसके बाद वधदण्ड (अपराधानुसार शरीरताडन अर्थात् कोड़े बेंतसे मारना या अङ्गच्छेद आदि या प्राणदण्ड) से दण्डित करे ॥ १२९ ॥

विमर्श-वाग्दण्ड तुमने यह अच्छा काम नहीं किया, सावधान फिर कभी ऐसा दुष्कर्म मत करना आदि । धिग्दण्ड—जाल्म तुम्हें धिक्कार है आदि । वधदण्ड—अपराधके गौरव लाघवके अनुसार बेंतकोड़े आदिसे मारनेका दण्ड, जिस अङ्गसे अपराध किया है उसके काटनेका दण्ड या प्राणदण्ड ।

वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

यदि (राजा या न्यायाधीश) वध (शरीरताडनच्छेदन आदि) से भी इसे (अपराधीको) वशमें नहीं कर सके तो इन चारों (८।१२९) प्रकारके दण्डोंसे एक साथ उसे दण्डित करे ॥ १३० ॥

त्रसरेणु आदि का परिमाण (तौल)—

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥

(भृगुमुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) लोगोंके व्यवहारके लिए तांबे, चांदी तथा सुवर्ण (सोने) की जो संज्ञायें (प्रमाण-विशेष) प्रसिद्ध हैं; उन सभीको मैं कहूंगा ॥ १३१ ॥

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

खिड़की आदिके छिद्रसे सूर्य किरणके प्रवेश करते रहनेपर जो सूक्ष्म धूलि (चमकता हुआ धूलिकण) दिखलायी पड़ती है, उसे (दिखलायी पड़नेवाले धूलिकणको) प्रमाणोंके बीचमें प्रथम प्रमाण 'त्रसरेणु' कहते हैं ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।
ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ १३३ ॥

आठ त्रसरेणुका एक लिक्षा, तीन लिक्षाओंका एक 'राजसर्षप', तीन राजसर्षपोंका एक 'गौरसर्षप' जानना चाहिये ॥ १३३ ॥

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥

छः गौर सर्षपोंका एक 'मध्ययव' (न अत्यन्त मोटा और न अत्यन्त महीन), तीन मध्ययवोंका एक 'कृष्णल' (रत्ती), पांच कृष्णलों (रत्तियों) का एक 'मासा' (मासा अर्थात् एक आना भर) सोलह मासों (मासाओं = १६ आने भर) का एक सुवर्ण अर्थात् एक रुपया भर = ८० रत्तीभर (जानना चाहिये) ॥ १३४ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥

चार सुवर्णों (रुपये भर) का एक 'पल' (छटाक,) दश पलोंका एक 'धरण' तथा दो कृष्णल (रत्तिओं) को काँटे (तराजू) पर रखनेपर उनके बराबर एक 'रौप्यमाषक' जानना चाहिये ॥ १३५ ॥

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः ।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥ १३६ ॥

उन सोलह रौप्य माषकोंका एक 'रौप्यधरण' तथा 'राजत' अर्थात् चांदी का 'पुराण' और तांबेके कर्ष (पैसे) को 'कर्ष' तथा 'पण' कहते हैं ॥ १३६ ॥

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ।
चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥

दश रौप्य (चांदीका) धरणोंका एक राजत (चांदीका) 'शतमान' जानना चाहिये और प्रमाणसे चार सुवर्णोंका एक 'निष्क' (अशर्फी) जानना चाहिये ॥१३७॥

प्रथम आदिसाहसका प्रमाण—

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥ १३८ ॥

ढाइ सौ पणोंका 'प्रथम (पहला) साहस' कहा गया है, पांच सौ पणोंका 'मध्यम साहस' तथा एक सहस्र पणोंका एक 'उत्तम साहस' जानना चाहिये ॥१३८॥

ऋण लेनेपर दण्डनियम—

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति ।
अपह्नवे तद् द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥

(न्यायालयमें ऋण लेनेवालेके) ऋण लेना स्वीकार कर लेनेपर ऋण द्रव्यका पांच प्रतिशत और असत्यतासे ऋण लेना स्वीकार नहीं करनेपर उसे दश प्रतिशत दण्डित करना चाहिये, ऐसा मनु भगवान्का आदेश है ॥ १३९ ॥

सूद (व्याज) का प्रमाण—

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम् ।
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वाार्धुषिकः शते ॥ १४० ॥

(सूद (व्याज) पर ऋण देनेवाला महाजन) वसिष्ठ मुनिद्वारा प्रतिपादित धनवर्द्धक सूद ले वह ऋणद्रव्यका $\frac{1}{80}$ भाग अर्थात् सवा रुपया प्रतिशत मासिक सूद लेना चाहिये ॥ १४० ॥

द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् ।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्विषी ॥ १४१ ॥

अथवा सज्जनोंके धर्मको स्मरण करता हुआ ऋणदाता दो प्रतिशत अर्थात् दो रुपये सैकड़ा प्रतिमास सूद ले, दो प्रतिशत सूद लेनेवाला ऋणदाता पापभगी नहीं होता है ॥ १४१ ॥

वर्णके अनुसार सूद लेना—

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम् ।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥ १४२ ॥

अथवा—वर्णोंके अनुसार दो, तीन, चार और पांच प्रतिशत मासिक सूद ले अर्थात् ब्राह्मणसे दो रुपये सैकड़ा, क्षत्रियसे तीन रुपये सैकड़ा वैश्यसे चार रुपये सैकड़ा और शूद्रसे पांच रुपये सैकड़ा सूद ले ॥ १४२ ॥

विमर्श—गोविन्दराज तथा मेधातिथिका मत है कि—'सवा तथा दो प्रतिशत मासिक सूद ब्राह्मणसे लेनेपर प्रथम पक्ष अत्यल्प तथा द्वितीय पक्ष अत्यधिक होता है, अत एव यदि प्रथम पक्ष सवा प्रतिशत सूद लेने से निर्वाह होना सम्भव नहीं हो तब दो प्रतिशत सूद लेना चाहिये' परन्तु महर्षि याज्ञवल्क्य[१]के मतको आधार मानकर मन्वर्थमुक्तावलीकारका मत है कि—कोई वस्तु (आभूषण आदि) बन्धक (गिरवी) रखनेपर सवा प्रतिशत और अन्यथा दो प्रतिशत मासिक सूद ब्राह्मणसे लेना चाहिये । याज्ञवल्क्य श्लोक व्याख्याता 'मिताक्षराकार' के मतसे त्रैराशिक क्रमसे ब्राह्मणसे २ में १¼ अर्थात् सवा तो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रसे ३, ४ और ५ में क्रमशः १⅞, २½ और ३⅛ अर्थात् बन्धक रखनेपर सौ रुपयेपर ब्राह्मणसे सवा रुपया, क्षत्रियसे एक रुपया चौदह आना, वैश्यसे ढाई रुपया और शूद्रसे तीन रुपये दो आना (प्रतिशत) मासिक सूद लेना चाहिये । किन्तु 'नेने' शास्त्रीका मत है कि 'समम्' पद होनेसे उक्त क्रम क्षत्रियादिके साथ बन्धक रखनेपर भी नहीं लागू होगा अत एव बन्धक नहीं रखनेपर क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्रसे क्रमशः तीन, चार और पांच प्रतिशत ही सूद लेना चाहिये । 'समाम्' पाठान्तर होनेपर यह वृद्धि-वैषम्य केवल एक ही वर्षतक मानना चाहिये बादमें नहीं ॥

रेहन रखनेपर सूद लेनेका निषेध—

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।
न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥ १४३ ॥

भूमि (घर या खेत) तथा गौ आदि रेहन (गिरवी) रखकर ऋण लेनेपर उनका उपभोग करता हुआ ऋणदाता ऋणी (ऋण लेनेवाले) से सूद नहीं लेता तथा अधिक समय बीत जानेपर (मूल धनराशिके दुगुना हो जानेपर) भी ऋणदाता रेहन रक्खी हुई सम्पत्ति (भूमि, गोधन आदि) को न तो किसी दूसरेको देनेका अधिकारी है और न बेचनेका ॥ १४३ ॥

विमर्श—मेधातिथि तथा गोविन्दराजने इस उत्तरार्द्ध श्लोकका अर्थ 'रेहनकी वस्तुके बहुत दिनों तक ऋणदाताके यहां रहनेपर भी वह ऋणदाता उस वस्तु (भूमि आदि) को न तो किसीको बन्धक (रेहन) देनेका अधिकारी है और न बेचनेका' ऐसा किया है । परन्तु 'बन्धक रक्खे हुए भूमि आदिका दूसरेके पास बन्धक रखनेका व्यवहार देखे जानेसे उक्त मत शिष्टाचारसे विरुद्ध है' ऐसा मन्वर्थ-

---

१. 'अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके ।
वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुष्पञ्चकमन्यथा ॥' (या० व० २।३७) ।

मुक्तावलीकारका मत है। इस विषयमें विशेष निर्णयके जिज्ञासुओंको 'काशी सं. ग्रन्थमाला, बनारससे' प्रकाशित 'मन्वर्थमुक्तावली' व्याख्याकी 'नेने' शास्त्रीकृत टिप्पणी देखनी चाहिये।

गोप्य बन्धकके भोगका निषेध—

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥ १४४ ॥

ऋणदाता बन्धकमें रक्खी हुई वस्तु (वस्त्र, आभूषण आदि) का भोग न करे और यदि भोग करे तो वह ऋणीसे उस वस्तुके ऋणका (८।१४०-१४२) में कथित सूद न ले तथा यदि बन्धक रक्खी हुई वस्तु नष्ट-भ्रष्ट हो (टूट-फूट) जाय तो उसका मूल्य देकर ऋणीको सन्तुष्ट करे अन्यथा ऋण देनेवालेको बन्धक रक्खी हुई वस्तुकी चोरीका पाप लगता है ॥ १४४ ॥

बन्धक तथा मंगनीमें ली गई वस्तुका परावर्तन—

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥

बन्धक रक्खी हुई या प्रेमसे भोगके लिए अर्थात् मंगनी दी हुई वस्तु समय अधिक बीत जानेपर भी समय बीतने के नियन्त्रणके योग्य नहीं होती हैं, अत एव नियत समय बीत जानेपर भी उन वस्तुओंको देनेवाला जब मांगे तभी वे वस्तुएँ वापस कर देनी चाहिये ॥ १४५ ॥

गौ आदिके भोगनेपर भी अधिकारका निषेध—

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

प्रेमसे उपभोगमें लायी जाती हुई (दूधके लिए) गो, (सवारी करने या बोझ ढोने (लादने) के लिए) ऊंट तथा घोडा हल, आदिमें जोत ने योग्य बैल आदि परसे स्वामीका अधिकार कभी भी नष्ट नहीं होता अर्थात् ग्रहण करने वालेके उपभोगमें आनेपर भी उनपर मालिकका ही अधिकार रहता है ॥ १४६ ॥

विमर्श—यह श्लोक अग्रिम (८।१४६) का अपवाद है।

दश वर्ष भोगनेपर स्वामित्वनाश—

यत्किञ्चिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ १४७ ॥

अपनी सम्पत्तिको दूसरेके द्वारा अपने काममें लायी जाती हुई देखता हुआ भी स्वामी यदि दश वर्षों तक कुछ नहीं कहता अर्थात् नहीं रोकता तो वह स्वामी उस सम्पत्तिको पानेका अधिकारी नहीं है ॥ १४७ ॥

अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते।
भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद् द्रव्यमर्हति ॥ १४८ ॥

यदि किसी सम्पत्तिका स्वामी जड (पागल आदि) या सोलह वर्षसे कम आयुवाला (नाबालिग) न हो और उसके सामने अर्थात् जानकारीमें ही उसकी सम्पत्ति (भूमि आदि का) उपभोग दूसरा कोई व्यक्ति दश वर्षसे कर रहा हो, तब व्यवहारके अनुसार उस सम्पत्तिपर उसके स्वामीका अधिकार नष्ट हो जाता (नहीं रहता) है तथा भोग करनेवाला व्यक्ति उस सम्पत्तिको पाता है ॥ १४८ ॥

उक्त वचनका अपवाद—

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः।
राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९ ॥

बन्धक, सीमा (सरहद), बच्चे (नाबालिग) का धन, धरोहर, किसी वक्स आदिमें रखकर मुहरबन्द करके रक्षार्थ सौंपी गयी वस्तु, स्त्री (दासी आदि), राजा तथा श्रोत्रियका धन इनका दूसरेके भोग करनेपर भी उनका स्वामित्व नष्ट नहीं होता अर्थात् उनको पानेका अधिकार उनके स्वामीको ही रहता है ॥ १४९ ॥

तीन पीढ़ियोंतक बन्धकके भोगनेपर—

[यद्विनाऽगममत्यन्तं भुक्तपूर्वैस्त्रिभिर्भवे।
न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम् ॥ १३ ॥]

[आगमके विना तीन पीढ़ियोंसे भोग किये गये धनको लेनेका अधिकारी उसका स्वामी नहीं होता है ॥ १३ ॥]

बन्धक भोगनेपर आधा सूद—

यः स्वामिनाननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
तेनार्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ १५० ॥

बन्धक रक्खी हुई (वस्त्र, भूषण आदि) वस्तुओंका भोग जो नासमझ (व्यवहार ज्ञानशून्य) स्वामीकी आज्ञाको नहीं पाकर करता हो, उसे उन वस्तुओंके भोगके बदलेमें आधा सूद लेना चाहिये ॥ १५० ॥

विमर्श—बलात्कारपूर्वक बन्धकके भोग करनेपर पूरा सूद देनेका निषेध पहले (८।१४४) कर चुके हैं।

दुगुनेसे अधिक सूदका निषेध—

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम्॥ १५१॥

मूल धनके एक साथ लिया गया सूद मूल धनके दुगुनेसे अधिक नहीं होता और अन्न, वृक्षका फल, ऊन, भारवाहक जीव (बैल ऊंट गधा आदि बहुत दिनोंके बाद भी) मूलके पंचगुनेसे अधिक नहीं होते॥ १५१॥

सूदका प्रकार—

कृतानुसाराधिका व्यतिरिक्ता न सिद्ध्यति।
कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति॥ १५२॥

पूर्वोक्त (८।१३६-१४२) प्रमाणसे अधिक सूद नहीं लेना चाहिये तथा शूद्रसे पांच प्रतिशत सूद लेनेका जो प्रमाण है, उतना सूद द्विजोंसे लेना भी (मनु आदि महर्षि) निन्दित बतलाते हैं॥ १५२॥

विमर्श—बिना मांगे यदि ऋणी अपना नियत सूद ऋणदाताको प्रसन्नतासे यथासमय दे दे तो उक्त क्रमसे अधिक सूद नहीं लेना चाहिये; किन्तु मांगनेपर भी ऋणी ऋणदाताको सूद नहीं दे तो पांच प्रतिशत तक सूद लेना चाहिये।

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत्।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या॥ १५३॥

ऋणदाता ऋणीसे पहले ही 'प्रतिमास, प्रति दो मास, प्रति तीन मास तुम सूद दिया करना' ऐसा एक वर्ष तकका सूद चुकता कर देनेका निर्णय करा ले, किन्तु एक वर्षसे अधिक समयका सूद एक वारमें लेनेका नियम कभी भी न करे और शास्त्रमें (८।१३१-१४२) कहे हुये प्रमाणसे अधिक सूद भी कभी मत ले; चक्रवृद्धि, कालवृद्धि कारित तथा कायिक सूद भी न ले॥ १५३॥

विमर्श—सूदका सूद 'चक्रवृद्धि' प्रतिमास बढ़ाया गया सूद 'कालिक', ऋणीके आपत्तिकालमें ही उसपर दबाव डालकर बढ़ाया या लिया गया सूद 'कारित' और अधिक बोझ ढोवाने या अधिक दूध दूहनेसे वसूल किया गया सूद कायिक सूद है।

[अथ शक्तिविहीनः स्यादृणी कालविपर्ययात्।
प्रेदयश्च तमृणं दाप्यः काले देशे यथोदयम्॥ १४॥]

[यदि ऋणी समयके बदलनेसे शक्तिहीन हो जाय तब उसको देशकालमें उसकी उन्नतिके अनुसार ऋण दिलवाना चाहिये ॥ १४ ॥]

कागज (हैण्डनोट आदि) बदलना--

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम्।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥ १५४ ॥

निर्धारित समय पर ऋण चुकानेमें असमर्थ ऋणी यदि फिर (हैण्डनोट आदि लिखना) चाहे तो वह वास्तविक सूद देकर हैण्डनोट आदिको बदल दे (नया लिख दे)॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत्।
यावती संभवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ १५५ ॥

यदि ऋणी सूद भी देनेमें असमर्थ हो तो सूदको मूल धनमें जोड़कर जो धन-राशि हो उतनेका कागज (हैण्डनोट आदि) लिख दे, ऐसा करनेपर उस धन (सूद सहित मूल धन) का सूद भी ऋणीको (ऋणदाताके लिए) देना होगा ॥

स्थान तथा समयका भाड़ा—

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः।
अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥

देश तथा कालकी वृद्धि (भाड़ा—अमुक स्थान तक यह बोझ पहुंचानेका अथवा अमुक समयतक काम करनेका इतना धन लूंगा इस प्रकार) निश्चय करनेके बादमें देश या समयका उल्लङ्घन करे (उस नियत स्थानतक बोझ नहीं पहुचावे या उतने समय तक कार्य नहीं करे) तब वह उसका भाड़ा पानेका अधिकारी नहीं होता है ॥ १५६ ॥

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५७ ॥

जलमार्ग तथा स्थलमार्गके जानकार तथा इतने स्थान या इतने समयमें इस विक्रेय वस्तु (सौदे) को पहुंचानेसे इतना लाभ होगा इसका यथावत् समझने वाले व्यापारी आदि उस नियत स्थानतक पहुंचाने या उतने समय तक काम करने से जो वृद्धि (भाड़ा) निश्चित कर दे, उस स्थान तक वस्तु आदि पहुंचाने या उतने समयतक काम करनेकी वही वृद्धि (भाड़ा) प्रमाणित मानी जाती है ॥१५७॥

दर्शक प्रतिभू रहनेपर—

योयस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः ।
अदर्शयन्स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥

जो व्यक्ति ऋण लेनेमें ऋणीका प्रतिभू (जमानतदार) रहे, वह यदि (समयपर) उस ऋणीको उपस्थित नहीं करे तो अपनी सम्पत्तिसे उस ऋणको चुकता करे ॥

प्रतिभू आदिका ऋण पुत्र न देवे—

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् ।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥ १५९ ॥

प्रतिभू (जमानतदार) होनेसे दिया जानेवाला, हँसी-मजाक आदिमें भंड आदिको देनेके लिये कहा गया, जुआ खेलनेमें हारा या लिया गया, मद्यपानमें लिया गया, राजदण्ड (जुर्माने) का और नाव गाड़ी आदिके भाड़ेका बाँकी धन उसके पुत्रको नहीं देना पड़ता है ॥ १५९ ॥

ऋण देना स्वीकारकर प्रतिभू होनेपर—

दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः ।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥

उक्त विधान (जमानतदार होनेके कारण दिया जानेवाला ऋणदाताका धन जमानतदारके पुत्रको नहीं देना पड़ता) ऋणीको धनीके पास उपस्थित करनेमात्रके लिए (जमानतदार) होनेकी अवस्थाके लिए है, किन्तु यदि पिताने यह कहकर प्रतिभू बना हो कि (यह ऋणी ऋण चुकता नहीं करेगा तो इससे चुकता करवा दूंगा या मैं चुकता कर दूंगा) ऐसी अवस्थामें ऋणीके द्वारा धनी (ऋणदाता) का ऋण नहीं देनेपर पिताके मरनेपर भी वह ऋण उस (प्रतिभू) के पुत्रको देना पड़ता है ॥ १६० ॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् ।
पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥

अदाता (जो ऋण देनेकी जमानत नहीं लिया हो, किन्तु केवल ऋणीको ऋणदाताके सामने नियत समयपर उपस्थित करनेकी ही जमानत ली हो, तथा यह) प्रतिभूकी प्रतिज्ञा (शर्त) ऋणदाताको मालूम हो उस प्रतिभूके मरनेपर (ऋणदाता) किस कारण (उसके पुत्र आदिसे) ऋण लेनेकी इच्छा करेगा अर्थात् नहीं करेगा (ऐसे जमानतदार पिताके मरनेपर उसके पुत्रको वह ऋण देना नहीं पड़ता) ॥

निर्दिष्ट प्रतिभूके मरनेपर—

निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंधनः।
स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः॥ १६२॥

पूर्व (८।१६१) श्लोकोक्त प्रतिभूको यदि ऋणीने ऋणका धन दे दिया है तथा ऋणदाता धन वापस देनेको नहीं कहा है, ऐसी अवस्थामें यदि वह प्रतिभू मर जाय और उसका पुत्र उस ऋणके धनको अपनी सम्पत्तिमें से चुकानेमें समर्थ हो तो वह ऋणीके ऋणको चुकता कर दे, ऐसी शास्त्रमर्यादा है॥ १६२॥

मत्त आदिके ऋणकी अदेयता—

मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा।
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति॥ १६३॥

मत्त (मदिरा आदिके नशेसे मतवाला), उन्मत्त (पागल), रोगी, सेवक, बालक (१६ वर्षसे कम आयुवाला अर्थात् नाबालिग), और बूढा-इनको पिता-भाई आदि सम्बन्धियोंकी सम्मतिके विना दिया गया ऋण व्यवहार (शास्त्र-मर्यादा) के प्रतिकूल होता है॥ १६३॥

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता।
बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात्॥ १६४॥

'मैं ऐसा करूंगा' इस प्रकारकी बात लेख आदिके द्वारा निर्णीत करनेपर भी यदि धर्म (शास्त्रमर्यादा), कुलपरम्परा और व्यवहारसे प्रतिकूल कही गयी हो तो वह सत्य (प्रामाणिक) नहीं होती॥ १६४॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्।
यत्र वाऽप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत्॥ १६५॥

जो वस्तु कपटसे बन्धक रक्खी गयी हो, बेची गयी हो, दी गयी हो या दान ली गयी हो, अथवा जहांपर कपट व्यवहार देखा गया हो; वह सब नहीं कियेके बराबर हो जाता है अर्थात् अमान्य होता है॥ १६५॥

कुटुम्बार्थ गृहीत ऋणकी देयता—

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थं कृतो व्ययः।
दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः॥ १६६॥

ऋणी यदि मर जाय तथा उसने ऋणद्रव्यको अलग हुए या सम्मिलित परि-

वारके लिए व्यय किया हो तो वह ऋण उस मृत ऋणीके अलग हुए या सम्मिलित परिवारवालोंको चुकाना चाहिये ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत् ।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥ १६७ ॥

स्वामी (घरके मालिक) के देश या विदेशमें रहनेपर अधीनस्वरूप सेवक आदिने भी कुटुम्बके पालन-पोषणादिके लिए जो ऋण लिया हो, उसे स्वामी चुकता कर दे ॥

बलात्कारसे किये गयेकी अमान्यता—

बलाद्दत्तं बलाद् भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् ।
सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १६८ ॥

बलात्कारसे जो (नहीं देने योग्य वस्तु) दिया गया हो, जो (भूमि, भूषण आदि) भोगा गया हो, अथवा (ऋण लेने या चक्रवृद्धि आदि सम्बन्धी) लेख (हैण्डनोट, दस्तावेज आदि) लिखवाया गया हो; बलात्कारसे कराये गये उन सब कार्योंको मनुने नहीं किया गया अर्थात् अमान्य बतलाया है ॥ १६८ ॥

प्रातिभाव्यादिका निषेध—

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम् ।
चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ् नृपः ॥ १६९ ॥

(धर्म, अर्थ तथा व्यवहार अर्थात् मुकदमे देखनेवाले क्रमशः) गवाह, जमानतदार तथा कुल अर्थात् स्वजन दूसरोंके लिए क्लेश पाते हैं और (दान लेने, ऋण देने, विक्रय करने और व्यवहार देखनेसे क्रमशः) ब्राह्मण, ऋणदाता (महाजन), व्यापारी और राजा—ये चारों धनकी वृद्धि करते हैं ॥ १६९ ॥

विमर्श—उक्त कारणसे बलात्कारपूर्वक गवाही देने, जमानत लेने और व्यवहार देखनेके लिए स्वीकार नहीं कराना चाहिये तथा ब्राह्मणदाताको, ऋणदाता ऋणीको, व्यापारी क्रयकर्ता (खरीददार) को और राजा व्यवहार (मुकदमे) वालेको बलात्कार पूर्वक प्रवृत्त नहीं करे ॥

अग्राह्य धन लेनेका निषेध—

अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः ।
न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥ १७० ॥

धनादिसे क्षीण भी राजाको अग्राह्य धन नहीं लेना चाहिये तथा समृद्धिमान् होते हुए भी (राजाको) ग्राह्य थोड़ा भी धन नहीं छोड़ना चाहिये ॥ १७० ॥

अग्राह्य अर्थके लेने आदिमें दोष—

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात्।
दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥ १७१ ॥

अग्राह्य धनके लेने तथा ग्राह्य धनके छोड़नेसे (नागरिकों प्रजाओंमें) राजाको असमर्थ समझा जाता है तथा वह राजा अधर्मके कारणसे मरकर तथा अपयशके कारणसे यहांपर अर्थात् जीता हुआ नष्ट होता है ॥ १७१ ॥

ग्राह्य धन लेने आदिसे लाभ—

स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलानां च रक्षणात्।
बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते ॥ १७२ ॥

(शास्त्रीय वचनानुसार) ग्राह्य धनको लेने तथा सजातीयोंके साथ (विवाहादि-) सम्बन्धसे और दुर्बलोंको रक्षासे राजाकी शक्ति बढ़ती है और वह मरकर (स्वर्गादि लाभसे) तथा यहांपर अर्थात् जीते हुए (ख्याति आदिसे) समृद्धिमान् होता है ॥

समानभावसे शासन—

तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये।
वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥ १७३ ॥

इस लिए राजा क्रोध तथा इन्द्रियोंको वशमें करके और अपने प्रिय तथा अप्रियका त्यागकर यमराजके समान सर्वत्र समव्यवहार रखते हुए वर्ताव करे ॥१७३॥

अधर्म पूर्वक शासनसे हानि—

यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः।
अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥ १७४ ॥

जो राजा लोभादिके कारण अधर्म कार्योंको करता है, उस दुरात्मा राजाको शत्रुलोग शीघ्र वशमें करलेते हैं ॥ १७४ ॥

धर्मपूर्वक शासनसे लाभ—

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान्धर्मेण पश्यति।
प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ १७५ ॥

जो राजा काम और क्रोधको छोड़कर धर्मपूर्वक कार्यों (व्यवहारों-मुकदमों) को देखता है; प्रजा उस राजाका अनुगमन इस प्रकार करती है, जिस प्रकार नदियां समुद्रका ॥ १७५ ॥

विमर्श—इसका गूढाशय यह है कि जिस प्रकार नदियां समुद्रमें मिलकर फिर वहांसे वापस नहीं लौटती, किन्तु तद्रूप होकर उस समुद्रकी मर्यादाकी वृद्धि तथा रक्षा करती हैं; उसीप्रकार प्रजा भी तद्रूप होकर राजाकी मर्यादाकी वृद्धि तथा रक्षा करती हैं ॥

स्वेच्छासे धन लेनेपर दण्ड—

यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे ।
स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ १७६ ॥

('मैं राजाका प्रियपात्र हूं' इत्यादि अभिमानसे) धन वसूल करते हुए ऋण-दाताको जो ऋणी निवेदन (शिकायत) करे, राजा उसे ऋण धनके चतुर्थांश धनसे दण्डित करे तथा उसका वह धन भी दिलवा दे ॥ १७६ ॥

धनाभाव होनेपर कामसे ऋणपूर्ति—

कर्मणाऽपि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः ।
समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥ १७७ ॥

यदि ऋणी ऋणको देनेमें असमर्थ हो तथा ऋणदाताकी जातिवाला या उससे छोटी जातिवाला हो तो वह ऋणी उस ऋणदाताके यहां (अपनी जातिके अनुरूप) काम करके ऋणको बराबर (चुकता) करे तथा यदि ऋणी ऋणदातासे बड़ी जातिवाला हो तो ऋणको धीरे-धीरे (किस्तोंमें) चुकता करे ॥ १७७ ॥

विमर्श—'हीनांस्तु दापयेत्' इस कात्यायनोक्त वचनके अनुसार ब्राह्मण भिन्न समान जातिवाला ऋणी हो तभी वह ऋणदाताके यहां अपनी जातिके अनुरूप कार्य करके ऋण चुकता करे, ब्राह्मण जातिका ऋणी हो तो नहीं ।

अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम् ।
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥ १७८ ॥

इस प्रकार आपसमें विवाद करते हुए मनुष्यों (वादियों तथा प्रतिवादियों) के साक्षियों तथा लेख आदिसे निर्णीत कार्यको पूरा करे ॥ १७८ ॥

धरोहर रखना—

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः ॥ १७९ ॥

कुलीन, सदाचारी, धर्मज्ञाता, सत्यवादी, बहुत परिवारवाले, धनी और सज्जनके पास विद्वान् मनुष्य धरोहर रक्खे ॥ १७९ ॥

लेनेके प्रकारसे धरोहर वापस देना—

यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः॥ १८०॥

जो मनुष्य जिसप्रकार (मुहर बन्द या बिना मुहर बन्द, गवाहके सामने या एकान्तमें इत्यादि) से जिसके हाथमें जो धन (धरोहरके रूपमें) रक्खे, उस धनको उसी प्रकार (मुहरबन्द या बिना मुहरबन्द, गवाहके सामने या एकान्तमें) उसी लेनेवालेके हाथसे वह (धरोहर रखनेवाला) वापस ले; क्योंकि जिस रूपमें दिया जाता है, उसी रूपमें लेना न्यायसङ्गत है॥ १८०॥

विमर्श—मुहर बन्दकर रक्खे हुए सुवर्णादिको उसी प्रकार मुहरबन्द वापस लेनेके बाद उसे मुहरको तोड़कर धरोहर रखनेवाला यदि कहे कि—'मेरा द्रव्य तौल या गिनकर दो' तो वह दण्डनीय होता है।

साक्षीके अभावमें धरोहरका निर्णय—

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ॥ १८१॥

यदि धरोहर लेनेवालेसे धरोहर देनेवाला स्वामी अपना धरोहर वापस मागे और वह वापस नहीं दे तो न्यायधीश धरोहर देनेवाले स्वामीसे परोक्षमें धरोहर रखनेवालेसे (इस वक्ष्यमाण (८।१८१) प्रकारसे) धरोहरको वापस मांगे।।१८१॥

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः।
अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः॥ १८२॥

दिये गये धरोहरके साक्षी नहीं होनेपर न्यायाधीश वय (वचपनको छोड़कर युवा वृद्ध आदि) तथा रूप (सौन्दर्य आदि) से युक्त गुप्तचरों से चोरी होने या राजाके छीन लेने आदि उपद्रवोंका बहाना कराकर वास्तविक सुवर्ण (या रुपया आदि) को उसी धरोहर लेनेवालेके यहां धरोहरके रूपमें रखवा दे तथा उस धरोहर लेनेवालेसे उस धरोहरको मांगे अर्थात् उन गुप्तचरोंसे मांगनेको कहे॥ १८२॥

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम्।
न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते॥ १८३॥

फिर यदि धरोहर लेनेवाला वह व्यक्ति ज्योंका त्यों उसे वापस कर दे तो न्यायाधीश समझे कि पहले धरोहर वापस नहीं देनेकी शिकायत करनेवाले व्यक्तिने उसके यहां धरोहर नहीं रक्खा था॥ १८३॥

तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि ।
उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४ ॥

और यदि उन गुप्तचरोंके दिये हुए सुवर्णादि धरोहरको लेनेवाला व्यक्ति ज्योंका त्यों वापस नहीं दे तो न्यायाधीश ताडन आदि दण्डसे उसे (धरोहर लेनेवाले व्यक्तिको) वशमें करके धरोहरके उन दोनों धनोंको दिलवावे, यह धर्मका निर्णय है ॥ १८४ ॥

पुत्रादिको धरोहर देनेका निषेध—

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे ।
नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥

निक्षेप तथा उपनिधि पिताके जीवित रहनेपर उसके पुत्र या अन्य उत्तराधिकारीको नहीं देना चाहिये, क्योंकि उसको देनेवालेके मर जानेपर वे (निक्षेप तथा उपनिधि) नष्ट हो जाते हैं और जीवित रहनेपर कभी नष्ट नहीं होते (इस कारण अनर्थ होनेके भयसे वैसा न करे) ॥ १८५ ॥

विमर्श—गिनकर या बिना मुहरबन्द किये जो द्रव्य दिया जाता है, उसे 'निक्षेप' कहते हैं तथा बिना गिने या मुहरबन्दकर जो द्रव्य दिया जाता है, उसे 'उपनिधि' कहते हैं ॥

धरोहर स्वयं लौटानेपर राजादिका कर्तव्य—

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे ।
न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥ १८६ ॥

धरोहर देनेवालेके मर जानेपर यदि उसके पुत्र या उत्तराधिकारीके लिये उस धरोहरको लेने वाला स्वयं वापस लौटा दे तो राजा या धरोहर देनेवाले स्वामीके उत्तराधिकारी बान्धवादि (या पुत्र) को धरोहर वापस करनेवाले उस व्यक्तिपर अन्य द्रव्यके बाकी रह जानेका आक्षेप नहीं करना चाहिये ॥ १८६ ॥

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् ।
विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥

(उस धरोहर वापस लौटानेवालेपर और धरोहर बाकी रह जानेका सन्देह होने पर उस धरोहर देनेवाले व्यक्तिका बान्धवादि उत्तराधिकारी) निष्कपट होकर प्रेमपूर्वक ही उस शेष बचे हुए धरोहरका निश्चय करे तथा उसके व्यवहारको विचारकर अर्थात् 'यह धर्मात्मा है' ऐसा मानकर सामके प्रयोगसे ही निर्णय करे ॥

मुहरबन्द धरोहर देनेपर—

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने ।
समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥

सब प्रकारके धरोहरोंके देनेको अस्वीकार करनेपर उसका निर्णय करनेके लिए उक्त विधान ('साक्ष्यभावे–' (८।१८२) आदि) कहा गया है। यदि मुहरबन्द धरोहर लेनेवाला ज्योंका त्यों (ठीक-ठीक मुहरबन्द) धरोहरको वापस कर दे तथा उसे खोलनेपर उसमें से कुछ नहीं ले तो धरोहर देनेवाले स्वामीको कुछ नहीं मिलता है ॥ १८८ ॥

धरोहरके चोरी आदि होनेपर—

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा ।
न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥ १८९ ॥

धरोहर रक्खे हुए द्रव्यमें-से धरोहरको लेनेवाला स्वयं कुछ नहीं ले और वह धरोहरका द्रव्य चोरी हो जाय, पानीकी बाढ़में बह जाय या आग लगनेसे जल जाय, तो धरोहर लेनेवालेसे धरोहर देने वाला कुछ नहीं पाता है ॥ १८९ ॥

धरोहर नहीं वापस करने आदिपर सामादिसे निर्णय तथा दण्ड—

निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च ।
सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

धरोहरका अपहरण करनेवाले (लेकर वापस नहीं देनेवाले) और बिना धरोहर दिये ही मांगनेवाले व्यक्तियोंका निर्णय सामादि उपायों तथा वेदोक्त शपथोंके द्वारा न्यायाधीशको करना चाहिये ॥ १९० ॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥ १९१ ॥

जो दिये हुए धरोहरोंको वापस नहीं करता तथा जो धरोहरको बिना दिये ही मांगता है; उन दोनोंको न्यायाधीश (सोना, मोती और मणि (जवाहारात) आदि उत्तम द्रव्यका विषय होनेपर) चोरके समान दण्डित करे तथा (तांबा आदि सामान्य द्रव्यका विषय होनेपर) उसके बराबर अर्थदण्डसे दण्डित करे अर्थात् उतना रुपया जुर्माना करे ॥ १९१ ॥

निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम् ।
तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

राजा (या न्यायाधीश) निक्षेपका हरण करने (वापस नहीं देने) वाले मनुष्यसे उतना ही धन दिलवादे तथा उपनिधिको हरण करनेवाले मनुष्यको भी वही (उतना ही) दण्ड दे अर्थात् धरोहरके बराबर धन दिलवादे ॥ १९२ ॥

विमर्श—पूर्वश्लोक (८।१९१) में निक्षेप तथा उपनिधिको अपहरण करने (लेकर वापस नहीं देने) वाले ब्राह्मणेतर व्यक्तिको चोरके समान दण्डित करनेका विधान बताकर शारीरिक दण्डादिकी आज्ञा दी गयी है, क्योंकि उक्त अपराध करनेवाले ब्राह्मणसे इस श्लोक द्वारा 'दापयेत्' इस पदसे धरोहरके बराबर धन दिलवानेकी आज्ञा दी गयी है। इसी प्रकार इस श्लोकमें कहा गया दण्ड-विधान पहली वार अपराध करनेपर और पूर्व श्लोक (८।१९१) में कहा गया दण्ड-विधान बार-बार अपराध करनेपर कहनेसे पूर्व श्लोक (८।१९१) के साथ इस श्लोकको पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिये। यदि विना धरोहर दिये ही कोई व्यक्ति किसो व्यक्तिसे धरोहर मांगने लगे तो समान न्यायसे उसे भी धरोहरके समान धन दिलवानेका दण्ड देना चाहिये। निक्षेप तथा उपनिधिका लक्षण पहले (८।१८५) विमर्शमें कह आये हैं।

छलसे दूसरेका धन हरण करनेपर दण्ड—

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः।
ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १९३ ॥

जो मनुष्य कपटसे (तुमपर राजा क्रुद्ध हैं, इतना धन मुझे दोगे तो मैं तुम्हारी रक्षा कर दूंगा' इस प्रकार कहकर या धनादिका लोभ देकर) दूसरेका धनहरण करे, उसे इस काममें सहायता देनेवालोंके साथ सब लोगोंके सामने राजा अनेक प्रकारके वधों (हाथ-पैर काटने बांधने या कोड़े या बेंतोंसे मारने) से मारे ॥

विमर्श—यहांपर अपराधानुसार दण्डविधान राजाको करना चाहिये।

उक्त धरोहरके विषयमें असत्य बोलने पर दण्ड—

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥

साक्षीके सामने जिसने जितना धरोहर रक्खा है, (उस विषयके परिणामके विषयमें विवाद उपस्थित होनेपर साक्षी जितना कहे) उतना ही वह धरोहर समझना चाहिये और उसके विरुद्ध कहनेवाला दण्डके योग्य है ॥ १९४ ॥

धरोहर देने तथा वापस करने का प्रकार—

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा।
मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १९५ ॥

जिसने जिस प्रकार एकान्तमें धरोहर दिया है और जिसने एकान्तमें ही लिया है, उसे एकान्तमें ही लेना तथा वापस करना चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार दिया जाता है, उसी प्रकार वापस किया जाता है ॥ १९५ ॥

विमर्श—'यो यथा निक्षिपेत्—' (८।१८०) श्लोकमें केवल धरोहर देनेका विधान कहा गया है तथा इस श्लोकमें वापस करनेका; अत एव उक्त श्लोकके साथ इसकी पुनरुक्ति नहीं होती ॥

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च।
राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम् ॥ १९६ ॥

राजा (या न्यायाधीश) मुहरबन्द या विना मुहरबन्द दिये गये धरोहरका अथवा भोगार्थ प्रेमपूर्वक दी गयी (धन, वस्त्र-आभूषणादि) मंगनीकी वस्तुओंका निर्णय लेनेवालेको यथासम्भव अपीडित करता हुआ करे ॥ १९६ ॥

विना स्वामित्वके वेचनेपर दण्ड—

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥ १९७ ॥

जो मनुष्य (किसी वस्तुका स्वामी नहीं होता हुआ भी उस वस्तुके) स्वामीकी आज्ञा लिये विना ही दूसरेकी कोई वस्तु बेंच दे। और (इस प्रकार) चोर होता हुआ भी वह अपनेको चोर नहीं माने तो राजा उसके साक्षीको प्रमाणित नहीं माने ॥

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम्।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ १९८ ॥

यदि दूसरेकी वस्तु उक्त प्रकार (८।१९३) से बेचनेवाला (उस बेची गयी वस्तुके स्वामीके) वंशका (पुत्र आदि सबन्धी) हो तो उसे राजा ६०० पण दण्ड (जुर्माना) करे और उस बेची गयी वस्तुके स्वामीके वंशका नहीं हो, और उस वस्तुके स्वामी या उसके पुत्र आदिसे वह (बेची गयी) वस्तु दानमें या बेचनेसे नहीं मिली हो तो उस वस्तुको बेचनेवाला वह मनुष्य चोरके पापको प्राप्त करता है अर्थात् राजाको उसे चोरके समान दण्डित करना चाहिये ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥

स्वामी नहीं होनेपर भी जो किया जाय, दिया जाय या बेचा जाय; उसे किया हुआ, दिया हुआ या बेचा हुआ नहीं मानना चाहिये; क्योंकि व्यवहारमें जैसी

मर्यादा है, वैसा नहीं किया गया है ॥ १९९ ॥

[अनेन विधिना शास्ता कुर्वन्नस्वामिविक्रयम् ।
अज्ञानाज्ज्ञानपूर्वं तु चौरवद्दण्डमर्हति ॥ १५ ॥]

शासक (शासन करनेवाला राजा या न्यायाधीश) किसी वस्तु के स्वामी नहीं होनेपर भी उस वस्तुको अज्ञानपूर्वक बेचनेवालाका शासन (दण्डित) करे और ज्ञानपूर्वक (जान-बूझकर) बेचनेवाले व्यक्तिको चोरके समान दण्डित करे ॥

आगमसहित भोगकी प्रमाणता—

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।
आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥ २०० ॥

जिस किसी वस्तुका उपभोग देखा गया हो और उसके मिलनेका साधन नहीं देखा जाय अर्थात् यह वस्तु इस मनुष्यके यहां खरीदनेसे आयी या दानादिसे, ऐसा कोई प्रमाणीभूत साधन नहीं देखा जाय तो उस वस्तुके आनेके कारणको ही मुख्य मानना चाहिये, उपभोग को नहीं, ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥ २०० ॥

सर्वप्रत्यक्ष खरीदनेपर मूलप्राप्ति—

विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ २०१ ॥

जो कोई वस्तु विक्रय (बेंचनेके) स्थान (बाजार या दूकान आदि) से बेचनेवालों अर्थात् अनेक व्यापारियोंके प्रत्यक्षमें खरीदी जाती है, उसी दोषरहित धनको न्यायपूर्वक खरीदनेवाला बेचनेवालेसे प्राप्त करता है अर्थात् वस्तुका स्वामी नहीं होनेपर सर्वप्रत्यक्ष बेची गयी उस वस्तुका मूल्य खरीददारको बेचनेवालेसे प्राप्तव्य होता है ॥

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः ।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥ २०२ ॥

स्वामी नहीं होनेपर किसी वस्तुको बेचनेवालेसे निश्चित रूपसे सर्व प्रत्यक्ष (बाजारमें) खरीदनेवाला यदि उस बेचनेवालेको परदेश चले जाने या मर जाने आदिके कारण नहीं ला सके तो खरीदनेवाले अदण्डनीय उस व्यक्तिको राजा छोड़ दे (दण्डित न करे), किन्तु बेचे हुए उस वस्तुको, खरीदनेवालेसे उस वस्तुका स्वामी प्राप्त करता है ॥ २०२ ॥

विमर्श—इस श्लोकके चतुर्थपादके विषयमें बृहस्पतिका मत है कि उस वस्तुका

स्वामी उस प्रकार खरीदनेवालेको आधामूल्य देकर वह वस्तु प्राप्त करे, ऐसा करके दोनों (वस्तुका स्वामी तथा उक्त रूपमें अस्वामीसे खरीदनेवाला) अपने आधे-आधे मूल्यको अपहृत (चोरी गया) समझें (म० मु०) ।

मिलावटी वस्तु बेचनेपर दण्ड—

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ।
न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥

अधिक मूल्यवाली वस्तुमें थोड़े मूल्यवाली वस्तु (यथा-कुङ्कुममें कुसुम्भ, घीमें वनस्पति, इत्यादि) को मिलाकर साधारण वस्तुको अत्युत्तम बतलाकर तौलमें कम और दूर या अन्धकार आदिके कारण जिसका वास्तविक रूप नहीं मालूम पड़ता ऐसी वस्तुएं नहीं बेची जा सकतीं ॥ २०३ ॥

विमर्श—उक्त रूपसे मिलावटी आदि वस्तुको बेचनेवाला दूसरेकी वस्तुको बेचनेवालेके समान दण्डनीय होता है ।

दूसरी कन्याको दिखाकर उससे दूसरीके साथ विवाह करानेपर—

अन्यां चेद्दर्शयित्वाऽन्या वोढुः कन्या प्रदीयते ।
उभे त एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥

दूसरी सुन्दरी या विदुषी कन्याको दिखाकर बादमें यदि उससे भिन्न दूसरी कन्याके साथ (विवाह कराकर उसे) विवाह करनेवाले (पति) के लिए दी जाय तो वह (विवाह करनेवाला पति) उसी मूल्यमें उन दोनों कन्याओंसे विवाह करे ऐसा मनुने कहा है ॥ २०४ ॥

विमर्श— मूल्य देकर कन्याके साथ विवाह करना एक प्रकारसे खरीदना ही है, अतएव उसका दण्डविधान इस प्रकरणमें कहा गया है ।

पगली आदि कन्याके साथ विवाह करानेपर—

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना ।
पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥ २०५ ॥

पगली, कुष्ठ रोगवाली और क्षतयोनि (विवाहसे पहले मैथुन की हुई) कन्याके दोषोंको पहले बतलाकर कन्यादान करनेवाला दण्डभागी नहीं होता ॥ २०५ ॥

विमर्श—किन्तु कन्याके दोषको विना बतलाये उस कन्याका दान करनेवाला आगे वक्ष्यमाण (८।२२४) वचनसे दण्डभागी होता ही है ॥

पुरोहितकी दक्षिणा देनेमें—

ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् ।

तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सह कर्तृभिः ॥ २०६ ॥

यज्ञमें यदि वरण किया हुआ ऋत्विक् (रोगादिके कारण) अपना काम नहीं करावे तो उसके किये गये कामके अनुसार बाकी कामको पूरा करनेवालोंको उसका भाग देना चाहिये ॥ २०६ ॥

दक्षिणा देनेके बाद काम छोड़नेपर—

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् ।
कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥

(माध्यन्दिन यज्ञादिमें) सब दक्षिणा लेकर अपने कामको (रोगादिके कारण-शठतादि दुर्भावनाके कारण नहीं) छोड़ता हुआ ऋत्विक् सब दक्षिणा का भागी होता है (इस अवस्थामें यज्ञकर्ताको) बाकी कार्य दूसरोंसे करवाना तथा) अलग दूसरी दक्षिणा उसको देनी चाहिये ॥ २०७ ॥

यस्मिन्कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः ।
स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥ २०८ ॥

आधानादि जिन कर्मोंमें प्रत्येक अङ्गकी जो दक्षिणा बतलायी गयी है, उनको वही (उस अङ्गका कार्य करानेवाला ही) ऋत्विक् ले अथवा उन सब अङ्गोंकी दक्षिणाओंको विभक्तकर सब ऋत्विक् परस्परमें बांट लें ॥ २०८ ॥

अध्वर्यु आदिकी दक्षिणा—

रथं हरेत चाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम् ।
होता वाऽपि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनः क्रये ॥ २०९ ॥

किन्हीं शाखावालोंके आधानमें अध्वर्यु रथको, ब्रह्मा तेज घोड़ेको, होता घोड़ेको तथा उद्गाता सोमलताको खरीदनेपर उसे वहन करने (ढोने या लाने) वाली गाड़ीको प्राप्त करता है ॥ २०९ ॥

विमर्श—यह दक्षिणा प्राप्त करनेकी व्यवस्था आम्नायविशेषानुसार है, पक्षान्तर यह है कि जिसके लिए जो दक्षिणा शास्त्रोंमें कही गयी है, उसे वे अध्वर्यु आदि प्राप्त करें ॥

सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे ।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥

सब ऋत्विजोंमें प्रथम मुख्य चार ऋत्विज् सब दक्षिणाका आधा भाग, द्वितीय चार ऋत्विज् उन प्रथम चार ऋत्विजोंसे अर्धांश, तृतीय चार ऋत्विज् तृतीयांश

और चतुर्थ चार ऋत्विज् चतुर्थांश दक्षिणा प्राप्त करते हैं ॥ २१० ॥

विमर्श—इसका स्पष्ट आशय यह है—१ होता, २ अध्वर्यु, ३ ब्रह्मा, ४ उद्गाता, ५ मैत्रावरुण, ६ प्रतिप्रस्थाता, ७ ब्राह्मणाच्छंसी, ८ प्रस्तोता, ९ अच्छावाक्, १० नेष्टा, ११ आग्नीध्र, १२ प्रतिहर्ता, १३ ग्रावस्तुत्, १४ उन्नेता, १५ पोता और १६ सुब्रह्मण्य, ये १६ ऋत्विज् होते हैं। इनमें 'होता' आदि प्रथम चार मुख्य ऋत्विज् सम्पूर्ण दक्षिणाका आधा भाग अर्थात् ४८ गायें (४८ ÷ ४ = १२, इस प्रकार प्रत्येक ऋत्विज् १२–१२ गायें), 'मैत्रावरुण' आदि द्वितीय चार ऋत्विज् उन प्रथम चार ऋत्विजोंका आधा भाग अर्थात् ४८ ÷ २ = २४ गायें (२४ ÷ ४ = ६, इस प्रकार प्रत्येक ऋत्विज् ६–६ गायें); 'अच्छावाक्' आदि तृतीय चार ऋत्विज् प्रथम चार ऋत्विजोंका तृतीय भाग (तिहाई) अर्थात् ४८ ÷ ३ = १६ गायें (१६ ÷ ४ = ४, इस प्रकार प्रत्येक ऋत्विज् ४–४ गायें), तथा 'ग्रावस्तुत्' आदि अन्तिम चार ऋत्विज् प्रथम चार ऋत्विजोंका चौथा भाग (चौथाई) अर्थात् ४८ ÷ ४ = १२ गायें, (१२ ÷ ४ = ३, इस प्रकार प्रत्येक ऋत्विज् ३–३ गायें) दक्षिणामें प्राप्त करते हैं। इसके अनुसार (४८ + २४ + १६ + १२ = १००) कुल १०० गायें दक्षिणामें उन १६ ऋत्विजोंको दी जाती हैं। यही बात 'तं शतेन दीक्षयति' इस श्रुतिसे भी प्रमाणित होती है। यद्यपि 'सर्वेषामर्धिनो मुख्याः' 'होता' आदि प्रथम चार मुख्य ऋत्विजोंको सब दक्षिणाका आधा भाग कहनेसे (१०० ÷ २ = ५०) ५० गायें दक्षिणामें मिलनी चाहिये, तथापि ४८ सङ्ख्याको ५० सङ्ख्याके समीपवर्ती होनेसे आधा कहा गया है।

सम्मिलित कार्य करनेपर—

सम्भूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः ।
अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥

मिलकर काम करनेवाले मनुष्यों (कारीगर आदि) को इसी विधि (पूर्वोक्त यज्ञ-दक्षिणा भाग) के अनुसार (विज्ञान, व्यापार, कला आदिकी कुशलताका ध्यान रखते हुए) हिस्सेका बटवारा कर लेना चाहिये ॥ २११ ॥

दानद्रव्यको लौटानेका नियम—

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम् ।
पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥ २१२ ॥

धर्मार्थ (यज्ञादि कार्यके लिये) मांगनेवाले किसीको धन दे दिया गया हो (अथवा देनेका वचन दिया गया हो) और वह धन धर्मकार्यमें नहीं लगाया जाय तो दाता उस दिये गये धनको वापस ले लेवे (अथवा देनेका वचन दिया हो तो मत देवे) ॥ २१२ ॥

उक्त नियमानुसार वापस नहीं देनेपर दण्ड—

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ।
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥ २१३ ॥

यदि धर्मार्थ कहकर लिया हुआ धन वह (याचक धर्मकार्यमें नहीं लगाते हुए भी) दाताको मांगनेपर मद या लोभके कारण वापस नहीं लौटावे (अर्थात् स्वीकृत धनको दातासे बलपूर्वक ग्रहण करे) तो राजा उस चोरीके पापकी निवृत्ति (दूर करने) के लिए उसे (उक्त धन नहीं लौटानेवालेको) एक सुवर्ण (८।१३४) से दण्डित करे (और दाताको उक्त धन तो दिलवा ही दे) ॥ २१३ ॥

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि—) दिये गये धनको नहीं लौटानेपर यह धर्मयुक्त विधान कहा, इसके बाद वेतन नहीं देनेपर विधानको मैं कहूंगा ॥

स्वस्थ कर्मचारीको काम नहीं करनेपर दण्ड—

भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥ २१५ ॥

वेतन पानेवाला जो कर्मचारी स्वस्थ रहता हुआ भी कहनेके अनुसार काम नहीं करे तो राजा उसे आठ कृष्णल (रत्ती) सुवर्ण आदिसे दण्डित करे और उसका वेतन नहीं दिलवावे ॥ २१५ ॥

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः ।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६ ॥

वेतन पानेवाला जो कर्मचारी रोगी रहता हुआ काम नहीं करे तथा पुनः स्वस्थ होकर कहनेके अनुसार करने लगे तो वह बहुत समयके बाद भी आरम्भसे वेतन पाता है ॥ २१६ ॥

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् ।
न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ २१७ ॥

जो कर्मचारी कहे हुए कामको स्वयं रोगी होकर दूसरेसे नहीं करावे तथा स्वस्थ होकर स्वयं भी नहीं करे तो वह कुछ किये गयेकामका भी वेतन नहीं पाता है ॥

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि—) वेतन लेनेके कामका यह (८।२१५–२१७) सम्पूर्ण धर्म मैंने कहा, अब आगे समय-भङ्ग करने (शर्त तोड़ने) वालोंका धर्म (दण्डादिकी व्यवस्था) कहता हूं॥ २१८॥

समय (शर्त) भङ्ग करनेपर दण्ड—

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन सम्विदम्।
विसम्वदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥ २१९॥

ग्रामवासी, देशवासी या व्यापारी आदिके समुदाय (कम्पनी आदि) का जो व्यक्ति सत्यादिके शपथपूर्वक किये गये समय ('यह काम मैं इतने दिनोंमें पूरा करूंगा' इत्यादि रूपमें शर्त-ठेका) को लोभ आदिके कारण भङ्ग करे; उसे देशसे निकाल दे—॥ २१९॥

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्।
चतुःसुवर्णान्षण्निष्कांश्छतमानं च राजतम्॥ २२०॥

अथवा उक्त समय-भङ्ग करने (शर्त तोड़ने) वालेको राजा निग्रहकर उससे चार 'सुवर्ण' (८।१३४), छः 'निष्क' (८।१३७) या 'शतमान' (८।१३७) अर्थात् ३२० रत्ती चांदीका दण्ड (जुर्माना) दिलवावे॥ २२०॥

विमर्श—इन तीन प्रकारके दण्डोंसे अपराध के अनुसार पृथक्-पृथक् या सम्मिलित तीनों दण्डोंसे राजा अपराधीको दण्डित करे॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम्॥ २२१॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि—) धर्मात्मा राजा ग्राम या जाति-समूहमें समय-भङ्गकरने (शर्त तोड़ने) वालोंके लिए यह (८।२१९–२२०) दण्ड-विधान करे॥ २२१॥

क्रय-विक्रय करनेपर मूल्य वापस लेना या देना—

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत्।
सोऽन्तर्दशाहात्तद् द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा॥ २२२॥

कोई वस्तु (शीघ्र नष्ट होनेवाली अचल सम्पत्ति या बहुत समयबाद नष्ट होनेवाली भूमि, घर, बगीचा आदि अचल सम्पत्ति) खरीदकर या बेचकर जिसको पश्चात्ताप होने लगे तो वह दश दिनके भीतर (यदि सामान खरीदा हो तो) वापस कर दे तथा (यदि बेचा हो तो) वापस ले ले॥ २२२॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् ।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ २२३ ॥
[स्याच्चतुर्विंशतिपणो दण्डस्तस्य व्यतिक्रमे ।
पणस्य दशमे भागे दाप्यः स्याददतिपातिनि ॥ १६ ॥
क्रीत्वा विक्रीय वा पण्यमगृह्णन्न ददतस्तथा ।
पणा द्वादश दाप्यश्च मनुष्याणां च वत्सरान् ॥ १७ ॥
पणा द्वादश दाप्यः स्यात्प्रतिबोधे न चेद्भवेत् ।
पशूनामप्यनाख्याने त्रिपदादर्पणं भवेत् ॥ १८ ॥]

दश दिनके बाद तो (खरीदी हुई वस्तुको) नहीं वापस दे और बेची (हुई वस्तुको राजा) नहीं वापस दिलवावे। (बेची हुई वस्तुको) बलात्कारसे लेता हुआ और (खरीदी हुई वस्तुको) देता हुआ ६०० पण (८।१३६) से राजाद्वारा दण्डनीय होता है ॥ २२३ ॥

विना कहे दोषयुक्त कन्याका दान करनेपर दण्ड—

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥ २२४ ॥

जो दोषयुक्त कन्याके दोषको नहीं कहकर उस कन्याका दान कर दे अर्थात् उसके साथ विवाह करा दे, राजा उसको स्वयं ९६ पण (८।१३६) दण्डित करे ॥

कन्याके असत्य दोष कहनेपर दण्ड—

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः ।
स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥ २२५ ॥

जो मनुष्य द्वेषसे कन्याको 'यह कन्या नहीं है' अर्थात् क्षतयोनि हो गयी है ऐसा कहे, (और पूछनेपर) वह उस कन्या का दोष नहीं प्रमाणित करे तब उसको राजा सौ पण (८।१३६) से दण्डित करे ॥ २२५ ॥

दोषयुक्त कन्याकी निन्दा—

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥ २२६ ॥

विवाह-सम्बन्धी मन्त्र कन्याओंके ही विषयमें नियत हैं, अकन्याओंके (क्षत-योनि होनेसे दूषित कन्याओं) के विषयमें कहीं (किसी शास्त्रोंमें) भी नहीं; क्योंकि वे (दूषित कन्याएं) धर्मकार्यसे हीन हैं ॥ २२६ ॥

विमर्श—दूषित कन्याका विवाह मन्त्रोंसे करनेपर भी वह विवाह धर्मयुक्त नहीं माना जाता है। गान्धर्व विवाह (३।३२) में हवन, मन्त्रादिका विधान शास्त्रसम्मत माना गया है और क्षतयोनिपूर्वक भी होनेवाले उस विवाहको मनुने क्षत्रियके लिए धार्मिक विवाह माना है (३।२३, २५,२६); अतएव 'सामान्य-विशेष' न्यायसे क्षतयोनि-विषयक यह अधार्मिक विवाह सम्बन्धी वचन दूसरेके लिए है॥

सप्तपदी—

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥ २२७॥

विवाह-सम्बन्धी मन्त्र भार्यात्व (सहधर्मिणीपन) में निश्चित रूपसे कारण हैं, उन (विवाह सम्बन्धी मन्त्रों) की सिद्धि विद्वानोंको सप्तपदी होनेपर जाननी चाहिये॥ २२७॥

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत्।
तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत्॥ २२८॥

जिस जिस कार्यके करनेके बाद मनुष्यको पश्चात्ताप हो, उस उस कार्यमें इसी प्रकार (दश दिनोंके भीतर—८।२२२) धर्मयुक्त मार्गमें राजा उसे स्थापित करे॥

पशुके स्वामी तथा रक्षकका विवाद—

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे।
विवादं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः॥ २२९॥

(भृगुमुनि ऋषियोंसे कहते हैं कि—) अब मैं पशुओंके मालिकों तथा रक्षकों (रखवाली करनेवालों या चरवाहों) में मतभेद होनेपर धर्म-तत्त्वके अनुसार यथोचित व्यवहार (मतभेद दूर करनेके मार्ग) को कहूंगा॥ २२९॥

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात्॥ २३०॥

स्वामी द्वारा (रखवालोंको सौंपे गये पशुओंके योगक्षेमकी निन्दा दिनमें रखवालोंकी तथा रखवालों द्वारा स्वामीको घरमें सौंपे गये पशुओंके योगक्षेमकी निन्दा रातमें स्वामीकी होती है, अन्यथा (स्वामीके घरमें पशु रखवालों द्वारा नहीं सौंपे गये हों अर्थात् रखवालोंके जिम्मे ही रातमें भी वे पशु हों तब) उनके योगक्षेमकी निन्दा रखवालोंकी ही होती है॥ २३०॥

विमर्श—यहां योगक्षेम' शब्दका अभिप्राय यह है कि—रखवालोंके प्रमादसे पशुओंको अथवा पशुओं द्वारा किसीके खेत आदिके चरनेसे किसी दूसरे व्यक्तिको कोई हानि नहीं पहुंचे। स्वामी या रखवालेकी निन्दा होनेका तात्पर्य पूर्वोक्त हानि होनेपर वे दोषी समझे जाते हैं॥

दुग्ध वेतनका निर्णय—

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम्।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः॥ २३१॥

जो गोरक्षक गायोंके स्वामीसे वेतनके स्थानमें धन नहीं लेकर दूध लेता हो वह दश गायोंमें एक अच्छी गौ चुनकर वेतनके बदले उसीका दूध लिया करे॥

विमर्श—ऐसे गोरक्षक (रखवाले) को वेतनके बदले दश गायोंमें-से इच्छानुसार चुनी हुई श्रेष्ठ गौका केवल दूध ही मिलता है, अन्न या रुपया-पैसा नहीं मिलता इस प्रकार एक गायके दूध लेनेसे दश गायोंकी रखवाली करनेका उत्तरदायित्व उस पर रहता है॥

पशुके नष्ट होनेपर दण्ड—

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु॥ २३२॥

यदि कोई पशु भूल जाय, कृमि आदिसे, कुत्तेके काटनेसे, ऊंचे-नीचे स्थान या मार्गमें गिरनेसे या फंसनेसे मर जाय, अथवा रखवालेकी (उपेक्षाजन्य) पुरुषार्थ-शून्यतासे मर या भाग जाय तो उस पशुका देनदार रखवाला ही होता है॥२३२॥

पशुका अपहरण होनेपर—

विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति॥ २३३॥

यदि घोषणाकर पशुकी चोरी होनेके स्थानके पासमें रहनेपर रखवाला स्वामीको उसकी चोरी होनेकी उसी समय सूचना दे दे (अथवा—जोरसे चिल्लाकर स्वामीको सूचित कर दे), तब वह उस चुराये गये पशुका देनदार नहीं होता है॥२३३॥

विमर्श—घोषणा करनेसे चोरोंकी प्रबलता तथा अधिकता समझी जाती है ऐसी अवस्थामें विवश होनेके कारण तथा चिल्लाकर सूचित करनेपर भी सहायतार्थ स्वामी या समीपके लोगोंको सूचित कर देनेके कारण रखवाला पशुरक्षाके उत्तरदायित्वसे मुक्त हो जाता है॥

स्वयं मरे पशुके कान आदि दिखाना--

कर्णौ चर्म च बालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम्।
पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि दर्शयेत्॥ २३४॥

पशुओं (या एक पशु) के स्वयं मरनेपर रखवाला उस (पशु) के कान, चमड़ा, वाल (पूंछके बाल), चर्वी, गोरोचन, और अन्य चिह्न (खुर, सींग आदि) लाकर गो-स्वामीको दिखलावे॥ २३४॥

भेड़-बकरीके भेंड़िया द्वारा अपहरण करनेपर—

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति।
यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत्॥ २३५॥

बकरी या भेंड़को, भेंड़िया द्वारा रोके जानेपर यदि रखवाला बचानेके लिए नहीं आवे और उस बकरी या भेंड़को भेड़िया ले जाय बलात्कार पूर्वक तो उसका दोषी रखवाला होता है॥ २३५॥

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्विषी॥ २३६॥

रखवालेके द्वारा घेरनेपर वनमें झुण्ड बनाकर चरती हुई बकरी या भेंडको यदि छलांग मारता हुआ (या चुपचाप अर्थात् धीरेसे एकाएक) आकर भेंड़िया मार डाले (या ले जाय) तो उसका दोषी चरवाहा नहीं होता है॥ २३६॥

ग्रामादिके पास त्याज्य गोचर भूमिका प्रमाण—

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः।
शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु॥ २३७॥

ग्रामके चारो तरफ १०० धनुष अर्थात् ४०० हाथ तक या तीनबार छड़ी फेंकनेसे जितनी दूर जाय उतनी दूर तक और नगरके चारों तरफ ग्रामसे तिगुनी भूमि पशुओंके घूमने फिरनेके लिए छोड़नी चाहिये (उतनी दूरीतक कोई पौध या फसल नहीं बोनी चाहिये)॥ २३७॥

उक्त गोचर भूमिमें फसल नष्ट करनेपर—

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि।
न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम्॥ २३८॥

उतनी (८।२३७) भूमिके भीतर कांटे आदिका घेरा बनाकर बोये गये धान्य आदिको यदि कोई पशु नष्ट कर दे तो राजा पशुके रखवालेको दण्डित न करे॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् ।
छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥

उतनी (८।२३७) भूमिके भीतर धान्य आदि बोए गये खेतका घेरा यदि इतना ऊंचा हो कि बाहरसे ऊंट धान्यको नहीं देख सके तथा उस घेरेके छिद्रसे कुत्ते या सूअरका मुह भीतर नहीं जा सके इस प्रकार खेतका स्वामी छिद्रोंको बन्द कर दे ॥

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः ।
सपालः शतदण्डार्हो विपालान्वारयेत्पशून् ॥ २४० ॥

रास्ते या ग्राम वा नगरके पास उक्त (८।२३९) घेरेवाले खेतके धान्यादि फसल को पशु रखवालेके रोकनेसे किसीप्रकार घुसकर चरने लगें तो राजा उस रखवालेको सौ पण (८।१३६) से दण्डित करे तथा यदि रखवालेके नहीं रहनेपर उक्त खेतमें पशु चरने लगे तो खेतका स्वामी उसे भगा दे ॥ २४० ॥

अन्य खेतमें पशुके चरनेपर दण्ड विधान—

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।
सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥

रास्ता तथा ग्राम या नगरके दूर (८।२३७) प्रमाणके बाद) खेतमें पशुके चरनेपर रखवालेको सवा पण (८।१३७) से दण्डित करना चाहिये तथा सम्पूर्ण (या अत्यधिक) खेतके पशुद्वारा चरे जानेपर (अपराधके अनुसार) रखवालेसे या पशुस्वामीसे पूरी क्षतिको खेतके स्वामीके लिये दिलवाना चाहिये ऐसा निश्चय है ॥

सांड़ आदिके चरनेपर दण्डाभाव—

अनिर्दशाहां गां सूतो वृषान्देवपशूँस्तथा ।
सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत् ॥ २४२ ॥

दश दिनके भीतरकी व्याई हुई गाय, (चक्रत्रिशूलसे चिह्नितकर वृषोत्सर्गमें छोड़ा गया) सांड़, और (काली, शिव या विष्णु आदि) देवताओंके उद्देश्यसे छोड़ा गया पशु रखवालेके साथ हो या विना रखवालेके हों और खेतको चरजांय तो रखवाला दण्डनीय नहीं होता है ऐसा मनु भगवानने कहा है ॥ २४२ ॥

राजदेय भागकी हानि करनेपर—

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत् ।
ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रिकस्य तु ॥ २४३ ॥

किसानके दोषसे उसीके पशुद्वारा खेत चरे जानेके कारण अथवा असमयमें बोनेके कारण जितने राजदेय भाग (राजाको कररूपमें देनेयोग्य अन्न) की हानि हो, उसका दशगुना दण्ड उस किसानको होता है तथा यदि किसानकी अज्ञानकारीमें उसके नौकरोंके दोषसे उक्त प्रकारकी हानि हो तो उस हानिका पांचगुना दण्ड उस किसानको होता है ॥ २४३ ॥

विमर्श—पूर्वकालमें राजाको खेतोंसे अन्नके रूपमें मालगुजारी (लगान) मिलती थी, जैसा कि अब भी कहीं-कहीं सिकमी खेत किसानको देकर उससे अन्न लेनेकी प्रथा है। जहांपर नगद रुपया लगान मिलता है, वहांपर यह विधान लागू नहीं होता, क्योंकि वहां तो अन्न पैदा नहीं होनेपर भी किसानसे राजकर्मचारी नियत लगान प्रायः वसूल कर ही लेता है।

एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे ॥ २४४ ॥

धर्मात्मा राजा पशुओंके स्वामी तथा रखवालोंमें पशु-रक्षा नहीं होनेके अपराध तथा खेत आदि चरनेके व्यतिक्रम होनेपर उस नियम (८।२३०-२४३) को लागू करे ॥ २४४ ॥

सीमाका विवाद होनेपर—

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।
ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ २४५ ॥

(राजा) दो गांवोंमें सीमाका विवाद होनेपर ज्येष्ठ मासमें सीमाके चिह्नोंके स्पष्ट हो जानेपर उसका निर्णय करे ॥ २४५ ॥

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् ।
शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ २४६ ॥

(राजा) सीमापर बड़, पीपल, पलाश (ढाक), सेमल, साल, ताड़ और दूधवाले (गूलर आदि) पेड़ोंको (सीमाके चिह्नको स्थिर बने रहनेके लिये) लगवावे ॥

गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च ।
शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥ २४७ ॥

(राजा) गुल्म, अनेक प्रकारके बांस, शमी, लता, ऊंचे-ऊँचे मिट्टीके टीले, मूंज, कुब्जक गुल्मोंको सीमापर करे (यथायोग्य लगावे या बनावावे); वैसा करनेसे सीमा नष्ट नहीं होती है ॥ २४७ ॥

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ।
सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥

(राजा) तडाग, कूंए; बावड़ी, झरने और देवोंके मन्दिरोंको दो सीमाओंके सन्धि-स्थल बनवावे ॥ २४८ ॥

विमर्श—इन स्थानोंपर जल या पूजादिके लिए आनेवालोंसे बातोंको सुननेकी परम्पराद्वारा लोग विवाद पड़नेपर साक्षी हो सकते हैं, जिससे निर्णय देनेमें राजाको सरलता होगी ।

गुप्त वस्तुओंको सीमापर रखना—

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् ।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ २४६ ॥

संसारमें सीमाके विषयमें मनुष्योंका मतभेद सर्वदा देखकर (राजा) दूसरे प्रकारके (आगे कहे गये) गुप्त (नहीं दिखलायी पड़नेवाले) सीमाचिह्नोंको भी बनवावे ॥ २४९ ॥

अश्मनोऽस्थीनि गोवालाँस्तुषान्भस्म कपालिकाः ।
करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा वालुकास्तथा ॥ २५० ॥

पत्थर, हड्डियां, गौ (पशु)ओंके वाल, भूसा, राख, खोपड़ियां, सूखा गोबर, ईंट, कोयला, कङ्कड़ और रेत—॥ २५० ॥

यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् ।
तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ २५१ ॥

तथा इस प्रकारकी जिन वस्तुओंको पृथ्वी बहुत दिनों तक गलाकर अपनेमें न मिला ले, अर्थात् जो वस्तु पृथ्वीमें बहुत दिनों तक गड़े रहनेपर भी गलकर मिट्टी न बन जाय (जैसे उक्त वस्तुओंके अतिरिक्त-कपास अर्थात् रूई, काला अञ्जन इत्यादि); उन्हें सीमापर अप्रकट रूपमें स्थापित करे अर्थात् भूमिके नीचे गाड़ दे ॥

विमर्श—'बड़े-बड़े पत्थरोंको छोड़कर शेष हड्डी आदिको घड़ोंमें रखकर पृथ्वीमें गाड़ना चाहिये ऐसा बृहस्पतिका वचन है' यह मन्वर्थ मुक्तावलीकारने कहा है ॥

उपभोगके द्वारा सीमानिर्णय—

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ।
पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥

राजा परस्परमें विवाद करते हुए दो ग्रामोंकी सीमाका निश्चय इन (८।२४५–२५१) चिह्नोंसे, लोगोंको उपभोगसे और नदी नाला आदिके प्रवाहसे करे ॥२५२॥

सीमाके साक्षियोंकी प्रामाण्यता—

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने ।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३ ॥

यदि सीमाके (बाहरी ८।२४६-२४८) तथा भीतरी (८।२५०-२५१) ये चिह्नोंके देखने पर भी सन्देह ही बना रहे तो साक्षीका कहना ही सीमाके विवादमें निर्णय (प्रमाण) होता है ॥ २५३ ॥

विमर्श—किसी एक पक्षके द्वारा दूसरे पक्षपर यहां पृथ्वीके भीतर गाड़े गये पत्थर तथा हड्डी, गौओंके बाल आदिसे भरे घड़ोंको चुपकेसे उखाड़ कर दूसरे स्थानमें गाड़ देनेका आरोप करने तथा वृक्ष आदि बाहरी चिह्नोंका नष्ट होना कहनेसे सीमाके चिह्नोंके देखनेपर भी सन्देह बना रह सकता है ॥

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।
प्रष्टव्या सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥ २५४ ॥

(राजा) ग्रामवालों तथा सीमाके विषयमें विवाद करनेवाले वादियों एवं प्रतिवादियोंके सामने साक्षियोंसे सीमाके चिह्नोंको पूछे ॥ २५४ ॥

सीमाके साक्षियोंके कथनको लिखना—

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।
निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥ २५५ ॥

(राजाके) पूछने पर वे साक्षी सीमाके विषयमें जैसा निश्चय कहें, (राजा) उस सीमा तथा उन गवाहोंके नामोंको लिख ले ॥ २५५ ॥

सीमाके साक्षियोंसे शपथ कराना—

शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः ।
सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥ २५६ ॥

लाल फूलोंकी माला तथा लाल कपड़ा पहने हुए वे साक्षी शिरपर मिट्टी (के ढेलों) को रखकर अपने-अपने पुण्योंकी शपथ (यदि मैं असत्य वचन इस सीमा निर्णयके विषयमें कहूं तो मेरे आज तक उपार्जित सब पुण्य नष्ट हो जांय इस प्रकार शपथ) कर उस सीमाका यथाशक्ति निर्णय करें ॥ २५६ ॥

असत्य कहनेपर दण्ड—

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः ।
विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥ २५७ ॥

शास्त्रानुसार सत्य कहनेवाले वे साक्षी निर्दोष होते हैं तथा असत्य कहनेवालों पर (राजा) दो सौ पण (८।१३७) दण्ड करे ॥ २५७ ॥

उक्त साक्षीके अभावमें कर्तव्य—

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः ।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥ २५८ ॥

सीमाके साक्षीके नहीं मिलनेपर समीपस्थ चार ग्रामोंके निवासी शुद्धचित्त होकर राजाके सामने सीमाका निर्णय करें ॥ २५८ ॥

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् ।
इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥ २५९ ॥

समीपस्थ चार ग्रामोंमें तथा ग्राम निर्माणके समयसे वंश-परम्परा द्वारा निवास करनेवालोंके अभावमें (साक्षी करनेके लिए उपस्थित नहीं होनेपर) राजा इन (८।२६० में कथित) वनेचर (सर्वदा या प्रायः वनमें ही रहनेवाले) पुरुषोंसे भी पूछे॥

उन वनेचरोंके नाम—

व्याधाञ्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान् ।
व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ॥ २६० ॥

व्याधा, बहेलिया (चिड़ियामार), गायों (या भैंस आदि पशुओं) का रखवाला, मल्लाह, जड़ खोदकर जीविका करनेवाला अर्थात् कन्द-मूल (या जड़ी बूटी बेचनेवाला सपेरा) शिल तथा उञ्छ (४।५) करनेवाला तथा दूसरे प्रकारके भी वनवासी, इनसे-राजा सीमाके विषयमें प्रश्न करे ॥ २६० ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासन्धिषु लक्षणम् ।
तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥

(राजाके) पूछने पर वे लोग दो ग्रामोंकी सीमाकी सन्धि (मिलनेका स्थान) पर जैसा चिह्न बतलावें, राजा उस सीमाको धर्मानुसार उसी प्रकार स्थापित करे ॥

एकग्रामवासियोंमें सीमा-विवाद होनेपर—

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

एक ग्राममें ही खेत, कुंआ, तालाब, बगीचा तथा घरकी सीमाका विवाद उपस्थित होनेपर राजा उस ग्राममें रहनेवाले सब लोगोंके कहनेके अनुसार ही सीमाके चिह्न निश्चय करे ॥ २६२ ॥

असत्यवक्ता ग्राम-सामन्तोंको दण्ड—

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम्।
सर्वे पृथक्पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥

दो ग्राम-वासियोंमें परस्पर सीमाविषयक विवाद उपस्थित होनेपर सामन्त (समीपस्थ ग्रामवासी) यदि असत्य कहें तो राजा उनमें-से प्रत्येकको मध्यम साहस (८।१३८) से दण्डित करे ॥ २६३ ॥

बलसे गृहादिके स्वाधीन करनेपर दण्ड—

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः ॥ २६४ ॥

यदि कोई भय दिखाकर घर, तडाग, बगीचा और खेत ले ले (स्वाधीन कर ले), तो राजा उसे ५०० पणोंसे दण्डित करे तथा अज्ञानसे स्वाधीन करनेपर २०० पणों (८।१३६) से दण्डित करे ॥ २६४ ॥

सबके अभावमें राजाद्वारा सीमानिर्णय—

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित्।
प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥

चिह्नों (८।२४५–२५१) तथा साक्षियोंके अभावसे सीमाका निर्णय नहीं होने पर धर्मज्ञ राजा ही ग्रामवासियोंके उपकारका लक्ष्यकर स्वयं सीमाका निर्णय कर दे, ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥ २६५ ॥

सीमाके पांच भेद—

[ध्वजिनी मत्सिनी चैव निधानी भयवर्जिता।
राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृता: ॥ १९ ॥]

[ध्वजिनी, मत्सिनी, निधानी, भयवर्जिता और राजशासननीता—सीमाके ये पांच भेद हैं ॥ १९ ॥]

कटु वचन कहनेपर दण्ड—

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते है कि—) सीमाके निश्चय करनेमें सब धर्मों को मैने कहा, अब कठोर वचनके निश्चयको कहूंगा ॥ २६६ ॥

ब्राह्मणसे कटु वचन कहनेपर दण्ड—

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ २६७ ॥

ब्राह्मणसे ('तुम चोर हो' इत्यादि) कटु वचन कहनेवाला क्षत्रिय सौ पण, वैश्य डेढ़ सौ या दो सौ पण और शूद्र (ताडन-मारण आदि) वधसे दण्डनीय होते हैं ॥

क्षत्रियादिसे कटु वचन कहनेपर ब्राह्मणको दण्ड—

पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥ २६८ ॥

ब्राह्मण ('तुम चोर हो' इत्यादि) कटु वचन क्षत्रियसे कहे तो पचास पण, वैश्यसे कहे तो पचीस पण और शूद्रसे कहे तो बारह पणसे वह दण्डनीय होता है ॥

समवर्णवालोंसे कटु वचन कहनेपर दण्ड—

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥

समान वर्णवालेसे ('तुम चोर हो' इत्यादि) कटु वचन कहनेवाला द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) बारह पणसे दण्डनीय होता है तथा निन्दनीय कटु वचन (मां-बहन आदिकी गाली) कहनेपर उक्त दण्डों (८।२६७-२६८½) को दुगुने पणोंसे वह दण्डनीय होता है ॥ २६९ ॥

विमर्श—ब्राह्मणको मां-बहन आदिकी गाली देनेवाला क्षत्रिय दो सौ पण, वैश्य तीन सौ या चार सौ पण तथा शूद्र दुगुने ताडनादिसे दण्डनीय होता है। इसी क्रमसे आगे (८।२६७-२६८½) वाले दण्डोंके विषयमें दुगुना समझना चाहिये ॥

[विप्रक्षत्रियवत्कार्यो दण्डो राजन्यवैश्ययोः ।
वैश्यक्षत्रिययोः शूद्रे विप्रे यः क्षत्रशूद्रयोः ॥ २० ॥

[क्षत्रिय तथा वैश्यमें ब्राह्मण तथा क्षत्रियके समान शूद्रमें वैश्य क्षत्रियके समान तथा ब्राह्मणमें क्षत्रिय शूद्रके समान दण्ड करना चाहिये ॥ २० ॥

समुत्कर्षापकर्षास्तु विप्रदण्डस्य कल्पनाः ।
राजन्यवैश्यशूद्राणां धनवर्जमिति स्थितिः ॥ २१ ॥]

ब्राह्मणके लिये दण्ड देनेकी कल्पना ऊंचे या नीचे वर्णके अनुसार अधिक तथा कम दण्ड करना चाहिये । क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंको धनवर्जित दण्ड करना चाहिये ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥ २१ ॥]

द्विजको कटु वचन कहनेवाले शूद्रको दण्ड—

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन्।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः॥ २७०॥

द्विज (ब्राह्मण तथा क्षत्रिय) को दारुण वचनसे आक्षेप करनेवाले शूद्रको उसका जीभ काटकर दण्डित करना चाहिये, क्योंकि वह नीचसे उत्पन्न है॥ २७०॥

विमर्श—'शूद्रस्तु वधमर्हति' (८।२६७) इस वचनके साथ प्रकृत वचनका विरोध नहीं होता, क्योंकि उक्त दण्डका सामान्य कटु वचन कहनेपर विधान है तथा इसका दारुण कटु वचन कहनेपर। तथा 'द्विजाति' शब्दसे यहां केवल 'ब्राह्मण और क्षत्रिय' वर्णोंका ही ग्रहण है, वैश्यका नहीं; क्योंकि आगे (८।२७७) वैश्यकी पातक-सम्बन्धी निन्दा करनेवाले शूद्रपर मध्यम साहस (८।१३८) दण्ड करनेका विधान तथा 'जिह्वाछेद' करनेका निषेध 'छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः' उत्तरार्द्ध वचनसे किया गया है।

नाम तथा जाति कहकर कटु वचन कहनेवाले शूद्रको दण्ड—

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः।
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः॥ २७१॥

इन (द्विजातियों—ब्राह्मणादि तीनों वर्णों) के नाम तथा जातिका उच्चारणकर ('रे यज्ञदत्त! तुम नीच ब्राह्मण हो'……) कटु वचन कहनेवाले शूद्रके मुखमें जलती हुई दश अङ्गुल लम्बी लोहेकी कील डालनी चाहिये॥ २७१॥

अभिमानसे धर्मोपदेश करनेवाले शूद्रको दण्ड—

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः॥ २७२॥

राजा अभिमानपूर्वक ब्राह्मणोंके लिये धर्मोपदेश ('तुम्हें इस प्रकार या यह धर्म करना चाहिये'……) करनेवाले शूद्रके मुख तथा कानमें गर्म तेल डलवावे॥

शास्त्र, देशादिकी निन्दा करनेपर दण्ड—

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च।
वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्दाप्यः स्याद् द्विशतं दमम्॥ २७३॥

श्रुत ('तुमने यह नहीं सुना या पढ़ा'……), देश ('तुम देशमें नहीं पैदा हुए हो'……), जाति ('तुम्हारी यह जाति नहीं है'…), शरीर सम्बन्धी संस्कारादि कर्म (तुम्हारा शरीरसंस्कार-यज्ञोपवीत आदि कर्म नहीं हुआ है'…) को

अभिमानके कारण असत्य कहनेवाले समान वर्णके व्यक्तिको राजा दो सौ पणों (८।१३६) से दण्डित करे ॥ २७३ ॥

काना, लंगड़ा आदि कटु वचन कहनेपर दण्ड—

काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम् ।
तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥ २७४ ॥

किसीको काना, लंगड़ा या इसी प्रकार और कुछ (यथा—बहरा, अन्धा, छांगुर,……) यथार्थमें होनेपर भी उसी दूषित नामका उच्चारणकर कहनेवालेको राजा कमसे-कम एक पण (८।१३६) से दण्डित करे ॥ २७४ ॥

माता आदिकी निन्दा करनेवालेको दण्ड—

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ।
आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद् गुरोः ॥ २७५ ॥

(राजा) माता, पिता, स्त्री, भाई, गुरुको पातकादिका दोष लगाकर निन्दा करते हुए तथा गुरुके लिए मार्ग नहीं देते (किनारे होकर मार्ग नहीं छोड़ते) हुए व्यक्तिसे सौ पण (८।१३६) दण्ड दिलवावे ॥ २७५ ॥

विमर्श—मेधातिथिने 'आक्षारयन्' शब्दका असत्य बात कहकर परस्पर भेद करना (फूट डालना) अर्थ माना है, इस प्रकार उनके मतमें-तुम्हारी माता तुम्हें प्यार नहीं करती, दूसरे बच्चेको प्यार करती है, उसे एकान्तमें मिठाई आदि स्वादिष्ट पदार्थ देती है, इत्यादि असत्य वचन कहकर मातासे तथा इसी प्रकार पिता भाई आदिसे भी असत्य वचन कहनेवाले और गुरुको रास्ता नहीं देनेवाले व्यक्तिसे राजा सौ पण दण्ड दिलवावे यह अर्थ होता है ।

ब्राह्मण-क्षत्रियोंके परस्पर उत्क्रोश करनेपर दण्ड—

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता ।
ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥ २७६ ॥

दण्डशास्त्रज्ञ (राजा) ब्राह्मण तथा क्षत्रियके परस्परमें पातक-सम्बन्धी निन्दा करनेपर (क्षत्रियकी निन्दा करनेवाले) ब्राह्मणपर एक प्रथम साहस अर्थात् २५० पण यथा (ब्राह्मणकी निन्दा करनेवाले) क्षत्रियपर एक मध्यम साहस (८।१३८) अर्थात् ५०० पण दण्ड करे ॥ २७६ ॥

वैश्य-शूद्रोंके परस्पर उत्क्रोश करनेपर दण्ड—

विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।
छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः ॥ २७७ ॥

वैश्य तथा शूद्रके परस्पर अपनी जातिके प्रति पातक सम्बन्धी निन्दा करने पर जिह्वाच्छेद (जीभ काटना) छोड़कर इसी प्रकार (८।१३८) दण्ड देना चाहिये यह शास्त्रनिर्णय है ॥ २७७)

विमर्श—शूद्रकी पातक-सम्बन्धी निन्दा करनेवाले वैश्यपर एक प्रथम साहस (२५० पण) तथा वैश्यकी पातकसम्बन्धी निन्दा करनेवाले शूद्रपर एक मध्यम साहस (८।१३८) अर्थात् ५०० पण दण्ड राजाको करना चाहिये । इस श्लोकमें 'छेदवर्जं प्रणायनं' कहनेसे 'एकजातिर्द्विजातींस्तु—' (८।२७०) श्लोकमें कहा गया जिह्वाच्छेदरूप दण्ड केवल ब्राह्मण तथा क्षत्रियकी पातक-सम्बन्धी निन्दा करनेवाले शूद्रके लिये कहा गया समझना चाहिये ।

[पतितं पतितेत्युक्त्वा चौरं चौरेति वा पुनः ।
वचनात्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्या द्विर्दोषतां व्रजेत् ॥ २२]

[वास्तविकमें पतितको पतित तथा चोरको चोर परस्परमें कहनेवाला समान दोषी और मिथ्या उक्त वचन कहनेवाला दुगुना दोषी होता है ॥ २२ ॥]

दण्डपारुष्यका निर्णय—

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥ २७८ ॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि) यह (८।२६७–२७७) मैंने वाक्पारुष्य (कठोर वचन कहने) का यथार्थ दण्ड कहा है, इसके आगे दण्डपारुष्य (मारने-पीटने आदिकी कठोरता) का निर्णय कहूंगा ॥ २७८ ॥

द्विजको मारनेवाले शूद्रके लिये दण्ड—

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः ।
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥ २७९ ॥

शूद्र जिस किसी अङ्ग (हाथ आदि) से द्विजातिको मारे (ताडित करे); राजा उसके उसी अङ्गको कटवा डाले, यह मनुका आदेश है ॥ २७९ ॥

पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति ।
पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥

(राजा) हाथ उठाकर या डण्डे (लाठी या छड़ी आदि) से ब्राह्मणको मारनेवाले शूद्रका हाथ कटवाले तथा पैरसे ब्राह्मणको मारनेवाले शूद्रका पैर कटवाले ॥

ब्राह्मणके साथ एकासनपर बैठनेपर शूद्रको दण्ड—

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ॥ २८१ ॥

(राजा) ब्राह्मणके साथ एक आसनपर बैठे हुए शूद्रकी कमरको तपाये गये लोहेसे दगवाकर निकाल दे अथवा (जिससे मरने नहीं पावे इस प्रकार) उसके नितम्बको कटवा ले ॥ २८१ ॥

थूक आदिसे ब्राह्मणका अपमान करनेवाले शूद्रको दण्ड—

अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ।
अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥ २८२ ॥

शूद्र यदि ब्राह्मणका अपमान दर्पके कारण थूक फेककर करे तो राजा उस (शूद्र) के दोनों ओष्ठोंको, मूत्र फेंककर करे तो उसके लिङ्ग (मूत्रेन्द्रिय) को तथा अपशब्द (पाद) कर करे तो उसके गुदा को कटवा ले ॥ २८२ ॥

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन् ।
पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ २८३ ॥

शूद्र यदि अभिमानसे ब्राह्मणके बालोंको पकड़ ले तो राजा (उस ब्राह्मणको इससे कष्ट हुआ है अथवा नहीं, इसका) विना विचार किये उस शूद्रके दोनों हाथोंको कटवा ले और अभिमानपूर्वक मारनेके लिए ब्राह्मणके दोनों पैरों, दाढी, गर्दन तथा अण्डकोषको शूद्र यदि पकड़ ले तो उसे वही (दोनों हाथ कटवाने) का दण्ड करे ॥

चर्मभेदनादिमें दण्ड-विधान—

त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः ।
मांसभेत्ता तु षण्निष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥ २८४ ॥

समान जातिवाला यदि (मारनेसे) किसीका चमड़ा निकाल दे अर्थात् ऐसा मारे कि आहत व्यक्तिका चमड़ा छूट जाय या रक्त बहने लगे तो सौ पणका दण्ड, मांस निकल आवे तो ६ निष्क (८।१३७) का दण्ड और हड्डी टूट जाय तो राज्यसे बाहर निर्वासनका दण्ड अपराधीको राजा दे ॥ २८४ ॥

वृक्ष आदिके काटनेपर दण्ड-विधान—

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथायथा ।
तथातथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥ २८५ ॥

वृक्ष आदि सब पौधोंके फल, फूल, पत्ता तथा लकड़ी आदिके द्वारा जैसा जैसा उपयोग होता हो, उनको (काटने आदिसे) नष्ट करनेवाले अपराधीको वैसा वैसा ही दण्ड (उत्तम साहस आदि) देना चाहिये ऐसा शास्त्र-निर्णय है ॥ २८५ ॥

विमर्श—इस विषयमें 'विष्णु' का मत है कि—फल काममें आनेवाले पेड़को काटने वालेपर 'उत्तम साहस' (१००० पण) फूल काममें आनेवाले पौधेको काटने-वालेपर 'मध्यम साहस' (५०० पण), वल्ली, गुल्म और लता आदि काटने वालेपर १०० कार्षापण (एक रुपया नौ आने) तथा तृण काटनेवालेपर एक कार्षापण (और मनुके मतसे १ पण) दण्ड करना चाहिये। 'साहस, पण, कार्षापण' का प्रमाण पूर्वोक्त वचनों (८।१३६-१३८) से ज्ञात करना चाहिये ॥

पीडानुसार दण्ड-व्यवस्था—

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति।
यथा यथा महद् दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ॥ २८६ ॥

मनुष्यों या पशुओंको दुखित करनेके लिए मारनेपर उन्हें (मनुष्यों या पशुओंको) जैसी-जैसी (कम या अधिक) पीडा हो; उस पीडाके अनुसार ही (कम या अधिक) दण्डसे उक्त पीडा पहुंचानेवाले व्यक्तिको दण्डित करना चाहिये ॥२८६॥

आहतके स्वस्थ होने तकका व्यय दिलवाना—

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥

अङ्गके कटने, टूटने, घाव होने या रक्त बहनेपर रोगी (आहत व्यक्ति) के पूर्वावस्थामें आने अर्थात् स्वस्थ्य होनेतक (औषधादिमें) जो व्यय हो, उसे राजा अपराधीसे दिलवावे (और यदि अपराधी उक्त व्ययको नहीं देना चाहे तब राजा) उक्त (औषधादिके) व्ययको और पीडा पहुंचानेपर विहित शास्त्रोक्त दण्डको भी दिलवावे ॥ २८७ ॥

वस्तुके नष्ट करनेपर दण्ड-विधान—

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥ २८८ ॥

जो मनुष्य जिसकी किसी वस्तुको जान-बूझकर या अज्ञानावस्थामें नष्ट करे तो वह मनुष्य नष्ट हुई वस्तुका (वास्तविक) मूल्य उस वस्तुके स्वामीको तथा उतना ही मूल्य दण्ड-स्वरूप राजाको दे ॥ २८८ ॥

चर्मादिनिर्मित पदार्थादिको नष्ट करनेपर दण्डविधान—

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेषु च ।
मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥

चमड़ा, चमड़ेसे बने पदार्थ (रस्सी, घी-तेलका कुप्पा, जूता आदि), लकड़ी और मिट्टीके बर्तन, फूल, मूल (कन्द) तथा फलको नष्ट करनेवाला व्यक्ति नष्ट हुए पदार्थोंके मूल्यका पांचगुना धन राजाको दण्ड-स्वरूपमें दे (तथा उन पदार्थोंके स्वामीको उन नष्ट पदार्थोंका मूल्य देकर तुष्ट करे) ॥ २८९ ॥

रथादिके नष्ट होनेपर दण्डाभाव—

यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च ।
दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥

रथ गाड़ी आदि सवारी, सारथि (उनका चालक गाड़ीवान, एक्कावान, कोचवान आदि) और स्वामी; इनपर वक्ष्यमाण (८।२९१-२९२) दश अवस्थाओंमें किसीके मर जाने या किसी सामानके नष्ट हो जानेपर दण्ड नहीं किया जाता तथा इन (वक्ष्यमाण—८।२९१-२९२) दश अवस्थाओंके अतिरिक्त अवस्थामें दण्ड किया जाता है ॥ २९० ॥

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते ।
अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ २९१ ॥
छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च ।
आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥ २९२ ॥

(१) बैलके नाथ टूट जानेपर, (२) जूवाके टूट जानेपर, (३) भूमिके ऊँची नीची होनेसे गाड़ीके तिर्छा (एकवाई) हो जानेपर, (४) उलट जानेपर, (५) धूरा टूट जानेपर, (६) पहिया टूट जानेपर, (७) चमड़े (या रस्सी आदि) के जोड़ कट (या खुल जानेपर), (८) जोता (बैल आदि रथवाहक पशुके गलेमें लगी हुई रस्सी) के टूट जानेपर, (९) रास (सारथिके हाथद्वारा पकड़ी जानेवाली रस्सी) के टूट जानेपर और (१०) 'हट जावो, हट जावो' ऐसा सारथिके चिल्लानेपर (यदि कोई वस्तु नष्ट हो जाय या कोई मर जाय तो सारथि आदि) कोई दण्डनीय नहीं होता है ऐसा मनुने कहा है ॥ २९१-२९२ ॥

सारथिकी मूर्खतासे किसीके मरनेपर स्वामीको दण्ड—

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु ।
तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २६३ ॥

जहां सारथिकी मूर्खतासे रथके इधर-उधर अर्थात् उल्टा सीधा होनेके कारण कोई मर जाय तो (मूर्ख सारथि रखनेके कारण उसके स्वामीपर) दो सौ पण (८।१३६) दण्ड होता है ॥ २९३ ॥

सारथिके चतुर होने आदि अवस्थामें दण्डविधान—

प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति ।
युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥ २६४ ॥

यदि सारथि चतुर हो (और कोई वस्तु नष्ट हो जाय) तो वही (सारथि ही) दो सौ पणसे दण्डनीय होता है तथा यदि सारथि चतुर नहीं हो तो उस (रथ गाड़ी आदि) पर सवार होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति (मूर्ख सारथिवाले सवारीपर चढ़नेके कारण) सौ-सौ पणसे दण्डनीय होते हैं (और स्वामीको दो सौ पणसे दण्डनीय होनेका विधान पहले (८।२९३) कह ही चुके हैं) ॥ २९४ ॥

अन्यान्य अवस्थाओंमें दण्डविधान—

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ।
प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २६५ ॥

मार्गमें रथ पशुओं या रथादिसे रुका हुआ भी सारथि रथ (गाड़ी आदि) हांके और (उसी कारण) किसीको मृत्यु हो जाय तो राजा विना विचार किये अर्थात् शीघ्र ही उस सारथिको दण्डित करे ॥ २९५ ॥

मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत् ।
प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २६६ ॥

(अब एक वार अपराध होनेपर दण्ड-विधान कहते हैं—) सारथिकी असाधानीसे मनुष्यके मर जानेपर उसे (सारथिको) चोरके समान पाप लगता है (अतः वह 'उत्तम साहस' अर्थात् १००० पणसे दण्डनीय होता है), तथा बड़े जीव ऊंट, गाय, बैल, हाथी, घोड़ा आदिके मरनेपर आधा पाप लगता है (अतः वह 'मध्यम साहस' अर्थात् ५०० पणसे दण्डनीय होता है) ॥ २७६ ॥

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।
पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २६७ ॥

(स्वरूप अर्थात् कद या आयुमें) छोटे पशुओंके मर जानेपर दो सौ पण तथा शुभ मृग (रुरु, पृषत् आदि जातिका हरिण) और शुभ पक्षी (शुक, मैना, हंस, सारस आदि) के मर जानेपर पचास पणसे वह सारथि दण्डनीय होता है ॥

गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः ।
माषिकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥ २६८ ॥

गधा, बकरी, भेंडके मर जानेपर पांच मासा (चांदी) तथा कुत्ता और सूअरके मर जानेपर एक मासा चांदीसे वह सारथि दण्डनीय होता है ॥ २९८ ॥

शिक्षार्थ स्त्री, पुत्रादि लिए दण्ड—

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः ।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ २६६ ॥

स्त्री, पुत्र, दास, प्रेष्य (बाहर भेजा जानेवाला नौकर), सहोदर (छोटा) भाई यदि अपराध करे तो उसे रस्सीसे या पतली बांसकी छड़ीसे (शिक्षार्थ) ताड़न करना चाहिये ॥ २९९ ॥

पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन ।
अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ ३०० ॥

(अभिभावक) उन्हें (रस्सी या पतली बांसकी छड़ी) से पीठपर मारें, मस्तकपर कदापि न मारे अन्यथा मस्तकपर मारता हुआ मनुष्य चोरके समान पाप (वाग्दण्ड, बन्धन-दण्डादि) का भागी होता है ॥ ३०० ॥

चोरके लिए दण्डविधान—

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः ।
स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥

(महर्षियोंसे भृगुजी कहते हैं कि—मैंने) यह (८।२७९–३००) दण्डकी कठोरताका निर्णय पूर्णतया कहा, अब इसके आगे (८।३०१–३४४) चोरके दण्डके निर्णयका विधान कहूंगा ॥ ३०१ ॥

चोरनिग्रह राजकर्तव्य—

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः ।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥

राजा चारोंका निग्रह करनेके लिए पूर्णतया प्रयत्न करे, क्योंकि चारोंके निग्रहसे इस (राजा) का यश तथा राज्यकी वृद्धि होती है ॥ ३०२ ॥

चोरसे अभय करनेका फल—

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम्॥ ३०३॥

जो राजा (प्रजाओंको चोरोंसे) अभय करनेवाला है वह अवश्यमेव पूज्य (प्रशंसनीय) है, क्योंकि उस (चोरोंसे अभय करनेवाले राजा) का अभयरूपी दक्षिणावाला यज्ञ सर्वदैव बढ़ता है॥ ३०३॥

राजाको धर्माधर्मके षष्ठांशकी प्राप्ति—

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः॥ ३०४॥

प्रजाओंकी रक्षा करनेवाले राजाको सबके धर्मका छठा भाग प्राप्त होता है और (प्रजाकी) रक्षा नहीं करनेवाले राजाको अधर्मका भी छठा भाग प्राप्त होता है॥

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति।
तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात्॥ ३०५॥

(राज्यमें रहनेवाली प्रजा) जो (वेदादि) पढ़ती है, यज्ञ करती है, दान देती है तथा (देवादिका) पूजन करती है; उस (के पुण्य) का छठा भाग अच्छी तरह (प्रजाकी) रक्षा करनेवाले राजाको प्राप्त होता है॥ ३०५॥

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन्।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः॥ ३०६॥

(निरपराध स्थावर-जङ्गम सब) जीवोंकी धर्मपूर्वक रक्षा करता हुआ तथा वधयोग्य जीवोंका वध करता हुआ राजा प्रतिदिन सहस्रों-सैकड़ों दक्षिणावाले यज्ञोंको करता रहता है॥ ३०६॥

विमर्श—सहस्रों-सैकड़ों जीवोंकी रक्षा करनेसे उस राजाको यज्ञके समान तज्जन्य पुण्य प्राप्त होता है॥

अरक्षक करग्रहीताकी निन्दा—

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥ ३०७॥

(प्रजाओंकी) रक्षा नहीं करता हुआ जो राजा बलि, कर, शुल्क (टेक्स) तथा प्रतिभाग दण्डको (प्रजाओंसे) लेता है; वह (मरकर) तत्काल नरकको जाता है॥

विमर्श—प्रजाओंसे राजाको प्राप्त होनेवाला अन्न आदिका छठा भाग 'बलि', प्रतिमास या प्रति छठे मास (भाद्र तथा पौष) में प्राप्तव्य राजभाग 'कर', स्थल-जलादिमार्गसे व्यापार करनेवालोंसे विक्रय द्रव्यानुसार लिया जानेवाला धन अर्थात् चूंगी या कस्टम (आयात-निर्यात-कर) 'शुल्क', फल, फूल, शाक आदिके रूपमें लिया जानेवाला राजभाग 'प्रतिभाग' और जुर्मानेके रूपमें लिया जानेवाला राजभाग 'दण्ड' कहलाता है ॥

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥

(निर्दोष प्रजाकी दुष्ट चौरादिसे) रक्षा नहीं करता हुआ तथा (प्रजासे) छठे भागके रूपमें बलि (राजग्राह्य भाग) को लेता हुआ राजा सब लोकोंके सब पापोंका हरण (ग्रहण) करनेवाला होता है, ऐसा मनु आदि ऋषि कहते हैं ॥ ३०८ ॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥

शास्त्रमर्यादाको नहीं माननेवाले नास्तिक (लोभादिके वशीभूत होकर) अनुचित दण्ड आदिके द्वारा धन लेनेवाले रक्षा नहीं करनेवाले और (कर, बलि आदिका) भोग करनेवाले राजाकी अधोगति जाननी चाहिये ॥ ३०९ ॥

अधार्मिकका तीन प्रकारसे निग्रह—

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥

(अतएव धार्मिक राजा अपराधके अनुसार) निरोध (हवलात या कैदखानेमें बन्द) करना, बन्धन (हथकडी, बेडी आदि डालना) और अनेक प्रकारके वध (ताडन-मारण आदि); इन तीन उपायोंसे अधार्मिक (चोर आदि) का प्रयत्न-पूर्वकनिग्रह (उन्हें दण्डित) करे ॥ ३१० ॥

पापि-निग्रह तथा सज्जनानुग्रहका फल—

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥

पापियोंके निग्रह (दण्डितकर रोक थाम करने) तथा सज्जनोंपर अनुग्रह करनेसे राजा, यज्ञोंसे द्विजातियोंके समान सर्वदा पवित्र अर्थात् पुण्यवान् होता है ॥ ३११ ॥

वादी-प्रतिवादी तथा बाल-वृद्धादिके आक्षेपको सहना—

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम्।
बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः॥ ३१२॥

स्व-हित-कर्ता राजा (दुःखित) वादी तथा प्रतिवादी (मुद्दई और मुद्दालह) के और बालक, बूढे और आर्त (रोगी आदि) के आक्षेपोंको सहन करे॥३१२॥

उक्ताक्षेप सहने आदिका फल—

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते।
यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति॥ ३१३॥

दुःखितोंसे आक्षिप्त जो राजा (कठोर वचनोंको) सहता है, उससे वह स्वर्गमें पूजित होता (आदर पाता) है; किन्तु जो ऐश्वर्य (स्वामित्वके अभिमान) से (दुःखितोंके आक्षेपोंको) नहीं सहता है, वह उससे नरक जाता है॥ ३१३॥

ब्राह्मणके सुवर्णको चुरानेवालेका कर्तव्य—

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता।
आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम्॥ ३१४॥
स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वाऽपि खादिरम्।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा॥ ३१५॥

ब्राह्मणके सुवर्णको चुरानेवाला चोर कन्धेपर मुसल, या खैर (कत्थे) की लाठी या दोनों ओर तेज शक्ति (दोनों ओर धारवाली बर्छी) या लोहेका डण्डा लिये तथा बालोंको खोले हुए दौड़कर राजाके पास जाकर 'मैंने ऐसा कार्य (ब्राह्मणके सुवर्णकी चोरी) किया है, मुझे दण्डित कीजिए' ऐसा राजासे कहे॥ ३१४-३१५॥

[गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्।
वधेन शुध्यते स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा॥ २२॥]

[राजा मुसल (या चोरके कन्धेपर रखकर लाये गये लाठी आदि) से स्वयं उस चोरको एकवार मारे, उस मारनेसे चोर शुद्ध अर्थात् निष्पाप हो जाता है और ब्राह्मण तपस्यासे ही शुद्ध होता है अर्थात् ब्राह्मणका सुवर्ण चुरानेवाले ब्राह्मणजातीय चोरको राजा उस मुसलादिसे मारे नहीं, किन्तु वह ब्राह्मणजातीय चोर तपस्या (प्रायश्चित्त) करके आत्मशुद्धि कर ले॥ २२॥]

शासन नहीं करनेवाले राजाका दोष—

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ३१६ ॥

(मुसल आदि—पूर्व श्लोकोक्त (८।३१५) शस्त्रोंमेंसे जिस शस्त्रको चोर लाया हो उससे) एक वार राजाके द्वारा मारनेके कारण प्राणत्याग करनेसे या मरे हुएके समान जीवित भी उस चोरको छोड़ देनेसे वह चोर चोरीके पापसे छूट जाता है; किन्तु (दया आदिके कारण) उसे दण्डित नहीं करनेवाला उस चोरके पापको प्राप्त करता है ॥ ३१६ ॥

दूसरेके पापकी प्राप्ति—

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी ।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्विषम् ॥ ३१७ ॥

भ्रूणहत्या करनेवाला अपने (भ्रूणहत्या करनेवालेका) अन्न खानेवालेको, व्यभिचारिणी स्त्री (जारको सहने अर्थात् मना नहीं करनेवाले) पतिको, शिष्य (सन्ध्या-वन्दनादि नित्य कृत्यत्यागको सहनेवाले) गुरुको, याज्य अर्थात् यजमान (विधिका त्यागकर यज्ञादि कर्म करते रहनेपर भी उसे सहन करनेवाले अर्थात् विधिपूर्वक यज्ञादि कर्मको करनेके लिए प्रेरित नहीं करनेवाले) गुरुको और चोर (दण्डित नहीं करनेवाले) राजाको अपना अपना अपराध (पापजन्य दोष) दे देते हैं ॥

विमर्श—भ्रूणहत्या करनेवाला आदि तो अपने-अपने कर्मोंके पाप (दोष) से युक्त रहते ही हैं, किन्तु उनके अन्न खानेवाले आदि भी उनके पापसे युक्त हो जाते हैं; अत एव राजाको चाहिये कि चोरको अवश्य दण्डित करे ॥

दण्डप्राप्तिसे पापमुक्ति—

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१८ ॥

मनुष्य पाप करके राजासे दण्डित होकर पापरहित हो (अपने दूसरे पुण्य कर्मोंके प्रभावसे), पुण्यात्माओंके समान स्वर्गको जाते हैं ॥ ३१८ ॥

कूएकी रस्सी आदि चुरानेपर दण्ड—

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिद्याच्च यः प्रपाम् ।
स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥

जो कूएकी रस्सी या घड़ा चुराता है, अथवा प्याऊ (पौसरा) तोड़ता है; वह एक मासे सुवर्णसे दण्डनीय होता है और उसे उक्त चोरित रस्सी तथा घड़ेको लाना तथा प्याऊको बनवाना भी पड़ता है ॥ ३१९ ॥

धान्यादि चुरानेपर दण्ड—

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः।
शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ ३२० ॥

राजा दश कुम्भसे अधिक धान्य (अन्न) चुरानेवालेको वध (चुरानेवाले तथा धान्यके स्वामीके गुणादिके अनुसार ताडन, अङ्गच्छेदन एवं वध तक) से दण्डित करे। शेष (एक कुम्भसे अधिक दश कुम्भतक धान्य चुरानेके अपराध) में चुराये हुए धान्यके ग्यारहगुने धान्यसे चोरको दण्डित करे और धान्यके स्वामीका जितना धान्य चुराया गया हो उतना वापस दिलवा दे ॥ ३२० ॥

विमर्श—२० पल (८० भर) का एक सेर और २०० पल का एक द्रोण और २० द्रोणका एक 'कुम्भ' होता है ॥

सुवर्ण, वस्त्रादि चुरानेपर दण्ड—

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥

और कांटेसे तौलने योग्य सोना, चांदी आदि तथा उत्तम वस्त्र सौ पलसे अधिक चुरानेवालेको राजा वध (देश, काल, चोर, द्रव्यके स्वामीकी जाति तथा गुणकी अपेक्षासे ताडन, अङ्गच्छेदन और मारण तक) से दण्डित करे ॥ ३२१ ॥

पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥

(सोना, चांदी आदि कांटेपर तौलकर बेची जानेवाली वस्तु तथा बहुमूल्य रेशमी वस्त्रादिको) ५० पल से अधिक १०० पल तक चुरानेवालेका हाथ काटनेका दण्ड (मनु आदिने) कहा है और शेष (एक पलसे पचास पलतक उक्त वस्तुओंको चुरानेके अपराध) में राजा चोरित वस्तुका ग्यारहगुना दण्ड निश्चित करे ॥३२२॥

स्त्री, पुरुषादि चुरानेपर दण्ड—

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥

श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न पुरुष तथा विशेषतः स्त्रियों और मुख्य रत्न (माणिक्य, हीरा, वैडूर्य आदि) की चोरी करनेवाला वधके योग्य होता है अर्थात् राजाको उक्त चोरी करनेवालेका वध करना चाहिये ॥ ३२३ ॥

बड़े पशु आदिके चुरानेपर दण्ड—

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

बड़े पशु (हाथी, घोड़ा, ऊंट, बैल, गाय, भैंस आदि) के, तलवार आदि शस्त्रोंके और औषधोंके चुरानेपर राजा समय (अकाल, दुर्भिक्ष आदि), कार्य (चोरितका भले-बुरे कार्योंमें उपयोग आदि) को देखकर चोरके लिए दण्डका निश्चय करे ॥ ३२४ ॥

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने ।
पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः ॥ ३२५ ॥

ब्राह्मणकी गाय चुरानेपर, बन्ध्या गायको लादनेके लिए नाथनेपर और यज्ञार्थं लाये गये बकरा आदि पशुको चुरानेपर राजा अपराधी (चोर) का आधा पैर तत्काल कटवा दे ॥ ३२५ ॥

सूत, रूई आदि चुरानेपर दण्ड—

सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च ।
दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥ ३२६ ॥

(ऊन आदिका) सूत, कपास (रूई), सुरा-बीज, गोबर, गुड़, दही, दूध, छाछ, पेय (पीने योग्य शर्बत या जल आदि) पदार्थ, घास ॥ ३२६ ॥

वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च ।
मृन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ३२७ ॥

बांसके बने सर्वविध बर्तन (या पानी लानेके लिए महीन बांसके टुकड़ोंसे बने विशेष प्रकारके बर्तन), नमक, मिट्टीके बर्तन या खिलौने आदि, मिट्टी, राख ॥३२७॥

मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च ।
मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसम्भवम् ॥ ३२८ ॥

मछली, पक्षी, तैल, घी, मांस, मधु (सहद) और पशुओंसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ (जैसे सींग, खुर, चमड़ा आदि; हाथीके दांत और हड्डी आदि) ॥ ३२८ ॥

अन्येषां चैवमादीनां मद्यानामोदनस्य च।
पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद् द्विगुणो दमः ॥ ३२९ ॥

इसी प्रकारके दूसरे पदार्थ (मैनसिल, शिलाजीत आदि), मद्य (बारह प्रकारके मादक पदार्थ या मदिरा), भात तथा सब प्रकारके पकवान (पूआ, पूड़ी, कचौड़ी, मिठाई आदि) के चुरानेपर चोरित वस्तुका दुगुना दण्ड चोरपर करना चाहिये ॥ ३२९ ॥

पुष्पादिके चुरानेपर दण्ड—

पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च।
अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥ ३३० ॥

फूल, हरा धान्य, विना घेरे हुए गुल्म, वेलि, वृक्ष, विना साफ किये (नहीं ओसाये गये) धान्यके (बांधकर भरपूर बोझको) चुरानेवालेपर (देश, काल, पात्र आदिके अनुसार सोने या चांदीका) पांच 'कृष्णल' (८।१३४) अर्थात् एक आनाभर दण्ड करना चाहिये ॥ ३३० ॥

निरन्वयादि वस्तु चुरानेपर दण्ड—

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च।
निरन्वये शतं दण्डः सान्वयेऽर्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥

साफ किये हुए धान्य, शाक, मूल (कन्द या जड़), फलको चौर्य पदार्थके स्वामीके साथ किसी प्रकारका (एक गांवमें रहना आदि) सम्बन्ध नहीं रहनेपर चोरी करनेवाले व्यक्तिपर सौ पण तथा चौर्य वस्तुके स्वामीके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध रहनेपर चोरी करनेवाले व्यक्तिपर पचास पण (८।१३६) दण्ड करना चाहिये ॥ ३३१ ॥

'साहस' तथा 'स्तेय' का लक्षण—

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम्।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥

वस्तु-स्वामीके सामनेसे बलात्कारपूर्वक किसी वस्तुका अपहरण करना 'साहस' (डाका डालना) और वस्तुस्वामीके परोक्षमें (नहीं रहनेपर चुपकेसे) किसी वस्तुका अपहरण कर भाग जाना (या अपहरण करनेके बादमें अस्वीकार करना) 'स्तेय' (चोरी करना) कहलाता है ॥ ३३२ ॥

उपभोग्य सूत्रादि तथा त्रेताग्नि चुरानेपर दण्ड—

यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः।
तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद् गृहात् ॥ ३३३ ॥

जो साफ-सुथरी करके उपभोगमें लाने योग्य बनायी गयी सूत्र आदि (८।३२६-३२९) वस्तुओंकी तथा अग्निहोत्रसे 'त्रेताग्नि' की चोरी करे; राजा उसको प्रथम साहस (८।१३८ अर्थात् २५० पण) से दण्डित करे ॥ ३३३ ॥

चोरका हाथ कटवाना आदि—

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३४ ॥

चोर जिस-जिस अङ्ग (हाथ, पैर आदि) से जिस प्रकार मनुष्योंमें कुचेष्टा (चोरी करना, सेंध मारना आदि दुष्कर्म) करे; राजा 'फिर वैसा अवसर नहीं आवे' इसके लिए उस चोरके उस-उस अङ्गको कटवा ले ॥ ३३४ ॥

अधार्मिक पिता आदिकी भी दण्डनीयता—

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ ३३५ ॥

पिता आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित; इनमें जो अपने धर्ममें तत्पर नहीं रहता, वह क्या राजाका दण्डनीय नहीं है ? अर्थात् पूज्य या निकट सम्बन्धी होनेपर भी वह दण्डनीय ही है ॥ ३३५ ॥

अपराधी राजाकी विशेष दण्डनीयता—

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥

जिस अपराधमें साधारण मनुष्य एक पणसे दण्डनीय है, उसी अपराधमें राजा सहस्र पणसे दण्डनीय है, ऐसा शास्त्रका निर्णय है ॥ ३३६ ॥

विमर्श—अपने ऊपर किये हुए दण्डद्रव्यको राजा राजकोषमें जमा नहीं करे, अपि तु आगे (९।२४५) के वचनानुसार पानीमें फेंक दे या ब्राह्मणोंमें बांट दे ॥

गुण-दोषज्ञ शूद्रादि चोरको दण्ड—

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः॥ ३३८॥

चोरीके गुण तथा दोषको जाननेवाले शूद्रके चोरी करनेपर चोरीके विषयमें शूद्रको अठगुना, वैश्यको सोलहगुना, क्षत्रियको बत्तीसगुना और ब्राह्मणको चौंसठगुना या सौगुना या एक सौ अट्ठाइसगुना पाप होता है; क्योंकि वह उस (चोरी) के गुण और दोषका जानकार है। (अतएव अपराधानुसार उक्त शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण उत्तरोत्तर अधिक दण्डनीय होते हैं)॥ ३३७-३३८॥

वनस्पतियोंके मूलादिकी अस्तेयता—

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च।
तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत्॥ ३३९॥

(विना घेरी हुई) वनस्पतियोंके मूल तथा फल, अग्निहोत्रके लिए समिधा (हवनकाष्ठ) और गोग्रासके लिए घास ग्रहण करनेको मनुने चोरी नहीं कहा है॥

चोरके हाथसे दक्षिणादि लेनेपर ब्राह्मणको दण्ड—

योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम्।
याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः॥ ३४०॥

जो ब्राह्मण नहीं दी गयी वस्तु (या धन) को चुरानेवाले चोरके हाथसे यज्ञ कराने या पढ़ानेकी दक्षिणा भी ('यह दूसरेका है' ऐसा जानता हुआ) लेनेकी इच्छा करे तो जैसा चोर है वैसा वह ब्राह्मण भी है, (अतएव ऐसा ब्राह्मण भी चोरके समान दण्डनीय है)॥ ३४०॥

दो गन्ना लेनेवाले द्विज पथिकादिको दण्डाभाव—

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके।
आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति॥ ३४१॥

पाथेय (रास्तेके कलेवा) से रहित द्विज पथिक यदि दूसरेके खेतसे दो गन्ने (ऊख) या दो मूली ग्रहण कर ले तो वह दण्डनीय नहीं होता है॥ ३४१॥

विना बंधे पशु आदिके अपहरणकर्ताको दण्ड—

असंदितानां संदाता संदितानां च मोक्षकः।
दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरकिल्बिषम्॥ ३४२॥

विना बंधे हुये दूसरेके पशु (घोड़ा, गाय, बैल, बछवा आदि) को बांध

लेनेवाला, बांधे हुए दूसरोंके पशुओंको खोल देनेवाला तथा दास, घोड़ा तथा रथ (गाड़ी, तांगा, एक्का आदि सवारीको) चुरानेवाला (बड़े-छोटे अपराधके अनुसार अधिक या कम) चोरके समान (मारण, अङ्गच्छेदन, धनादि ग्रहण अर्थात् जुर्माना आदि) दण्डके द्वारा दण्डनीय होता है ॥ ३४२ ॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् ।
यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥

इस विधि (३०१-३४२) से चोरको दण्डित करता हुआ राजा इस लोकमें ख्याति तथा मरकर परलोकमें अनुत्तम सुख पाता है ॥ ३४३ ॥

साहसकर्ताका निग्रह राजकर्तव्य—

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥

ऐन्द्र पद (सबका आधिपत्यरूप सर्वश्रेष्ठ) अक्षय पद तथा अव्यय यशको चाहनेवाला राजा क्षणमात्र भी साहसिक (बलात्कारसे गृहदाह तथा धन-जनका अपहरण करनेवाले अर्थात् डाकू) व्यक्तिकी उपेक्षा न करे, (किन्तु तत्काल उन्हें दण्डित करे) ॥ ३४४ ॥

वाक्पारुष्यादिसे साहसकी अधिक सदोषता—

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः ।
साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥

कटु वचन बोलनेवाला, चोर और डण्डे (या लाठी या शस्त्रादि) से मार-पीट करनेवाला; इन तीनोंकी अपेक्षा साहस (बलात्कारपूर्वक धन-जनका अपहरण) करनेवाला मनुष्य अधिक पापी होता है ॥ ३४५ ॥

साहसिक क्षमाकी निन्दा—

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः ।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥

साहस (बलात्कारसे धन-जनापहरण आदि) कर्ममें तत्पर मनुष्यको जो राजा क्षमा करता है, वह शीघ्र ही नष्ट होता तथा प्रजाका विद्वेष पात्र भी बनता है ॥

साहसिककी अनुपेक्षा—

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।
समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥

राजा मित्रता या अधिक धन प्राप्तिके कारणसे, सम्पूर्ण प्रजाओंको आतङ्कित करनेवाले साहसिक (डाकू) को भी न छोड़े अर्थात् उसे अवश्य दण्डित करे ॥

द्विजका शस्त्रग्रहणकाल—

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥ ३४९ ॥

साहसी (डाकू) मनुष्योंके कारण द्विजां तथा ब्रह्मचर्य आदि आश्रमवासियोंके धर्मका अवरोध होनेमें, समय-प्रभावसे राज्यके अराजक हो जानेके कारण युद्ध आदिकी सम्भावनामें, आत्मरक्षामें, दक्षिणा-द्रव्य (गौ आदि) के अपहरण-सम्बन्धी युद्धमें तथा स्त्रियों और ब्राह्मणोंकी रक्षामें द्विजातियोंको शस्त्रग्रहण करना चाहिये; क्योंकि धर्मपूर्वक अपराधीको मारता हुआ मनुष्य पापी नहीं होता है ॥

आततायीको तत्काल मारना—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥

गुरु, बालक, बूढा अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण भी आततायी होकर आता हो तो उसे बिना विचारे अर्थात् तत्काल मारना चाहिये ॥ ३५० ॥

आततायीका लक्षण—

[अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥ २३ ॥

(घर-गल्ला आदिमें) आग लगनेवाला, विष देनेवाला, (निश्शस्त्रपर) शस्त्र उठानेवाला, धनापहरण करनेवाला, खेत तथा स्त्रीको चुरानेवाला; ये ६ 'आततायी' होते हैं ॥ २३ ॥

उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा।
आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥ २४ ॥

(मारनेके लिए) तलवार उठाया हुआ, विष लिया हुआ, आग लिया हुआ, शाप देनेके लिए हाथ उठाया हुआ, अथर्व-विधि (मारणादि तान्त्रिक विधि) से मारनेवाला, राजाकी चुगली करनेवाला ॥ २४ ॥

भार्यारिक्थापहारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः ।
एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ।। २५ ।।]

स्त्रीके धनका अपहरण करनेवाला, छिद्रान्वेषी (सर्वदा दूसरोंका दोष ही ढूढ़नेमें लगा हुआ), इत्यादि; इस प्रकारके सभी लोगोंको आततायी ही जानना चाहिये ॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ।। ३५१ ।।

सबके सामने या एकान्तमें (मारने आदिके लिये उद्यत) आततायीके वध करनेमें वधकर्ताको दोष नहीं होता है, क्योंकि मारनेवाले अर्थात् आततायीका क्रोध मारे जाते हुएके क्रोधको बढ़ाता है ॥ ३५१ ॥

परस्त्रीदूषणमें दण्ड—

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः ।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ।। ३५२ ।।

परस्त्री-सम्भोगमें प्रवृत्त होनेवाले मनुष्योंको राजा व्याकुल करनेवाले दण्डों (नाक, ओष्ठ, कान आदि कटवा लेना) से दण्डित करके उसे देशसे निकाल दे ॥

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः ।
येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ।। ३५३ ।।

क्योंकि परस्त्री सम्भोगमें वर्णसङ्कर (दोगला) पुत्र उत्पन्न होता है, जिस वर्णसङ्करसे मूलको नष्ट करनेवाला अधर्म सबके नाशके लिए समर्थ होता है ॥३५३॥

विमर्श—परस्त्री-सम्भोगसे वर्णसङ्कर पुत्रकी उत्पत्ति होगी तो सती स्त्रीसे उत्पन्न उत्तम यज्ञकर्ताका अभाव हो जायेगा और वैसे उत्तम यज्ञकर्ताका अभाव होनेसे अग्निमें विधिपूर्वक हवन नहीं हो सकेगा और इस कारणसे वर्षाका भी अभाव होनेसे अन्नाभाव[1] होनेपर प्रजाओंको नष्ट करनेवाला अधर्म फैल जायगा; अत एव सब अनर्थोंके मूल कारण परस्त्री-सम्भोगको पूर्णतः रोकना राजाका परम कर्तव्य है।

परस्त्रीके साथ एकान्त में भाषण करनेपर—

परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः ।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ।। ३५४ ।।

पहलेसे परस्त्री-सम्भोग-विषयक निन्दासे युक्त जो पुरुष एकान्त में परस्त्रीसे

---

१. 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः ।' इति ।

बात-चीत करता हो, उसे प्रथम साहस (८।१३८, अर्थात् २५० पण) से दण्डित करना चाहिये ॥ ३५४ ॥

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात्।
न दोषं प्राप्नुयात् किंचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः॥ ३५५ ॥

पहले कभी भी परस्त्री-सम्भोगके विषयमें अनिन्दित पुरुष किसी कारणसे परस्त्रीके साथ एकान्तमें बात-चीत करे तो वह कुछ भी दोषी नहीं होता है, क्योंकि उसका कोई अपराध नहीं है ॥ ३५५ ॥

उक्त विधानका अपवाद—

परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा।
नदीनां वाऽपि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात्॥ ३५६ ॥

पहले परस्त्री-सम्भोगके विषयमें अनिन्दित भी जो पुरुष नदीके किनारे, (लता-गुल्म आदिसे घिरे हुए) अरण्यमें, घने वृक्ष आदिसे युक्त वनमें, अथवा नदियोंके सङ्गम स्थान अर्थात् एकान्तमें परस्त्रीके साथ बातचीत करता है; वह पुरुष 'स्त्री-संग्रहण' (८।३५७) के दण्ड (१००० पण) से दण्डनीय है ॥३५६॥

'स्त्री-संग्रहण'का लक्षण—

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम्।
सह खट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥ ३५७ ॥

परस्त्रीके पास सुगन्धित तेल-फुलेल, इत्र माला आदि भेजना, केलि (हंसी-मजाक आदि) करना, उसके भूषण तथा वस्त्रोंका स्पर्श करना और साथमें एक खाटपर बैठना (यहां सर्वत्र निर्जन अर्थात् बिलकुल एकान्त स्थानमें तात्पर्य है); ये सब कार्य मनु आदि ऋषियोंके द्वारा 'संग्रहण' कहा गया है ॥ ३५७ ॥

स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया।
परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥ ३५८ ॥

यदि पुरुष परस्त्रीके अस्पृश्य अङ्ग (जङ्घा, स्तन, गाल आदि अङ्ग) का स्पर्श करे, या उसके द्वारा अपने अङ्गके स्पर्श करनेपर सहन करे (रुष्ट नहीं होवे), ये सब कार्य परस्परमें अनुमति (राजीखुशी) से हों तो ये 'संग्रहण' कहे गये हैं ॥

स्वयं पुरुषके पास स्त्रीके जानेपर—

[कामाभिपातिनी या तु नरं स्वयमुपव्रजेत्।
राज्ञा दास्ये नियोज्या सा कृत्वा तद्दोषघोषणम्॥ २६ ॥]

यदि कामके वशीभूत होकर स्त्री पुरुषके पास स्वयं जावे तो राजा उसके दोषको घोषित (सर्वप्रत्यक्ष) कर इसे दासीके कर्ममें नियुक्त कर ले ॥ २६ ॥]

स्त्रीसंग्रहणकर्ता शूद्रको दण्ड—

अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति ।
चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥ ३५९ ॥

अब्राह्मण अर्थात् शूद्र पुरुष यदि सम्भोगादिकी इच्छा नहीं करनेवाली ब्राह्मणीका 'संग्रहण' (८।३५७–३५८) करे तो वह प्राणदण्ड (फांसी देने) के योग्य होता है; क्योंकि चारों वर्णोंकी स्त्रियां सर्वदा रक्षणीय हैं ॥ ३५७ ॥

विमर्श—यहांपर कठोर दण्ड-विधान होनेसे 'अब्राह्मण' शब्दको मन्वर्थमुक्तावली कारने शूद्रार्थक मानाहै । चारो वर्णोंकी स्त्रियोंको रक्षणीय कहनेसे ऐसे प्रसङ्गको रोकनेके लिए सब वर्णोंकी स्त्रियों (के सतीत्व) की रक्षा राजाको सर्वदा करनी चाहिये ।

भिक्षुकादिके परस्त्री-भाषणकी अनिन्दनीयता—

भिक्षुका बन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।
संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥

भिक्षुक, बन्दी (चारण, भाट आदि), दीक्षित (यज्ञके लिए दीक्षा ग्रहण किया हुआ), रसोइया (पाचक) परस्त्रीके साथ अनिवारितरूपमें बातचीत करें अर्थात् इनका बात-चीत करना 'संग्रहण' नहीं है अत एव परस्त्रीके साथ वातचीत करनेपर ये दण्डनीय भी नहीं हैं ॥ ३६० ॥

निषेध करनेपर परस्त्री-भाषणकर्ताको दण्ड—

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ।
निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥ ३६१ ॥

(स्वामी, स्त्रीका पति या अन्य अभिभावकके) मना करनेपर पुरुष परस्त्रीके साथ बातचीत न करे, मना करनेपर (परस्त्रीके साथ) बातचीत करता हुआ पुरुष सौ सुवर्ण (८।१३४) से दण्डनीय होता है ॥ ३६१ ॥

नटादिकी स्त्रीके साथ भाषण निर्दोष—

नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु ।
सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२ ॥

स्त्रियोंके साथ बातचीत करनेके निषेधका यह (८।३५४–३६१) विधान नट तथा गायकोंकी स्त्रियोंके साथ बातचीत करनेमें नहीं है; क्योंकि वे (नट, गायक

आदि) अपनी स्त्रियोंको (शृङ्गार आदिके द्वारा) सुसज्जितकर दूसरोंसे मिलाते तथा छिपकर स्त्रियोंके साथ सम्भोग करते हुए परपुरुषोंको देखते हैं ॥ ३६२ ॥

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन् ।
प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ३६३ ॥

(तथापि) चारणादिकी स्त्रियों, दासियों, बौद्धमतावलम्बिनी स्त्रियों, ब्रह्मचारिणियोंसे एकान्तमें बातचीत करते हुए मनुष्यको राजा साधारणतम दण्डित करे, (क्योंकि ये सब भी परस्त्री ही हैं, अतएव उनके साथ एकान्तमें बातचीत करनेसे दोष लगता ही है) ॥ ३६३ ॥

कन्या सम्भोग करनेपर—

योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति ।
सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥

समान जातीय कोई पुरुष सम्भोगकी इच्छा नहीं करती हुई कन्याको सम्भोगके द्वारा दूषित करे तो वह (ब्राह्मणेतर जातिका होनेपर) शीघ्र ही लिङ्गच्छेदन आदिरूप वधसे दण्डनीय होता है और सम्भोगकी इच्छा करती हुई कन्याको दूषित करनेवाला समानजातीय पुरुष (उक्त लिङ्गच्छेदनादि) वधसे दण्डनीय नहीं होता, (क्योंकि उक्त कार्य गान्धर्व विवाह (३।३२) माना जाता है ॥ ३६४ ॥

कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत् ।
जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद् गृहे ॥ ३६५ ॥

अपनेसे श्रेष्ठ जातिवाले पुरुषके साथ सम्भोग करती हुई कन्याको (राजा) थोड़ा भी दण्डित न करे, किन्तु अपनेसे हीन जातिवाले पुरुषका सेवन करती हुई कन्याको यत्नपूर्वक घरमें रोक रक्खे (जिससे उसकी कामेच्छा निवृत्त हो जाय) ॥

उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ।
शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ॥ ३६६ ॥

हीनजातीय पुरुष अपनेसे श्रेष्ठ जातिवाली (सम्भोगकी इच्छा करती हुई या नहीं करती हुई) कन्याके साथ सम्भोग करे तो वह (जात्यनुसार लिङ्गच्छेदन, ताडन या मारण आदि) वधके योग्य है, तथा समान जातिवाली कन्याके साथ सम्भोग करे और उस कन्याका पिता उस कर्मको स्वीकार करे तो उसे उचित मात्रामें धन देवे (तथा उस कन्याके साथ विवाह कर ले) ॥ ३६६ ॥

अङ्गुलिक्षेपणसे कन्याको दूषित करनेपर दण्ड—

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः ।
तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥ ३६७ ॥

जो पुरुष समानजातिवाली कन्याके साथ सम्भोग न करके बलात्कारपूर्वक उसकी योनि (मूत्रमार्ग) में अङ्गुलि डालकर उसे दूषित करे, राजा उसकी अङ्गुलिको शीघ्र कटवा ले तथा उसे ६०० पण (८।१३६) से दण्डित करे ॥ ६६७ ॥

सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलिच्छेदमाप्नुयात् ।
द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥

समान जातिवाली कामवासनायुक्त कन्याके साथ सम्भोग न करके उसकी योनिमें अङ्गुलि डालकर जो पुरुष उस कन्याको दूषित करे, राजा उस पुरुषकी अङ्गुलि तो नहीं कटवावे, किन्तु भविष्यमें ऐसे प्रसङ्गको रोकनेके लिए उसे २०० पण (८।१३६) से दण्डित करे ॥ ३६८ ॥

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद् द्विशतो दमः ।
शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद् दश ॥ ३६९ ॥

यदि कोई कन्या ही किसी दूसरी कन्याकी योनिमें अङ्गुलि डालकर उस कन्याको दूषित करे तो राजा कन्यात्व नष्ट करनेवाली उस कन्याको २०० पणसे दण्डित करे, दुगुना (४०० पण) उस दूषित कन्याके पिताके लिए दिलवावे तथा दश कोड़े या बेंत से उसे ताडित करे ॥ ३६९ ॥

या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ।
अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥ ३७० ॥

यदि कोई स्त्री किसी कन्याकी योनिमें अङ्गुलि डालकर उस कन्याको दूषित करे तो राजा तत्काल उस स्त्रीका शिर मुँड़वा दे, अङ्गुलि कटवा ले तथा गधेपर चढ़ाकर उस स्त्री को सड़कोंपर घुमवावे ॥ ३७० ॥

व्यभिचारिणी स्त्रीको दण्ड—

भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥

जो स्त्री पिता या बान्धवोंके अधिक धनी होने या अपने सौन्दर्यके अभिमानसे परपुरुषके साथ सङ्गति करके अपने पतिका अपमान करे, उसे राजा बहुत लोगोंसे युक्त स्थानमें (सबके सामने) कुत्तोंसे कटवावे ॥ ३७१ ॥

व्यभिचारी पुरुषको दण्ड—

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥

और उस पापी जारको तपाये हुए लोहेकी खाटपर सुलाकर जलावे तथा उस खाटपर लोग लकड़ी डाल दें, जिससे वह पुरुष जल (कर मर) जाय ॥ ३७२ ॥

कलङ्कित पुरुषके पुनः अपराध करनेपर दण्ड—

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः ।
व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥ ३७३ ॥

परस्त्री-गमनसे दूषित (अदण्डित भी) पुरुष एक वर्षके वीतनेपर पुनः परस्त्री-गमन रूप अपराध करे तो उसे पूर्वोक्त दण्डसे दुगुना दण्ड होता है, तथा व्रात्या (१०।२०) तथा चाण्डाली (१०।२६–२७) के साथ गमन (सम्भोग) करनेपर भी उतना (दुगुना) ही दण्ड होता है ॥ ३७३ ॥

विमर्श—पहले परस्त्री-सम्भोगसे दूषित व्यक्ति यदि व्रात्या या चाण्डाली स्त्रीके साथ एक वर्ष बीतनेपर सम्भोग करे तो वह दुगुना दण्डनीय होता है । इसी प्रकार पूर्व दूषित सब पुरुष एक वर्ष बीतनेपर उसी परस्त्रीके साथ सम्भोग करे तो वह दुगुना दण्डनीय होता है । यह वचन पहलेका ही व्रात्या तथा चाण्डालीके साथ सम्भोग करनेपर दण्ड निर्देशके लिए है ।

अरक्षितादि स्त्रीके साथ शूद्रादिको दण्ड—

शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् ।
अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥

(पति या अभिभावकके द्वारा) सुरक्षित या असुरक्षित द्विज-स्त्रीके साथ सम्भोग करनेवाले शूद्रको असुरक्षित द्विज स्त्रीके साथ सम्भोग करनेपर उसके लिङ्गको कटवाकर तथा धनको जप्तकर दण्डित करे तथा सुरक्षित द्विज-स्त्रीके साथ सम्भोग करनेपर उसकी सब सम्पत्तिको जप्तकर उसे प्राणदण्डसे दण्डित करे ॥ ३७४ ॥

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः ।
सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥ ३७५ ॥
ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ ।
वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥ ३७६ ॥

(पति आदिसे सुरक्षित ब्राह्मणोके साथ संभोग करने पर) वैश्यको १ वर्ष

तक जेलमें रखनेके बाद सर्वस्व हरणका दण्ड (जुर्माना) देना चाहिये और क्षत्रियको १००० पणका दण्ड देना चाहिये एवं उसका शिर गधेके मूत्रसे मुंडवा देना चाहिये (पति या अभिभावकादिके) असुरक्षित द्वारा ब्राह्मण-स्त्रीके साथ यदि वैश्य सम्भोग करे तो राजा उसपर ५०० पण तथा यदि क्षत्रिय गमन करे तो उसपर १००० पण दण्ड (जुर्माना) करे ३७५-३७६ ॥

विमर्श—जातिमात्रोपजीविनी गुणहीना ब्राह्मणीके साथ शूद्रीके भ्रमसे गमन करनेवाले वैश्यके लिए यह दण्ड-विधान है, किन्तु उससे भिन्न ब्राह्मणीके साथ गमन करनेवाले वैश्य भी १००० पणसे ही दण्डनीय होता है।

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह।
विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ३७७ ॥

(पति आदिसे सुरक्षित तथा) गुणवती ब्राह्मणीके साथ यदि वे दोनों (वैश्य तथा क्षत्रिय मैथुन करें तो वे शूद्रके समान (८।३७४) दण्डनीय हैं या तृणाग्निमें जलाने योग्य हैं ॥ ३७७ ॥

विमर्श—वसिष्ठके 'वैश्यं लोहितदर्भैः क्षत्रियं शरपत्त्रैर्वा वेष्टय' इस वचनके अनुसार उक्तापराध करनेवालेको जलते हुए लाल कुशाओंसे तथा क्षत्रियको शरपत्तोंसे वेष्टितकर जलाना चाहिये। प्रकृत वचनका गुणवती ब्राह्मणी-विषयक होनेसे पूर्व-वचन (८।३७५) के साथ विरोध नहीं होता है॥

ब्राह्मणीके साथ सम्भोग करनेवाले ब्राह्मणको दण्ड—

सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद् व्रजन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ॥ ३७८ ॥

(पति या अभिभावकके द्वारा) सुरक्षित ब्राह्मणीके साथ बलात्कारपूर्वक सम्भोग करनेवाला ब्राह्मण १००० पणसे तथा सम्भोग की इच्छा करनेवाली ब्राह्मणीके साथ सम्भोग करनेवाला ब्राह्मण ५०० पण (८।१३६) से दण्डनीय होता है ॥ ३७८ ॥

मुण्डनमात्र ही ब्राह्मणका प्राणदण्ड—

मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते।
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥ ३७९ ॥

ब्राह्मणको प्राणदण्ड होनेपर उसका मुण्डन करा देना ही उसका प्राण दण्ड होता है तथा अन्य वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) का प्राणनाश करना ही प्राणदण्ड होता है ॥ ३७९ ॥

ब्राह्मणवधका निषेध—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥ ३८० ॥

राजा समस्त पाप करनेवाले भी ब्राह्मणका वध कभी न करे, किन्तु सम्पूर्ण धनके साथ अक्षत शरीरवाले उस (ब्राह्मण) को राज्यसे निर्वासित कर दे ॥३८०॥

न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥

ब्राह्मणवधके समान पृथ्वीपर दूसरा कोई बड़ा पाप नहीं है, अतएव राजा मनसे भी ब्राह्मणके वध करनेका विचार न करे ॥ ३८१ ॥

सुरक्षित वैश्या तथा क्षत्रियाके साथ सम्भोग करनेपर दण्ड—

वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत्।
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥ ३८२ ॥

(पति आदिके द्वारा सुरक्षित) क्षत्रियाके साथ वैश्य तथा वैश्याके साथ क्षत्रिय सम्भोग करे तो वे अरक्षित ब्राह्मणीके साथ सम्भोग करनेपर कहे गये दण्डसे (८।३७६ के अनुसार वैश्य ५०० पण तथा क्षत्रिय १००० पण) से दण्डनीय हैं ॥

विमर्श—यहांपर गुणहीना तथा जातिमात्रोपजीविनी असुरक्षित क्षत्रियाको शूद्रा समझकर उसके साथ सम्भोग करनेवाले गुणवान् वैश्यके लिए क्षत्रियसे कम अर्थात् आधा (५०० पण) दण्ड कहा गया है, किन्तु उसे क्षत्रिया जानकर सम्भोग करनेवाला वैश्य भी १००० पण से ही दण्डनीय होता है, तथा सुरक्षित वश्याको वैश्या जानकर भी सम्भोग करनेवाले क्षत्रियपर १००० पण दण्ड करना उचित है ही।

[सुरक्षित वैश्यादिके साथ गमन करनेवाले ब्राह्मणको दण्ड—

[क्षत्रियां चैव वैश्यां च गुप्तां तु ब्राह्मणो व्रजन्।
न मूत्रमुण्डः कर्तव्यो दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७ ॥]

(पति या अभिभावकादिसे सुरक्षित) क्षत्रिया अथवा वैश्याके साथ गमन (सम्भोग) करनेवाले ब्राह्मणपर मूत्रमुण्ड (गधे के मूत्रसे शिर मुंड़वानेका दण्ड) नहीं करना चाहिये, किन्तु एक उत्तम साहस (८।१३८ अर्थात् १००० पण) का दण्ड करना चाहिये ॥ २७ ॥]

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन्।
शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः ॥ ३८३ ॥

(पति या अभिभावकादिसे सुरक्षित) क्षत्रिया तथा वैश्याके साथमें सम्भोग करनेवाला ब्राह्मण १००० पणसे दण्डनीय है तथा सुरक्षित शूद्राके साथमें सम्भोग करनेवाले क्षत्रिय और वैश्य भी १०००-१००० पण (८।१३६) से ही दण्डनीय होते हैं ॥ ३८३ ॥

असुरक्षित क्षत्रियाके साथ सम्भोग करनेवाले वैश्यको दण्ड—

क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः ।
मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत्तु क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥ ३८४ ॥

(पति आदिसे) अरक्षित क्षत्रियाके साथ सम्भोग करनेवाले वैश्यको ५०० पण दण्ड होता है और क्षत्रियको गधेके मूत्रसे शिर मुंडवाने का या ५०० पण का दण्ड होता है ॥ ३८४ ॥

असुरक्षित क्षत्रिया आदिके साथ सम्भोग करनेवाले ब्राह्मणको दण्ड—

अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥ ३८५ ॥

(पति आदिसे असुरक्षित) क्षत्रिया, वैश्या अथवा शूद्राके साथ सम्भोग करनेवाला ब्राह्मण ५०० पणसे तथा अन्त्यज स्त्री (चाण्डाली आदि सर्वाधम स्त्री) के साथ सम्भोग करनेवाला (ब्राह्मण) १००० पणसे दण्डनीय होता है ॥ ३८५॥

[शूद्रादि धनका कोषमें रखनेका निषेध—

[शूद्रोत्पन्नांशपापीयान्न वै मुच्येत किल्विषात् ।
तेभ्यो दण्डाहृतं द्रव्यं न कोशे संप्रवेशयेत् ॥ २८ ॥
अयाजिकं तु तद्राजा दद्याद् भृतकवेतनम् ।
यथादण्डगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यस्तु लम्भयेत् ॥ २९ ॥
भार्यापुरोहितस्तेना ये चान्ये तद्विधा जनाः ॥ ३० ॥]

[राजा शूद्रोत्पन्न पाप-सम्बन्धी दोषसे नहीं मुक्त होता है, अतएव उनसे प्राप्त दण्ड-द्रव्यको खजानेमें नहीं जमा करावे ॥ २८ ॥]

चौरादिहीन राज्यवाले राजाकी प्रशंसा—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥ ३८६ ॥

जिस (राजा) के राज्यमें चोर, परस्त्री-सम्भोग करनेवाला, कठोर वचन बोलनेवाला, गृहदाह आदि साहस कार्य करनेवाला तथा कठोर दण्ड (ताडन-मारण

आदि दण्ड पारुष्य) करनेवाला पुरुष नहीं है, वह (राजा) स्वर्गगमन करता है ॥

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके ।
साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥ ३८७ ॥

इन पांचो (चोर, परस्त्री-सम्भोगकर्ता, कटुभाषणकर्ता, साहसकर्मकर्ता और दण्डपारुष्यकर्ता) का अपने राज्यमें निग्रह करनेवाला राजा समानजातीय राजाओंमें साम्राज्य करनेवाला तथा इस लोकमें यशस्वी होता है ॥ ३८७ ॥

पुरोहित तथा यजमानका त्याग करनेपर दण्ड—

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यदि ।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥ ३८८ ॥

जो यजमान (कर्मानुष्ठानमें समर्थ) पुरोहितका और पुरोहित (अधार्मिक-पातकादि दोषवर्जित) यजमानका त्याग करे, वह (त्यागकर्ता यजमान या पुरोहित) १००–१०० पणसे दण्डनीय होता है ॥ ३८८ ॥

माता आदिका त्याग करनेपर दण्ड—

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ।
त्यजन्नपतितानेतान्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ३८९ ॥

माता, पिता, स्त्री और पुत्र त्यागके योग्य नहीं हैं, (अतएव अपतित) इनमें-से किसीका त्याग करनेवालेको राजा ६०० पणसे दण्डित करे ॥ ३८९ ॥

ब्राह्मणोंके शास्त्रीय विवादमें राजाके हस्तक्षेपका निषेध—

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः ।
न विब्रूयान्नृपो धर्मं चिकीर्षन्हितमात्मनः ॥ ३९० ॥

(गार्हस्थ्यादि) आश्रम-सम्बन्धी धार्मिक विषयोंमें ('शास्त्रका ऐसा अभिप्राय है, तुम्हारे कहनेके अनुसार नहीं है' इत्यादि रूपमें) परस्पर विवाद करते हुए द्विजातियोंके कार्यमें अपना हित चाहनेवाला राजा 'इस प्रकारका धर्म (शास्त्रवचन) है, ऐसा कोई निर्णय न करे ॥ ३९० ॥

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३९१ ॥

राजा उनकी यथोचित पूजा (आदर-सत्कार) कर ब्राह्मणोंके साथ सान्त्व (शमप्रधान) वचनोंसे उन्हें शान्त करके इनका अपना जो धर्म है, उसे समझावे ॥

सामाजिक भोजनके विषयमें दण्डविधान—

प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिर्द्विजे ।
अर्हावभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ।। ३९२ ।।

किसी शुभ कार्यमें बीस ब्राह्मणोंको भोजन कराना हो तो प्रतिवेशी और अनुवेशी योग्य ब्राह्मणोंको नहीं भोजन करानेवाला ब्राह्मण एक माशे चांदीसे दंडनीय होता है ॥ ३९२ ॥

विमर्श—बिलकुल सटे हुए मकानमें रहनेवाला 'प्रतिवेशी' तथा एक मकान छोड़कर दूसरे मकानमें रहनेवाला 'अनुवेशी' कहा जाता है ॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ।
तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ।। ३९३ ।।

प्रतिवेशी या अनुवेशी सज्जन श्रोत्रियको विवाहादि शुभ कार्योंमें नहीं भोजन करानेवाले श्रोत्रियसे (राजा) उस (भोजन नहीं कराये गये) श्रोत्रियके लिए दुगुना अन्न तथा एक माशा सोना दण्ड-स्वरूप दिलवावे ॥ ३९३ ॥

करग्रहसे मुक्त करने योग्य व्यक्ति—

अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ।
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम् ।। ३९४ ।।

अन्धा, जड, पङ्गु, सत्तर वर्षसे अधिक बूढा और अन्न आदिसे श्रोत्रियोंका उपकार करते रहनेवाला; इन लोगोंसे कोई (क्षीणकोषवाला भी) राजा कर (टैक्स) नहीं लेवे ॥ ३९४ ॥

श्रोत्रियं व्याधितार्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् ।
महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत्सदा ।। ३९५ ।।

श्रोत्रिय (विद्वान् तथा आचारवान् ब्राह्मण), रोगी, (पुत्रादिके विरहसे) दुःखी, बालक, वृद्ध, दरिद्र, श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न और उत्तम चरित्रवालेकी राजा सदैव पूजा (दान, मान आदि हिताचरणसे सत्कार) करता रहे ॥ ३९५ ॥

धोबीको कपड़ा धोनेका विधान—

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ।
न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ।। ३९६ ।।

धोबी सेमलकी लकड़ीके बने हुए चिकने पाढ (मोटे तख्ते) पर धीरे-धीरे कपड़ोंको धोवे, किसीके कपड़ेको दूसरोंके कपड़ोंमें नहीं मिलावे और दूसरेको

पहननेके लिए नहीं देवे। (यदि वह ऐसा नहीं करे तो राजाके द्वारा दण्डनीय होता है) ॥ ३९६ ॥

सूतको बुनकर कपड़ा देनेका विधान—

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम्।
अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥ ३६७ ॥

कपड़ा बुननेवाला (जुलाहा आदि) दश पल सूतके बदलेमें (मांड़ी आदि लगनेसे बढ़ जानेके कारण) ग्यारह पल कपड़ा दे, इसके विपरीत करने (कम कपड़ा देने) वालेको राजा बारह पण (८।१३६) दण्ड दिलवावे (तथा स्वामी अर्थात् सूतके बदलेमें कपड़ा लेनेवालेको उचित कपड़ा दिलवाकर सन्तुष्ट करे) ॥

विक्रेय वस्तुके करग्रहणका प्रमाण—

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥ ३६८ ॥

स्थल तथा जलके मार्गसे व्यापार करनेमें चतुर और बाजारके सौदोंके मूल्य लगानेमें निपुण व्यक्ति बाजारके अनुसार जिस वस्तुका जो मूल्य निश्चित करें, उसके लाभमें-से राजा बीसवां भाग कर रूपमें ग्रहण करे ॥ ३९८ ॥

प्रतिषिद्ध वस्तुका निर्यात करनेपर दण्ड—

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥ ३६६ ॥

राजासे सम्बद्ध विक्री करने योग्य विख्यात (वर्तन या राजोपयोगी हाथी, घोड़ा, गाडी आदि) सामान, तथा निर्यात (निकासी) के लिये मना किये गये पदार्थ (यथा–दुर्भिक्षके कारण अन्नादि, पशून्नति आदिके लिए गाय, भैंस बैल आदि, या इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थ) को लोभ (अधिक लाभ होनेकी आशा) से दूसरे देश (या स्थान) में ले जानेवाले व्यापारीकी सम्पूर्ण सम्पत्तिको राजा हरण (जप्त) कर ले ॥ ३९९ ॥

असमयमें विक्रयादि करनेपर दण्ड—

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥ ४०० ॥

शुल्क (चुंगी-कस्टम) से बचनेके लिए चुंगीघरका रास्ता छोड़कर दूसरे

रास्तासे सौदा ले जानेवाला, असमय (रात्रि आदिमें गुप्त रूपसे) विक्रय करनेवाला; (चुंगी कम लगनेके लिए) तौल, माप या मूल्यको झूठ (कम) बतलानेवाला व्यापारी चुंगीके वास्तविक मूल्यके अठगुने द्रव्यसे दण्डनीय होता है ॥ ४०० ॥

विदेशमें विक्रय करनेका मूल्य निर्णय—

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥

(राजा) आयात-निर्यातकी दूरी, स्थान, कितने दिनोंतक रखे रहनेसे कितना लाभ होगा, कितना बढ़ेगा, कर्मचारियों या अन्य कुली आदि तथा कीड़े आदिके कारण कितना माल घटेगा; इत्यादि सब बातोंका विचारकर बाजारमें बेचने योग्य सब सौदों (अन्न, वस्त्र, शस्त्र, काष्ठ आदि सामान) का मूल्य निश्चित कर उनका क्रय-विक्रय (खरीद-बेची) करावे ॥ ४०१ ॥

मूल्य निर्धारण—

पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥

राजा पांच-पांच या पन्द्रह-पन्द्रह दिनोंके बाद मुख्य व्यापारियोंके सामने (उनसे विचार विनिमय करके सौदोंके) मूल्यका निर्धारण करता रहे ॥ ४०२ ॥

तराजू, बाट, आदिकी जांच—

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥

तुलामान, प्रतीमान और तराजूको राजा अच्छी तरह जांचकर परीक्षा करे तथा प्रति छः मास पर उनकी जांच कराता रहे ॥ ४०३ ॥

विमर्श—सोना-चांदी आदि बहुमूल्य वस्तु तौलनेके बांट (तोला, मासा, रत्ती, आदि बटखरों) को 'तुलामान' तथा अन्न आदि तौलनेके बांट (सेर, पसेरी, मन आदि बड़े बटखरों) को 'प्रतीमान' कहते हैं। इसी प्रकार राजा कपड़े नापनेका गज, पैमाना आदिका भी जांच कराता रहे।

नावका भाड़ा—

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥

(नदी आदिको) नावसे पार करने में मनुष्य खाली गाड़ीका एक पण, एक आदमीके बोझ (लगभग एक मन) का आधा पण, गौ आदि पशु तथा स्त्रीका चौथाई पण तथा खाली (बोझरहित) मनुष्यका अष्टमांश पण (८।१३६) नावका भाड़ा (खेवाई) देवे ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ।
रिक्तभाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ ४०५ ॥

सामानसे भरी हुई गाड़ी या ठेले आदिकी खेवाई उनके हलकापन तथा भारीपनके अनुसार देवे तथा खाली वर्तन और दरिद्र मनुष्यका भाड़ा जो भी कुछ अर्थात् अत्यन्त थोड़ा देवे ॥ ४०५ ॥

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६ ॥

दूरतक जानेके लिए, नदीकी प्रबलता (तेज बहाव), स्थिरता, गर्मी तथा वर्षा आदिका समयके अनुसार नावभाड़ा (खेवाई) होती है; इसको नदी-तटके लिए समझना चाहिये । समुद्रमें नदीसे भिन्न स्थिति होनेसे यह नियम (८।४०४-४०५) नहीं है (अत एव उसका भाड़ा उचित ही लेना चाहिये) ॥ ४०६ ॥

गर्भिणी आदि नाव-भाड़ासे मुक्त—

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ।
ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ४०७ ॥

दो माससे अधिक गर्भवाली स्त्री, संन्यासी, ब्राह्मण और ब्रह्मचारीसे नदीके पार जानेमें कोई नावभाड़ा नहीं लेना चाहिये ॥ ४०७ ॥

मल्लाहके दोषसे सामान नष्ट होनेपर—

यन्नावि किंचिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः ।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः ॥ ४०८ ॥

मल्लाहोंकी गल्तीसे जो सामान नावमें नष्ट हो जाय, उसकी पूर्ति सब मल्लाहोंको मिलकर अपने-अपने हिस्सेमें-से करनी चाहिये ॥ ४०८ ॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ४०९ ॥

(भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि—) नावसे पार जानेवालोंके लिये यह निर्णय कहा गया है । नाविकों (नावपर काम करनेवाले) मल्लाहों की असावधानीसे नष्ट हुए

सामानके देनदार नाविक होते हैं, किन्तु दैवी उपद्रव (आंधी-तूफान आदि) से सामानके नष्ट होनेपर उसके देनदार नाविक नहीं होते, वह हानि नष्ट हुए सामानके स्वामीको ही भोगनी पड़ती है ॥ ४०९ ॥

वैश्यादिसे व्यापारादि कराना—

वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च ।
पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥ ४१० ॥

राजा वैश्योंसे व्यापार, व्याज (सूद) की जीविका, खेती तथा पशु-पालन और शूद्रोंसे द्विजोंकी सेवा करावे ॥ ४१० ॥

क्षत्रिय-वैश्यके दासकर्मका निषेध—

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ ।
बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन् ॥ ४११ ॥

जीविका (के अभाव) से दुःखित क्षत्रिय तथा वैश्यको उनसे अपनी जातिके अनुसार रक्षण तथा खेती आदि करवाता हुआ धनवान् ब्राह्मण करुणापूर्वक पालन करे ॥

विमर्श—इस वचनसे यह बात प्रकरण द्वारा सिद्ध होती है कि यदि धनवान् ब्राह्मण जीविकाके अभावसे दुःखित क्षत्रिय तथा वैश्यको उक्त प्रकारसे पालन न करे तो वह राजदण्डनीय होता है ।

दास्यं तु कारयँल्लोभाद् ब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान् ।
अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ४१२ ॥

सम्पत्तिशाली होनेके कारण यदि ब्राह्मण लोभसे यज्ञोपवीत संस्कार युक्त द्विजसे उसकी इच्छाके विना दासकर्म करावे तो वह ब्राह्मण राजाके द्वारा ६०० पण (८।१३६) से दण्डनीय होता है ॥ ४१२ ॥

शूद्रसे दासकर्म करानेका विधान—

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥ ४१३ ॥

किन्तु वेतन देकर या नहीं देकर (जैसा वे चाहें वैसा करके) शूद्रसे दास कर्मको करावे; क्योंकि ब्रह्माने ब्राह्मणोंकी सेवाके लिए ही शूद्रोंकी सृष्टि की है ॥

दासत्वसे शूद्रकी अमुक्ति—

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते ।
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥ ४१४ ॥

स्वामीके द्वारा छोड़ा गया भी शूद्र दासत्वसे छुटकारा नहीं पाता है, क्योंकि वह (दासत्व) उसका स्वाभाविक कर्म है; (अत एव) उस (दासत्व कर्म) से उसको कौन मुक्त कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४१४ ॥

दासके सात प्रकार—

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥ ४१५ ॥

(१) युद्धमें स्वामीके पाससे जीता गया, (२) भोजन करने आदिके लोभसे आया हुआ, (३) दासी-पुत्र, (४) मूल्य देकर खरीदा गया, (५) किसीके देनेसे प्राप्त हुआ, (६) पिताकी परम्परासे चला आता हुआ (७) दण्ड (ऋण आदि) को चुकानेके लिए स्वीकृत किया गया; दासोंकी ये सात योनियां (कारण) हैं ॥४१५॥

भार्या, दासादिके अपने धनका अभाव—

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ ४१६ ॥

स्त्री, पुत्र तथा दास; इन तीनोंको (मनु आदि महर्षियोंने) निर्धन ही कहा है, ये जो कुछ उपार्जन करते हैं, वह उसका होता है जिसके वे (भार्या, पुत्र या दास) हैं ॥ ४१६ ॥

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत्।
न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥ ४१७ ॥

ब्राह्मण विना विकल्प किये (दास) शूद्रसे धनको ले लेवे, क्योंकि उस (दास शूद्र) का निजी धन कुछ नहीं है और वह (दास शूद्र) स्वामीसे ग्रहण करने योग्य धनवाला है अर्थात् उस शूद्रके धनको ग्रहण करनेका अधिकार उसके स्वामी को है ॥ ४१७ ॥

विमर्श—इस वचनके अनुसार आपत्तिकालमें शूद्रसे बलात्कारपूर्वक धन ग्रहण करनेवाला ब्राह्मण दण्डनीय नहीं होता है।

वैश्य तथा शूद्रसे अपना अपना कर्म कराना—

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्।
तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥ ४१८ ॥

राजा वैश्य तथा शूद्रसे यत्नपूर्वक अपने-अपने कर्मों (वैश्यसे व्यापार, पशु-पालन और खेती आदि तथा शूद्रसे द्विजसेवा) को करवाता रहे; क्योंकि अपने-अपने

कर्मसे भ्रष्ट ये दोनों (वैश्य तथा शूद्र, अन्यायोपार्जित धनादिके अभिमानसे) इस संसारको क्षुभित कर देंगे ॥ ४१८ ॥

प्रतिदिन आय-व्यय आदि का निरीक्षण—

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च ।
आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥ ४१९ ॥

राजा प्रतिदिन (उन-उन विभागीय अधिकारियोंके द्वारा) आरम्भ किये गये कार्योंकी समाप्ति, हाथी-घोड़ा आदि वाहन, आय, व्यय, (कोयला, अभ्रक, लोहा, सोना आदि की) खान, और कोष; इनको अनेक कार्यमें फँसे रहने पर भी सदैव देखता रहे ॥ ४१९ ॥

व्यवहारको यथावत् देखनेका फल—

एवं सर्वानिमान्राजा व्यवहारान्समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ४२० ॥

इस प्रकार सब व्यवहारोंको समाप्त (पूरा) करता हुआ राजा सब पापोंको दूरकर उत्तम गतिको प्राप्त करता है ॥ ४२० ॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् व्यवहारादिनिर्णयः ।
'लोकनाथ' कृपादृष्ट्या ह्यष्टमे पूर्णतां गतः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः ।

स्त्री-पुरुषके धर्म—

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः ।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि-अब मैं) धर्म-मार्गमें रहते हुए स्त्री-पुरुषके संयोग और वियोग होने (साथ और अलग रहने) पर नित्य (सनातन) धर्मको कहूंगा ॥ १ ॥

स्त्रीरक्षा—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ २ ॥

पति आदि आत्मीय जनोंको चाहिये कि वे रात-दिन स्त्रियोंको स्वाधीन रखें (उनकी देखभाल किया करें—उन्हें स्वाधीन न रहने दें), अनिषिद्ध (रूप-रस आदि) विषयोंमें आसक्त होती हुई उन्हें अपने वशमें करें ॥ २ ॥

अवस्थानुसार स्त्रीरक्षाके अधिकारी—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥

स्त्रीकी रक्षा बचपनमें पिता करता है, युवावस्थामें पति करता है और वृद्धावस्थामें पुत्र करते हैं; स्त्री स्वतन्त्र रहनेके योग्य नहीं है। (पति-पुत्रहीन स्त्रीकी रक्षा युवावस्थामें पिता आदि स्वजन भी कर सकते हैं, अतएव युवावस्थामें पतिका रक्षा करना प्रायिक समझना चाहिये) ॥ ३ ॥

पिता, पत्यादिके निन्दनीय होनेका कारण—

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

समयपर (ऋतुमती होनेके पूर्व) नहीं देने (विवाह नहीं करने) वाला पिता निन्दनीय है, समय (ऋतुमती होनेपर शुद्धिके बाद) सम्भोग नहीं करनेवाला पति निन्दनीय होता है और पतिके मर जानेपर माताकी रक्षा नहीं करनेवाला पुत्र निन्दनीय होता है ॥ ४ ॥

अरक्षित स्त्रियोंसे हानि—

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥

साधारणतम प्रसङ्गों (दुःशीलता-सम्पादक अवसरों) से स्त्रियोंको विशेष रूपसे बचाना चाहिये, क्योंकि अरक्षित स्त्रियां दोनों (पिता तथा पतिके) कुलोंको सन्तप्त करती हैं ॥ ५ ॥

[स्त्री-रक्षासे आत्माकी रक्षा—

[भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ।
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ॥ १ ॥]

[स्त्रीकी रक्षा करनेपर सन्तान सुरक्षित होती है तथा सन्तानके सुरक्षित होनेपर आत्मा सुरक्षित होता है ॥ १ ॥]

दुर्बल पत्यादिको भी स्त्री-रक्षा करना आवश्यक—

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥

(ब्राह्मण-क्षत्रियादि) समस्त वर्णोंके इस उत्तम धर्मको देखते हुए दुर्बल (अन्धे, लंगड़े, रोगी, निर्धन आदि) भी पति स्त्रीकी रक्षा करनेके लिए यत्न करते हैं ॥ ६ ॥

स्त्री-रक्षासे सन्तानादि रक्षा—

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्हि रक्षति ॥ ७ ॥

(प्रयत्न-पूर्वक) स्त्रीकी रक्षा करता हुआ मनुष्य अपनी सन्तान, आचरण, कुल, आत्मा और धर्म-इनकी रक्षा करता है; (इस कारण स्त्रियोंकी रक्षा करनेके लिए यत्न करना चाहिये) ॥ ७ ॥

'जाया' शब्दका अर्थ—

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥

पति वीर्यरूपसे स्त्रीमें प्रवेशकर गर्भ होकर पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, जाया (स्त्री) का वही जायात्व (स्त्रीपन) है; जो इस (स्त्री) में (पुत्ररूपसे पति) पुनः उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

पत्यनुकूल सन्तानोत्पत्ति—

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥

स्त्री जिस प्रकारके (शास्त्रानुकूल या शास्त्रप्रतिकूल) पति का सेवन (सम्भोग) करती है, उसी प्रकारके (श्रेष्ठ या नीच) सन्तानको उत्पन्न करती है, अतएव स्त्रीकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

बलात्कारसे स्त्रीरक्षाकी असम्भवता—

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥

कोई (पिता, पति, पुत्रादि) बलात्कारकर स्त्रीकी रक्षा नहीं कर सकता, किन्तु इन (आगे कहे जानेवाले) उपायोंसे उन (स्त्रियों) की रक्षा की जा सकती है ॥

स्त्रीरक्षाके उपाय—

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैवं नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥ ११ ॥

(पिता, पति या पुत्रादि अभिभावक) उस (स्त्री) को धनके संग्रह, व्यय, वस्तु तथा पदार्थोंकी शुद्धि, पति तथा अग्निकी सेवा (पति एवं गुरुजनकी शुश्रूषा तथा अग्निहोत्र कर्म), घर तथा घरके वर्तन आदिकी सफाईमें नियुक्त करे ॥ ११ ॥

धर्मज्ञानद्वारा स्त्रीरक्षा—

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥

(यदि स्त्रियां धर्मविरुद्ध बुद्धि होनेसे अपनी रक्षा स्वयं नहीं करतीं तो) आप्त एवं आज्ञाकारी पुरुषोंसे घरमें रोकी गयी भी वे स्त्रियां अरक्षित हैं, जो स्त्रियां धर्मानुकूल बुद्धि होनेसे अपनी रक्षा स्वयं करती हैं, वे ही सुरक्षित हैं (अतः पति आदि अभिभावकोंको चाहिये कि धर्मका सत्फल बतलाकर उन्हें संयममें रहनेका उपदेश दें) ॥ १२ ॥

स्त्रियोंके छः दोष—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥

(मद्यादि मादक द्रव्योंका) पीना (या प्रकारान्तरसे सेवन करना), दुष्टोंका संसर्ग, पतिके साथ विरह, इधर-उधर घूमना, (असमयमें) सोना और दूसरेके घरमें निवास करना—ये स्त्रियोंके छः दोष हैं (अतएव इनसे इन स्त्रियोंको बचाना चाहिये) ॥ १३ ॥

स्त्रियोंका स्वभाव—

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥

ये (स्त्रियां पुरुषके) सुन्दर रूपकी परीक्षा नहीं करतीं, युवावस्था आदिमें आदर (विशेष चाहना) नहीं करतीं, किन्तु 'पुरुष है' इसी विचारसे सुन्दर या कुरूप पुरुषके साथ सम्भोग करती हैं ॥ १४ ॥

पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः ।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥

व्यभिचारिता (सम्भोगादिकी अतिशय इच्छा होने) से, चित्तकी चञ्चलतासे और स्वभावतः स्नेहका अभाव होनेसे यत्नपूर्वक (पति आदिके द्वारा) सुरक्षित भी ये (स्त्रियां व्यभिचारादि दोषसे) पतियोंमें विकृत (विपरीत प्रकृतिवाली) हो जाती हैं ॥ १५ ॥

एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम् ।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥

ब्रह्माकी सृष्टिसे ही इनका ऐसा स्वभाव जानकर पुरुष इनकी रक्षाके लिए विशेष यत्न करे ॥ १६ ॥

शय्याऽऽसनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् ।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥

शय्या, आसन, आभूषण, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोहभाव और दुराचरण—इनको स्त्रियोंके लिए मनुने सृष्टिके प्रारम्भमें ही बनाया (अत एव यत्नपूर्वक इनसे स्त्रियोंको बचाना चाहिये) ॥ १७ ॥

स्त्रियोंकी समन्त्र क्रियाका निषेध—

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मव्यवस्थितिः ।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रीभ्योऽनृतमिति स्थितिः ॥ १८ ॥

इन (स्त्रियों) का जातकर्मादि संस्कार (वेदोक्त) मन्त्रोंसे नहीं होता, यह धर्मशास्त्रकी मर्यादा है; धर्मप्रमाण-श्रुति-स्मृतिसे हीन और पापनाशक (वेदोक्त अघमर्षणादि) मन्त्रोंके जपका अधिकार नहीं होनेसे पापयुक्त वे (स्त्रियां) असत्यके समान अपवित्र हैं, यह शास्त्रकी मर्यादा है (अत एव इनकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये) ॥ १८ ॥

व्यभिचार–प्रायश्चित्त—

तथा च श्रुतयो बह्वयो निगीता निगमेष्वपि ।
स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥

(स्त्री–स्वभावको व्यभिचारशील बतलाकर अब उसमें प्रमाण कहते हैं—) और शास्त्रोंमें बहुत-सी श्रुतियां ('न चैतद्विद्मो ब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणा वा' इत्यादि वेदवाक्य) व्यभिचारकी परीक्षाके लिए पढ़ी गयी हैं, उनमें-से प्रायश्चित्तरूप (एक) श्रुतिको (आप लोग) सुनें ॥ १९ ॥

यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता।
तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २० ॥

'दूसरेके घरमें विचरण करती (जाती) हुई मेरी माता अपतिव्रता होती हुई परपुरुषके प्रति लोभयुक्त अर्थात् आकृष्ट हुई, उस (परपुरुष संकल्प) से दूषित माताके रजोरूप वीर्यको मेरे पिता शुद्ध करे' यही पादत्रय स्त्रीके व्यभिचारका उदाहरण है ॥ २० ॥

विमर्श—मानसिक, वाचिक या कायिक इच्छामात्रसे भी पर पुरुष सम्भोग पातिव्रत्य धर्मको नष्ट करता है, इस सिद्धान्तसे दूसरे पुरुषके लिए मानसिक पाप करनेवाली माताको जानकर उसका पुत्र इस मन्त्रद्वारा उसकी शुद्धि कामना करता है, ऐसा समझना चाहिये।

ध्यायत्यनिष्टं यत्किंचित्पाणिग्राहस्य चेतसा।
तस्यैष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥

स्त्री परपुरुष-गमनरूप जो पतिका अहित मनसे सोचती है, उसी मानसिक व्यभिचारको शुद्ध करनेवाला यह मन्त्र मनु आदि महर्षियोंने कहा है ॥ २१ ॥

विमर्श—'तन्मे माता……' (९।२०) में 'माता' शब्दके कहनेसे यह प्रायश्चित्त मन्त्र पुत्रके लिए ही है, माताके लिए नहीं।

पतिगुणानुकूल स्त्री-गुण होना—

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥ २२ ॥

स्त्री जैसे गुणवाले (सद्गुणी या दुर्गुणी) पतिके साथ विधिवत् विवाहित होती है, वह समुद्रमें मिली हुई नदीके समान वैसे ही गुणवाली (सद्गुणी पतिके साथ सद्गुणवती और दुर्गुणी पतिके साथ दुर्गुणवती) हो जाती है ॥ २२ ॥

पति-संसर्गसे स्त्रीके श्रेष्ठ होनेका दृष्टान्त—

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३ ॥

नीच योनिमें उत्पन्न हुई 'अक्षमाला' नामकी स्त्री वसिष्ठसे तथा 'शारङ्गी' नामकी स्त्रीने 'मन्दपाल' ऋषिसे विवाहित होकर पूज्यताको प्राप्त किया ॥ २३ ॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ २४ ॥

इन (पूर्व श्लोकोक्त 'अक्षमाला' तथा 'शारङ्गी') और दूसरी (सत्यवती' आदि) नीच कुलोत्पन्न स्त्रियोंने पतिके अपने-अपने शुभ गुणोंसे श्रेष्ठताको प्राप्त किया है ॥ २४ ॥

प्रजाधर्म-कथन—

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ।
प्रेत्येह च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

(महर्षि भृगुजी ऋषियोंसे कहते हैं कि—मैंने) स्त्री-पुरुषोंका सदा शुभ यह लोकाचार कहा, अब इस लोकमें तथा परलोकमें सुखदायक सन्तानोंके धर्मोंको (कहूंगा, उन्हें आप लोग) सुनें ॥ २५ ॥

स्त्री-प्रशंसा—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) हे महाभाग (मुनियो) ! सन्तानोत्पादनके लिये वस्त्राभूषणसे आदर-सत्कारके योग्य घरकी शोभारूपिणी ये स्त्रियां और लक्ष्मी (या-लक्ष्मियां = शोभाएं) घरोंमें समान हैं (जिस प्रकार शोभाके विना घर सुन्दर नहीं लगता, उसी प्रकार स्त्रीके विना भी घर सुन्दर नहीं लगता ; अतः श्री तथा स्त्रीमें कोई भेद नहीं है) ॥ २६ ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥

सन्तानोत्पादन, उत्पन्न हुई सन्तानकी रक्षा (पालन-पोषण) और प्रतिदिनके लोक-व्यवहार (अतिथि-मित्रादि-भोजनादिरूप गृहप्रबन्ध) का मुख्य कारण स्त्रियां ही हैं ॥ २७ ॥

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥

सन्तान (को उत्पन्न करना), धर्मकृत्य (अग्निहोत्र, यज्ञादि कार्य), शुश्रूषा (पति, सास-श्वशुरादि गुरुजनोंकी सेवा), श्रेष्ठ रति और पितरोंका तथा अपना (सन्तानोत्पादनादिद्वारा) स्वर्ग-ये सब स्त्रियोंके आधीन हैं ॥ २८ ॥

अव्यभिचारका सत्फल—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ २९ ॥

जो (स्त्री) मन, वचन तथा काय (शरीर) को संयत रखती हुई पतिका उल्लङ्घन (अनादर या परपुरुष-सम्भोग) नहीं करती ; वह (मरकर) पतिलोकोंको पाती है तथा (जीती हुई) इस लोकमें सज्जनोंसे पतिव्रता कही जाती है ॥ २९ ॥

व्यभिचारका कुफल—

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥

स्त्री परपुरुषके संसर्गसे इस लोकमें निन्दित होती है, (मरकर) शृगालकी योनि पाती (स्यारिन होती) है और (कुष्ठ आदि) पापरोगोंसे पीडित होती है ॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥

(महर्षियोंसे भृगुजी कहते हैं कि—) श्रेष्ठ (मनु आदि) तथा प्राचीन महर्षियोंने पुत्रके विषयमें सर्वहितकारी एवं पवित्र जो विचार कहा है, उसे (आप लोग) सुनें ॥ ३१ ॥

बीज तथा क्षेत्रका बलाबल—

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

पुत्र पति (भर्ता) का होता है (ऐसा मुनिलोग) मानते हैं, पतिके विषयमें दो प्रकारकी श्रुति है (उनमें से पहली श्रुति यह है कि) कुछ मुनि पुत्रोत्पादक अविवाहित पतिको भी उस पुत्रसे पुत्री (पुत्रवाला) मानते हैं (तथा दूसरी श्रुति यह है कि—) अन्य (मुनि लोग) विवाहकर्त्ता (परन्तु स्वयं पुत्रोत्पादन नहीं करनेवाले पति) को (अन्य पुरुषोत्पादित) पुत्रसे पुत्री (पुत्रवाला) मानते हैं ॥३२॥

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥

स्त्री क्षेत्ररूप (धान्य बोनेके खेततुल्य) है और पुरुष बीजरूप (धान्यादिके बीजतुल्य) है। क्षेत्र तथा बीज (स्त्री-पुरुष) के संसर्गसे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३३ ॥

विमर्श—यहां पर क्षेत्र तथा बीज-दोनोंका कारणत्व विवक्षित होनेसे उक्त युक्ति उचित ही है, क्योंकि जिसका खेत होता है; वही किसी दूसरेके द्वारा बोए गये बीजसे उत्पन्न धान्यादिका स्वामी होता है, अथवा दूसरेके खेतमें जो बीज बोता है, वह भी उस बीजसे उत्पन्न धान्यादिका स्वामी होता है। इसी प्रकार क्षेत्ररूपा स्त्री तथा बीजरूप पुरुषसे उत्पन्न धान्यरूप पुत्रका स्वामी होनेके विषयमें भी जानना चाहिये, यद्यपि बीज पुरुषका वीर्य (शुक्र) है पुरुष नहीं, तथापि वीर्याधिकरण होनेसे पुरुषको बीज कहा गया है।

विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् ।
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

कहींपर बीज प्रधान है और कहींपर क्षेत्र प्रधान है। जहांपर बीज तथा क्षेत्र (पुरुष तथा स्त्री)—दोनों समान हैं अर्थात् उन दोनोंके मध्यमें तीसरा कोई नहीं हैं। वह सन्तान श्रेष्ठ मानी जाती है ॥ ३४ ॥

विमर्श—बृहस्पतिकी स्त्री 'तारा' में चन्द्रमासे उत्पन्न 'बुध' चन्द्रमाके पुत्र हैं, तथा व्यास और ऋष्यशृङ्ग भी दूसरेकी स्त्रीमें उत्पन्न होकर भी उत्पन्न करनेवाले पिताके ही पुत्र माने जाते हैं; अत एव ऐसे स्थलोंमें बीजको प्रधान समझना चाहिये। इसके विपरीत विचित्रवीर्यकी स्त्रीमें ब्राह्मण (द्वैपायन—व्यासजी) से उत्पन्न धृतराष्ट्र तथा पाण्डु क्षेत्र स्वामी (विचित्रवीर्य) के ही पुत्र माने जाते हैं, अत एव ऐसे स्थलोंमें क्षेत्रको प्रधान समझना चाहिये।

बीज-प्राधान्य—

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ।
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥

बीज तथा क्षेत्रमें बीज ही श्रेष्ठ कहा जाता है। अत एव सब जीवोंकी सन्तान बीज के लक्षणोंसे युक्त ही उत्पन्न होती है ॥ ३५ ॥

बीजप्राधान्यमें दृष्टान्त—

यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते ।
तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ ३६ ॥

समयपर जोते तथा सींचे गये खेतमें जैसा (जिस जातिवाला) बीज बोया जाता है, अपने गुणोंसे युक्त वह बीज उस खेतमें वैसा (अपनी जातिके समान) ही उत्पन्न होता है ॥ ३६ ॥

क्षेत्रके अप्राधान्यमें दृष्टान्त—

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते।
न च योनिगुणान्कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु॥ ३७॥

यह भूमि भूत (के द्वारा आरब्ध वृक्ष, लता, गुल्म आदि) की नित्य (अनादि कालागत) क्षेत्ररूप कारण कही गयी है, किन्तु कोई बीज योनि (क्षेत्र अर्थात् खेत) के किन्हीं गुणोंको अपने अङ्कुर आदिमें धारण नहीं करता; (अतएव योनि (क्षेत्र अर्थात् खेत) के गुणका बीजके द्वारा अनुवर्तन नहीं होनेसे क्षेत्रकी प्रधानता नहीं होती है)॥ ३७॥

भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः।
नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः॥ ३८॥

भूमिमें किसानोंके द्वारा एक खेतमें भी समय समयपर बोये गये (विभिन्न जातीय) बीज अपने-अपने स्वभावके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपवाले उत्पन्न होते हैं (भूमिका एक रूप होनेपर भी बीजोंका एक रूप नहीं होता, अतएव बीजको ही प्रधान मानना चाहिये)॥ ३८॥

व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः।
यथा बीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा॥ ३९॥

व्रीहि (साठी धान), शालि (अगहनी धान), मूंग, तिल, उड़द, यव, लहसुन तथा गन्ना—ये (अनेक प्रकारके) बीज खेतमें उत्पन्न होते हैं॥ ३९॥

अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते।
उप्यते यद्धि तद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति॥ ४०॥

दूसरा (बीज) बोया गया और दूसरा (उससे भिन्न) ही उत्पन्न हो गया, ऐसा कभी भी नहीं हुआ, किन्तु जो बीज बोया जाता है, वही बीज उत्पन्न होता है॥ ४०॥

विमर्श—उपर्युक्त (९।३६-४०) दृष्टान्तसे क्षेत्र तथा बीजके गुणोंके अनुसार स्त्री-पुरुषोंमें भी बीज (पुरुष) को ही प्रधान समझना चाहिये।

परस्त्रीमें बीजवपनका निषेध—

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति॥ ४१॥

इस कारणसे विद्वान्, विनीत, ज्ञान (वेद) तथा विज्ञान (वेदाङ्गादि सब

शास्त्र) का ज्ञाता और आयुष्य चाहनेवाले पुरुषको परस्त्रीमें बीजवपन (सम्भोग-द्वारा वीर्यपात) कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४१ ॥

उक्त विषयमें वायु कथित गाथाकी प्रमाणता—

अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥

पूर्वकालके ज्ञाता लोग इस विषयमें वायुकी कही गयी गाथा (वचन) कहते हैं कि पुरुषको परस्त्रीमें कभी नहीं बीज बोना (सम्भोग द्वारा वीर्य निषेक करना) चाहिये ॥ ४२ ॥

परस्त्रीमें बीजनिषेककी निष्फलताका दृष्टान्त—

नश्यतीषुर्यथा विद्धः खे विद्धमनुविद्ध्यतः ।
तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥

जिस प्रकार किसी शिकारी या व्याधाके द्वारा मारे गये मृग-शरीरके उसी (पूर्व शिकारीसे विद्ध) स्थानमें दूसरे शिकारी या व्याधाका बाण नष्ट हो जाता है अर्थात् उस मृगको पानेका अधिकार पहले शिकारी या व्याधाको ही होता है, दूसरेको नहीं उसी प्रकार परस्त्रीमें छोड़ा गया बीज (वीर्य) शीघ्र ही नष्ट हो जाता है (क्योंकि उससे उत्पन्न सन्तानको पानेका अधिकार वीर्य निषेक करनेवालेको नहीं होता, अपि तु उस क्षेत्र (स्त्री) के पतिको होता है, अत एव परस्त्री संभोग नहीं करना चाहिये) ॥ ४३ ॥

क्षेत्रस्वामीके पुत्राधिकारी होनेमें अन्य दृष्टान्त—

पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः ।
स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥ ४४ ॥

पुराविद् (प्राचीन इतिहासके ज्ञाता महर्षि आदि) लोग इस पृथ्वीको पृथुकी भार्या मानते हैं, खुत्थ (ठूठ पेड़) काट (कर भूमिको समतल करके खेत बना-) ने वालेका खेत मानते हैं और पहले बाण मारनेवालेका मृग मानते हैं ॥ ४४ ॥

विमर्श—इस श्लोकका स्पष्ट आशय यह है कि—पूर्वकालमें राजा पृथुने इस पृथ्वीको-जो बहुत ऊँची-नीची थी—अपने धनुषसे बराबर (समतल) बनाया, अतएव इस (पृथ्वी) के साथ अब वर्तमानमें अन्य राजाओंका सम्बन्ध होनेपर भी प्राचीन इतिहासज्ञ महर्षिलोग पृथुको ही इस पृथ्वीका स्वामी मानते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति टूटे-शाखाविहीन सूखे पेड़ आदिको खोदकर भूमिको जोतने-बोने

योग्य खेत बना देता है, उसीको उस खेतका स्वामी मानते हैं और जो शिकारी या व्याधा किसी मृगको पहले बाणसे मारता है, उसे ही उस मृगको पानेका अधिकारी मानते हैं। इन तीनों महर्षिसम्मत दृष्टान्तोंसे जिस पतिने स्त्रीके साथ पहले विवाह किया है, वही पति उस स्त्रीमें अन्य पुरुषके द्वारा उत्पादित सन्तानका अधिकारी होता है, परस्त्रीमें सन्तानोत्पादन करनेवाला पुरुष उस सन्तानका अधिकारी नहीं होता, अतः पुरुषको परस्त्रीमें वीर्य-निषेक (वीर्यपात) नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसका वह बीजनिषेक व्यर्थ होता है।

स्त्री-पुरुषकी एकता—

एतावानेव पुरुषो यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह ।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥

'केवल पुरुष कोई वस्तु नहीं होता अर्थात् अपूर्ण ही रहता है; किन्तु स्त्री, स्वदेह तथा सन्तान-ये तीनों मिलकर ही पुरुष (पूर्णरूप) होता है, ऐसा (वेदज्ञाता) ब्राह्मण कहते हैं'[1] और जो पति है, वही स्त्री है, अतएव उस स्त्रीमें (परपुरुषसे भी) उत्पन्न सन्तान उस स्त्रीके पतिका ही होता है ॥ ४५ ॥

विक्रय या त्यागसे स्त्रीकी स्त्रीत्वसे अमुक्ति—

न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते ।
एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥ ४६ ॥

'बेचने या त्याग करनेसे स्त्री पतिके स्त्रीत्वसे मुक्त नहीं होती' पहले ब्रह्माके बनाये हुए ऐसे धर्मको हम जानते हैं। (अत एव पति स्त्रीको छोड़ दे या द्रव्य लेकर बेच दे तो भी उस स्त्रीमें परपुरुषोत्पादित सन्तान पूर्व पतिकी ही होती है, सन्तानोत्पादक दूसरे पतिकी नहीं) ॥ ४६ ॥

विमर्श—इस वचनसे उन लोगोंकी आँखें खुलनी चाहिये, जो केन्द्रिय संसद्में 'तलाक बिल' आदि रखकर आर्षधर्म विरुद्ध विधि (कानून) पारित (पास) कराना चाहते हैं।

---

१. अत्र कुल्लूकभट्टः—'तथा च वाजसनेयब्राह्मणम्—अर्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद्यज्जायां न विन्दते नैतावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति, अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति, तथा चेतद्वेदविदो विप्रा वदन्ति यो भर्ता सैव भार्या स्मृता इति' इति । (म० मु०)

भाग-विभाजनादिका एक बार कर्तव्य—

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥ ४७ ॥

पिता पुत्रादिके हिस्सेको एक बार ही बाँटता है (उसे बार-बार बदलता नहीं), कन्या एक ही बार (पिता आदिके द्वारा पतिके लिए) दी जाती है (फिर उसे पति आदि कोई भी व्यक्ति द्रव्य लेकर या विना द्रव्य लिये दूसरेको नहीं दे सकता अर्थात् विवाह कर्ता पति आदि कोई भी उस स्त्रीको न तो बेंच सकता है न त्यागकर दूसरेके लिए दे ही सकता है) और गौ आदिको 'देता हूं' ऐसा वचन एक ही बार कहा जाता है (दान की हुई गौको बार-बार दान नहीं किया जा सकता) । सज्जनोंके ये तीनों दान कार्य एक ही बार होते हैं, अनेक बार नहीं ॥४७॥

विमर्श—जब गौ तथा पितृधन-विभाजन तक एक ही बार करनेका विधान है तो स्त्रीको अनेक बार देना किसी प्रकार धर्मसङ्गत नहीं हो सकता, अतएव पूर्व विवाहकर्ता पति ही स्त्रीमें पर पुरुषोत्पादित सन्तानका अधिकारी होता है, सन्तानोत्पादक परपुरुष नहीं ।

क्षेत्र प्राधान्यमें अन्य दृष्टान्त—

यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च ।
नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार गाय, घोड़ी, ऊँटिनी, दासी, भैंस, बकरी और भेंडमें उत्पन्न सन्तानको पानेका अधिकारी सन्तानोत्पादक नहीं होता (किन्तु उक्त गाय आदिका स्वामी ही होता है); उसी प्रकार दूसरे पुरुषकी स्त्रियोंमें उत्पादित सन्तानको पानेका अधिकारी (उन स्त्रियोंका) पति ही होता है, (उत्पन्न करनेवाला दूसरा पुरुष नहीं) ॥ ४८ ॥

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः ।
ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४९ ॥

जो क्षेत्र (खेत) का स्वामी नहीं होकर भी दूसरेके क्षेत्रमें बीज बोते हैं, वे उस (क्षेत्र) में उत्पन्न होनेवाले अन्नके फलको कहीं (किसी देश आदिमें) भी नहीं पाते हैं ॥ ४९ ॥

यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् ।
गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥ ५० ॥

जो दूसरेकी गायमें साँढ सैकड़ों बछवोंको उत्पन्न कर दे, वे सब बछवे गायके स्वामीके ही होते हैं (और साँढके स्वामीके नहीं होते, अतः) साँढका वीर्यक्षरण करना व्यर्थ है ॥ ५० ॥

विमर्श—'यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु······(९।४८)' श्लोकमें परक्षेत्रमें सन्तानोत्पादकका सन्तानाधिकारी होनेका निषेध किया गया है, तथा इस श्लोकमें क्षेत्र-स्वामीको सन्तानाधिकारी होनेका विधान किया गया है, अतएव पूर्व (९।४८) श्लोकसे इसकी पुनरुक्ति नहीं होती ।

तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः ।
कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥ ५१ ॥

उसी प्रकार (स्त्रीरूप) क्षेत्रका स्वामी नहीं होते हुए जो पुरुष दूसरेके (स्त्रीरूपी) क्षेत्रमें बीज बोते (वीर्यक्षरण) करते हैं, वे क्षेत्र-स्वामियोंका ही अर्थ साधन (सन्तानोत्पादन रूप कार्यसिद्धि करते) हैं, और बीजवाला (परस्त्रीमें वीर्यक्षरण करनेवाला पुरुष, सन्तानरूपी) फलको नहीं प्राप्त करता ॥ ५१ ॥

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

खेतवाला और बीज बोनेवाला—ये दोनों परस्परमें फल (उत्पन्न होनेवाले अन्न-फल आदि) के विषयमें नियम (इस खेतमें तुम्हारे बीज बोनेपर जो अन्न उत्पन्न होगा, वह हम दोनोंका होगा, ऐसी शर्त) नहीं करें तो उस खेतमें उत्पन्न (अन्न-फल आदि) खेतवालेका होता है; क्योंकि बीजकी अपेक्षा क्षेत्र (खेत) ही प्रधान है (यही नियम सन्तानोत्पत्तिके विषयमें भी जानना चाहिये) ॥ ५२ ॥

क्रियाऽभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते ।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥

खेतका स्वामी बीज बोनेवालेसे नियम (इस खेतमें तुम्हारे बीज बोनेपर उत्पन्न अन्नादि हम दोनोंका होगा ऐसी शर्त) करके जो खेत देता है, इस लोकमें उस उत्पन्न अन्नादिका स्वामी दोनों-खेतके स्वामी तथा बीज बोनेवालेको होते देखा गया है ॥ ५३ ॥

ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ।
क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ५४ ॥

पानी या हवाके वेगसे (दूसरेके खेतमें बोया गया) जो बीज बहकर या उड़कर दूसरेके खेतमें जाता (अङ्कुरित होता) है, वह बीज (उस बीजका फल—अन्न) खेत (जिसमें बीज जाता है, उस खेत) के स्वामीका ही होता है, बीज बोनेवाला उसका कुछ भी फल (लाभ) नहीं पाता ॥ ५४ ॥

एष धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च ।
विहङ्गमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥ ५५ ॥

यही (९।४९–५४ में कथित) व्यवस्था गाय, घोड़ा, दासी, ऊँट; बकरी, भेंड़, पक्षी और भैंसकी सन्तानके प्रति भी जाननी चाहिये ॥ ५५ ॥

विमर्श—उक्त व्यवस्थाके अनुसार गाय आदिका स्वामी ही उनमें उत्पन्न हुई सन्तान (बछवा-बछिया आदि) को पानेका अधिकारी होता है, साँढ़ आदिका स्वामी नहीं; किन्तु परस्परमें बांटनेका नियम करनेपर तो दोनों ही उसको पानेके अधिकारी होते हैं।

स्त्री-धर्म—

एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) बीज तथा क्षेत्रकी प्रधानता और अप्रधानताको तुमलोगोंसे कहा, इसके बाद आपत्तिमें (सन्तान नहीं होनेपर) स्त्रियोंके धर्मको कहूंगा ॥ ५६ ॥

भ्रातृपत्नी-सम्भोगसे पतित होना—

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥ ५७ ॥

बड़े भाईकी स्त्री छोटे भाईकी गुरुपत्नी (के तुल्य) होती है और छोटे भाईकी स्त्री बड़े भाईकी स्नुषा (पुत्रवधू अर्थात् पतोहू के तुल्य) होती है ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ५८ ॥

(अतएव) बड़ा भाई छोटी भाईकी स्त्री (भवह) के साथ तथा छोटा भाई बड़े भाईकी स्त्री (भौजाई) के साथ आपत्तिकालके बिना नियुक्त होनेपर भी सम्भोग करके पतित हो जाते हैं ॥ ५८ ॥

नियोगप्रकरण—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ ५९ ॥

सन्तानके अभाव होनेपर पति या गुरुसे नियुक्त (आज्ञाप्त) स्त्रीको देवर (पतिका छोटा भाई) या सपिण्डसे साथ (९।६० श्लोकमें वर्णित विधिके अनुसार) सन्तान प्राप्त करना चाहिये ॥ ५९ ॥

नियोग-नियम तथा द्वितीय पुत्रोत्पादनका निषेध—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥ ६० ॥

विधवा स्त्रीमें पति या गुरुसे नियुक्त देवर या सपिण्ड पुरुष सम्पूर्ण शरीरमें घी लगाकर तथा मौन होकर रातमें (सम्भोग करके) एक पुत्रको उत्पन्न करे, द्वितीय पुत्रको कदापि उत्पन्न नहीं करे ॥ ६० ॥

विमर्श—'यहां 'विधवा' शब्दसे सन्तानोत्पादनमें समर्थ पतिके नहीं होनेसे 'विधवाके समान' अर्थ समझना चाहिये' ऐसा मन्वर्थमुक्तावलीकारका मत है परन्तु 'ततः प्रभृति…(९।६८)' श्लोकमें 'प्रमीतपतिकां' पदसे स्पष्टतया मरे हुए पतिवाली अर्थात् 'विधवा' ही स्त्री विवक्षित है, ऐसा प्रतीत होता है, अथवा उक्त श्लोकमें 'प्रमीतपतिकां' पदसे 'सन्तानोत्पादनमें अशक्त होनेसे मृत (मृततुल्य) पतिवाली' ऐसा अर्थ करनेसे उक्त व्याख्याकारसे विरोध नहीं होता।

मतान्तरसे नियोगद्वारा द्वितीयपुत्रोत्पादनका विधान—

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः।
अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥

नियोगसे पुत्रोत्पादन विधिके ज्ञाता कुछ आचार्य ('अपुत्र एकपुत्रः' अर्थात् 'एक पुत्रवाला पुत्रहीन है, इस शिष्ट-वचनके अनुसार) एक पुत्रकी उत्पत्ति होनेसे वियोगके उद्देश्यकी पूर्णता नहीं मानकर दूसरे पुत्रको उत्पन्न करनेके लिए भी उन्हें (देवर या सपिण्डके पुरुषको) अनुमति देते हैं ॥ ६१ ॥

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

विधवा (९।६० का विमर्श देखें) में नियोगके उद्देश्य (गर्भधारण आदि) के विधिवत् पूरा हो जानेपर (बड़े भाई तथा छोटे भाईकी स्त्रीसे क्रमशः) गुरु तथा स्नुषा (पुत्रवधू) के समान परस्पर बर्ताव करें ॥ ६२ ॥

नियोगमें कामवासनासे सम्भोगकी निन्दा—

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः ।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥

जो नियुक्त छोटा या बड़ा भाई परस्परकी स्त्रीके साथ विधि (९।६० में वर्णित समस्त अङ्गमें घृतलेपन, मौन तथा रात्रिकाल) को छोड़कर कामवशीभूत हो सम्भोग करते हैं, वे दोनों (बड़ा भाई तथा छोटा भाई क्रमशः) स्नुषा-सम्भोग तथा गुरुपत्नी, सम्भोगके पापभागी होकर पतित हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

नियोग-निन्दा—

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणादि (गुरु या पति आदि) विधवा (९।६० का विमर्श देखें) को दूसरे (देवर या सपिण्ड पुरुष) में नियुक्त न करे अर्थात् सन्तान न होनेपर भी सन्तानोत्पादन करनेकी देवर आदिको आज्ञा न दे, क्योंकि दूसरे (देवर या सपिण्ड पुरुष) में स्त्रीको नियुक्त करते हुए (वे ब्राह्मणादि) सनातन धर्मको नष्ट करते हैं ॥ ६४ ॥

वर्णसङ्कर-काल—

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥

विवाह सम्बन्धी किन्हीं मन्त्रोंमें किसी भी शाखामें नियोगको नहीं कहा गया है और न विवाहकी विधिमें विधवाको पुनः देने (दूसरे पुरुषके साथ पुनर्विवाह करने) को ही कहा गया है ॥ ६५ ॥

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥

राजा वेनके शासनकालमें मनुष्योंके लिए भी कहे गये इस पशुधर्मकी विद्वान् द्विजोंने निन्दा की है ॥ ६६ ॥

विमर्श—उक्त वचनके अनुसार यह नियोगद्वारा आपत्तिकालमें सन्तानोत्पादन का विधान वेनके शासनकालसे चलाये जानेके कारण सादि है, किन्तु सनातन नहीं है और अतएव अमान्य है ।

स महीमखिलां भुञ्जन्राजर्षिप्रवरः पुरा ।
वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥

समस्त पृथ्वीका पालन करते हुए राजर्षि प्रवर वेनने कामसे नष्ट बुद्धि होकर (मनुष्योंको भाईकी स्त्रीके साथ सम्भोगका नियम चालूकर) वर्णसङ्कर बनाया ॥

विमर्श—यहांपर धर्म-विरुद्ध कार्य करनेवाले राजा 'वेन' को 'राजर्षिप्रवर' केवल समस्त पृथ्वीका शासक होनेसे ही कहा गया है, धर्म प्रवर्तक या धर्म संरक्षक होनेसे नहीं ।

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥

तब ('वेन'-शासन-काल) से जो मनुष्य मृतपतिवाली विधवा स्त्रीको सन्तानके लिये (देवर आदिके साथ) मोहवश नियुक्त करता है, उसकी सज्जन लोग निन्दा करते हैं ॥ ६८ ॥

विमर्श—मनु भगवान्‌ने स्वयं 'नियोग' के द्वारा सन्तानोत्पादनका पहले (९।५९-६२) विधानकर जो इस श्लोकसे उसका निषेध किया है, वह कलियुगविषयक है, जैसा कि बृहस्पतिने कहा है–'मनुने 'नियोग'का विधानकर स्वयं निषेध किया है, क्योंकि वह युगक्रमसे दूसरे लोगोंसे विधिवत् नहीं हो सकता ; मनुष्य सत्य त्रेता तथा द्वापर युगमें, तप तथा ज्ञानसे युक्त होते थे (अत एव वे मनूक्त नियमानुसार नियोगसे सन्तानोत्पादन करनेमें समर्थ होते थे, किन्तु) कलियुगमें वे शक्तिहीन होते हैं (अत एव मनूक्त नियमानुसार नियोगसे सन्तानोत्पादनमें समर्थ नहीं होते, इसी बातको स्पष्ट करते हुए बृहस्पति आगे कहते हैं कि—,) प्राचीन ऋषियोंने अनेक प्रकारसे पुत्रोंको उत्पन्न किया, किन्तु शक्तिहीन आज-कलके मनुष्य इस समय ऐसा नहीं कर सकते' । इस कारणसे गोविन्दराजका 'युगव्यवस्थाको नहीं समझकर सन्तानके अभावमें नियोग पक्षसे अनियोगपक्ष श्रेष्ठ है' ऐसा कहना मुनिव्याख्या विरुद्ध होनेसे मान्य नहीं है ऐसा 'मन्वर्थ मुक्तावली' कारका मत है ।

वाग्दत्त कन्याके पतिके मरनेपर—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥

वाग्दान करनेके बाद जिस कन्याका पति मर जाय, उस कन्याके साथ उसका अपना देवर (उसी मृत पतिका छोटा सहोदर भाई) इसके आगे (९।७०) कथित विधिसे विवाह (उस कन्याको प्राप्त) करे ॥ ६९ ॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।
मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥ ७० ॥

वह देवर (वाग्दत्त कन्याके मृत पतिका सहोदर छोटा भाई) विधिपूर्वक इसे स्वीकारकर (कायिक, वाचिक और मानसिक) शुद्धिवाली उस (वाग्दत्ता मृतपतिका कन्या) के प्रत्येक साथ ऋतुकालमें १-१ बार गर्भ-धारण होनेतक सम्भोग करे ॥

विमर्श—इस प्रकार कन्याके 'नियोग' का विधान होनेसे तथा विवाहके स्वीकार्य नहीं होनेसे जिसके लिये उस कन्याका वाग्दान किया गया है, उसी मृत पतिके उक्त देवरसे उत्पन्न वह सन्तान होगी।

उक्त कन्याके पुनर्दानका निषेध—

न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन्हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥ ७१ ॥

चतुर (शास्त्रज्ञानी मनुष्य) कन्याका किसीके लिए वाग्दानकर उस पतिके मर जानेपर पुनः उस कन्याको दूसरेके लिए न दे, क्योंकि उक्त कन्याको दूसरे पतिके लिए देता हुआ वह 'पुरुषानृत' दोषको प्राप्त करता है, और 'सहस्रं त्वेव चोत्तमः (८।१३८)' में कथित दण्डका भागी होता है) ॥ ७१ ॥

सप्तपदीके पूर्व दोषवती कन्याका त्याग—

विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम्।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥ ७२ ॥

विधि (३।३५) के अनुसार कन्याको ग्रहणकर भी विधवाके लक्षणोंसे युक्त, रोगिणी, क्षतयोनि (या शापादि) दोषसे युक्त अथवा (अधिकाङ्गी या हीनाङ्गी होनेपर भी उस दोषको छिपाकर) कपटपूर्वक दी गयी कन्याको द्विज सप्तपदी होनेके पहले छोड़ दे ॥ ७२ ॥

विमर्श—'उक्त अवस्था वाली कन्याको सप्तपदीके पूर्व छोड़ देनेपर पति दोषी नहीं होता' इस अभिप्रायसे यह वचन कहा गया है 'उसका छोड़ना आवश्यक विधि है' ऐसे अभिप्रायसे यह वचन नहीं कहा गया है ; अतः उक्त अवस्थामें पति उस कन्याको स्वीकार कर ले तो उसका वह कार्य विधान-विरुद्ध नहीं माना जायेगा।

दोषवती कन्याको देनेपर त्याग—

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत्।
तस्य तद्वितथं कुर्यात्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥

जो (कन्याका पिता, भ्राता या अन्य अभिभावक आदि) दोषयुक्त कन्याको

(उसका दोष नहीं कहकर) दान करता है, कन्या-दान करनेवाले उस दुरात्माके दानको (वर) व्यर्थ कर दे अर्थात् वैसी कन्याको ग्रहण करना अस्वीकार कर दे ॥

स्त्रीवृत्तिकी व्यवस्था कर परदेश-गमन—

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः।
अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥

आवश्यक कार्यवाला मनुष्य स्त्रीको जीविका (भोजन, वस्त्र आदि) का प्रबन्ध कर प्रवास करे (दूसरे देश या नगर आदिको जाय); क्योंकि जीविकाके अभावसे पीडित शीलवती भी स्त्री (परपुरुषसंसर्ग आदिसे) दूषित हो जाती है ॥ ७४ ॥

पतिके परदेश जानेपर स्त्रीका कर्तव्य—

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥

जीविका (भोजन, वस्त्र आदि) का प्रबन्ध कर पतिके परदेश जानेपर स्त्री नियम पालती (शृङ्गार, परगृहगमन आदिका त्याग करती) हुई जीए तथा (भोजन, वस्त्र आदिका) प्रबन्ध विना किये ही पतिके परदेश चले जानेपर स्त्री अनिन्दित शिल्प (सीना, पिरोना, सूत कातना आदि कार्यों) से जीए ॥ ७५ ॥

परदेश गये पतिकी प्रतीक्षाका समय—

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥ ७६ ॥

स्त्री धर्मकार्यार्थ परदेश गये हुए पतिकी आठ वर्ष तक, विद्या (पढ़ने) या (विद्यादि गुण-प्रचारके द्वारा) यशके लिए परदेश गये हुए पतिकी छः वर्षतक और भोग आदि अन्य साधनोंके लिए परदेश गये हुए पतिकी तीन वर्षतक प्रतीक्षा करे (इसके बाद वह स्त्री पतिके पास चली जावे) ॥ ७६ ॥

विमर्श—'वसिष्ठने परदेश गये हुए पतिकी पांच वर्षतक प्रतीक्षा करनेपर पतिके पास जानेका सामान्य वचन कहा है' ऐसा 'मन्वर्थमुक्तावली' कार कहते हैं[1]।

द्वेषयुक्त स्त्रीकी प्रतीक्षाका समय—

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः।
ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥ ७७ ॥

---

१. "......ऊर्ध्वं पतिसन्निधिं गच्छेत्। तदाह वसिष्ठः—'प्रोषितपत्नी पञ्च वर्षाण्युपासीत, ऊर्ध्वं पतिसकाशं गच्छेत्' इति। (म० मु०)

पति अपने (पति के) साथ द्वेष करनेवाली स्त्रीकी एक वर्षतक (उसके सुधार द्वेषत्यागके लिए) प्रतीक्षा करे, इसके बाद उसके लिए दिये गये भूषण आदिको उससे लेकर उसके साथ सहवास करनेका त्याग कर दे, (किन्तु आभरण लेकर भी उसके भोजन वस्त्रकी व्यवस्था तो करे ही) ॥ ७७ ॥

अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा ।
सा त्रीन्मासान्परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ७८ ॥

जो स्त्री (जुआरी आदि होनेसे) प्रमादयुक्त, (मदपान आदिसे) मतवाले तथा रोगसे पीडित पतिकी उपेक्षा (सेवा आदि न) करे, पति उसका भूषण आदि लेकर तीन माह तक त्याग कर दे (उसके साथ सहवास न करे) ॥

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् ।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम् ॥ ७९ ॥

(वायु आदिके दोषसे) उन्मत्त (पागल), पतित (११।१७०–१७८), नपुंसक, निर्वीर्य (जिसका वीर्य स्थिर नहीं रहे) और पापरोगी (कोढ़ी आदि) की सेवा नहीं करनेवाली स्त्रीका पति न तो त्याग करे और न उसके धन या भूषण आदिको ही ग्रहण करे ॥ ७९ ॥

वक्ष्यमाण स्त्रीके रहते दूसरा विवाह करना—

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ।
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंस्रार्थघ्नी च सर्वदा ॥ ८० ॥

(निषिद्ध) मदपान करनेवाली, दुराचारवाली, (पतिके) प्रतिकूल रहनेवाली, (कुष्ठ यक्ष्मा आदि) रोगवाली, (दास-दासी आदिको सदा) मारने या फटकारनेवाली और अधिक धन-व्यय करनेवाली स्त्री हो तो पति उसके जीवित रहनेपर भी दूसरा विवाह कर ले ॥ ८० ॥

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ ८१ ॥

सन्तान-हीन स्त्रीकी आठवें वर्षमें, मृत सन्तान स्त्रीकी दशवें वर्षमें, कन्याको ही उत्पादन करनेवाली स्त्रीकी ग्यारहवें वर्षमें और अप्रियवादिनी स्त्रीकी तत्काल उपेक्षा करके उसके जीवित रहनेपर भी पति दूसरा विवाह कर ले ॥ ८१ ॥

विमर्श—'अप्रियवादिनी भी सन्तानयुक्त स्त्रीकी उपेक्षा करके दूसरा विवाह नहीं करना चाहिये' ऐसा आपस्तम्बका मत है ।

रोगिणी तथा पतिपरायणा होनेपर—

या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलता।
सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥ ८२ ॥

जो स्त्री रोगिणी हो, परन्तु पतिकी हिताभिलाषिणी तथा शीलवती हो, पति उससे सम्मति लेकर दूसरा विवाह करे तथा उसका अपमान कदापि न करे ॥

दूसरा विवाह करनेसे स्त्रीके कुपित होनेपर—

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात्।
सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ ॥ ८३ ॥

(उक्त (९।८०-८१) अवस्थामें) पतिके दूसरा विवाह करनेपर जो स्त्री कुपित होकर घरसे निकल जाय (या निकलना चाहे) तो पति उसे (क्रोध शान्त होने तक रस्सी आदिसे) बांधकर रोके अथवा पिता आदिके पास पहुंचा कर छोड़ दे ॥ ८३ ॥

स्त्रीके मद्यपान करनेपर राजदण्ड—

प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि।
प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट् ॥ ८४ ॥

जो (क्षत्रिया आदि) स्त्री (पति आदि स्वजनोंके) मना कनेपर भी विवाहादि उत्सवोंमें भी (निषिद्ध) मद्यका पान करे अथवा सबके सामने नाचने गाने आदिमें सम्मिलित हो तब राजा उसे ६ कृष्णल (रत्ती) सुवर्णसे दण्डित करे ॥ ८४ ॥

वर्णानुसार स्त्रियोंका दाय विभाजनादि—

यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन्योषितो द्विजाः।
तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥ ८५ ॥

यदि द्विज सजातीय (समान जातिवाली) तथा विजातीय (भिन्न जातिवाली) स्त्रियोंके साथ विवाह कर ले तो उनके वर्ण-क्रमके अनुसार भाषण, दाय (भाग-हिस्सा), वस्त्राभूषणादिसे सत्कार तथा (निवासके लिए) घर होते हैं अर्थात् उच्च वर्णवाली पत्नीके लिये श्रेष्ठ तथा हीनवर्णवाली पत्नीके लिए उसकी अपेक्षा हीन वे सब प्राप्त होते हैं ॥ ८५ ॥

सजातीया स्त्रीके साथ धर्म कार्यका विधान—

भर्तुः शरीरशुश्रूषा धर्मकार्यं च नैत्यकम्।
स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथञ्चन ॥ ८६ ॥

इन (सजातीय तथा विजातीय स्त्रियों) में भोजन आदि देकर पतिकी सेवा तथा नित्य (भिक्षादान, अतिथिभोजन, अग्निहोत्रकर्म आदि) धर्म कार्य सजातीय (समान जातिवाली ही) स्त्री करे, अन्य जातिवाली स्त्री कदापि न करे ॥ ८६ ॥

यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयाऽन्यया ।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥

जो पति सजातीया (समान जातिवाली) स्त्रीके सन्निहित रहनेपर मोहवश विजातीया (दूसरी जातिवाली) स्त्रीके द्वारा शरीर-सेवादि कार्य करवाता है, वह ब्राह्मण चण्डाल (ब्राह्मणी स्त्रीमें शूद्रपतिसे उत्पन्नपुत्रके तुल्य) प्राचीन ऋषियोंद्वारा देखा (माना) जाता है ॥ ८७ ॥

गुणी वरके लिए कन्यादानका विधान—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ८८ ॥

(कुल तथा आचारमें) श्रेष्ठ, सुन्दर, और योग्यवर मिल जाय तो (पिता या अन्य अभिभावक आदि) कन्याकी अवस्था (आयु) विवाह योग्य न होनेपर अर्थात् 'दक्ष' के वचनानुसार आठ वर्षसे कम आयु रहनेपर भी उस कन्याको उस वरके लिए ब्राह्मणविधि (३।२७) से दान (विवाहित) कर दे ॥ ८८ ॥

[प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयान्वितः ।
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यामेनो दातारमृच्छति ॥ २ ॥]

[ऋतुमती होनेके समयके भयसे युक्त (पिता आदिकन्याके अभिभावक जन) 'नग्निका' (नव या दश[1] वर्षसे कम अवस्थावाली) कन्याको (वरके लिए) दे, ऋतुमती कन्याके हो जानेपर दान करनेवालेको उसका पाप प्राप्त करता है ॥ २ ॥]

निर्गुणी वरके लिए कन्यादानका निषेध—

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥

---

१. अमरकोषे "........गौरी तु नग्निकाऽनागतार्तवा' (३।६।८) इत्यस्य व्याख्याने 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी नवमे नग्निका भवेत्' इति स्मार्तो विशेषो नादृत इति क्षीरस्वामी आह। परमभिधानचिन्तामणौ "........गौरी तु नग्निकाऽरजाः' (३।१७४) इत्यस्य व्याख्याने 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी दशमे नग्निका भवेत्।' इति पाठान्तरं हेमचन्द्राचार्योक्तमुपलभ्यते। आसां विविधाः संज्ञास्तु मत्कृते 'समणि-प्रभा'नुवादामरकोषस्य 'अमरकौमुदी' टिप्पण्यां द्रष्टव्या जिज्ञासुभिरिति।

ऋतुमती भी कन्या जीवनपर्यन्त पिताके घरमें भले ही रह जाय, (किन्तु पिता आदि अभिभावक) इसे (ऋतुमती भी कन्याको) गुणहीन वरके लिये कदापि न देवे ॥ ८९ ॥

स्वयं वरणका समय—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

कन्या ऋतुमती होनेपर तीन वर्षतक (पिता आदिके द्वारा योग्यतर पतिके लिए दान करनेकी) प्रतीक्षा करे, इसके बाद (योग्यतर पति नहीं मिलनेपर) समान योग्यतावाले भी पतिको स्वयं वरण कर ले ॥ ९० ॥

स्वयंवरणमें पति-पत्नीकी निर्दोषता—

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम् ।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥ ९१ ॥

— (पिता आदिके द्वारा किसी योग्यतर) वरके लिए नहीं दान करनेपर जो (ऋ तुमती कन्या ऋतुकालसे तीन वर्ष तक प्रतीक्षा कर अपनी समान योग्यता वाले) पति स्वयं वरण कर ती है तो वह कन्या तथा पति थोड़ा भी दोषभागी नहीं ते हैं ॥ ९१ ॥

स्वयंवरणावस्थामें पितादिके भूषण आदिका त्याग—

अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा ।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥ ९२ ॥

(उक्त नियम (९।९०) के अनुसार पतिका) स्वयं वरण करनेवाली कन्या पिता, भाई, माता (या अन्य किसी अभिभावक) के दिये हुए अलङ्कारको न लेवे, (किन्तु उन्हें वापस लौटा दे), यदि वह (पिता आदिके दिये हुए अलङ्कारको) लेती है तो चोर होती है ॥ ९२ ॥

ऋतुमती-विवाहमें कन्या–पिताके लिये द्रव्य देनेका निषेध—

पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् ।
स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥ ९३ ॥

ऋतुमती कन्याको ग्रहण (उसके साथ विवाह) करनेवाला पति (कन्याके) पिताके लिए धन न देवे, क्योंकि वह पिता ऋतु (के कार्यरूप सन्तानोत्पादन) के रोकनेसे (उस कन्याके) स्वामित्वसे हीन हो जाता है ॥ ९३ ॥

कन्या-वरकी आयुका नियम—

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥

तीस वर्षकी अवस्थावाला पति बारह वर्षकी अवस्थावाली सुन्दरी कन्याके साथ विवाह करे, अथवा (गार्हस्थ्य धर्मके सङ्कटावस्थामें रहनेके कारणसे) शीघ्रता करनेवाला चौबीस वर्षकी अवस्थावाला पति आठ वर्षकी कन्याके साथ विवाह करे ॥

विमर्श—यह वचन योग्य समयका प्रदर्शकमात्र है, नियामक नहीं है; प्रायः इतनी अवस्थामें मनुष्य वेदोंका अध्ययन कर लेता है तथा युवक पतिके तृतीयांश आयुवाली कन्या योग्य समझी जाती है, अतः यदि वेदाध्ययन पूरा कर लिया हो तो चौबीस वर्षकी आयुवाला युवक गृहस्थाश्रममें प्रवेश कर ले ।

विवाहकी आवश्यकता—

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः ।
तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ९५ ॥

पति (सूर्य आदि) देवोंके द्वारा ही दी गयी स्त्रीको प्राप्त करता है, अपनी इच्छासे नहीं प्राप्त करता; अत एव (उन) देवोंका प्रिय करता हुआ (वह पति) उस सदाचारिणी स्त्रीका अन्न, वस्त्र तथा आभूषण आदिसे सर्वदा पोषण करे ॥९५॥

स्त्रीके साथ धर्मकार्य- विधान—

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः ।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ ९६ ॥

गर्भ-ग्रहण करनेके लिए स्त्रियोंकी तथा गर्भाधान करनेके लिए पुरुषोंकी सृष्टि हुई है; इस कारण वेदमें अग्न्याधान आदि साधारण धर्म भी (गर्भधारण तथा गर्भाधानके समान) पुरुषका स्त्रीके साथ ही कहा गया है (अतः पुरुषका कर्तव्य है कि वह स्त्रीका अन्न-वस्त्र तथा आभूषण आदिसे पोषण करे) ॥ ९६ ॥

कन्या-शुल्क देनेवाले पतिके मरनेपर—

कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः ।
देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥ ९७ ॥

कन्याका मूल्य (उसके पिता आदिको) देकर (विवाहके पहले ही) यदि पति मर जाय तो उस कन्याकी अनुमति होनेपर उसे (उसके) देवरके लिए दे देना चाहिये ॥ ९७ ॥

कन्यामूल्य लेनेका निषेध—

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत्।
शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ ९८ ॥

कन्या-दान करता हुआ (शास्त्र ज्ञानहीन) शूद्र भी (मूल्य आदिके रूपमें कोई) धन पतिसे न लेवे (जब शूद्रतकके लिए निषेध है तो द्विजको तो कन्याका मूल्य कदापि नहीं लेना चाहिये), क्योंकि पतिसे धन लेता हुआ (पिता आदि कन्याभिभावक) छिपकर कन्याको बेंचता है ॥ ९८ ॥

वाग्दान करके दूसरेको कन्यादानका निषेध—

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः।
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥

(महर्षि भृगुजी मुनियोंसे कहते हैं कि—) कन्याको दूसरेके लिए देनेका वचन देकर पुनः वह किसी दूसरे के लिए दे दी जाय, ऐसा न तो किसी पुराने सज्जनने किया और न वर्तमानमें ही कोई सज्जन करता है ॥ ९९ ॥

नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥

(महर्षि भृगुजी मुनियोंसे पुनः कहते हैं कि—हमने) पूर्व जन्मोंमें भी यह नहीं सुना कि 'शुल्क' नामक मूल्यसे किसी सज्जनने कभी भी गुप्तरूपसे कन्याको बेचा हो ॥ १०० ॥

संक्षेपतः स्त्री-पुरुषका धर्म—

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥

मरण-पर्यन्त स्त्री-पुरुषका परस्परमें व्यभिचार अर्थात् धर्मार्थकाम-विषयक कार्योंमें पार्थक्य (अलगाव) न होवे, यही संक्षेपमें स्त्री-पुरुषका धर्म जानना चाहिये ॥

स्त्री-पुरुषके कर्तव्य—

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥

(अतएव) विवाह किये हुए स्त्री-पुरुषको ऐसा यत्न करना चाहिये कि 'वे परस्परमें (धर्मार्थकाम-विषयक कार्योंमें) कभी पृथक् न होवें ॥ १०२ ॥

दायभाग—

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥ १०३ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) आपलोगोंसे रति (स्नेह—अनुराग) युक्त स्त्री-पुरुषके धर्म तथा उनके आपत्कालमें सन्तान-प्राप्तिके विधानको कहा, (अब आपलोग) दायभाग (पिता आदिके धनके विभाजन—बटवारा) को सुनें ॥

दाय-विभाजन-काल—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥

माता-पिताके मरनेपर सब भाई एकत्रित होकर पैतृक (पितृ-सम्बन्धी) सम्पत्तिको बराबर बाँट लें, क्योंकि (वे पुत्र) उन दोनों (माता-पिता) के जीवित रहते उनकी सम्पत्तिको लेनेमें असमर्थ रहते हैं ॥ १०४ ॥

विमर्श—पिताके मरनेके बाद पितृ-सम्बन्धी धन तथा माताके मरनेके बाद मातृ-सम्बन्धी धन सब भाइयोंको बराबर-बराबर बाँट लेना चाहिये । ज्येष्ठ भ्रातृ-सम्बन्धी उद्धारको आगे (९।१२-१४) कहेंगे, अतएव सम भाग बाटनेका विधान ज्येष्ठ भाईके वक्ष्यमाण उद्धार नहीं चाहनेपर समझना चाहिये । तथा प्रकृत वचन से माता-पिता—दोनोंके मरनेके बाद विभाजनके कारणको कहा गया है, हां 'यदि पिता चाहे तो अपने जीवित रहते ही अपना धन पुत्रोंको बांटकर दे सकता है' ऐसा महर्षि याज्ञवल्क्यका मत है[1] ।

सम्मिलित रहनेपर ज्येष्ठ भाईकी प्रधानता—

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥

अथवा बड़ा भाई ही पिताके सब-धनको प्राप्त करे और अन्य छोटे भाई पिताके समान उस बड़े भाईसे भोजन-वस्त्र आदि पाते हुए जीवें अर्थात् उसीके साथमें सम्मिलित होकर रहें । (ज्येष्ठ भाईके धार्मिक एवं भ्रातृवत्सल होनेपर ही ऐसा हो सकता है) ॥ १०५ ॥

---

१. तदुक्तं याज्ञवल्क्येन महर्षिणा—'विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान् ।' इति । (या० स्मृ० २।११४)

ज्येष्ठ-प्रशंसा—

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।
पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥

मनुष्य ज्येष्ठ पुत्रकी उत्पत्तिमात्रसे (उसके संस्कारयुक्त नहीं होनेपर भी) पुत्रवान् हो जाता है और पितृ-ऋणसे छूट जाता है; अतएव वह (ज्येष्ठ पुत्र) पिताकी सब सम्पत्ति पानेके योग्य है ॥ १०६ ॥

यस्मिन्नृणं संनयति येन चानन्त्यमश्नुते ।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥ १०७ ॥

पिता जिस पुत्रके उत्पन्न होनेसे पितृ-ऋणसे छूट जाता है और अमृतत्वको प्राप्त करता है, वही (ज्येष्ठ पुत्र) धर्मसे उत्पन्न है, अन्य (शेष-छोटे पुत्र) कामवासनासे उत्पन्न हैं, ऐसा (मुनि लोग) मानते हैं (अतएव वही ज्येष्ठ पुत्र पिताकी सम्पूर्ण सम्पत्तिका अधिकारी होनेके योग्य है) ॥ १०७ ॥

बड़े-छोटे भाइयोंके परस्पर व्यवहार—

पितेव पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातॄन्यवीयसः ।
पुत्रवच्चापि वर्तेरञ्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥

ज्येष्ठ भाई छोटे भाइयोंका पालन पिताके समान करे तथा छोटे भाई ज्येष्ठ भाईमें धर्मके लिए पुत्रके समान वर्ताव करें अर्थात् ज्येष्ठ भाई को पिता मानें ॥

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥ १०९ ॥

धर्मात्मा ज्येष्ठ (भाई) ही कुलकी उन्नति करता है अथवा (अधर्मात्मा होकर कुलका) नाश करता है। गुणवान् ज्येष्ठ भाई संसारमें पूज्य तथा सज्जनोंसे अनिन्दनीय होता है ॥ १०९ ॥

ज्येष्ठ भाईके अपने योग्य वर्ताव न करनेपर—

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः ।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥ ११० ॥

यदि ज्येष्ठ भाई (छोटे भाइयोंके साथ) ज्येष्ठके अर्थात् पिता आदिके समान (लालन-पालन आदि उत्तम) वर्ताव करे तो वह (छोटे भाइयोंके द्वारा) माता-पिताके समान पूज्य है तथा यदि (वह ज्येष्ठ भाई छोटे भाइयोंके साथ) ज्येष्ठके

समान वर्ताव न करे तो उसके साथ (छोटे भाइयोंको) बन्धु (मामा आदि बन्धु-जन) के तुल्य व्यवहार करना चाहिये ॥ ११० ॥

सम्पत्ति-विभागमें हेतु—

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया ॥ १११ ॥

इस प्रकार (९।१०५-११०) वे (छोटे भाई) एक-साथ रहें अथवा धर्मकी इच्छासे अलग-अलग रहें। अलग-अलग रहनेसे (पञ्चमहायज्ञादि कार्य सब भाइयोंको अलग-अलग ही करनेके कारण[1]) धर्मवृद्धि होती है, अतएव भाइयोंको अलग-अलग रहना भी धर्मयुक्त है ॥ १११ ॥

पैतृक धनमेंसे ज्येष्ठादिका 'उद्धार' द्रव्य-भाग—

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥ ११२ ॥

पिताके सम्पूर्ण धनमें-से ज्येष्ठ भाईका बीसवां भाग तथा श्रेष्ठ पदार्थ (चाहे वह एक ही हो), कनिष्ठ (सबसे छोटे) भाईका अस्सीवां भाग और मध्यम (मझिला) भाईका चालीसवां भाग 'उद्धार' होता है ॥ ११२ ॥

विमर्श—उदाहरण—मान लिया कि पितृ-सम्पत्ति २४०) रु० है, उसमें बीसवां भाग (२४० ÷ २० = १२) १२ रु० बड़े भाईका, चालीसवां भाग (२४० ÷ ४० = ६) ६ रु० मझले भाईका और अस्सीवां भाग (२४० ÷ ८० = ३) ३ रु० छोटे भाईका 'उद्धार' द्रव्य हुआ अब शेष (१२ + ६ + ३ = २१; २४०–२१ = २१९) २१९ रु० में तीनों भाइयोंको बराबर-बराबर भाग (२१९ ÷ ३ = ७३) ७३-७३ रु० हुए इसप्रकार बड़े भाईको (७३ + १२=८५) ८५ रु०, मझले भाईको (७३ + ६=७९) ७९ रु० और छोटे भाईको (७३ + ३ = ७६) ७६ रु० मिले।

तीनसे अधिक भाइयोंमें पितृ-धन विभाजन—

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् ।
येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥

(यदि तीनसे अधिक भाई हों तो) सबसे बड़े तथा छोटे भाईका 'उद्धार' क्रमशः वीसवां तथा अस्सीवां भाग और अन्य मध्यम (मझिला, सझिला आदि)

---

[1] तथाच बृहस्पतिः—'एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम् ।
एकं भवेद्, विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे गृहे ॥' इति (म० मु०)

भाइयोंका चालीसवां भाग 'उद्धार' भाग पितृधनमें निकालना चाहिये। पहले ही पूर्ववर्णित क्रमसे निकालकर शेष धनका समान-समान भाग सब भाइयोंको प्राप्तव्य होता है) ॥ ११३ ॥

विमर्श—सबसे बड़े तथा सबसे छोटे भाइयोंके अतिरिक्त शेष अनेक मध्यम (मझले, सझले आदि) भाइयोंमें फिर अवान्तर भेदकर न्यूनाधिक (कम-बेशी) 'उद्धार' भागका निषेध करनेके लिए यह वचन है। इस प्रकार मध्यम भाइयोंके अनेक होनेपर उन सबको 'उद्धार' भाग कुल धनका चालीसवां-चालीसवां भाग ही प्राप्तव्य होता है।

एक भी श्रेष्ठ वस्तु ज्येष्ठ भाईका भाग—

सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः।
यच्च सातिशयं किंचिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम् ॥ ११४ ॥

सम्पूर्ण सम्पत्तिमें-से श्रेष्ठ वस्तु ज्येष्ठ भाईको मिलती है, यदि एक ही श्रेष्ठ वस्तु हो तो भी वह उसे ही मिलती है तथा दश-दश गाय आदि पशुओंमेंसे एक-एक श्रेष्ठ गाय आदि उस ज्येष्ठ भाईको मिलती है ॥ ११४ ॥

विमर्श—पूर्वोक्त (९।११२-११४) 'उद्धार' भाग ज्येष्ठ भाईके गुणवान् तथा अन्य भाइयोंके गुणहीन होनेपर ही प्राप्त होता है, अन्यथा सब भाइयोंको समान ही भाग प्राप्त होता है।

समान गुणी होनेपर उक्तोद्धारका निषेध—

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु।
यत्किंचिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ११५ ॥

सब छोटे भाइयोंके अपने-अपने कर्मोंमें युक्त रहनेपर पूर्वश्लोकोक्त दश-दश गाय आदि पशुओंमें-से एक-एक गाय आदि पशु 'उद्धार' रूपमें ज्येष्ठ भाईको नहीं प्राप्तव्य होता; किन्तु ज्येष्ठ भाईके मानको बढ़ानेके लिए उसे कुछ भी अधिक भाग देना चाहिये ॥ ११५ ॥

सम तथा विषम भाग—

एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान्प्रकल्पयेत्।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ११६ ॥

इस प्रकार (९।११२-११५) सबके 'उद्धार' (अतिरिक्त भाग-विशेष) को पृथक्कर (शेष धन-राशिको) समान भाग कर ले, 'उद्धार' पृथक् नहीं करनेपर उन भाइयों) के भागकी कल्पना इस (९।११७) प्रकार करे ॥ ११६ ॥

एकाधिकं ह ज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः॥ ११७॥

(पितृ-धन-राशिमें-से) ज्येष्ठ भाई दो भाग, उससे छोटा भाई डेढ़ भाग तथा उससे छोटा (या तीन भाईसे अधिक होनेपर छोटा) भाई एक ले; यह व्यवस्थित धर्म ॥ ११७ ॥

विमर्श—उक्त पितृ-धनके विभाजनकी व्यवस्था ज्येष्ठ तथा उससे छोटे भाईको अधिक भाग देनेके कारण उन दोनों भाइयोंके अधिक गुणवान् और सबसे छोटे भाई (या तीन भाईसे अधिक होनेपर भाइयों)के गुणहीन होनेपर समझनी चाहिये।

अपने-अपने भागसे बहनके लिये भाग-दान—

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥ ११८॥

अपने-अपने भागका चतुर्थांश भाग (अविवाहित सोदर्या) बहनोंके लिए (ब्राह्मणादि चारो वर्णके) भाई देवें। यदि वे (उन बहनोंके विवाह-संस्कारार्थ) चतुर्थांश नहीं देना चाहते हैं तो वे पतित होते हैं ॥ ११८ ॥

विमर्श—छोटी सोदर्या बहनका विवाह संस्कार नहीं होनेपर बड़े भाइयोंको अपने अपने भागमेंसे चतुर्थ भाग (चौथाई हिस्सा) उसके विवाह संस्कारके लिये देना ही चाहिये। बहनके सोदर्या नहीं होनेपर भी वैमातृज (विमातासे उत्पन्न) भाइयोंको ही अपने २ भागमेंसे चतुर्थांश देकर उस बहनका संस्कार करना चाहिये।

घोड़े आदि के विषम होनेपर ज्येष्ठ भाईका भाग—

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत्।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते॥ ११९॥

बकरी (खँस्सी), भेंड तथा घोड़ा आदिके विषम होने (भाइयोंमें समान भाग नहीं विभाजित हो सकने) पर वह बड़े भाईका ही भाग होता है, उसे विषम नहीं किया जाता अर्थात् समान भाग करनेके लिए उसे बेचकर या उसके बराबर धनको सब भाइयोंमें नहीं विभाजित किया जाता ॥ ११९ ॥

क्षेत्रके साथ विभाग होनेपर—

यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि।
समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥ १२०॥

यदि छोटा भाई ज्येष्ठ भाईकी स्त्रीमें 'नियोग' (९।५९-६२) द्वारा पुत्र

उत्पन्न करे तो वह (क्षेत्रज) पुत्र अपने चाचाओंके बराबर ही भाग पानेका अधिकारी होता है अर्थात् उसके ज्येष्ठ भाईके पुत्र होनेके कारण वह 'उद्धार' (९।११२-११४) अर्थात् अतिरिक्त भागका अधिकारी नहीं होता, ऐसी धर्मकी व्यवस्था है ॥ १२० ॥

विमर्श—यद्यपि पहले (९।१०४) सब भाइयोंको ही एकत्रित होकर पिताके धनका विभाजन करनेके लिए वचन कहा गया है, तथापि इसी वचनसे पिताके मरनेपर ज्येष्ठ भाईके पुत्र अर्थात् पौत्रको भी पितामहके धनको पानेका विधान किया गया है।

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते।
पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥ १२१ ॥

उपसर्जन (छोटे भाईके द्वारा ज्येष्ठ भाईकी स्त्रीमें 'नियोग' (९।५९-६१) से उत्पन्न अप्रधान) पुत्र धर्मानुसार प्रधान (साक्षात् पिताके द्वारा उत्पन्न पुत्रके भाग ('उद्धार' (९।११२-११४) अर्थात् अतिरिक्त भागको) पानेका अधिकारी नहीं होता; क्यों कि अपने क्षेत्र (स्त्री) में सन्तान उत्पन्न करनेमें पिताही मुख्य है, अतः धर्मसे उस पुत्रको पितृव्योंके साथ पूर्व वचनके अनुसार समान भाग लेना चाहिये ॥ १२१ ॥

विमर्श—'ज्येष्ठ भाईका नियोगज पुत्र पिताके समान 'उद्धार' (९।११२-११४) भाग पानेका अधिकारी नहीं होता है इस पूर्व (९।१२०) कथित विषयको इस वचनद्वारा सकारण पुष्ट किया गया है।

अनेक माताओंकी सन्तानमें ज्येष्ठत्व—

पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः।
कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् ॥ १२२ ॥

यदि बड़ी (प्रथम विवाहित) स्त्रीका पुत्र छोटा हो तथा छोटी (बादमें विवाहित) स्त्रीका पुत्र बड़ा हो तो वहां ('माताओंके विवाहक्रमसे उन पुत्रोंकी बड़ाई-छोटाईका विचार होगा या पुत्रोंके जन्म क्रमसे होगा ?' ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर) विभाजन (धनका बटवारा) किस प्रकार किया जाय अर्थात् किस पुत्रको बड़ा तथा किस पुत्रको छोटा मानकर पितृ-धनको भाइयोंमें बांटा जाय एवं किस पुत्रका कितना 'उद्धार' (९।११२-११४) हो ऐसा सन्देह हो तो—॥ १२२ ॥

एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः।
ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥ १२३ ॥

पहली (प्रथम विवाहिता) स्त्रीका छोटा भी पुत्र (पितृ-सम्पत्तिमें-से) एक श्रेष्ठ बैल 'उद्धार' (अतिरिक्त भाग—९।११२-११४) लेवे, इसके बाद उससे बचे जो श्रेष्ठ बैल हैं, उनमेंसे एक-एक बैल अपनी माताके (विवाहके) क्रमसे उत्पन्न पुत्र लेवें ॥ १२३ ॥

ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशाः ।
ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥

ज्येष्ठ (प्रथम विवाहित) मातामें उत्पन्न (जन्म-कालानुसार भी) ज्येष्ठ पुत्र पन्द्रह गायोंके साथ एक बैल ले, तदनन्तर शेष स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्र माताओंके विवाह-क्रमसे बचे हुए धनमें-से अपना अपना भाग लें ॥ १२४ ॥

सजातीय माताओंसे उत्पन्न पुत्रोंमें जन्मसे ज्येष्ठत्व—

सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।
न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ १२५ ॥

समान (एक) जातिवाली स्त्रियोंसे उत्पन्न सन्तानमें जातिसम्बन्धी विशेषता नहीं होनेसे माताके क्रमसे ज्येष्ठत्व नहीं होता, किन्तु जन्म (के क्रम) से ही ज्येष्ठत्व कहा जाता है ॥ १२५ ॥

विमर्श—इस वचनमें समान जातिवाली स्त्रियोंमें उत्पन्न सन्तानमें जाति-सम्बन्धी विशेषता नहीं होनेसे माताके क्रमसे ज्येष्ठत्वका महर्षियोंने निषेध किया है, जन्मसे ज्येष्ठके लिए पहले (९।११२) ही 'उद्धार' भागका विधान किया जा चुका है । इस प्रकार निषेध तथा विधान—दोनो ही होनेसे यहां षोडशी ग्रहणके समान विकल्प मानकर गुणवान् तथा गुणहीन भाइयोंकी श्रेष्ठता तथा हीनता समझनी चाहिये । इसी कारणसे बृहस्पतिने भी जन्म, विद्या और गुणकी अधिकतासे ज्येष्ठको त्र्यंश 'उद्धार' दायादोंसे लेनेका विधान किया है । माताके क्रमसे ज्येष्ठत्व होनेपर गुणहीनके लिए एक बैल तथा गुणवान्‌के लिए पन्द्रह गायोंके साथ एक बैल, उद्धार' भाग प्राप्त करनेका पहले (९।१२३-१२४) कह चुके हैं । मेधातिथिने तो 'ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायाम्······(९।१२४)' इस श्लोकमें 'ज्येष्ठायाम्' पदमें 'अज्येष्ठायाम्' ऐसा सन्धिच्छेदकर व्याख्यान किया है । और गोविन्दराजने इसे मतान्तर माना है । विशेष जिज्ञासुओंको इस श्लोककी श्री 'नेने' शास्त्रीद्वारा लिखित टिप्पणी देखनी चाहिये ।

जन्मसे ज्येष्ठत्वका अन्य प्रमाण—

जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम् ।
यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

(इन्द्रके आह्वानके लिए प्रयुक्त होनेवाले) 'सुब्रह्मण्या' नामक मन्त्रमें भी जन्मसे ही ज्येष्ठत्व कहा गया है तथा गर्भके एक कालमें आधान होनेपर भी यमज सन्तानोंमें भी जन्मसे ही ज्येष्ठत्व कहा गया है ॥ १२६ ॥

पुत्रिकाकरण—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥

पुत्र-हीन-पिता कन्या-दान करते समय—'इस कन्यासे जो पुत्र होगा, वह मेरी श्राद्धादि पारलौकिक क्रिया करनेवाला होगा' ऐसा जामाता (जमाई—दामाद) से कहकर उस कन्याको 'पुत्रिका' करे ॥ १२७ ॥

[अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥ ३ ॥]

['भाईसे हीन, अलङ्कृत इस कन्याको मैं तुम्हारे लिए दे रहा हूँ, इससे जो पुत्र हो वह मेरा पुत्र हो' ॥ ३ ॥]

पुत्रिका करनेमें पुरातन इतिहास—

अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिका।
विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥

अपने वंशकी वृद्धिके लिए दक्ष प्रजापतिने पुरातन कालमें इस विधिसे 'पुत्रिका' की थी ॥ १२८ ॥

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।
सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥ १२९ ॥

प्रसन्न आत्मावाले उस (दक्ष प्रजापति) ने (वस्त्र-अलङ्कार आदिसे) अलङ्कृत कर धर्मराजके लिए दस, कश्यपके लिए तेरह और सोम (चन्द्रमा) के लिए सत्ताइस कन्याओंको दिया था ॥ १२९ ॥

विमर्श—दक्ष प्रजापतिके द्वारा अलङ्कृतकर दश, तेरह और सत्ताइस कन्याओंको देनेके दृष्टान्तसे 'पुत्रिका' करनेके पहले कन्याको वस्त्र-भूषणादिसे अलङ्कृतकरके ही दे तथा एकसे अधिक 'पुत्रिका' करनेका भी विधान सूचित होता है।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ १३० ॥

(आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादि श्रुतिवचनोंसे) पुत्र पिताकी आत्मा है और जैसा पुत्र है, वैसी ही पुत्री भी है, (अत एव) आत्म-स्वरूप उस (पुत्री) के वर्तमान रहनेपर दूसरा (दायाद आदि मरे हुए पिताकी) सम्पत्तिको कैसे लेगा (अत एव 'पुत्रिका' को ही मरे हुए पिताके धन लेनेका अधिकार न्यायप्राप्त है, दूसरेको नहीं) ॥ १३० ॥

माताका निजी धन कन्याका भाग—

मातुस्तु यौतकं यत् स्यात्कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥

माताका (विवाहादि-कालमें पिता या माता आदिसे प्राप्त हुआ) धन उसकी कन्या (अविवाहित पुत्री) का ही भाग होता है तथा पुत्रहीन नानाके सब धनको दौहित्र (धेवता, नाती अर्थात् पूर्व (९।१२७) वचनानुसार 'पुत्रिका' की गयी कन्याका पुत्र) ही प्राप्त करता है ॥ १३१ ॥

'पुत्रिका' के पुत्रको धन लेनेका अधिकार—

दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ।
स एव दद्याद् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥ १३२ ॥

नाती ('पुत्रिका' (९।१२७) का पुत्र) ही दूसरे पुत्रके नहीं रहनेपर पिताका भी सब धन प्राप्त करे और वही अपने पिता तथा नानाके लिए दो पिण्ड देवे ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः ।
तयोर्हि मातापितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥

संसारमें पौत्र (पुत्रका पुत्र=पोता) तथा दौहित्र (धेवता, नाती अर्थात् 'पुत्रिका' (९।१२७) से पुत्र) में कोई भेद नहीं है, क्योंकि उन दोनोंके माता-पिता उसीके शरीरसे उत्पन्न हुए हैं ॥ १३३ ॥

'पुत्रिका' तथा औरस पुत्रका विभाग—

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनु जायते ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥ १३४ ॥

'पुत्रिका' (९।१२७) करनेके बाद यदि किसीको पुत्र उत्पन्न हो जाय तो उन दोनों (पुत्रिका-पुत्र अर्थात् धेवता तथा पौत्र अर्थात् पोता) को समान भाग मिलते हैं, क्योंकि उसके ज्येष्ठ होनेपर भी 'उद्धार' (६।११२-११४) अर्थात् अतिरिक्त भाग निकालनेमें ज्येष्ठत्व नहीं होता ॥ १३४ ॥

पुत्रहीन पुत्रिकाके धनका अधिकारी—

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन ।
धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥ १३५ ॥

किसी प्रकार (दुर्भाग्य आदिके कारणसे) बिना पुत्र उत्पन्न किये ही 'पुत्रिका' (९।१२७) यदि मर जाय तो उसके पिता (श्वशुर) के धनको 'पुत्रिका' का पति ही निःसन्देह होकर ग्रहण करे ॥ १३५ ॥

'पुत्रिका' के दो भेद—

अकृता वा कृता वाऽपि यं विन्देत्सदृशात्सुतम् ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥ १३६ ॥

'पुत्रिका' (९।१२७) की गयी अथवा नहीं की गयी पुत्रीके गर्भसे समान जातिवाले पतिके द्वारा उत्पन्न पुत्रसे ही नाना पुत्रवान् होता है, (अत एव) वह (पुत्र) ही नानाके लिए पिण्डदान करे तथा पुत्र उसका सब धन प्राप्त करे ॥१३६॥

विमर्श—गोविन्दराजका मत है कि—अपुत्रिका ही कन्या तथा उसका पुत्र भी नानाके धनमें पौत्रिकेय ('पुत्रिकाके पुत्र) के समान नाना आदिके वर्तमान रहनेपर भी भाग प्राप्त करनेका अधिकारी होता है। किन्तु पुत्रिका तो पुत्रतुल्य होती है और अपुत्रिका तथा उसके पुत्र (पुत्रतुल्य) नहीं होते, अत एव उनके पुत्र भी तुल्य नहीं हो सकते, इस कारण वे पौत्रिकेयके समान नानाके वर्तमान रहने पर भी उसके धनका भागी नहीं हो सकते ।

पुत्र तथा पौत्रादिका धन भाग आदि—

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥

(पिता) पुत्रसे स्वर्ग आदि उत्तम लोकोंको प्राप्त करता है, पौत्र (पुत्रके पुत्र—पोते) से उन लोकोंमें अनन्त काल तक निवास करता है तथा प्रपौत्र (पुत्रके पौत्र—परपोते) से सूर्य लोकको प्राप्त करता है ॥ १३७ ॥

विमर्श—'स्त्री आदिके रहनेपर भी पिताके धनमें पुत्रका और उस (पुत्र) के अभावमें पौत्र (तथा प्रपौत्र) का भाग होता है' यह निर्देश करनेके लिए दाय भागके प्रकरणमें यह वचन कहा गया है ।

'पुत्र' शब्दका अर्थ—

पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ १३८ ॥

जिस कारण पुत्र 'पु' नामक नरकसे पिताकी रक्षा करता है, उस कारणसे स्वयं ब्रह्माने उसे 'पुत्र' कहा है ॥ १३८ ॥

पौत्र तथा पौत्रिकेयकी समानता—

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते ।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवत् ॥ १३९ ॥

संसारमें पौत्र (पोता-पुत्रके पुत्र) तथा दौहित्र (धेवता-पुत्रीके पुत्र) में भेद नहीं सिद्ध होता; क्योंकि दौहित्र भी पौत्रके समान ही इस (नाना) का परलोकमें उद्धार कर देता है ॥ १३९ ॥

विमर्श—यह वचन पौत्र तथा दौहित्रमें समानताका प्रदर्शक है, और उनमें समानता सिद्ध होनेपर पौत्रके समान ही दौहित्रको भी नानाके धनमें भाग पानेका अधिकार बतलानेके लिए है ।

पौत्रिकेय (दौहित्र) कृत श्राद्ध करनेमें—

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ।
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥ १४० ॥

पुत्रिका-पुत्र (नाती—धेवता अर्थात् पुत्रीका पुत्र, श्राद्ध करते समय) पहला पिण्ड माताके लिए, दूसरा पिण्ड उसके पिता (अपने नाना) के लिए और तीसरा पिण्ड माताके पितामह (अपने परनाना) के लिए दे ॥ १४० ॥

गुणीदत्तक पुत्रको भागका अधिकार—

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः ।
स हरेतैव तद्रिक्थं सम्प्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥ १४१ ॥

जिसका दत्तक पुत्र सब गुणोंसे युक्त हो, परन्तु अन्य गोत्रसे आया हो; तथापि वह पिताके धनको पाता ही है ॥ १४१ ॥

विमर्श—आगे 'पुत्रा रिक्थहराः पितुः' (९।१८५) वचनसे १२ प्रकारके पुत्रोंका पितृधनमें भाग लेना कहेंगे, तथा 'दशापरे तु क्रमशः' (९।१६५) इस वचनसे औरस पुत्रके अभावमें दत्तक पुत्रका पितृ-धनमें भाग स्वतः प्राप्त है, अतएव औरस पुत्रके विद्यमान होनेपर विद्यादि गुणोंवाले दत्तक पुत्रका पितृ-धनमें भाग-प्राप्तिका विधान करनेके लिए यह (९।१४१) वचन कहा गया है और इस वचनके अनुसार अन्य गोत्रसे आया हुआ भी दत्तक पुत्र पितृ-धनका भागी होता ही है। विशेष यह है कि—'एक एवौरसः पुत्रः……' (९।१६३) वचनके अनुसार औरस

पुत्रका स्थान सर्वश्रेष्ठ होनेसे दत्तक पुत्र औरसके समान (बराबर) भागको नहीं पाता, अपि तु क्षेत्रज पुत्रके समान षष्ठांश ही पाता है। गोविन्दराजका मत है कि—'यह वचन 'औरस पुत्रके अभावमें सर्वगुणसम्पन्न दत्तक पुत्र पितृ-धनका भागी होता है' इसका प्रतिपादन करता है', किन्तु कृत्रिमादि निर्गुण पुत्रोंको पितृ-धनका भागी होना तथा उसके प्रथम पठित दत्तकका सर्वगुणसम्पन्न होनेपर ही पितृ-धनका भागी होना न्यायसङ्गत नहीं है, अतएव गोविन्दराजका मत युक्ति-विरुद्ध होनेसे उपेक्ष्य है।

दत्तक पुत्रको पूर्व पिताके धन पानेका अधिकाराभाव—

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्त्रिमः क्वचित्।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥ १४२ ॥

दत्तक पुत्र अपने पिता (जिससे उसका जन्म हुआ है) के गोत्र तथा धन कहीं भी नहीं प्राप्त करता है, इस लिए पुत्रको दूसरेके लिए देते हुए (उत्पन्न करनेवाले) पिताके गोत्र तथा धन सम्बन्धी स्वधा (श्राद्धादि-कर्माधिकार) नष्ट हो जाते हैं ॥ १४२ ॥

कामजादि पुत्रको पितृ-धनभागप्राप्तिका अनधिकार—

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात्।
उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातककामजौ ॥ १४३ ॥

अनियोग (९।५६-६१) से उत्पन्न अथवा पुत्रवती स्त्रीमें नियोग (गुरु आदिकी आज्ञासे देवरादिसे) उत्पन्न पुत्र क्रमशः जार तथा कामवासनासे उत्पन्न होनेसे पितृ-धनके भागी नहीं होते हैं ॥ १४३ ॥

नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः।
नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥ १४४ ॥

नियुक्त (गुरु आदिकी आज्ञा प्राप्तकी हुई) स्त्रीमें भी विधिहीन (९।५९-६१ के अनुसार घृताक्त आदि न होकर) उत्पन्न किया गया पुत्र पितृ-धनका भागी नहीं होता है, क्योंकि वह (९।६३ के अनुसार) पतितसे उत्पन्न हुआ है ॥१४४॥

क्षेत्रज पुत्रको पितृ-धन प्राप्तिका अधिकार—

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः।
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥ १४५ ॥

नियुक्त (९।५९-६१) स्त्रीमें उत्पन्न पुत्र औरस पुत्रके समान पिताके धन

का भागी होता है; क्योंकि वह क्षेत्रज (स्त्रीका बीज) है और धर्मानुसार सन्तान भी है ॥ १४५ ॥

विमर्श—पहले (९।१२०) क्षेत्रज पुत्रको पितामहके धनमें पितृव्य (चाचा, काका आदि) के बराबर भाग पानेका अधिकार कह चुके हैं, अब श्रेष्ठगुणयुक्त पुत्रको औरस पुत्रके समान ही 'उद्धार' (९।११२-११४) भाग पानेका अधिकार प्रतिपादन करनेके लिए यह वचन कहा गया है।

धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥

निःसन्तान मरे हुए (बड़े) भाईके धन तथा स्त्रीकी जो भाई रक्षा करे, वह (छोटा भाई अर्थात् उस स्त्रीका देवर) नियोग (९।५९-६१) धर्मसे उस स्त्रीमें सन्तान उत्पन्न करके मृत भाईका सब धन उसी पुत्रको दे देवे ॥ १४६ ॥

या नियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यवाप्नुयात् ।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७ ॥

कामवशीभूत जो स्त्री नियोग (९।५९-६१) से दूसरे (सपिण्ड व्यक्ति) या देवरसे पुत्र प्राप्त करे, उस पुत्रको मनु आदि महर्षि कामजन्य, पितृ-धनका अनधिकारी और वृथोत्पन्न बतलाते हैं ॥ १४७ ॥

विमर्श—मुखसे (चुम्बनादिके लिए) मुखका, शरीर (हाथ आदि) से (स्तनादिका) स्पर्श बचाते हुए तदवशिष्ट कुलमें सन्तानके लिए (सम्भोग कर पुत्रोत्पादन करे) काम (वासना) से न करे इस नारद-वचनके अनुसार पुत्रोत्पत्ति नहीं करनेपर वह पुत्र कामजन्य कहा जाता है और वह पितृ-धनका भागी नहीं होता।

एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु ।
बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥ १४८ ॥

(भृगुमुनि ऋषियोंसे कहते हैं कि—) समान जातिवाली स्त्रियोंमें एक पतिसे उत्पन्न पुत्रोंका यह (९।१०३-१४७) विभाग-विधान (बटवारेका नियम) जानना चाहिये। अब अनेक जातियोंवाली बहुत-सी स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्रोंके विभाग (हिस्से) को (आपलोग) ज्ञात करें ॥ १४८ ॥

अनेकजातीय माताओंमें उत्पन्न पुत्रोंका भाग—

ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः ।
तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥ १४९ ॥

यदि ब्राह्मण (पति) की ब्राह्मणी आदि चारो वर्णों (ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा) की स्त्रियां हों, तो उनमें उत्पन्न पुत्रोंका यह (९।१५०-१५५ में कहा जानेवाला) विभागका विधान है ॥ १४९ ॥

कीनाशो गोवृषो यानमलङ्कारश्च वेश्म च ।
विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥

ब्राह्मणीमें उत्पन्न पुत्रके लिए खेती करने योग्य एक बैल, (या हल तथा बैल), सवारी (घोड़ा आदि), भूषण, घर, इनमेंसे जो श्रेष्ठ हों, उनको सब भागोंमें-से एक भाग देना चाहिये ॥ १५० ॥

त्र्यंशं दायाद्धरेद् विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः ।
वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५१ ॥

(पूर्व (९-१५०) वचनानुसार 'उद्धार' भाग करनेके बाद बचे हुए पितृ-धनमें-से) तीन भाग ब्राह्मणीका पुत्र, दो भाग क्षत्रियाका पुत्र, डेढ़ भाग वैश्याका पुत्र, और एक भाग शूद्राका पुत्र पाता है ॥ १५१ ॥

विमर्श—यदि केवल ब्राह्मणी तथा क्षत्रियाके ही पुत्र हों तो उक्त प्रकारसे 'उद्धार' भाग निकालनेके बाद बचे हुए पितृ-धनका पांच भागकर उनमेंसे तीन भाग ब्राह्मणीके पुत्रका तथा दो भाग क्षत्रियाके पुत्रका होता है। इसी प्रकार ब्राह्मणी तथा वैश्याके ही पुत्र हों तो उद्धारसे बचे हुए पितृधनमेंसे साढ़े चार भाग करके तीन भाग ब्राह्मणीके पुत्र का तथा डेढ़ भाग वैश्याके पुत्रका होता है, इसी प्रकार तीनों वर्णवाली स्त्रियोंमें किसी एक या दो स्त्रीको पुत्र न होनेपर कल्पना कर विभाजन करना चाहिये।

सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च ।
धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित् ॥ १५२ ॥

अथवा सम्पूर्ण (पूर्व (९।१५०) के अनुसार 'उद्धार भाग निकालनेपर बचे हुए) पितृ-धनके दश भागकर धर्मज्ञाता पुरुष इस (९।१५३) प्रकारसे विभाजन करें ॥ १५२ ॥

चतुरोंऽशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः ।
वैश्यापुत्रो हरेद् द्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५३ ॥

पूर्वोक्त वचनानुसार दश भाग किये गये पितृ-धनमें-से चार भाग ब्राह्मणीका पुत्र, तीन भाग क्षत्रियाका पुत्र, दो भाग वैश्याका पुत्र और एक भाग शूद्राका पुत्र लेवे ॥ १५३ ॥

विमर्श—यहां भी इस वचनके अनुसार विभाग करनेके पक्षमें यदि ब्राह्मणी तथा क्षत्रियाके ही पुत्र हों तो उक्त (९।१५०) 'उद्धार' भाग निकालनेके बाद बचे हुए पितृधनके सात भागकर उनमेंसे चार भाग ब्राह्मणीका पुत्र तथा तीन भाग क्षत्रियाका पुत्र प्राप्त करे। ब्राह्मणी-वैश्या; क्षत्रिया-वैश्या; ब्राह्मणी-शूद्रा; ब्राह्मणी-वैश्या और शूद्रा; ब्राह्मणी, क्षत्रिया और शूद्रा; क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्र भी इसी प्रकार विभाग करके पितृधनको प्राप्त करते हैं।

शूद्रापुत्रका दशमांशमात्र भाग—

यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत्।
नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥

(ब्राह्मण) यद्यपि समान जातिवाली स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्रवाला हो या पुत्रहीन हो, किन्तु धर्मानुसार शूद्रापुत्रके लिए दशमांशसे अधिक धन पिता ब्राह्मण न देवे॥

विमर्श—यह निषेध शूद्राके पुत्रके विषयमें किया गया है, अतएव समान जातिवाली अर्थात् ब्राह्मणी स्त्रीमें उत्पन्न पुत्र न रहनेपर ब्राह्मण पिताके धन पानेके अधिकारी क्षत्रिया तथा वैश्यामें उत्पन्न पुत्र होते ही हैं।

अविवाहिता-शूद्राके पुत्रके भागका निषेध—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक्।
यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥ १५५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य पितासे धनका भागी शूद्रा स्त्रीमें उत्पन्न पुत्र नहीं होता, किन्तु इसका पिता जो कुछ इसके लिए दे देता है, वही इस (शूद्राके पुत्र) का धन होता है॥ १५५॥

विमर्श—पहले (९।१५१ तथा १५३) शूद्रा स्त्रीमें उत्पन्न पुत्रके लिए एक भाग पिताके धनमेंसे पानेका अधिकार कह चुके हैं तथा इस वचनसे उसको पितृ-धन पानेका निषेध किये हैं; अत एव गुणी तथा गुणहीन पुत्रकी अपेक्षा इन दोनों (९।१५१, १५३ तथा ९।१५५) पक्षोंमें विकल्प समझना चाहिये; अथवा दशमांशका निषेधक यह वचन अविवाहिता शूद्रा स्त्रीमें उत्पन्न पुत्रके लिए है यह समझना चाहिये।

सजातीय अनेक माताओंमें उत्पन्न पुत्रोंका भाग—

समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम्।
उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम् ॥ १५६ ॥

द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) की समान जातिवाली स्त्रियोंमें उत्पन्न

पुत्र बड़े भाईके लिए 'उद्धार' (९।११२-११५ के अनुसार अतिरिक्त भाग) देकर पिताके शेष धनको बराबर-बराबर ले लेवें ॥ १५६ ॥

शूद्रकी शूद्रामात्र स्त्री तथा शूद्रपुत्रोंका समान भाग—

शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते।
तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ १५७ ॥

शूद्रकी स्त्री शूद्रा ही होती है दूसरी (श्रेष्ठ वर्णकी या नीच जातीया) नहीं तथा उस (शूद्रा स्त्री) में यदि सौ पुत्र भी उत्पन्न हों तो वे सब समान ही भाग (पितृ-धनमेंसे) प्राप्त करते हैं अर्थात् पूर्व (९।११२-११५) कथित 'उद्धार' भाग उनमें-से ज्येष्ठ पुत्रके लिए पृथक् नहीं दिया जाता ॥ १५७ ॥

दायाद तथा अदायादका बान्धवत्व—

पुत्रान्द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः।
तेषां षड् बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥ १५८ ॥

(महर्षि भृगुजी मुनियोंसे कहते हैं कि) ब्रह्माके पुत्र मनुने मनुष्योंके जिन बारह पुत्रोंको (९।१५९-१६०) कहा है, उनमें-से प्रथम ६ पुत्र दायाद (पितृ-धनके भागी) तथा बान्धव (तिलोदक देनेके अधिकारी)—दोनों ही होते हैं और अन्तिम ६ पुत्र केवल बान्धवमात्र हैं ॥ १५८ ॥

विमर्श—इस वचनका सार यह है कि प्रथम ६ पुत्र दायाद तथा बान्धव-दोनों ही-होनेसे सपिण्ड तथा समानोदकोंके लिए पिण्डदान (श्राद्ध) तथा तिलाञ्जलिदान कर सकते हैं और अनन्तर सन्तानके अभावमें पितृ-धन भी ले सकते हैं, किन्तु अन्तिम ६ पुत्र दायादवर्जित बान्धव मात्र होनेसे तिलाञ्जलिदान आदि तो कर सकते हैं, और अनन्तर सन्तानके अभावमें भी पितृ-धनको नहीं ले सकते। मेधातिथिका मत है कि—'अन्तिम ६ पुत्र न दायाद ही होते हैं और न बान्धव ही। किन्तु बौधायनने[1] कानीन (कन्यापुत्र) आदिको बान्धव माना है अतएव मेधातिथिका वचन बौधायन-विरुद्ध होनेसे चिन्त्य है।

द्वादशविध पुत्रोंमें ६ दायाद-बान्धव पुत्र—

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ १५९ ॥

---

१. 'तदाह—'कानीनं च सहोढं च क्रीतं पौनर्भवं तथा।
स्वयंदत्तं निषादं च गोत्रभाजः प्रचक्षते ॥' इति (म० मु०)

औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न तथा अपविद्ध; ये ६ प्रकारके पुत्र दायाद (पितृधनके भागी) तथा बान्धव (पिण्डोदक देने अर्थात् श्राद्ध एवं तर्पण करनेवाले) होते हैं ॥ १५९ ॥

द्वादशविध पुत्रोंमें ६ बान्धव पुत्र—

कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ।
स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥ १६० ॥

कानीन (कन्या-पुत्र), सहोढ, क्रीत, पौनर्भव (विधवा-पुत्र), स्वयंदत्त तथा शौद्र (शूद्रा-पुत्र) ये ६ प्रकारके पुत्र दायाद (धनके भागी) नहीं हैं किन्तु बान्धव (तिलोदकादि देनेके अधिकारी हैं) ॥ १६० ॥

औरस पुत्रसे क्षेत्रजादि पुत्रोंकी हीनता—

यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरञ्जलम् ।
तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः सन्तरंस्तमः ॥ १६१ ॥

तृण आदिकी बनी हुई दूषित नावसे पानीको पार करता हुआ मनुष्य जैसा फल पाता है वैसा ही फल (क्षेत्रज आदि) कुपुत्रोंके द्वारा अन्धकार (रूप पारलौकिक दुःख) को पार करता हुआ पाता है (अतएव क्षेत्रजादि पुत्र औरस पुत्रके समान सम्पूर्ण कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते, किन्तु पारलौकिक दुःखको पार करनेमें औरस पुत्र ही समर्थ होता है) ॥ १६१ ॥

औरस तथा क्षेत्रज पुत्रके विभागका निर्णय—

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ ।
यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः ॥ १६२ ॥

यदि एक व्यक्तिके धनके अधिकारी औरस तथा क्षेत्रज—दोनों ही-पुत्र हों तो वह धन जिसके पिताका है, वही अर्थात् औरस पुत्र ही ग्रहण करे, दूसरा अर्थात् क्षेत्रज पुत्र नहीं ॥ १६२ ॥

विमर्श—'पुत्रहीन देवर या सपिण्डद्वारा नियोगपूर्वक (९।५९-६१) उत्पन्न पुत्र दोनों (अपने उत्पादक पिता तथा जिसकी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ है, उस पिता) के धन पाने तथा उन दोनोंको पिण्डदान करनेका अधिकारी होता है' इस याज्ञवल्क्य स्मृतिके वचनानुसार उक्त पुत्रको दोनों पिताके धनका अधिकार प्राप्त करनेका विधान होनेसे यह वचन कहा गया है। आगे (९।१६४) 'क्षेत्रज पुत्रके लिये औरस पुत्र पिताके धनका षष्ठांश देवे' यह वचन बहुपुत्रविषयक होनेसे प्रकृत

वचन (९।१६२) से विरुद्ध नहीं पड़ता। पूर्वोक्त याज्ञवल्क्य स्मृतिका वचन तो पिताके औरस पुत्र नहीं होनेपर व्यवस्थापक है। मेधातिथि तथा गोविन्दराजकी 'औरस तथा अनियुक्ता-पुत्रके विषयमें यह वचन कहा गया है' ऐसी व्याख्या—अनियुक्ता-पुत्रके अक्षेत्रज होनेसे, पहले 'अनियुक्तासुतश्च'……(९।१४३) उसके धनग्रहण करनेका निषेध करनेसे और 'एक धनके अधिकारी हों' एतदर्थक 'यद्येकरिक्थिनौ'…(९।१६२) का अन्वय नहीं होनेसे–ठीक नहीं है।

क्षेत्रज पुत्रके बाद औरस पुत्रके उत्पन्न होनेपर विभाग—

एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः।
शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥

केवल औरस पुत्र ही पिताके धनका स्वामी होता है, शेष (क्षेत्रज पुत्रको छोड़कर बाकी दत्तक आदि) पुत्रोंको दोषनिवृत्तिके लिये भोजन-वस्त्र आदि (खोरिशके रूपमें) देना चाहिये ॥ १६३ ॥

षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात्।
औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

पिताके धनमें से विभाजन (बटवारा) करता हुआ औरस पुत्र, क्षेत्रज पुत्रका षष्ठांश या पञ्चमांश दे देवे ॥ १६४ ॥

विमर्श—पञ्चमांश तथा षष्ठांशका विकल्प दत्तकादि पुत्रोंके गुणी तथा गुणहीन होनेका क्रमसे जानना चाहिये।

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ।
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ १६५ ॥

(बारह प्रकार (९।१५९–१६०) के पुत्रोंमें-से) केवल औरस तथा क्षेत्रज-ये दो ही पुत्र पिताके धनके भागी होते हैं, शेष दस प्रकारके पुत्र तो क्रमशः गोत्रके समान पितृधनके भागी होते हैं ॥१६५ ॥

बारह प्रकारके पुत्रोंमें 'औरस' पुत्रका लक्षण—

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम्।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ १६६ ॥

विधिपूर्वक विवाहित समान जातिवाली स्त्रीमें पुरुष स्वयं जिस पुत्रको उत्पन्न करता है, उसे मुख्य (सब प्रकारके पुत्रोंमें प्रधान) 'औरस' पुत्र जानना चाहिये ॥

'क्षेत्रज' पुत्रका लक्षण—

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ १६७ ॥

मरे हुए, रोगी अथवा नपुंसक पुरुषकी स्त्रीमें 'नियोग विधि' (९।५९-६२) से उत्पन्न पुत्र 'क्षेत्रज' कहा गया है ॥ १६७ ॥

'दत्तक' पुत्रका लक्षण—

माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ॥ १६८ ॥

माता या पिता (ग्रहण करनेवालेके) समान जातिवाले जिस पुत्रको (पुत्रके अभावरूप) आपत्तिकालमें प्रेमपूर्वक (भय या लोभसे नहीं) जलके साथ अर्थात् सङ्कल्पकर देते हैं, उसे 'दत्त्रिम' (दत्तक दत्त) पुत्र जानना चाहिये ॥ १६८ ॥

'कृत्रिम' पुत्रका लक्षण—

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥ १६९ ॥

मनुष्य, गुण तथा दोष (समान जातिवाले माता-पिताके श्राद्ध आदि पारलौकिक क्रिया करना गुण तथा नहीं करना दोष) को जाननेवाले एवं (माता-पिता आदिकी सेवा आदि कार्य) से युक्त समान जातिवाले जिस पुत्रको अपना पुत्र मान लेता है, वह 'कृत्रिम' पुत्र कहा जाता है ॥ १६९ ॥

'गूढ' पुत्रका लक्षण—

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः ।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

जिसके घरमें स्त्रीको पुत्र उत्पन्न हो तथा 'यह पुत्र समान जातिवाला है' ऐसा ज्ञान होते हुए भी 'किससे उत्पन्न हुआ है ?' यह मालूम नहीं हो; इस प्रकार गुप्त रूपसे घरमें उत्पन्न वह पुत्र जिसकी स्त्रीसे उत्पन्न होता है उसीके पतिका 'गूढ' पुत्र कहा जाता है ॥ १७० ॥

'अपविद्ध' पुत्रका लक्षण—

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥ १७१ ॥

माता-पिता (दोनों) या माता या पिता (किसी एक) द्वारा त्यक्त जिस पुत्रको मनुष्य स्वीकार कर लेता है, वह 'अपविद्ध' पुत्र कहा जाता है ॥ १७१ ॥

'कानीन' पुत्रका लक्षण—

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ १७२ ॥

पितृ-गृहमें रहती हुई कन्या (अविवाहित पुत्री) गुप्तरूपसे जिस पुत्रको उत्पन्न करती है, उसे 'कानीन' पुत्र कहते हैं, तथा वह पुत्र उस कन्याके साथ विवाह करनेवाले पतिका होता है ॥ १७२ ॥

'सहोढ' पुत्रका लक्षण—

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञाताऽपि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥ १७३ ॥

ज्ञातावस्था (जानकारी) में या अज्ञातावस्था (अजानकारी) में जिस गर्भिणी कन्याका विवाह किया जाता है, उस गर्भसे उत्पन्न वह पुत्र विवाहकर्ता पतिका होता है तथा उस पुत्रको 'सहोढ' पुत्र कहते हैं ॥ १७३ ॥

'क्रीत' पुत्रका लक्षण—

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥ १७४ ॥

माता-पिताको मूल्य देकर समान जातिवाले या असमान जातिवाले जिस पुत्रको अपना पुत्र बनानेके लिए मनुष्य खरीदता है, खरीदे हुए उस पुत्रको 'क्रीत' पुत्र कहते हैं ॥ १७४ ॥

'पौनर्भव' पुत्रका लक्षण—

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥

पतिसे छोड़ी गयी या विधवा स्त्री अपनी इच्छासे दूसरेको पति बनाकर जिस पुत्रको उत्पन्न करती है, उसे 'पौनर्भव' पुत्र कहते हैं ॥ १७५ ॥

'पुनर्भू' स्त्रीका लक्षण—

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागताऽपि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

यदि अक्षतयोनि वह स्त्री दूसरे पतिके पास जावे और द्वितीय पति विवाह कर ले, अथवा कुमारावस्थावाले पतिको छोड़कर दूसरे पतिके पास जाकर पुनः प्रथम पतिके पास आनेपर उस स्त्रीके साथ वह प्रथम कुमार पति विवाह करले, तो वह स्त्री 'उसकी 'पुनर्भू' स्त्री कहलाती है ॥ १७६ ॥

'स्वयंदत्त' पुत्रका लक्षण—

मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥ १७७ ॥

माता-पितासे हीन अथवा उनसे निष्कारणत्यक्त (छोड़ा गया) पुत्र जिस पुरुषके लिए (पुत्ररूप होकर) अपनेको समर्पण कर दे, वह पुत्र उस पुरुषका 'स्वयंदत्त' पुत्र कहलाता है ॥ १७७ ॥

'पाराशव' पुत्रका लक्षण—

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् ।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ १७८ ॥

स्व-विवाहिता शूद्रामें जिस पुत्रको उत्पन्न करता है, वह जीता हुआ भी मरे हुएके समान होनेसे 'पाराशव' पुत्र कहलाता है ॥ १७८ ॥

दासीपुत्रका समान भाग—

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ।
सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १७९ ॥

दासी (८।४१५) में, दासकी दासीमें जो पुत्र शूद्रसे उत्पन्न होता है, वह पितासे 'तुम भी विवाहित स्त्रियोंके पुत्रोंके बराबर धनका भाग (हिस्सा) लो' इस प्रकार आज्ञा पाकर (पितृधनका) बराबर भाग लेनेवाला होता है, ऐसी धर्मकी व्यवस्था है ॥ १७९ ॥

'क्षेत्रज' आदि पुत्र पुत्रके प्रतिनिधि—

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान् ।
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥ १८० ॥

इन 'क्षेत्रज' आदि ('औरस' पुत्रको छोड़कर शेष (९।१५९-१७८) ग्यारह प्रकारके) पुत्रोंको 'श्राद्ध आदि क्रियाका अभाव न हो' इसलिए मुनियोंने पुत्र ('औरस' पुत्र) का प्रतिनिधि कहा है ॥ १८० ॥

'औरस' पुत्रके रहनेपर 'दत्तक' आदिका निषेध—

य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः ।
यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥ १८१ ॥

('औरस' पुत्रके वर्णनके) प्रसङ्गमें 'दूसरेके वीर्यसे उत्पन्न' जो ये ('क्षेत्रज' आदि पुत्र ९।१५९-१७८) कहे गये हैं, वे जिसके वीर्यसे उत्पन्न होते हैं उसीके हैं, दूसरे (क्षेत्रिकके) नहीं; (अतः 'औरस' पुत्र (९।१५८) तथा 'पुत्रिका' (९।१२७) के विद्यमान रहनेपर उन क्षेत्रजादि पुत्रोंको नहीं करना चाहिये) ॥१८१॥

एक भाईके पुत्रसे सब भाईका पुत्रवान् होना—

भ्रातॄणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत् ।
सर्वांस्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥ १८२ ॥

एक माता तथा पितामें उत्पन्न अर्थात् सहोदर भाइयोंमें से यदि एक भाईको पुत्र हो तो उसी से (पुत्रहीन भी) अन्य सभी भाई पुत्रवान् होते हैं ऐसा मनुने कहा है ॥ १८२ ॥

विमर्श—किसी एक भाईके उत्पन्न पुत्रसे सब भाइयोंको पुत्रवान् होनेसे अन्य भाइयोंको दूसरे प्रकारके पुत्रप्रतिनिधियों (दत्तक, क्षेत्रज आदि पुत्रों) को नहीं करना चाहिये ; क्योंकि वही भ्रातृ-पुत्र सब भाइयोंके लिए श्राद्धादि करने वाला तथा उनके धनका अधिकारी होता है ।

एक पत्नीके पुत्रसे अन्य पत्नियोंका पुत्रवती होना—

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत् ।
सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ १८३ ॥

एकपतिवाली स्त्रियोंमेंसे यदि एक स्त्रीको पुत्र उत्पन्न हो जाय तो (पुत्रहीना शेष भी सब स्त्रियां) उसी पुत्रसे पुत्रवती होती हैं, ऐसा मनुने कहा है ॥ १८३ ॥

विमर्श—पूर्व (९।१८२) वचनके समान ही एक पत्नीके पुत्रसे अन्यान्य पत्नियोंके पुत्रवती होनेसे शेष पुत्रहीना पत्नियोंको दत्तक आदि पुत्रको नहीं ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि वही एक सपत्नी-पुत्र सबका श्राद्धकर्ता तथा धनग्रहीता होता है ।

श्रेष्ठ क्रमसे पुत्रोंका पितृ-धनका भागी होना—

श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान्रिक्थमर्हति ।
बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥ १८४ ॥

(पूर्वोक्त (९।१५९-१६०) बारह प्रकारके पुत्रोंमें से) उत्तम-उत्तम पुत्रके

अभावमें हीन-हीन पुत्र (पिताके) धनका भागी होता है और सबके समान गुणी होनेपर सभी समान धन पानेके अधिकारी होते हैं ॥ १८४ ॥

विमर्श—पहले (९।१५९-१६०) कहे गये बारह प्रकारके पुत्रोंमें-से पूर्व-पूर्व पुत्र श्रेष्ठ होता है, अतः इस वचनानुसार 'औरस' पुत्रके अभावमें 'क्षेत्रज' पुत्र, उसके अभावमें 'दत्तक' पुत्र (इसी क्रमसे आगे भी जानना चाहिये) पिताके धनका भागी होता है। समान गुण होनेपर सभी समान भाग प्राप्त करते हैं। और 'औरस' आदि पूर्व-पूर्व पुत्र विद्यमान हों तो वे ही पितृ-धन पाते तथा अन्यान्य क्षेत्रादि पुत्रोंका पालन-पोषण करते हैं। इस प्रकार 'क्षेत्रज' आदि पुत्रके विद्यमान रहनेपर 'पौनर्भव' तथा शूद्रापुत्र (९।१७५-१७६) पितृ-धनके भागी नहीं होते। समानगुण होनेपर सब पुत्र पितृ-धनमें भाग पाते हैं।

क्षेत्रज आदि पुत्रोंको पिताके धनका भागी होना—

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः।
पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥ १८५ ॥

(पिताके) धन पानेका अधिकारी सहोदर भाई या पिता नहीं होते, किन्तु 'औरस' पुत्र (९।१६६) के अभावमें 'क्षेत्रज' आदि पुत्र (९।१६६-१७६) ही पिताके धन पानेका अधिकारी होता है। पुत्र (मुख्य पुत्र तथा स्त्री और कन्या) से हीन पुरुषके धनका भागी पिता या भाई होते हैं ॥ १८५ ॥

क्षेत्रजादि पुत्रोंको पितामहके धनका भागी होना—

त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते।
चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥

तीन (पिता, पितामह और प्रपितामह) का उदक (तर्पण, तिलाञ्जलिदान) करना चाहिये और तीनका ही पिण्डदान (श्राद्ध) होता है; चौथा इनको देनेवाला होता है, इनके साथ पांचवें किसीका कोई सम्बन्ध नहीं होता ॥ १८६ ॥

विमर्श—इसी कारण पुत्रहीन पितामह तथा प्रपितामहके धनका अधिकारी 'क्षेत्रज' आदि (९।१६६-१७६) ग्यारह प्रकारके गौण (अप्रधान) पुत्र भी होते हैं। 'पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते। अथ पौत्रस्य पुत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ (९।१३७) इस वचनसे पितामह-प्रपितामहके धनके भागी होनेका विधान पौत्र-प्रपौत्रको पहले कर ही चुके हैं, इस वचनसे गौण (क्षेत्रज आदि) पुत्रोंको भी पितामह आदिके धनका भागी होनेका विधान किया है।

[असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः।
पितामह्यश्च ताः सर्वा मातृकल्पाः प्रकीर्तिताः ॥ ४ ॥]

[पुत्रहीना पिताकी स्त्रियोंका समान भागवाली कहीं गयी हैं तथा पितामहकी स्त्रियां भी मातृतुल्य कहीं गयी हैं ॥ ४]

सपिण्डादिका धन पानेका भागी होना—

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्।
अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥ १८७ ॥

सपिण्डोंमें निकट सन्बन्धी मृतव्यक्तिके धनका भागी (हकदार) होता है, तथा इसके बाद (सपिण्डके अभावमें) क्रमशः समानोदक (सजातीय), आचार्य तथा शिष्य मृतव्यक्तिके धनका भागी होता है ॥ १८७ ॥

विमर्श—यह वचन औरस आदि सपिण्डमात्रके विषयमें माननेपर व्यर्थ होता है, अतएव स्त्री आदिको दायभाग प्राप्त होनेके लिए यह वचन है। इस वचनके पूर्वार्द्धमें निकटतम सपिण्डको मृतव्यक्ति के धनका भागी कहा गया है, उसमें पूर्व (९।१६३) वचनानुसार 'औरस' पुत्र ही मृतव्यक्तिके धनका भागी होता है, क्षेत्रज तथा गुणवान् दत्तक पुत्र पञ्चमांश या षष्ठांश धनके भागी होते हैं और कृत्रिम पुत्रोंको पालन-पोषणमात्रके लिए धन दिया जाता है। औरस पुत्र (९।१६६) के अभावमें पुत्रिका या उसका पुत्र मृतव्यक्तिके धनका भागी होता है, उसके अभावमें क्रमशः क्षेत्रज आदि एकादशविध (९।१६७–१७९) पुत्र मृत पिताके धनके भागी होते हैं, उनमें भी विवाहित शूद्राका पुत्र 'नाधिकं·····(९।१५४)' वचनके अनुसार पितृ–धनमेंसे केवल दशमांश धनका भागी होता है, शेष धनका भागी मृत व्यक्तिका समीपवर्ती सपिण्ड होता है। तेरहवें प्रकारके पुत्रके नहीं होनेपर स्त्री ही मृत पतिके धनको[1] पानेकी अधिकारिणी होती है। ऐसा महर्षि याज्ञवल्क्य, बृहस्पति तथा वृद्ध मनुका मत है। 'स्त्रीणां तु जीवनं दद्यात्' अर्थात् 'स्त्रियोंके भरण-पोषणमात्रके लिए धन दे' यह वचन दुःशीला, अधार्मिक तथा सविकार युवावस्थावाली स्त्रीके विषयमें होनेसे विरुद्ध नहीं पड़ता है। इसीसे स्त्रियोंको मृतपतिके धनका अधिकारिणी होनेका निषेध मेधातिथिका वचन सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि स्त्रीके अभावमें पुत्ररहित पुत्री, उसके अभावमें पिता तथा माता उन दोनोंके अभावमें सहोदर भाई, उसके अभावमें उस (सहोदर भाई) का पुत्र मृतव्यक्तिके धनका भागी होनेका आगे (९।२१७) विधान किया गया है। उनके

१. एतत्सर्वं 'यदाह याज्ञवल्क्यः·····लभेत च ॥' इति मन्वर्थमुक्तावल्यां द्रष्टव्यम्।

अभावमें सन्निकट सपिण्ड धनका भागी होता है। जो व्यक्ति मृतव्यक्तिके धनका भागी होता है, वही उसका पिण्डदानादि क्रिया करनेवाला होता है।

[हरेरनृत्विजो वापि न्यायवृत्ताश्च याः स्त्रियः ॥ ५ ॥]

[अथवा जो ऋत्विक्की स्त्रियां धर्मपरायण सती-साध्वी हों, वे (मृतव्यक्तिके धनको) ग्रहण करें ॥ ५ ॥]

सबके अभावमें ब्राह्मणका अधिकार—

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः।
त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥ १८८ ॥

सब (औरस पुत्र, पत्नी, सपिण्ड आदि) के अभावमें वेदत्रय (ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद) के पढ़नेवाले, शुद्ध (शरीरसम्बन्धी बाह्य शुद्धि तथा मनः सम्बन्धी आभ्यन्तर शुद्धिसे युक्त), जितेन्द्रिय ब्राह्मण ही मृत व्यक्तिके धन पानेके अधिकारी होते हैं, इस प्रकार धर्म (मृत व्यक्तिके पिण्डदानादि क्रिया) की हानि नहीं होती है ॥ १८८ ॥

ब्राह्मणेतर धनका राजा अधिकारी—

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥

ब्राह्मणके धनको राजा कदापि (मृत ब्राह्मणके धन लेनेवाले औरस पुत्रादिके किसीके नहीं रहने पर भी) नहीं लेवे यह शास्त्र मर्यादा है। दूसरे (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) वर्णोंके धनको सब (औरस पुत्रादि उत्तराधिकारी किसी भी व्यक्ति) के नहीं रहनेपर राजा ग्रहण करे ॥ १८९ ॥

मृत-पतिकाका नियुक्तपुत्र अधिकारी—

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत्।
तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥ १९० ॥

सन्तानहीन मृत पतिकी स्त्री नियोग धर्म (९।५९-६२) के द्वारा सगोत्रसे पुत्र उत्पन्न करे तथा मृत पतिका जो २ धन हो, उसे उस पुत्रके लिए दे देवे ॥१९०॥

विमर्श—पहले (९।५९) देवर या सपिण्डसे ही नियोग धर्मद्वारा पुत्रोत्पादन करने तथा उसीके पितृ-धनका भागी होनेका विधान किया है, इस वचनसे सगोत्रसे उत्पन्न पुत्रको भी पितृधनको पानेका अधिकारी कहा गया है।

औरस तथा पौनर्भव पुत्रोंका स्व-स्वपितृधनका अधिकार—

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।
तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृह्णीत नेतरः ॥ १९१ ॥

दो पिताओंसे उत्पन्न दो पुत्र स्त्री (माता) के धनके विषयमें विवाद करें तो जो पुत्र जिस पितासे उत्पन्न हुआ है, वह पुत्र उसी (अपने ही) पिताके धन पानेका अधिकारी होता है, दूसरा पुत्र नहीं ॥ १९१ ॥

विमर्श—पहले औरस तथा क्षेत्रज पुत्रोंके धनविभाजनका निर्णय कर चुके हैं, अब इस वचनसे औरस तथा पौनर्भव पुत्रोंके लिये धनविभाजनका निर्णय कहते हैं। स्त्री औरस पुत्रके उत्पन्न होनेपर पतिके मर जानेके बाद उस पुत्रके छोटे होनेसे अपने मृत पतिका धन ले लेवे तथा पुनः दूसरे पतिसे पौनर्भवसंज्ञक दूसरा पुत्र उत्पन्न करे और उस द्वितीय पतिके भी मर जानेपर उसके धनको पानेका दूसरा उत्तराधिकारी नहीं होनेसे उस पतिका भी धन ले लेवे, अनन्तर वे दोनों (औरस तथा पौनर्भव) पुत्र सयाने होकर उस माताके द्वारा लिए हुए धनको पानेके लिए विवाद करें तब वे अपने अपने जनक पिताके धनको पानेके अधिकारी होते हैं, ऐसा निर्णय है।

माताके धनके अधिकारी—

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १९२ ॥

माताके मरनेपर सब सहोदर भाई तथा अविवाहित सहोदरी बहनें उसके धनको बराबर भागमें पाती हैं ॥ १९२ ॥

विमर्श—विवाहिता सहोदरी भी बहनें मृतमाताके धनमें-से भाग नहीं पातीं, किन्तु उनके सम्मानार्थं भाइयोंका कर्तव्य है कि पितृधनके समान मातृधनमें-से अपने भागका चतुर्थांश उनके लिये देवें।

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १९३ ॥

उन (सहोदरी) पुत्रियोंकी जो अविवाहित पुत्रियां (पोतियां) हों, उनके सम्मानार्थं भी नानीके धनमें से कुछ भाग उनके लिए प्रेमपूर्वक देना चाहिये ॥१९३॥

स्त्री धनके ६ प्रकार—

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि ।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥

(१) विवाहकालमें अग्निसाक्षित्वके समय पिता आदिके द्वारा दिया, गया (२) पिताके घरसे पतिके घर लायी जाती हुई कन्याके लिए दिया गया, (३) प्रेम-सम्बन्धी किसी सुअवसरपर पति आदिके द्वारा दिया गया, तथा (४) भाई (५) माता और (६) पिताके द्वारा विविध अवसरोंपर दिया गया छः प्रकारका धन 'स्त्री-धन' कहलाता है ॥ १९४ ॥

सपुत्रा स्त्रीके धनके अधिकारी—

अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् ।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥ १९५ ॥

विवाहके बाद पतिकुलमें या पितृकुलमें प्राप्त हुए स्त्रीके धनको पानेका अधिकार उसके पतिके जीवित रहनेपर भी पुत्रों या पुत्रियोंको ही होता है ॥ १९५ ॥

सन्तानहीना स्त्रीके धनका अधिकारी—

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु ।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्य संज्ञक (क्रमशः ३।२७, २८, २९, ३२ और ३०) विवाहोंमें प्राप्त सन्तानहीना स्त्रीके पूर्वोक्त (९।१९४) छः प्रकारके धनका अधिकारी पति ही होता है, ऐसा मनु आदिका मत है ॥ १९६ ॥

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७ ॥

आसुर आदि (आसुर, राक्षस तथा पैशाच-क्रमशः ३।३१, ३३ और ३४) संज्ञक विवाहोंमें स्त्रीके लिए जो धन दिया गया हो, सन्तानहीन उस स्त्रीके मरनेपर पूर्वोक्त (९।१९४) ६ प्रकार के स्त्रीधनको पानेके अधिकारी उसके माता-पिता होते हैं ॥ १९७ ॥

स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन ।
ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १९८ ॥

ब्राह्मणकी अनेक जातिवाली सन्तानहीन क्षत्रियादि वर्णोंवाली स्त्रियोंके मरनेपर उनके पिता आदिके द्वारा दिये गये पूर्वोक्त (९।१९४) छः प्रकारके स्त्री-धनको पानेका अधिकार सजातीय या विजातीय सपत्नियों की सन्तान रहनेपर भी ब्राह्मण-जातीया सपत्नीकी कन्याको ही होता है, और उसके अभावमें उसकी (पुत्री) को अधिकार होता है ॥ १९८ ॥

साधारणसे स्त्रीधन करनेका निषेध—

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात् ।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ १९९ ॥

स्त्री भाई आदि बहुत परिवारवाले धनमें-से तथा अपने पतिके धनमें-से भी पतिकी आज्ञाके बिना अलङ्कार आदिके लिए धनका संग्रह न करे (अत एव उक्त धन 'स्त्री·धन' नहीं होता है) ॥ १९९ ॥

स्त्री-भूषणोंकी अविभाज्यता—

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥ २०० ॥

पतिके जीवित रहनेपर स्त्रियां जिन भूषणोंको पहनती हों, उनको भाई आदि हिस्सेदार न लेवें, यदि वे उन्हें लेते हैं तो वे पतित हो जाते हैं ॥ २०० ॥

नपुंसक आदिको भागका अनधिकार—

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥

नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, बहरा, पागल, जड़, गूंगा और जो किसी इन्द्रियसे शून्य (लंगड़ा, लूला आदि) हों, वे धनके भागी (हिस्सेदार) नहीं होते हैं, (किन्तु भोजन–वस्त्रमात्र पाते रहनेके अधिकारी होते हैं) ॥ २०१ ॥

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥ २०२ ॥

सब (पूर्व श्लोकोक्त नपुंसक आदि) के धनको न्यायपूर्वक लेनेवाला शास्त्रज्ञ विद्वान् उन (नपुंसक, पतित आदि) के लिए भोजन-वस्त्र यथाशक्ति देवे, और नहीं देनेवाला पतित होता है ॥ २०२ ॥

नपुंसकादिके क्षेत्रज पुत्रको धनप्राप्तिका अधिकार—

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥

इन नपुंसक, पतित आदि (९।२०१) को किसी प्रकार विवाह करनेकी इच्छा हो तो (इनके विवाह होनेपर) उत्पन्न (नपुंसककी क्षेत्रज तथा पतितादिकी औरस) सन्तान उनके धन पानेकी अधिकारिणी होती है ॥ २०३ ॥

अविभक्त धनके अधिकारी—

यत्किंचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।
भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥ २०४ ॥

पिताके मरनेके बाद यदि बड़ा भाई अपने पुरुषार्थसे धनोपार्जन करे तो उस धनमें पढ़े-लिखे छोटे भाईयोंका भाग होता है (मूर्खोंका नहीं) ॥ २०४ ॥

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।
समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥ २०५ ॥

विना पढ़े-लिखे सब भाइयोंके प्रयत्न (खेती, व्यापार आदि) से यदि धन प्राप्त हो तब पितृ-धनको छोड़कर उस प्रयत्नोपार्जित धनमेंसे सब भाइयोंका समान भाग होता है, पूर्व वचन (९।११२-११५) के अनुसार ज्येष्ठ भाईका उद्धार (अतिरिक्त भाग) नहीं होता, (किंतु पिताके धनमें से ही वह उद्धार भाग होता है) ऐसा शास्त्रीय निर्णय है ॥ २०५ ॥

विद्यादिप्राप्त धनकी अविभाज्यता—

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

विद्यासे, मित्रसे, विवाहमें और मधुपर्कके समय पूज्यताके कारण जिसको जो धन प्राप्त हो; वह धन उसीका होता है ॥ २०६ ॥

विमर्श—कात्यायनने 'विद्याधन' के निम्नलिखित भेद कहे हैं—दूसरेसे भोजन पाकर पढ़ी हुई विद्याके द्वारा उपार्जित धन, पणपूर्वक विद्याके द्वारा उपार्जित धन; शिष्यसे यज्ञमें ऋत्विक् कार्य करानेसे, दानसे, सन्दिग्ध प्रश्नके निर्णयसे उपार्जित धन, अपने ज्ञानसे, वादसे तथा बहुत धनमें प्राप्त हुआ धन[1]। अतएव मेधातिथिका

---

१. तदुक्तं कात्यायनेन—
'परभक्तप्रदानेन प्राप्ता विद्या यदाऽन्यतः ।
तथा प्राप्तं च विधिना विद्याप्राप्तं तदुच्यते ॥
उपन्यस्ते च यल्लब्धं विद्यया पणपूर्वकम् ।
विद्याधनं तु तद्विद्याद्विभागे न विभज्यते ॥
शिष्यादार्त्विज्यतः प्रश्नात्सन्दिग्धप्रश्ननिर्णयात् ।
स्वज्ञानशंसनाद्वादाल्लब्धं प्राज्यधनाच्च यत् ॥
विद्याधनं तु तत्प्राहुर्विभागे न विभज्यते ।' इति । (म० मु०)

माधुपर्किक धनको ऋत्विक् कार्य करानेसे प्राप्त धन कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसकी गणना विद्याधनमें ही हो जाती है।

सशक्त भाईके भागग्रहणमें उपेक्षा करनेपर—

भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किंचिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥ २०७ ॥

भाइयोंमें-से अपने उद्योगसे समर्थ जो भाई पिताके धनमें-से भाग लेना नहीं चाहे, तब सब भाई पिताके धनमेंसे कुछ भाग देकर उसे अलग कर दें ॥ २०७ ॥

विमर्श—ऐसा करनेसे उसके पुत्र पितामहके धनमेंसे भाग लेनेके लिए विवाद नहीं कर सकते।

अविभाज्य धन—

अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम्।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥

पिताके धनको नष्ट नहीं करता हुआ यदि कोई पुत्र केवल अपने पुरुषार्थ (व्यापार आदि) से उपार्जित धनमें से किसीके लिए कुछ नहीं देना चाहे तो वह (अपने पुरुषार्थसे उपार्जित धनमें-से) किसीको कुछ नहीं देवे ॥ २०८ ॥

पितामहके अप्राप्त धनका अविभाजन—

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात्।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ २०९ ॥

पिता अपनी असामर्थ्यके कारण उपेक्षित जिस पैतृक धनको नहीं पा सका है, उस (पैतामहिक) धनको यदि पुत्र अपने पुरुषार्थसे प्राप्त कर ले और उसमें-से दूसरे भाइयोंको भाग नहीं देना चाहे तो न देवे ॥ २०९ ॥

पुनः सम्मिलित किये धनका अविभाजन—

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥ २१० ॥

पहले कभी अलग हुए भाई पुनः सम्मिलित होकर एकत्र रहने लगें और फिर कभी अलग होना चाहें तो उस समय सब भाइयोंका समान भाग होता है, बड़े भाईका 'उद्धार' (९।११२-११५) अर्थात् अतिरिक्त भाग नहीं मिलता है ॥

विदेशादिगत भाईके भागका लोपाभाव—

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ।
म्रियेतान्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते ॥ २११ ॥

जिन भाइयोंमें-से बड़ा या छोटा भाई (विदेश जाने या संन्यासी होने आदिके कारण) भागसे रहित हो जाय अर्थात् अपना भाग नहीं पावे या मर जाय तो उसके भागका लोप (नाश) नहीं होता है ॥ २११ ॥

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ २१२ ॥

(किन्तु उसके पिता, माता, स्त्री या पुत्र नहीं हों तो) सब सहोदर भाई और बहनें तथा सपत्नी-पुत्रों (सौतेले भाइयों) में-से जो सम्मिलित रहते हों; वे सभी मिलकर उसके भागमेंसे समान-समान भाग परस्परमें बांट लें ॥ २१२ ॥

वञ्चक ज्येष्ठ भाईका उद्धाराभाव—

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातॄन् यवीयसः ।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥ २१३ ॥

जो ज्येष्ठ भाई लोभसे छोटे भाइयोंको ठगे (पिताके धनमें-से उन्हें उचित भाग न दे या कम दे), वह ज्येष्ठ भाईके आदरको नहीं पाता, उसका 'उद्धार' (अतिरिक्त भाग—९।११२–११५) भी नहीं मिलता तथा वह राजाके द्वारा दण्डनीय होता है ॥ २१३ ॥

विकर्मियोंको भागकी अप्राप्ति—

सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।
न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ २१४ ॥

(पतित नहीं होनेपर भी) शास्त्रविरुद्ध कर्म (जुवा खेलना, मद्य पीना, वेश्यागमन करना आदि) करनेवाले सभी भाई पिताके धनके भागी (हकदार) नहीं होते हैं तथा ज्येष्ठ भाई छोटे भाइयोंके भागको विना पृथक् किये अपने लिए कुछ भी धन (पिताके धनमें-से) नहीं लेवे ॥ २१४ ॥

पिताके जीवित रहनेपर उपार्जित धनका समभाग—

भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥ २१५ ॥

यदि सम्मिलित रहते हुए सब भाई साथमें ही धनोपार्जन करे तो पिता किसी प्रकार भी किसी पुत्रको अधिक भाग कदापि न देवे ॥ २१५ ॥

पितृधनविभाजनके बाद पुत्रोत्पन्न होनेपर—

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् ।
संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥

पिताके जीवित रहते ही उन पुत्रोंकी इच्छासे उनमें धनका विभाजन (बटवारा) होनेपर यदि कोई पुत्र उत्पन्न हो तो वह पुत्र पिताके मरनेपर उसके धनका भागी होता है तथा यदि कुछ भाई विभाजन होनेपर भी पिताके साथ मिलकर रहने लगें तो बादमें उत्पन्न पुत्र पिताके मरनेपर पिताके साथ मिलकर रहनेवाले भाइयोंके साथ सभी धनमें-से समान भाग प्राप्त करता है ॥ २१६ ॥

सन्तानहीन पुत्रके धनका अधिकारी—

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७ ॥

सन्तानहीन पुत्रके धनको माता लेवे तथा माता मर गयी हो तो पिताकी माता (दादी) लेवे ॥ २१७ ॥

विमर्श—पहले (९।१८५) पुत्रहीन पुत्रके धनका अधिकार पिताके लिए कह चुके हैं और इस वचन द्वारा माताको अधिकार कहा गया है, अतएव महर्षि याज्ञवल्क्य (२।१३५) तथा विष्णुके वचनानुसार[1] माता तथा पिता—दोनों ही पुत्रहीन पुत्रके धनको समान भागमें प्राप्त करते हैं। उत्तरार्द्धका आशय यह है कि यदि माता मर गयी हो और पुत्रहीन उस पुत्रके स्त्री, पिता, भाई और भतीजे नहीं हों तो उसके धनको उसकी पितामही (दादी) को मिलता है।

ऋण तथा धनका समान विभाग—

ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि ।
पश्चाद् दृश्येत यत्किंचित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥

पिताके धन तथा ऋणका विधिपूर्वक विभाजन (बटवारा) करनेके बाद यदि पिताका कोई धन या उसके द्वारा लिया हुआ ऋण शेष रह गया हो तो उसको सब भाई बराबर-बराबर बांट लें (उस धनमें-से ज्येष्ठ भाईको 'उद्धार' अर्थात् अतिरिक्त (९।११२-११५) नहीं मिलेगा) ॥ २१८ ॥

---

१. विष्णुना च-'अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामि तदभावे दुहितृगामि तदभावे पितृगामि' इत्येकशेषस्य कृतत्वात्' इति । (म० मु०)

अविभाज्य वस्तु—

वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः ।
योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ २१९ ॥

वस्त्र, वाहन, आभूषण, पक्वान्न, जल (कूप आदि सार्वजनिक जलस्थान), स्त्रियां (दासियां), मन्त्री, पुरोहित आदि योगक्षेमसाधक मार्ग इनको (मनु आदि महर्षि) अविभाज्य मानते हैं ॥ २१९ ॥

विमर्श—वस्त्र, वाहन, भूषण आदिका उपभोग विभाजनके पूर्व जो करता हो, वह उसीका होता है, उसका विभाजन नहीं किया जाता, किन्तु यदि वे बहुमूल्य हों और उसके मूल्यमें बहुत अधिक अन्तर हो तो उनको बेंचकर या उनका मूल्य लगाकर उनका विभाजन करना चाहिये। इसी प्रकार यदि पक्वान्न सत्तू आदिका भी विभाजन मूल्यमें सामान्य अन्तर रहनेपर नहीं होता, बहुत अधिक मूल्य होनेपर कच्चे अन्नसे बदलकर उनका विभाजन होता ही है। तथा समान कार्य करनेवाली दासियोंका भी विभाजन नहीं होता, किन्तु उनसे समान कार्य करवाना चाहिये।

द्यूतकर्म—

अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः ।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥

(महर्षि भृगुजी मुनियोंसे कहते हैं कि मैंने) आपलोगोंसे यह विभाजनका विधान तथा (क्षेत्रज आदि) पुत्रोंके भाग (हिस्से) का प्रकार क्रमशः कहा, अब आपलोग द्यूतधर्मको सुनिये ॥ २२० ॥

द्यूतादिका निषेध—

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ।
राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥

राजाको अपने राज्यसे द्यूत तथा समाह्वय (९।२२३) को दूर करना चाहिये, क्योंकि ये दोनों दोष राजाके राज्यको नष्ट करनेवाले हैं ॥ २२१ ॥

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्दे‍वनसमाह्वयौ ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥

द्यूत तथा समाह्वय (९।२२३) ये दोनों ही प्रत्यक्षमें चोरी करना (डाका डालना) है, अतएव उनको रोकनेमें राजाको सर्वदा प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥२२२॥

द्यूत तथा समाह्वयके लक्षण—

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ २२३ ॥

विना प्राणी (कौड़ी, पाशा, तास, तीर आदिकी निशानेबाजी तथा सट्टा आदि) के द्वारा बाजी लगाकर खेलना 'द्यूत' (जुआ) तथा प्राणियों (मुर्गा, तीतर, बटेर आदि पक्षियों एवं भेंड़ा आदिको लड़ाकर कुत्ता, घोड़ा आदि दौड़ा कर—कुत्तारेस, घोड़ारेस आदि) के द्वारा बाजी लगाकर खेलना 'समाह्वय' कहलाता है ॥ २२३ ॥

द्यूतादि करनेवालोंको दण्ड—

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा।
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥

जो मनुष्य द्यूत तथा समाह्वय (९।२२३) खेलें या खेलावें, उनको तथा यज्ञोपवीत आदि ब्राह्मणके चिह्नोंको धारण करनेवाले शूद्रोंको (राजा) हाथ आदि कटवाकर दण्डित करे ॥ २२४ ॥

कितवादिका देशनिर्वासन—

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान् पाषण्डस्थांश्च मानवान्।
विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥ २२५ ॥

जुआरियों (जुआ खेलने या खेलानेवाले), कुशीलवों (नाचने-गानेवाले), वेद-शास्त्रके विरोधियों, पाखण्डियों (श्रुति-स्मृतिमें अकथित व्रतादि धारण करनेवाले), आपत्तिकाल नहीं होनेपर भी दूसरोंकी जीविका करनेवाले और मद्य बनानेवाले मनुष्योंको राजा राज्यसे शीघ्र ही बाहर निकाल दे ॥ २२५ ॥

कितवादिको राज्यनिर्वासनमें कारण—

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ २२६ ॥

राज्यमें रहनेवाले गुप्त चौर ये (पूर्व श्लोकोक्त कितव आदि) विरुद्धाचरणसे सज्जन प्रजाओंको पीडित करते रहते हैं ॥ २२६ ॥

उपहासार्थ भी द्यूतका निषेध—

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत्।
तस्माद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥

(केवल इस समयमें ही नहीं, किन्तु) पूर्वकालमें भी यह द्यूत (जुआ) बड़ा विरोधकारक देखा गया है, इस कारण बुद्धिमान् मनुष्य हँसी-मजाकके लिए भी द्यूतका सेवन न करे ॥ २२७ ॥

द्यूतकारकका राजेच्छानुसार दण्ड—

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥

जो छिपकर या प्रकट रूपमें द्यूत (जुआ) खेलता है, उसके लिये राजाकी जैसी इच्छा होती है, उसीके अनुसार दण्ड होता है ॥ २२८ ॥

दण्ड देनेमें असमर्थ होनेपर—

क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन्।
आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः ॥ २२९ ॥

राजाके द्वारा दण्डित क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र दण्डद्रव्य (जुर्माना) देनेमें असमर्थ हों तो राजा उनसे काम कराकर दण्डद्रव्यकी पूर्ति (वसूली) करे और ब्राह्मण यदि दण्डद्रव्य देनेमें असमर्थ हो तो राजा उससे धीरे-धीरे दण्डद्रव्य (जुर्माना) को ग्रहण करे (किन्तु ब्राह्मणसे काम कराकर दण्डद्रव्यकी पूर्ति न करावे) ॥२२९॥

स्त्री, बाल आदिको दण्ड—

स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम्।
शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् ॥ २३० ॥

स्त्री, बालक, उन्मत्त (पागल), वृद्ध, दरिद्र और रोगी मनुष्योंको पेड़ोंकी (जड़) या बांससे मारकर या रस्सीसे बांधकर राजा दण्डित करे (इनपर अर्थदण्ड अर्थात् जुर्माना न करे) ॥ २३० ॥

राजनियुक्त अधिकारीको कार्य न करनेपर दण्ड—

ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम्।
धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥ २३१ ॥

राजाके द्वारा कार्यमें नियुक्त जो राजाधिकारी पुरुष घूस आदिके धनकी गर्मी (घमण्ड) से कार्यको नष्ट कर दें तो राजा उनकी सम्पत्तिको अपने अधीन कर ले ॥

कपटपूर्वक लेखादि लिखवानेवालोंको दण्ड—

कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान्।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद् द्विट्सेविनस्तथा ॥ २३२ ॥

कपटपूर्वक राजाज्ञा लिखवानेवाले, प्रकृति (मन्त्री, सेनापति आदि राजपरिजनों) को फोड़नेवाले तथा स्त्री, बालक और ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवालों एवं शत्रुका सेवन करनेवालोंका वधकरके दण्डित करे ॥ २३२ ॥

धर्मपूर्वक किये कार्यादिका अपरिवर्तन—

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत् ।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥ २३३ ॥

जिस किसी व्यवहार (मुकदमे) में जो शास्त्रव्यवस्थाके अनुसार निर्णीत कर लिया गया हो, और जो दण्डविधान कर दिया गया हो; उसे धर्मपूर्वक किया हुआ जानना चाहिये और उसमें (निष्कारण) परिवर्तन नहीं करना चाहिये (तथा किसी कारण-विशेषके होनेपर तो परिवर्तन भी करना ही चाहिये) २३३ ॥

[तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विकर्मणा ।
द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत् ॥ ६ ॥]

[जिस किसी व्यवहार (मुकदमे) में निर्णय कर लिया गया हो और दण्ड भी कर दिया गया हो; किन्तु राजा उसे न्याययुक्त नहीं समझे तो अधिकारियोंको दुगुना दण्डित करके उस कार्यको फिरसे देखे ॥ ६ ॥]

अधर्मपूर्वक किये गये कार्यादिका परिवर्तन—

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥ २३४ ॥

मन्त्री या न्यायाधीश (जज आदि राजाधिकारी) जिस कार्यको ठीक (न्याय-पूर्वक) नहीं किये हों, उस कार्यको राजा स्वयं करे और उन्हें सहस्र पण (८।१३६) से दण्डित करे ॥ २३४ ॥

विमर्श—राजनियुक्त अधिकारियोंपर यह दण्डविधान विना घूस लिये अन्याय-पूर्वक निर्णय करनेपर है, घूस लेकर अन्यायपूर्वक निर्णय करनेपर तो उन अधिकारियोंकी सब सम्पत्ति लेकर दण्डित करनेका विधान पहले (९।२३१) ही कह चुके हैं ।

चतुर्विध महापातकी—

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एते सर्वे पृथग्ज्ञेया महापातकिनो नराः ॥ २३५ ॥

(१) ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला, (२) मद्य पीनेवाला ('पैष्टी' मद्यको पीनेवाला द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) और 'पैष्टी-माध्वी-गौडी' (क्रमशः आटा, महुआ तथा गुड़से बने हुए) मद्यको पीनेवाला ब्राह्मण), (३) (ब्राह्मणके सुवर्णको) चुरानेवाला एवं (४) गुरुपत्नीके साथ सम्भोग करनेवाला और पृथक्-पृथक् कर्म करनेवाले इन सबको महापातकी जानना चाहिये ॥ २३५ ॥

प्रायश्चित्त नहीं करनेवाले महापातकियोंको दण्ड—

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।
शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

राजा प्रायश्चित्त नहीं करनेवाले इन चारों प्रकारके महापातकियोंको शारीरिक तथा अपराधानुसार आर्थिक दण्डसे धर्मानुसार (आगे (९।२३७–२४०) कहे गये दण्डसे) दण्डित करे ॥ २३६ ॥

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।
स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥ २३७ ॥

गुरुपत्नीके साथ सम्भोग करनेवाले (के ललाट) में भगका चिह्न, मद्य पीनेवाले (के ललाट) में सुरापात्रका चिह्न, ब्राह्मणके सुवर्णको चुरानेवाले (के ललाट) में कुत्तेके पैरका चिह्न तथा ब्राह्मणकी हत्या करनेवाले (के ललाट) में शिरकटे मनुष्यका चिह्न (तपाये हुए लोहेसे) करा देवे ॥ २३७ ॥

असम्भोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्याविवाहिनः ।
चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥ २३८ ॥

(ये चतुर्विधि (९।२३५) महापातकी) असम्भोज्य (अन्न आदि खिलानेके अयोग्य), असंयाज्य (यज्ञादि सत्कर्म करानेके अयोग्य), असम्पाठ्य (पढ़ानेके अयोग्य), अविवाह्य (विवाहके अयोग्य), समस्त धर्म-(कार्यों) से बहिष्कृत एवं दीन होकर पृथ्वीपर घूमा करें ॥ २३८ ॥

ज्ञातिसम्बन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः ।
निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥ २३९ ॥

उक्त (९।२३७) चिह्नोंसे चिह्नित ये जातिवालों तथा (मामा आदि) सम्बन्धियोंसे त्याज्य हैं, दयाके अयोग्य हैं और नमस्कारके अयोग्य हैं; ऐसा मनुका आदेश है ॥ २३९ ॥

प्रायश्चित्त करनेवाले महापातकियोंको अन्य दण्ड—

प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम्।
नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम्॥ २४०॥

शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करनेवाले इन सब वर्णोंके ललाटमें राजा (तपाये लोहेसे) चिह्न न करे, किन्तु उत्तम साहस (८।१३८-१००० पणों) से दण्डित करे॥२४०॥

महापातकी ब्राह्मणको दण्ड—

आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः।
विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः॥ २४१॥

इन (९।२३५) अपराधोंको अकामपूर्वक करनेवाले गुणवान् ब्राह्मणको मध्यम साहस (५०० पण) से दण्डित करना चाहिये तथा सकाम होकर करनेपर धन-धन्यादिके सम्पत्ति तथा साधनोंके साथ देशसे निकाल देना चाहिये॥ २४१॥

विमर्श—पूर्व श्लोक (९।२४०) में किया गया समस्त वर्णोंके लिये उत्तम साहस परिमित दण्डविधान निर्गुण ब्राह्मणके लिए समझना चाहिये।

महापातकी क्षत्रियादिको दण्ड—

इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः।
सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम्॥ २४२॥

अकामपूर्वक इन (९।२३५) अपराधोंको करनेवाले क्षत्रियों, वैश्यों व शूद्रोंको सर्वस्व हरणकर दण्डित करे तथा कामपूर्वक अपराध करनेवाले इनको वधरूप दण्ड दे॥ २४२॥

महापातकीके धनग्रहणका निषेध—

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम्।
आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते॥ २४३॥

धर्मात्मा राजा महापातकियों (९।२३५) के धनको नहीं ग्रहण करे, लोभसे उनके धनको ग्रहण करता हुआ राजा उस (महापातक) दोषसे युक्त होता है॥

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत्।
श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत्॥ ४४॥

(अत एव) राजा उन महापातकियोंसे लिये गये धनको पानीमें डालकर वरुणके लिए दे देवे, अथवा शास्त्र तथा सदाचारसे युक्त विद्वान् ब्राह्मणके लिए दे देवे॥

ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः ।
ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ २४५ ॥

क्योंकि महापातकियों (९।२३५) के अर्थदण्डको ग्रहण करनेवाला स्वामी वरुण है, अत एव वही राजाओंके भी अर्थदण्डको ग्रहण करनेवाला है तथा वेद-पारङ्गत (एवं सदाचारी) ब्राह्मण सम्पूर्ण संसारका स्वामी है, (इस कारण उन महापातियोंके धनको) वे ही दोनों (वरुण या वेदपारङ्गत सदाचारी ब्राह्मण ही) ग्रहण करनेके अधिकारी हैं ॥ २४५ ॥

महापातकियोंके धन नहीं लेनेकी प्रशंसा—

यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम् ।
तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥ २४६ ॥

जिस राज्यमें राजा महापातकियों (९।२३५) के धनको दण्डरूपमें भी नहीं लेता है (अपितु 'अप्सु प्रवेश्य·······(९।२४४)' के अनुसार पानीमें डाल देता या सदाचार सम्पन्न वेदपारगामी ब्राह्मणके लिए दे देता है), उस राज्यमें यथा-समय मनुष्य उत्पन्न होते हैं, वे दीर्घजीवी होते हैं ॥ २४६ ॥

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् ।
बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥ २४७ ॥

वैश्यों (कृषकों) के द्वारा खेतोंमें बोये गये बीज यथावत् पृथक्—पृथक् उत्पन्न होते है, (अकालमें) बालक नहीं मरते हैं और कोई प्राणी विकृत (किसी अङ्गसे हीन या विकार युक्त) नहीं उत्पन्न होता है ॥ २४७ ॥

ब्राह्मणको पीडित करनेवालेको दण्ड—

ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम् ।
हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥

जान-बूझकर (शरीर पीडा तथा धन आदि चुराकर) ब्राह्मणको पीडित करनेवाले शूद्रको राजा उद्वेगकारक विचित्र वधों (हाथ पैर आदिको काटने) से मार डाले ॥ २४८ ॥

वध्यको छोड़नेसे दोष—

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे ।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥

अवध्य (नहीं मारने योग्य) को वध करनेमें जितना अधर्म होता है, उतना ही अधर्म (अपराधके कारण) वध करने योग्य व्यक्तिको छोड़नेमें राजाको होता है और शास्त्रानुसार दण्डित करनेवाले राजाका धर्म देखा जाता है (अतः राजा दण्डनीय व्यक्तिको अवश्य दण्डित करे) ॥ २४९ ॥

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

(महामुनि भृगुजी मुनियोंसे कहते हैं कि—मैंने) परस्परमें विवाद करते हुए वादी तथा प्रतिवादियों (मुद्दई तथा मुद्दालहों) के अट्ठारह प्रकारके (८।४–७) विवादोंमें व्यवहार (मुकदमे) के निर्णयको विस्तार पूर्वक कहा ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः ।
देशानलब्धांल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥

धर्मयुक्त कार्योंको इस प्रकार अच्छी तरह करता हुआ राजा अप्राप्त देशोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करे तथा प्राप्त हुए देशोंका यथावत् पालन करे ॥ २५१ ॥

कण्टकोद्धार करना राजाका कर्तव्य—

सम्यङ् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥

राजा पूर्व (७।६९) कथित सस्यादि-सम्पन्न देशका आश्रयकर वहां दुर्ग (७।७० में वर्णित दुर्गोंमें-से किसी एक प्रकारका दुर्ग = किला) बनवाकर कण्टकों (चोरों, तथा साहस कर्म करनेवाले अर्थात् आग लगानेवाले, डाँका डालनेवाले आदिव्यक्तियों) को दूर करनेमें सर्वदा अच्छी तरह प्रयत्न करता रहे ॥ २५२ ॥

आयरक्षण तथा कण्टकशोधनका फल—

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥

सदाचारियोंकी रक्षा तथा कण्टकों (चोरों तथा साहस कर्म करनेवालों—आग लगानेवालों या डांका डालनेवालों आदि) के शोधन (दण्डितकर नष्ट) करनेसे प्रजापालनमें तत्पर राजा (मरनेपर) स्वर्गको जाते हैं (अतएव आर्यरक्षण तथा कण्टकशोधनमें राजाको प्रयत्नशील रहना चाहिये) ॥ २५३ ॥

चौरादिके शासन नहीं करनेपर दोष—

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥

जो राजा चौर आदिका शासन नहीं करता हुआ, प्रजाओंसे कर (राजग्राह्य भाग-विशेष–टैक्स) लेता है, उसके राज्यमें निवास करनेवाले लोग क्रुद्ध हो जाते हैं तथा वह राजा स्वर्ग पानेके अधिकारसे हीन हो जाता है ॥ २५४ ॥

निर्भय राज्यकी समृद्धि—

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥ २५५ ॥

जिस राजाके बाहुबलके आश्रयसे राज्य (चौर आदिसे) निर्भय होता है, उस राजाका राज्य सींचे गये वृक्षके समान वृद्धिको पाता है ॥ २५५ ॥

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष चौरका ज्ञान—

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २५६ ॥

(गुप्तचरोंके द्वारा सब काम देखनेसे) चारचक्षुष (गुप्तचर ही हैं नेत्र जिसके ऐसा) राजा गुप्त (छिपकर) तथा प्रकाश (प्रकट रूपमें) दूसरोंके धनको चुरानेवाले दो प्रकारके चोरोंको मालूम करे ॥ २५६ ॥

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष चोरके लक्षण—

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥ २५७ ॥

उन दो प्रकारके चोरोंमें-से मूल्य तथा तौल या नापमें लोगोंके देखते-देखते सोना कपड़ा आदि बेचते समय ठगनेवाले प्रथम (प्रत्यक्ष) चोर हैं, तथा सेंध डालकर या जङ्गल आदिमें छिपकर रहते हुए दूसरोंके धनको चुरानेवाले द्वितीय (परोक्ष) चोर हैं ॥ २५७ ॥

उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥ २५८ ॥

(और) घूसखोर, डराकर धन लेनेवाले ठग, जुआरी (९।२२३ में वर्णित द्यूत या समाह्वयसे धन लेनेवाले), धन या पुत्रादिके लाभ होनेकी असत्य बातें

कहकर लोगोंसे धन लेनेवाले, उत्तम (साधु, संन्यासी आदि) का वेष धारण कर अपने दूषित कर्मको छिपाकर लोगोंसे धन लेनेवाले, हस्तरेखा आदिको देखकर नहीं जानते हुए भी फलको बतलाकर धन लेनेवाले ॥ २५८ ॥

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः॥ २५९॥

अशिक्षित हाथीवान् , अशिक्षित चिकित्सक (वैद्य डाक्टर, हकीम), चित्रकार आदि शिल्पी, परद्रव्यापहरणमें चतुर वेश्या ॥ २५९ ॥

एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान्।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः॥ २६०॥

इन्हें तथा इस प्रकारके अन्य लोगोंको तथा ब्राह्मणादिका वेष धारणकर गुप्त-रूपसे जनताको ठगनेवाले शूद्र आदिको प्रत्यक्ष कण्टक (प्रकटरूपमें चोर) जानना चाहिये ॥ २६० ॥

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः।
चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत्॥ २६१॥

उन्हींके कर्मोंको करनेवाले, गुप्त, सदाचारी एवं विविध वेष धारण किये हुए दूतों (७।६३-६४) से उन वञ्चकों (ठगों) को मालूम करके उनका शासनकर उन्हें वशमें करे ॥ २६१ ॥

उन द्विविध चोरोंका शासन—

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः॥ २६२॥

राजा उन वञ्चकों (प्रत्यक्ष या परोक्ष चोरों) के जो गुप्त या प्रत्यक्षकृत अपराध हों, उन्हें सबके सामने कहकर उनके अपराध, शरीर एवं धनके अनुसार उनको दण्डित करे ॥ २६२ ॥

दण्डाभावमें पापनिवारणकी असामर्थ्यता—

नहि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ॥ २६३॥

इन चोरों, पाप बुद्धियों तथा गुप्तरूपसे विचरण करनेवालोंका पाप विना दण्डित किये नहीं रोका जा सकता है, (अत एव इन्हें दण्डित करना राजाका धर्म है) ॥

चोरोंका अन्वेषण करना—

सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥

सभास्थान, प्याऊ (पौसरा), पूआ-पूड़ी आदि बेचनकी दुकान (होटल आदि), गल्लेकी दूकान, चौरास्ता, मन्दिर, बड़े-बड़े प्रसिद्ध वृक्षोंकी जड़ (के नीचे-का भाग), अनेक लोगोंके एकत्रित होनेका स्थान, प्रदर्शनी आदि दर्शनीय स्थान ॥

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥

पुराने उद्यान, जङ्गल, शिल्पियों (विविध प्रकारके कारीगरों–चित्रकार आदि) के घर, सूने घर, वन, फुलवारी ॥ २६५ ॥

एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

ऐसे गुप्त स्थानोंमें घूमने-फिरने तथा एक स्थानमें रहनेवाले चारोंको रोकनेके लिए राजा गुप्तचरों (या पहरेदारों) को नियुक्त करे ॥ २६६ ॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः।
विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥

उन चारोंके सहायक, उनके विविध कार्यों (सेंध मारना आदि) के जानकार जो पहले निपुण चोर हों; ऐसे गुप्तचरोंसे उन चारोंको मालूमकर राजा उनका नाश करे ॥ २६७ ॥

उन चारोंको पकड़नेका उपाय—

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

वे गुप्तचर भक्ष्य–भोज्य पदार्थोंका लोभ दिखाकर (तुम लोग मेरे यहाँ या अमुक स्थानपर आवो, हम सब एक साथ अमुक स्थानपर चलकर उत्तमोत्तम पदार्थ भोजन करेंगे इत्यादि प्रकारसे खानेका लोभ देकर), ब्राह्मणोंके दर्शन (अमुक स्थानमें सब बातोंके ज्ञाता एक सिद्ध ब्राह्मण रहते हैं, उनका दर्शनकर हमलोग अपना मनोरथ पूर्ण करें) इत्यादि कहनेसे साहस कर्मके कपटसे (अमुक व्यक्तिके यहाँ एक बड़ा शूरवीर रहता है, वह अकेला ही अनेक आदमियोंके साध्य कार्यको कर सकता है आदि कपट युक्त वचनोंसे), उन चारोंको एकत्रितकर राजाके द्वारा नियुक्त

शासक पुरुषों (सैनिकों, सिपाहियों) से उनका समागम करा दे अर्थात् उन्हें गिरफ्तार करा दें ॥ २६८ ॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये ।
तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥ २६९ ॥

जो चोर उन गुप्तचरोंके उस प्रकार (पूर्व श्लोकमें कथित भक्ष्य-भोज्यादि विषयक कपटयुक्त वचनों) से अपने पकड़े जानेकी शङ्कासे वहां (गुप्तचरके सङ्केतित स्थानमें) नहीं आवें तथा उन गुप्तचरोंसे सावधान ही रहते हों ; उन चोरोंको राजा अपने गुप्तचरोंसे मालूम कर मित्र, ज्ञाति तथा बान्धवोंके सहित उनपर आक्रमण कर उन्हें दण्डित करे ॥ २६९ ॥

चुराये गये धनका पता न लगनेपर—

न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ २७० ॥

धार्मिक राजा चुराये गये धन तथा सेंध मारने आदिके शस्त्रादि साधनोंका पता नहीं लगनेसे चोरका पूर्णतः निर्णय नहीं होनेसे उनका वध नहीं करे तथा चुराये गये धन तथा सेंध मारनेके शस्त्रादि साधनोंके द्वारा चोरका निर्णय हो जानेपर विना विचारे (दूसरा विकल्प उठाये) उस चोरका वध (अपराधानुसार उन्हें दण्डित) करे ॥२७०॥

चोरोंके आश्रयदाताओंको दण्ड—

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥ २७१ ॥

गाँवोंमें भी जो कोई चोरोंके लिए भोजन, चोरीके उपयोगी वर्तन या शस्त्रादि देते हों ; राजा उनका भी वध (या निरन्तर अथवा एकबार किये गये अपराधके अनुसार दण्डित) करे ॥ २७१ ॥

अपराधी सीमारक्षकोंको दण्ड—

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ॥ २७२ ॥

राज्यकी रक्षामें नियुक्त तथा सीमाके रक्षक राजपुरुष भी चोरी करनेमें मध्यस्थ होकर चोरोंके सहायक होते हैं, (अत एव राजा) उनको भी चोरोंके समान ही शीघ्र दण्डित करे ॥ २७२ ॥

धर्मभ्रष्ट धर्मजीवी ब्राह्मणको दण्ड—

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः ।
दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥ २७३ ॥

धर्मजीवन (यज्ञ करानेसे तथा दान लेकर दूसरोंमें यज्ञादि धर्मप्रवृत्ति उत्पन्नकर जीविका करनेवाला) ब्राह्मण यदि धर्म मर्यादासे भ्रष्ट हो जाय तो राजा उसे भी दण्डद्वारा शासित करे ॥ २७३ ॥

चौरादिके उपद्रव निवारणादिमें सहायक नहीं होनेवालेको दण्ड—

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने ।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥ २७४ ॥

चौरादिके द्वारा गाँवके लूटनेमें, पुल या बांधके टूटनेमें (मेघातिथिके मतसे खेतमें उत्पन्न अन्नके नष्ट होनेमें तथा जीविका नाश होनेमें) तथा रास्तेमें चोर आदिके दिखलाई पड़नेपर यथाशक्ति दौड़कर रक्षा नहीं करनेवाले पार्श्ववर्ती (समीपमें रहनेवाले) लोगोंको शय्या, गौ, घोड़ा आदि गृहसाधनोंके साथ देशसे बाहर निकाल दे ॥ २७४ ॥

राजकोषके चोर आदिको दण्ड—

राज्ञः कोषापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥ २७५ ॥

राजाके कोष (खजाने) से धन चुरानेवाले, राजाज्ञाको नहीं माननेवाले तथा शत्रु पक्षवालोंसे मिलकर राजकीय लोगोंमें फूट पैदा करनेवाले लोगोंको राजा अनेक प्रकारके (हाथ-पैर जीभ आदि काटकर) वधसे दण्डित करे ॥ २७५ ॥

सेंध मारनेवाले चोरको दण्ड—

संधिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः ।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् ॥ २७६ ॥

जो चोर रातमें सेंध मारकर चोरी करते हैं, राजा उनके हाथोंको कटवाकर तेज शूलीपर चढ़ा दे ॥ २७६ ॥

गिरहकट चोरको दण्ड—

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे ।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥

राजा गांठ काटनेवाले (गिरहकट, या जेबकट) चोरको पहली बार पकड़े जानेपर उसकी (अंगूठा तथा तर्जनी) अङ्गुलियोंको कटवा ले, दूसरी बार पकड़े जानेपर उसके हाथ तथा पैर कटवा ले और तीसरी बार पकड़े जानेपर उसका वध कर दे ॥ २७७ ॥

चोरोंके सहायक तथा चोरित धन लेनेवालोंको दण्ड—

अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्।
संनिधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः॥ २७८॥

जो लोग (गिरहकट आदिको जानकर) अग्नि, अन्न, शस्त्र तथा अवसर (चोरीका मौका) देते हों और चुराये हुए धनको रखते हों; राजा उन लोगोंको भी चोरके समान ही दण्डित करे ॥ २७८ ॥

तडागादिके तोड़नेवालोंको दण्ड—

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा।
यद्वाऽपि प्रतिसंस्कुर्याद्दाप्यस्तूत्तमसाहसम्॥ २७९॥

तडाग (पोखरा, अहरा आदि सार्वजनीन जलाशय) के बांध या पुल तोड़नेवालोंको राजा पानीमें डुबाकर या दूसरे प्रकारसे वध करे; अथवा यदि वह उस तोड़े हुए पुल या बांधको ठीक करा दे तो उसे उत्तम साहस (८।१३८—एक सहस्र पण) से दण्डित करे ॥ २७९ ॥

अन्नागारादि तोड़नेवालोंको दण्ड—

कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान्।
हस्त्यश्वरथहर्तॄंश्च हन्यादेवाविचारयन्॥ २८०॥

राजा राज्यके अन्नभाण्डार, शस्त्रागार तथा देवमन्दिर तोड़नेवालों तथा घोड़ा हाथी और रथ आदि चुरानेवालोंको विना विचारे (दूसरे प्रकारके दण्ड देनेका विकल्पको छोड़कर शीघ्र ही) वध करे ॥ २८० ॥

विमर्श—आगे 'संक्रमध्वजयष्टीनां······(९।२८५) वचनसे देवप्रतिमा तोड़ने वालोंको पांच सौ पणसे दण्डित करनेका जो विधान कहा जायेगा, वह वचन इसी वचनसे देवमन्दिर तोड़नेवालोंको वधरूप दण्डसे दण्डित करनेके कारण मिट्टीकी बनी हुई पूजाकर त्यक्त प्रतिमाके भेदन करनेवालोंके विषयमें है, ऐसा समझना चाहिये।

व्यक्तिगत तडागादिके तोड़नेवालेको दण्ड—

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ।
आगमं वाऽप्यपां भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥

पुत्र आदिके लिये बनवाये गये तडाग आदिके पानीको जो कोई चुरावे अर्थात् चोरीकर खेत आदिकी सिंचाई करे, अथवा उसके पानी जानेके मार्गको बांध आदि बांधकर रोके या नष्ट करदे, उस व्यक्तिको राजा प्रथम साहस (८।१३८-२५० पण) से दण्डित करे ॥ २८१ ॥

राजमार्गको गन्दा करनेपर दण्ड—

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥ २८२ ॥

स्वस्थ रहता हुआ जो व्यक्ति राजमार्ग (प्रधान सड़क सार्वजनिक रास्ते) पर मल-मूत्र करदे (या फेंकदे), राजा उसे दो कार्षापण (८।१३६) से दण्डित करे तथा उसीसे उस मल-मूत्रको शीघ्र साफ करावे ॥ २८२ ॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा ।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३ ॥

रोगी (या आपत्तिमें फंसा हुआ), बूढ़ा, गर्भिणी अथवा बालक राजमार्गपर मल-मूत्र करदे (या कूड़ा करकट डालकर उसे गन्दा करदे) तो ('तुमने यह क्या किया, सावधान ? फिर कभी ऐसा मत करना' इत्यादि रूपसे) निषेध कर दे, तथा उस स्थानकी सफाई करा ले (उसे आर्थिक दण्ड न दे) ऐसी शास्त्र-मर्यादा है ॥

अज्ञ चिकित्सकको दण्ड—

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः ।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

चिकित्सा करनेवाला यदि अज्ञतावश पशुओंकी ठीक चिकित्सा न करे तो उसे प्रथम साहस (२५० पण—८।१३८) तथा मनुष्योंकी ठीक चिकित्सा न करे तो उसे मध्यम साहस (५०० पण—८।१३८) से राजा दण्डित करे ॥ २८४ ॥

विमर्श—'चिकित्सक' शब्दसे यहांपर दोनों प्रकारके चिकित्सक इष्ट हैं, प्रथम शरीरचिकित्सक जो औषध देकर शरीरकी चिकित्सा करता हो तथा द्वितीय शल्य-चिकित्सक—जो चीरफार अर्थात् ऑपरेशन करके चिकित्सा करता हो ।

संक्रम तथा प्रतिमादि तोड़नेपर दण्ड—

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च॥ २८५॥

संक्रम (नाले या छोटी नहर आदिको पार करनेके लिए रक्खे गये पत्थर या काष्ठ आदि), ध्वज (राजचिह्न या देवताओंकी ध्वजा), यष्टि (जाठ—तालाब, पोखरा, बावली आदिके बीचमें गाड़े गये लकड़ी या पत्थरका खम्भा आदि), प्रतिमा (मिट्टी आदिकी छोटी-छोटी पूजित मूर्तियां) इनको तोड़ने या किसी प्रकार नष्ट करनेवालेसे राजा उन्हें ठीक करावे तथा उस व्यक्तिको पांच सौ पणों (८।१३६) से दण्डित करे॥ २८५॥

शुद्ध पदार्थको दूषित करनेवालेको दण्ड—

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः॥ २८६॥

शुद्ध पदार्थमें अशुद्ध पदार्थ मिलाकर दूषित करनेवाले, नहीं छेदने योग्य माणिक्य आदिको छेदनेवाले, और छेदनेके योग्य मोती माणिक्य आदिको ठीक-ठीक योग्य स्थानपर नहीं छेदनेवाले व्यक्तिको राजा प्रथम साहस (ढाई सौ पण-८।१३८) से दण्डित करे तथा जिसके उपर्युक्त पदार्थ नष्ट या दूषित हो गये हों, उसे उन पदार्थोंका मूल्य देकर वह (पदार्थ-दूषक मनुष्य) प्रसन्न करे॥ २८६॥

विषम व्यवहार करनेपर दण्ड—

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा।
समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा॥ २८७॥

जो मनुष्य समान मूल्य देनेवाले किसीकी अच्छी या अधिक वस्तु दे तथा किसीको निकृष्ट या कम वस्तु दे अथवा समान मूल्यकी कोई वस्तुकी किसीको कम मूल्यमें दे और किसीको अधिक मूल्यमें दे तो वह मनुष्य (वस्तुके मूल्य आदिके अनुसार) प्रथम साहस (२५० पण) या मध्यम साहस (५०० पण—८।१३८) से दण्डित होता है॥ २८७॥

बन्धनगृहको राजमार्गपर बनवाना—

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत्।
दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः॥ २८८॥

राजा सब प्रकारके बन्धनगृह (जेल, हवालात आदि) को सड़कपर बनवावे। (हथकड़ी-बेड़ी पहननेसे) दूषित, दाढ़ी-मूंछ आदि बढ़नेसे विकृत तथा भूख आदिसे दुर्बल अपराधी बन्दियों (कैदियों) को लोग देखें ॥ २८८ ॥

प्राकार आदि तोड़नेवालोंको दण्ड—

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम्।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ २८६ ॥

प्राकार (नगर या मकानका परकोटा अर्थात् चहारदिवारी) को तोड़नेवाले, परिखा (खाई) को मिट्टी आदिसे भरनेवाले और द्वार (राजद्वार या नगरद्वार) को तोड़नेवाले मनुष्यको (राजा) शीघ्र ही देशसे बाहर निकाल दे ॥ २८६ ॥

अभिचार कर्म करनेवालेको दण्ड—

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः।
मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥ २६० ॥

सब प्रकारसे अभिचार (शास्त्रोक्त—हवनादि करके तथा लौकिक चरणकी धूलि लेकर या केशको भूमिमें गाड़कर इत्यादि रूप मारणोपाय) कर्म जिसके लिए किया गया हो वह मनुष्य नहीं मरे तो उक्त कर्म करनेवालेपर दो सौ पण (८।१३६) दण्ड होता है (तथा यदि वह मनुष्य मर गया हो तो उक्त कर्म करनेवालेको प्राणदण्ड होता है) और माता-पिता-स्त्री आदिको छोड़कर दूसरे झूठे लोगोंद्वारा मोहितकर धन आदि लेनेके लिए वशीकरण और उच्चाटन आदि कर्म करनेवाले पर दो सौ पण (८।१३६) दण्ड होता है ॥ २६० ॥

दूषित बीज आदि बेचनेपर दण्ड—

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च।
मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥ २६१ ॥

जो मनुष्य नहीं जमनेवाले बीजको जमनेवाला कहकर बेचे तथा अच्छे बीजमें दूषित बीज मिलाकर बेचे और (ग्राम-नगर आदिकी) सीमाको नष्ट करे; उसे राजा विकृत वध (हाथ, नाक, कान आदि अङ्गोंको काटने) से दण्डित करे ॥२९१॥

चोर सोनारको दण्ड—

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः।
प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥ २६२ ॥

सब कण्टकों (चोरी आदि पाप कर्म करनेसे राज्यमें कण्टकतुल्य लोगों) में अधिक पापी सोनार यदि अन्याय करने (किसी प्रकार सोना-चांदी आदि चुराने, या अच्छे धातुके साथ हीन धातु मिलाकर देने) वाला प्रमाणित हो जाय तो राजा उसके प्रत्येक शरीरको शस्त्रोंसे टुकड़े-टुकड़े कटवा डाले ॥ २९२ ॥

खेतीके साधन हल आदिको चुराने आदिपर दण्ड—

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २९३ ॥

खेतीके साधन हल-कुदाल आदि, तलवार आदि शस्त्र और दवाको चुराने पर चुरायी गयी वस्तुओंकी समयोपयोगिताका विचारकर तदनुसार दण्डविधान करे ॥

सात प्रकृतियां या सप्ताङ्ग राज्य—

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥

(१) स्वामी (राजा), (२) मन्त्री, (३) पुर (किला परकोटा खाई आदिसे सुरक्षित राजधानी), (४) राज्य, (५) कोष, (६) दण्ड (चतुरङ्गिनी अर्थात् हयदल, गजदल, रथदल, और पैदल सेना) तथा (७) मित्र; ये सात राजप्रकृतियां हैं, इनसे युक्त 'सप्ताङ्ग' (सात अङ्गोंवाला) राज्य कहलाता है ॥२९४॥

सात प्रकृतियोंमें पूर्व-पूर्वकी श्रेष्ठता—

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम्।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥

राज्यकी इन (९।२९४) सात प्रकृतियोंमें क्रमशः पूर्व-पूर्वकी आपत्तिको राजा अधिक समझे ॥ २९५ ॥

विमर्श—अतः राजाका कर्तव्य है कि आगे-आगेवाली प्रकृतिकी आपत्तिकी उपेक्षा करके उससे पहलेवाली प्रकृतिकी आपत्तिको दूर करनेमें प्रथम प्रयत्नशील होवे अर्थात् मित्र तथा सेना दोनोंको एक समयमें आपत्तिमें फंसने या हानिकी सम्भावना होनेपर पहले सेनाकी आपत्तिको दूर करे।

त्रिदण्डवत् सात प्रकृतियोंकी समानता—

सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥

त्रिदण्ड (टिकटी-तिपाई) के समान परस्परमें सम्बद्ध सप्ताङ्ग (९।२९४) राज्यमें उन अङ्गोंको परस्परमें विलक्षण उपकारक होनेसे कोई भी अङ्ग एक दूसरेसे बढ़कर नहीं है ॥ २९६ ॥

विमर्श—यद्यपि पूर्व श्लोक (९।२९५) में उत्तर अङ्गकी अपेक्षा पूर्व अङ्गको श्रेष्ठ कहा गया है, तथापि दूसरे अङ्गसम्बन्धी कार्यको दूसरा अङ्ग नहीं कर सकता, अतएव सब अङ्गोंकी समानता उसी प्रकार है, जिस प्रकार तीन काष्ठोंको परस्पर रस्सी या गौके वाल आदिसे बांधनेपर कोई काष्ठ छोटा-बड़ा नहीं होता, किन्तु परस्पर सम्बद्ध वे तीन ही काष्ठ समानरूपसे उपकारक होते हैं।

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥

(उन (९।२९४) सात प्रकृतियोंमें-से) उन उन कार्योंमें उन-उन प्रकृतियोंका विशिष्ट स्थान होता है, (अतएव) जो कार्य जिस प्रकृतिसे सिद्ध होता है उस कार्यमें वह प्रकृति श्रेष्ठ मानी जाती है (इस प्रकार कार्यकी अपेक्षासे समयानुसार सबकी श्रेष्ठता है) ॥ २९७ ॥

स्वपरशक्तिका ज्ञान—

चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम्।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥ २९८ ॥

राजा गुप्तचरोंसे, सेनाके उत्साहसम्बन्धसे और कार्यों (मार्ग-निर्माणादि) के करनेसे उत्पन्न अपनी तथा शत्रुकी शक्तिको सर्वदा मालूम करता रहे ॥ २९८ ॥

कार्यारम्भमें राज्यका कर्तव्य—

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च।
आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥

(राजा अपने तथा शत्रुके राज्यमें काम तथा क्रोधसे किये गये मारण-ताडन आदि) पीडन और व्यसनोंकी कमी-वेशीको मालूमकर और विचारकर इसके बाद कार्य (सन्धि-विग्रह आदि) को आरम्भ करे ॥ २९९ ॥

उद्योगशीलको श्रीप्राप्ति—

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

राजा शत्रुकृत कपट आदिसे वार-वार कार्य नाश होनेपर भी अपने राज्यको समुन्नत करनेवाले कार्योंको वार-वार करता ही रहे, क्योंकि वरावर कार्यारम्भ करनेवाले (उद्योगशील) मनुष्यको श्री (विजयलक्ष्मी) निश्चित ही सेवन करती है॥

राजाको युग कथन—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥ ३०१॥

सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग, ये चारो युग राजाके ही चेष्टा-विशेष (आचार, व्यवहार) से होते हैं, अतएव राजाही 'युग' कहलाता है (इस कारण युगके अनुसार कार्य फल देते हैं, ऐसा विचारकर राजाको कार्यारम्भसे उदासीन कभी नहीं होना चाहिये)॥ ३०१॥

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्॥ ३०२॥

सोते हुए (अज्ञान तथा आलस्यादिके कारण उद्यमहीन) राजाके होनेपर कलियुग, जागते हुए (जानते हुए भी उद्यम नहीं करनेवाले) राजाके होनेपर द्वापरयुग, कर्म (सन्धि-विग्रहादि राजकार्य) में लगे हुए राजाके होनेपर त्रेतायुग और शास्त्रानुसार विचरण करनेवाले राजा के होनेपर सत्ययुग होता है॥ ३०२॥

विमर्श—राजाको सर्वदा कर्तव्यमें लगे रहना चाहिये। यही इस श्लोकका मुख्य तात्पर्य है, युगोंके होनेमें तात्पर्य नहीं है।

इन्द्रादिके तेजके समान आचरण करना राजाका कर्तव्य—

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत्॥ ३०३॥

राजाको इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि और पृथिवीके तेजका आचरण करना चाहिये। (राज्यके कण्टकभूत चोर आदिको वशमें करनेके लिए प्रताप=दण्ड तथा स्नेह—दोनोंका ही समयानुसार कार्यमें प्रयोग करना चाहिये)॥

राजाको इन्द्रादिके तेजके समान आचरण करनेका प्रकार—

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाऽभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन्॥ ३०४॥

जिस प्रकार इन्द्र श्रावण आदि चार मासोंमें (अन्नादिकी वृद्धिके लिए) जल

बरसाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रके व्रतका आचरण करता हुआ राजा अपने राज्यमें आए हुए साधु-महात्माओंकी इच्छाको पूरा करे ॥ ३०४ ॥

अष्टौ मासान् यथाऽऽदित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ ३०५ ॥

जिस प्रकार सूर्य अगहन आदि आठ मासोंमें किरणोंके द्वारा जलको हरण करता (लेता = सुखाता) है, उसी प्रकार राजा राज्यसे करको लेवे यह राजाका 'सूर्य-व्रत' है ॥ ३०५ ॥

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

जिस प्रकार वायु सब प्राणियोंमें प्रवेशकर विचरण करती है, उसी प्रकार राजाको गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश करना चाहिये, यह राजाका 'वायुव्रत' है ॥३०६॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ ३०७ ॥

जिस प्रकार यमराज समय आनेपर प्रिय और अप्रिय सबको मारता है, उसी प्रकार राजा समय आने (अपराध करने) पर प्रिय-अप्रिय सब प्रजाओंको दण्डित करे, यह राजाका 'यमव्रत' है ॥ ३०७ ॥

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥

जिस प्रकार बन्धनके योग्य मनुष्य वरुणके पाशसे बंधा हुआ ही दीखता (अवश्य बांधा जाता) है, उसी प्रकार राजा पापियों (अपराधियोंको, जबतक वे सन्मार्गपर नहीं आ जांय तबतक) निग्रह करे, यह राजाका 'वरुणव्रत' है ॥३०८॥

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥

जिस प्रकार परिपूर्ण चन्द्रमाको देखकर मनुष्य हर्षित होते हैं, उसी प्रकार अमात्य आदि प्रकृति (९।२९४ तथा समस्त प्रजा) जिस राजाको देखकर हर्षित हों, वह राजा चान्द्रव्रतिक ('चन्द्रव्रत'वाला) है ॥ ३०९ ॥

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

राजा पापियों (अपराधियों) को दण्डित करनेमें सर्वदा प्रचण्ड तथा असह्य तेजवाला होवे तथा दुष्ट (प्रतिकूल व्यवहार करनेवाले) मन्त्री आदिका वध करनेवाला होवे, यह राजाका 'आग्नेयव्रत' है ॥ ३१० ॥

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥

जिस प्रकार पृथ्वी सब प्राणियोंको समान भावसे धारण करती है, उसी प्रकार सब प्रजाओंका समान भावसे पालन करते हुए राजाका वह 'पार्थिव (पृथिवी-सम्बन्धी) व्रत' है ॥ ३११ ॥

इन उपायोंसे चोरका निग्रह करना—

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।
स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥

राजा इन सब तथा अपनी बुद्धिसे प्रयुक्त दूसरे उपायोंसे युक्त एवं सर्वदा आलस्यहीन होकर अपने राज्यमें रहनेवाले तथा दूसरे राज्यमें रहते हुए अपने राज्यमें आकर चोरी करनेवाले चोरोंका निग्रह करे (उन्हें दण्डित कर रोके) ॥ ३१२ ॥

ब्राह्मणोंको क्रुद्ध करनेका निषेध—

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥

(कोषक्षयादि रूप) महाविपत्तिमें फसा हुआ भी राजा ब्राह्मणोंको क्रुद्ध न करे, क्योंकि क्रुद्ध वे ब्राह्मण सेना-वाहनके सहित इस राजाको (शाप तथा अभिचार मारण-मोहनादि कर्म से) तत्काल नष्ट कर देते हैं ॥ ३१३ ॥

ब्राह्मण-प्रशंसा—

यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।
क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥ ३१४ ॥

जिस ब्राह्मणोंने (शाप देकर अग्निको सर्वभक्षी, समुद्रको अपेय (नहीं पीने योग्य—खारे पानी वाला), और चन्द्रमाको क्षययुक्त कर पीछे पूरा किया, उन (ब्राह्मणों) को क्रुद्धकर कौन नष्ट नहीं हो जायेगा ? अर्थात् सभी नष्ट हो जायेंगे (अत एव ब्राह्मणोंको क्रुद्ध कदापि नहीं करना चाहिये) ॥ ३१४ ॥

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ।
देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात् ॥ ३१५ ॥

जो ब्राह्मण दूसरे स्वर्ग आदि दूसरे लोकों तथा लोकपालोंकी रचना कर सकते हैं तथा क्रोधित करनेपर शाप आदिसे देवोंको भी अदेव (मनुष्य आदि) कर सकते हैं; उन ब्राह्मणोंको पीडित करता हुआ कौन मनुष्य उन्नतिको पा सकता है ? ॥

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्ताञ्जिजीविषुः ॥ ३१६ ॥

यज्ञको करने करानेवाले जिन ब्राह्मणोंका आश्रयकर (पृथ्वी आदि) लोक तथा (इन्द्र आदि) देव स्थिति पाते हैं और ब्रह्म (वेद) ही जिनका धन है उन ब्राह्मणोंको जीनेका इच्छुक कौन व्यक्ति मारेगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ३१६ ॥

मूर्ख ब्राह्मणकी भी पूज्यतामें दृष्टान्त—

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाऽग्निर्दैवतं महत् ॥ ३१७ ॥

जिस प्रकार शास्त्र-विधिसे स्थापित अग्नि तथा सामान्य अग्नि—में दोनों ही श्रेष्ठ देवता हैं, उसी प्रकार मूर्ख तथा विद्वान् दोनों ही ब्राह्मण श्रेष्ठ देवता हैं (इस कारण मूर्ख ब्राह्मणका भी निरादर नहीं करना चाहिये) ॥ ३१७ ॥

श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

जिस प्रकार तेजस्वी अग्नि श्मशानोंमें भी (शवको जलाती हुई) दूषित नहीं होती, और यज्ञोंमें हवन करनेपर फिर अधिक बढ़ती ही है ॥ ३१८ ॥

ब्राह्मणमें क्षत्रियको शान्त होनेके दृष्टान्त—

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥

उसी प्रकार यद्यपि ब्राह्मण निन्दित कर्मोंमें भी प्रवृत्त होते हैं, तथापि सब प्रकारसे ब्राह्मण पूज्य हैं, क्योंकि वे उत्तम देवता हैं ॥ ३१९ ॥

तेजस्वी क्षत्रियद्वारा भी ब्राह्मणको पीडित करनेका निषेध—

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः।
ब्रह्मैव सन्नियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

अत्यन्त समृद्ध (तेजस्वी) भी क्षत्रिय यदि ब्राह्मणको पीडित करे तो उसका (शाप आदि के द्वारा) शासन करनेवाला ब्राह्मण ही है, क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मण (की वाहु) से उत्पन्न है ॥ ३२० ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३२१ ॥

पानीसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा (परम्परा द्वारा तलवार बाण आदि शस्त्र) उत्पन्न हुए हैं; सर्वतोगामी उनका तेज अपनी योनि (उत्पन्न करनेवाले) में शान्त (शक्ति हीन) हो जाता है ॥ ३२१ ॥

विमर्श—सबको जलानेमें समर्थ अग्निका तेज अपने उत्पादक पानीमें, सबको जीतने या पीडित करनेमें समर्थ क्षत्रियका तेज अपने उत्पादक ब्राह्मणमें और सबको काटनेमें समर्थ लोहे (से बने तलवार आदि) का तेज अपने उत्पादक पत्थरमें शान्त हो जाता है।

ब्राह्मण-क्षत्रियका परस्पर सहायकत्व—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥

ब्राह्मणके बिना क्षत्रिय तथा क्षत्रियके बिना ब्राह्मण समृद्धिको नहीं पा सकते, (किन्तु) मिले हुए ब्राह्मण तथा क्षत्रिय इस लोकमें तथा परलोकमें (धर्मार्थ-काम-मोक्ष रूप चतुर्विध पुरुषार्थको पानेसे) समृद्धिको पाते हैं ॥ ३२२ ॥

पुत्रको राज्य सौंपकर युद्धमें प्राणत्याग करना राजकर्तव्य—

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम्।
पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ३२३ ॥

सब दण्डों (जुर्माने) से प्राप्त धनको ब्राह्मणों के लिए देकर तथा राज्यको पुत्रके लिए सौंपकर (क्षत्रिय राजा) युद्धमें प्राणत्याग करे (और युद्धके असम्भव होनेपर अनशन आदिसे प्राण त्याग करे) ॥ ३२३ ॥

एवं चरन् सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

इस प्रकार (सप्तमसे नवम अध्याय तकमें वर्णित) राजधर्मोंमें तत्पर होकर व्यवहार करता हुआ राजा लोक-हितकर कार्योंमें समस्त भृत्योंको नियुक्त करे ॥

वैश्य-शूद्रके कर्मविधानका कथन—

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः।
इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) राजाके इस समस्त सनातन कर्म विधानको कहा, अब क्रमशः वैश्य तथा शूद्रके वक्ष्यमाण कर्मविधानको जानना चाहिये ॥ ३२५ ॥

वैश्यके धर्म—

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥ ३२६ ॥

वैश्य यज्ञोपवीत संस्कार होनेके बाद विवाहको करके खेती आदि करने तथा पशुपालनमें सर्वदा लगा रहे ॥ ३२६ ॥

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ ३२७ ॥

ब्रह्माने पशुओंकी सृष्टि करके पालन (करनेके लिए) वैश्योंको दिया तथा सब प्रजाओंकी सृष्टि करके (रक्षा करनेके लिये) ब्राह्मण तथा राजाको दिया ॥ ३२७ ॥

न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन ॥ ३२८ ॥

'मैं पशुपालन नहीं करूं' ऐसी इच्छा वैश्यको कदापि नहीं करनी चाहिये और वैश्यको पशुपालनकी इच्छा करते रहनेपर राजाको दूसरेसे पशु-पालन नहीं कराना चाहिये ॥ ३२८ ॥

मणि आदिके मूल्यका ज्ञान करना वैश्यका कर्तव्य—

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च ।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ३२९ ॥

मणि, मोती, मूंगा, लोहा, कपड़ा, गन्धक (कर्पूर आदि), और इस (नमक आदि) के मूल्यकी कमी वेशीको वैश्य देशकालानुसार मालुम करे ॥ ३२९ ॥

बीजादिका ज्ञान करना वैश्यका कर्तव्य—

बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ।
मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ ३३० ॥

सब बीजोंको बोनेकी विधि (कौन बीज किस समयमें कैसे खेतमें, कितने प्रमाणमें किस प्रकार बोया जाता है । इत्यादि विधि), खेतोंके गुण तथा दोष, तौल (मन, आधमन, पसेरी, सेर, छटाक आदि तथा तोला, मासा रत्ती आदि) तथा तौलनेके उपाय; इन सबको वैश्य अच्छी तरह मालूम करे ॥ ३३० ॥

वस्तुओंकी सारासारतादिका ज्ञान करना वैश्यका कर्तव्य—

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान्।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ३३१ ॥

वस्तुओंकी सारता (अच्छापन) तथा निःसारता (खराबी) देशोंके गुण तथा दोष, सौदों (बेचे जानेवाली वस्तुओं) के लाभ तथा हानि, पशुओंको बढ़ानेके उपाय (किस समयमें कैसा कार्य करनेसे पशुओंकी उन्नति होगी इत्यादि उपाय) ॥

भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम्।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ ३३२ ॥

नौकरों (या मजदूरों) का (देश, काल तथा परिश्रमके अनुसार) वेतन, मनुष्योंकी अनेक देशकी भाषा, वस्तुओंके योग्य स्थान तथा मिलावट (अमुक वस्तु अमुक स्थानमें रखनेपर तथा मिलानेपर बिगड़ेगी या सुरक्षित रहेगी, इत्यादि), क्रय-विक्रयका ज्ञान (अमुक वस्तुको अमुक स्थान तथा समयमें खरीदने तथा बेचनेसे लाभ होगा, इत्यादि) इन सब विषयोंको वैश्य अच्छी तरह मालूम करे ॥३३२॥

अन्न देना वैश्यका कर्तव्य—

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥

वैश्य इस प्रकार (९।३२६-३३२) धर्मसे (व्यापार, पशुपालन तथा खेतीके द्वारा) धन बढ़ानेका उद्योग करता रहे तथा सब प्राणियोंके लिए प्रयत्नपूर्वक अन्नका ही अधिक दान करता रहे ॥ ३३३ ॥

शूद्रका धर्म—

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥

वेदज्ञाता ब्राह्मणों तथा यशस्वी सद्गृहस्थोंकी सेवा करना ही शूद्रका कल्याणकारक उत्तम धर्म है ॥ ३३४ ॥

द्विजसेवादिसे शूद्रको उत्तमजातिलाभ—

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ३३५ ॥

शुद्ध (बाहरी शारीरिक शुद्धि तथा भीतरी मानसिक शुद्धिसे युक्त), अपनेसे

श्रेष्ठ जातिवालोंकी सेवा करनेवाला, मधुर भाषण करनेवाला, अहङ्कारसे रहित और सदा ब्राह्मणादिके आश्रयमें रहनेवाला शूद्र श्रेष्ठ जातिको प्राप्त करता है ॥ ३३५ ॥

एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः ।
आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ३३६ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) आपत्तिकाल नहीं रहनेपर वर्णों (ब्राह्मणादि चारो वर्णों) के कल्याणकारक कर्मको कहा, उन (ब्राह्मणादि वर्णों) के आपत्तिकालमें भी जो धर्म है, उसे (आपलोग कहते हुए मुझसे) मालूम कीजिये ॥ ३३६ ॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् स्त्र्यादिधर्मविनिर्णयः
'पूर्णचन्द्र'कृपादृष्ट्या नवमे पूर्णतामगात् ॥ ६ ॥

इति मणिप्रभाटीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः ।

केवल ब्राह्मणको अध्यापनाधिकार—

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥

अपने-अपने कर्ममें तत्पर तीनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) वर्णवाले द्विज (वेदको) पढ़ें तथा ब्राह्मण उन तीनों वर्णोंको पढ़ावे, दूसरे दोनों (क्षत्रिय तथा वैश्य) वर्ण नहीं पढ़ावें, ऐसा शास्त्रीय निर्णय है ॥ १ ॥

विमर्श—पूर्व प्रतिज्ञा ('सङ्कीर्णानाञ्च सम्भवम्' १।११६) के अनुसार प्रसङ्ग प्राप्त वर्णसङ्करोत्पत्ति कथनमें वर्णोंसे ही वर्णसङ्करकी उत्पत्ति होनेसे वर्णानुवादार्थं वर्णत्रयके धर्ममें ब्राह्मणमात्रका अध्यापन कार्य इस वचनसे प्रतिपादित किया गया है । इस वचनके तृतीयपाद ('प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषाम्) कथनसे ही यद्यपि क्षत्रिय तथा वैश्यके अध्यापन कार्यका निषेध हो जाता है, तथापि 'नेतरौ' अन्य दो वर्ण—क्षत्रिय तथा वैश्यको अध्यापन कार्यका पुनर्निषेध प्रायश्चित्त-गौरवार्थं समझना चाहिये ।

सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान् यथाविधि ।
प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥

ब्राह्मण सबों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों) की जीविका केउपायको स्वयं मालूम करे, उसका उन्हें उपदेश दे तथा स्वयं भी वैसा ही (शास्त्रोक्त नियमानुसार आचरण कनेवाला) होवे ॥ २ ॥

ब्राह्मणको सब वर्णोंका स्वामित्व—

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात्।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥

जातिकी विशिष्टतासे, उत्पत्ति स्थान (ब्रह्माके मुख) की श्रेष्ठतासे, (अध्ययन, अध्यापन एवं व्याख्यान आदिके द्वारा नियम (श्रुति-स्मृति विहित आचरण) के धारण करनेसे और यज्ञोपवीत संस्कार आदिकी श्रेष्ठतासे सब वर्णोंमें ब्राह्मण ही वर्णोंका स्वामी है ॥ ३ ॥

द्विजवर्ण कथन—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये तीन वर्ण 'द्विजाति' (या 'द्विज') हैं, और चौथा एक वर्ण शूद्र है; पांचवा (वर्ण कोई भी) नहीं है ॥ ४ ॥

सजातीय कथन—

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ ५ ॥

(इन पूर्वोक्त) सब वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) अथवा योनिसमान जातिवाली स्त्रियोंमें क्रमशः उत्पन्न सन्तान 'सजातीय' कहलाते हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—ब्राह्मण वर्णवाले पितासे ब्राह्मण वर्णवाली मातामें उत्पन्न सन्तान 'सजातीय' होगा, भिन्न वर्णवाली मातामें उत्पन्न सन्तान 'सजातीय' नहीं होगा।

पिताकी जातिके समान जाति होना—

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान्।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

द्विजाति (१०।४) के द्वारा बादवाले वर्णकी स्त्रियोंमें (ब्राह्मणसे क्षत्रियामें, क्षत्रियसे वैश्यामें तथा वैश्यसे शूद्रामें) उत्पन्न किये हुए माताके (हीन वर्णवाली होनेसे) दोषसे निन्दित पुत्रोंको पिताके समान जातिवाला कहा गया है ॥ ६ ॥

विमर्श—'पिताकी समान जातिवाला'का तात्पर्य पिताकी जातिसे कुछ हीन तथा माताकी जातिसे कुछ श्रेष्ठ जातिवाला समझना चाहिये। इनमें ब्राह्मण पितासे क्षत्रिया मातामें उत्पन्न पुत्र 'मूर्द्धाभिषिक्त' क्षत्रिय पितासे वैश्या मातामें उत्पन्न पुत्र 'माहिष्य' और वैश्य पितासे शूद्रा मातामें उत्पन्न पुत्र 'करण' संज्ञक होता है ऐसा महर्षि याज्ञवल्क्यने[1] कहा है; उनमें-से हाथी-घोड़ेको सिखाना तथा शस्त्र धारण करना 'मूर्द्धाभिषिक्त'के, नाचना-गाना आदि 'माहिष्य'के और द्विजसेवा धन-धान्यकी अध्यक्षता, राजसेवा, दुर्ग तथा अन्तःपुरकी रक्षा करना 'पारशव-उग्र-करण' के काम उशनाने[2] कहे हैं।

अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः।
द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि) अनन्तर वर्णवाली स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्रोंका यह सनातन विधान है। एक या दो वर्णोंके अनन्तरवालीस्त्रीमें (क्रमशः एक वर्णकी अनन्तरवाली जैसे ब्राह्मणसे वैश्यामें, क्षत्रियसे शूद्रामें; दो वर्णोंकी अनन्तर-वाली जैसे—ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न पुत्रका विधान यह (आगे कहा हुआ) समझना चाहिये ॥ ७ ॥

अनुलोमज वर्णसङ्करोंका कथन—

ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

ब्राह्मणसे (विवाहिता) वैश्यामें उत्पन्न 'अम्बष्ठ' नामक, शूद्रामें उत्पन्न 'निषाद' नामान्तरसे 'पाराशव' नामक पुत्र होता है ॥ ८ ॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान्।
क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥ ९ ॥

क्षत्रियसे (विवाहित) शूद्र वर्णवाली स्त्रीमें उत्पन्न पुत्र क्रूरकर्मा तथा क्रूर चेष्टावाला एवं क्षत्रिय-शूद्रके स्वभाववाला 'उग्र' नामक पुत्र होता है ॥ ९ ॥

---

१. तद्यथा—'विप्रान्मूर्द्धाभिषिक्तो हि…………
वैश्याशूद्र्योस्तु राजन्यान्माहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ ॥
वैश्यात्तु करणः शूद्र्याम्……॥' इति। (याज्ञ० स्मृ० १।९१-९२)

२. 'वृत्तयश्चैषामुशनसोक्ताः—'हस्त्यश्वरथशिक्षा अस्त्रधारणं नृत्यगीतनक्षत्र-जीवनं सस्यरक्षा च माहिष्याणाम्, द्विजातिशुश्रूषा धनधान्याध्यक्षता राजसेवा दुर्गान्तःपुररक्षा च पाराशवोग्रकरणानाम्' इति'। (म० मु०)।

उक्त षड्विध पुत्रोंका हीनत्वकथन—

विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः।
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः॥ १०॥

ब्राह्मणसे तीन (क्षत्रिया, वैश्य तथा शूद्र) वर्णवाली स्त्रियोंमें; क्षत्रियसे दो (वैश्य तथा शूद्र) वर्णवाली स्त्रियोंमें और वैश्यसे एक (शूद्र) वर्णवाली स्त्रीमें उत्पन्न-ये ६ प्रकारके पुत्र निकृष्ट कहे गये हैं॥ १०॥

प्रतिलोमज वर्णसङ्करोंका कथन—

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ॥ ११॥

क्षत्रियसे ब्राह्मण वर्णकी कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'सूत' वैश्यसे क्षत्रिय वर्णकी कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'मागध' और ब्राह्मण वर्णकी कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'वैदेह' संज्ञक होता है॥ ११॥

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम्।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः॥ १२॥

शूद्रसे वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मणकी कन्यामें उत्पन्न पुत्र क्रमशः 'आयोगव, क्षत्ता' और मनुष्योंमें नीचतम 'चण्डाल' संज्ञक होता है॥ १२॥

क्षत्ता तथा वैदेहककी स्पर्शयोग्यता—

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ।
क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि॥ १३॥

अनुलोम क्रमसे (उच्च वर्णवाले पुरुषसे नीच वर्णवाली स्त्रीमें) एक वर्णके अन्तरवाली स्त्रीमें उत्पन्न 'अम्बष्ठ' (१०।८) तथा 'उग्र' (१०।९) संज्ञक पुत्र जिस प्रकार स्पर्शादिके योग्य हैं, उसी प्रकार प्रतिलोम क्रमसे (नीच वर्णवाले पुरुषसे उच्च वर्णवाली स्त्रीमें एक वर्णके अन्तरवाली स्त्रीमें) उत्पन्न 'क्षत्ता' (१०।९) तथा 'वैदेह' (१०।११) संज्ञक पुत्र भी स्पर्शादिके योग्य हैं॥ १३॥

विमर्श—एक वर्णके अन्तरवाली स्त्रियोंमें अनुलोमज प्रतिलोमज क्रमसे उत्पन्न 'अम्बष्ठ, उग्र, क्षत्ता और वैदेह' (१०।८–११) संज्ञक पुत्रोंको स्पृश्य कहनेसे अनन्तर वर्णवाली स्त्रियोंमें प्रतिलोमज क्रमसे उत्पन्न 'सूत, मागध और आयोगव' (१०।११–१२) संज्ञक पुत्र स्वतः स्पर्शके योग्य सिद्ध होते हैं, अतएव प्रतिलोमज क्रमसे उत्पन्न एकमात्र 'चण्डाल' (१०।१२) संज्ञक पुत्र ही स्पर्शके अयोग्य कहा गया है।

अनन्तरादि वर्णकी स्त्रीमें उत्पन्न पुत्रका मातृजातीय संस्कार—

पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम् ।
ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

द्विजों (१०।४) से अनन्तर (ब्राह्मणसे क्षत्रियामें, क्षत्रियसे वैश्यामें तथा वैश्यसे शूद्रामें), एकान्तर (ब्राह्मणसे वैश्यामें तथा क्षत्रियसे शूद्रामें) और द्व्यन्तर (ब्राह्मणसे शूद्रामें) वर्णवाली स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्र जो कहे गये हैं; मातृ-दोष (माताकी नीच वर्णता) से उत्पन्न उनके संस्कार आदि माताकी जातीके अनुसार ही मन्वादि महर्षियोंने बतलाया है ॥ १४ ॥

अन्यान्य वर्णसङ्कर जातियोंका कथन—

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते ।
आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणसे 'उग्र' (१०।९) 'अम्बष्ठ' (१०।८) तथा 'आयोगव' (१०।१२) की कन्याओंमें उत्पन्न पुत्र क्रमशः 'आवृत, आभीर और धिग्वण' संज्ञक होते हैं ॥

हीन वर्णसङ्कर—

आयोगवश्च क्षत्ता च चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।
प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥ १६ ॥

शूद्रसे प्रतिलोमक्रमसे (नीच वर्णके पुरुषसे उच्च वर्णकी कन्यामें) उत्पन्न 'आयोगव, क्षत्ता तथा चण्डाल' संज्ञक पुत्र शूद्रकी अपेक्षाहीन तथा मनुष्योंमें अधम होते हैं ॥ १६ ॥

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूत एव तु ।
प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ १७ ॥

प्रतिलोम क्रमसे वैश्यसे (क्रमशः क्षत्रिय तथा ब्राह्मणकी कन्याओंमें) उत्पन्न 'मागध तथा वैदेह' और क्षत्रियसे (ब्राह्मणकी कन्यामें) उत्पन्न 'सूत' (१०।११) संज्ञक ये तीनों पुत्र भी (पुत्रकार्यकी अपेक्षा) नीच माने गये हैं ॥ १७ ॥

जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः ।
शूद्राज्जातो निषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ १८ ॥

'निषाद' (१०।८) से शूद्र वर्णकी कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'पुक्कस' और शूद्रसे 'विषाद' की कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'कुकुट' संज्ञक कहा गया है ॥ १८ ॥

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते।
वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते॥ १९॥

क्षता (१०।१२) से 'उग्र' (१०।२१) की कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'श्वपाक' संज्ञक कहा जाता है और 'वैदेह' (१०।११) से 'अम्बष्ठ' (१०।१२) की कन्यामें उत्पन्न पुत्र 'वेण' संज्ञक कहा गया है॥ १९॥

'व्रात्य' संज्ञक पुत्र—

द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान्।
तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान्व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥ २०॥

द्विज (१०।४) द्वारा अपने समान वर्णवाली स्त्रियोंमें उत्पादित यज्ञोपवीत संस्कारके अयोग्य एवं सावित्रीसे भ्रष्ट पुत्रोंको 'व्रात्य' कहा जाता है॥ २०॥

व्रात्य ब्राह्मणसे उत्पन्न सङ्कीर्ण जाति—

व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः।
आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च॥ २१॥

'व्रात्य' (१०।२०) संज्ञक ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें 'भूर्जकण्टक' संज्ञक पापी पुत्र उत्पन्न होता है। देशभेदसे इसीके 'आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध और शैख' संज्ञाएं भी हैं॥ २१॥

'व्रात्य' क्षत्रियसे उत्पन्न सङ्कीर्ण जाति—

झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छिविरेव च।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च॥ २२॥

'व्रात्य' (१०।२०) संज्ञक क्षत्रियसे क्षत्रियामें उत्पन्न 'झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस और द्रविड' संज्ञक पुत्र उत्पन्न होते हैं। (ये सब संज्ञाएं भी देशभेदसे एक ही पुत्रकी हैं)॥ २२॥

'व्रात्य' वैश्यसे उत्पन्न सङ्कीर्ण जाति—

वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च॥ २३॥

'व्रात्य' (१०।२०) संज्ञक वैश्यसे वैश्यामें उत्पन्न पुत्र 'सुधन्वाचार्य (सुधन्वा तथा आचार्य), कारुष, विजन्मा, मैत्र और सात्वत' संज्ञक होते हैं। (ये सब संज्ञाएं भी देशभेदसे एक ही पुत्रकी हैं)॥ २३॥

वर्णसङ्कर सन्तानके उत्पन्न होनेमें कारण—

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ २४ ॥

ब्राह्मणादि वर्णोंके (परस्पर-परस्त्रीके साथ) व्यभिचारसे, एक गोत्रमें विवाह करनेसे और यज्ञोपवीत संस्कार आदि अपने कर्मोंको छोड़नेसे 'वर्णसङ्कर' सन्तानें उत्पन्न होती हैं ॥ २४ ॥

सङ्कीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः ।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) जो प्रतिलोम (नीचवर्ण पुरुषसे उच्चवर्णा स्त्रीमें) और अनुलोम (उच्चवर्ण पुरुष तथा नीचवर्णा स्त्रीमें) क्रमसे उत्पन्न होनेवाली परस्परमिश्रित जो 'सङ्कीर्ण' योनियां अर्थात् 'वर्णसङ्कर' जातियां हैं; उन्हें (मैं) विशेष रूपसे कहूंगा ॥ २५ ॥

सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः ।
मागधः क्षत्रजातिश्च तथाऽयोगव एव च ॥ २६ ॥

सूत, वैदेह, नराधम चण्डाल, मागध, क्षत्ता और आयोगव—॥ २६ ॥

एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु ।
मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥

ये ६ प्रतिलोमज (नीच पुरुषसे उच्चवर्णा स्त्रियोंमे उत्पन्न) पुरुष अपनी-अपनी जातिवाले, अपनी-अपनी माताओंकी जाति, अपनेसे श्रेष्ठ क्षत्रियादि जाति तथा नीच शूद्रादि जातिवाली स्त्रियोंमें अपने ही समान जातिवाले हीन वर्णोंको उत्पन्न करते हैं ॥ २७ ॥

यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मास्य जायते ।
आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात् ॥ २८ ॥

जिस प्रकार तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) में से दो वर्णों (क्षत्रिय तथा वैश्या) में इस (ब्राह्मण) की आत्मा (द्विज) सन्तान उत्पन्न होती है और अपनी सवर्णा (ब्राह्मणी) में द्विज सन्तान उत्पन्न होती है; उसी प्रकार बाह्य वर्णों (वैश्य तथा क्षत्रियसे क्षत्रिया तथा ब्राह्मणीमें भी) क्रमसे द्विज सन्तान होती है ॥

विमर्श—इस श्लोकका विशद अभिप्राय यह है कि—ब्राह्मण, क्षत्रिया, वश्या तथा शूद्रा—इन तीन वर्णोंमें-से प्रथम दो वर्णों (क्षत्रिया तथा वैश्या) में द्विज सन्तान उत्पन्न करता है और अपनी सवर्णा स्त्री (ब्राह्मणी) में तो द्विज सन्तान उत्पन्न करता ही है, उसी प्रकार वैश्य क्षत्रियामें और क्षत्रिय ब्राह्मणीमें प्रतिलोमज क्रमसे द्विज सन्तान उत्पन्न करता है, अर्थात् ये सन्तान 'द्विज' कहलाते हैं। मेधातिथिका मत है कि—'जिस प्रकार' ब्राह्मण, तीन वर्णकी स्त्री (ब्राह्मणी, क्षत्रिया तथा वैश्या) में द्विज सन्तान उत्पन्न करता है उसी प्रकार वैश्य क्षत्रियामें और क्षत्रिय ब्राह्मणीमें द्विज सन्तान उत्पन्न करता है और ये सभी सन्तान 'द्विज' होनेसे उपनयन संस्कारके योग्य हैं, यही बात 'एते षड् द्विजधर्माणः' वचनसे कहेंगे भी, हां, उनमें इतनी विशेषता है कि अनुलोमभाव भ्रातृजातिसे है।' किन्तु 'प्रतिलोमजास्तु धर्महीना' इस गौतम मुनिके वचनसे ऐसे द्विजोंके संस्कारका निषेध ही किया गया है।

ते चाऽपि बाह्यान्सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान्।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ २९ ॥

वे आयोगव (१०।१२) आदि ६ वर्णसङ्कर जातिवाले पुरुष परस्पर जातिवाली स्त्रियोंमें बहुत, अनुलोमज सन्तानसे भी अधिक दूषित तथा (सत्कार्यों में) निन्दित सन्तानोंको उत्पन्न करते हैं ॥ २९ ॥

विमर्श—उदाहरण—यथा—'आयोगव' (१०।१२) जातीय पुरुष 'क्षत्ता' (१०।१२) जातिवाली स्त्रीमें, एवं 'क्षत्ता' जातिवाला पुरुष भी 'आयोगव' जातिवाली स्त्रीमें अपनेसे अधिक हीन सन्तानको उत्पन्न करता है। इसी प्रकार शेष वर्णसङ्कर जातिवालोंके विषयमें भी जानना चाहिये।

यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते।
तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

जिस प्रकार शूद्र पुरुष ब्राह्मणीमें सर्वथा त्याज्य 'चण्डाल' (१०।१२) जातिवाली सन्तानको उत्पन्न करता है, उसी प्रकार 'चण्डाल' भी ब्राह्मणी आदि चारों वर्णवाली स्त्रियोंमें अपनेसे भी अधिक हीन सन्तानको उत्पन्न करता है ॥ ३० ॥

प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्या बाह्यतरान्पुनः।
हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥ ३१ ॥

(द्विज प्रतिलोमजोंकी अपेक्षा हीन होनेसे) बाह्य प्रतिलोमज अर्थात् आयोगव, क्षत्ता तथा चण्डाल (१०।१२)—ये तीनों (चारो वर्णवाली स्त्रियों (ब्राह्मणी,

क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा) में और एक आयोगवीमें) कुल मिलाकर १५ प्रकारकी अपनेसे बाह्य (सर्वकर्मबहिर्भूत) तथा हीन सन्तानोंको उत्पन्न करते हैं ॥ ३१ ॥

विमर्श—आयोगव, क्षत्ता तथा चण्डाल—ये तीनो ही प्रतिलोमज सन्तान सब श्रौत-स्मार्त क्रियासे बहिर्भूत तथा सब वर्णोंमें हीन हैं। ये इनमेंसे प्रत्येक चारो वर्णकी स्त्रियोंमें तथा अपनी जातिवाली स्त्रीमें अपनेसे भी बाह्य तथा हीन पांच-पांच प्रकारकी सन्तानोंको उत्पन्न करते हैं। यथा—आयोगव (वैश्यामें शूद्रसे उत्पन्न पुरुष) ब्राह्मणी आदि चारो वर्णोंमें चार प्रकारकी तथा आयोगवीमें एक कुल पांच प्रकारकी सन्तानको उत्पन्न करती हैं, जो सर्वकर्मबाह्य तथा उस उत्पादक पुरुषसे हीन होती है। इसी प्रकार क्षत्ता तथा चण्डाल भी ५-५ प्रकारकी सन्तानोंको उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार प्रतिलोम बाह्य तीनो वर्ण १५ प्रकारकी सन्तानें उत्पन्न करते हैं तथा वैश्य और क्षत्रियसे क्षत्रिया तथा ब्राह्मणीमें प्रतिलोमज क्रमसे उत्पन्न 'मगध, वैदेह और सूत' (१०।११) जातीय पुरुष भी चार वर्णोंकी स्त्रियोंमें तथा स्वकीय स्त्रीमें उपर्युक्त क्रमानुसार ही प्रत्येक बाह्य तथा अपनेसे हीन पांच पांच प्रकारकी सन्तानोंको उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ३० प्रकारकी संन्तानें होती हैं।(विस्तृत विवेचन पं० गोपालशास्त्री नेने संपादित मन्वर्थमुक्तावली की टिप्पणी पृ० ३३७ में देखिये।)

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ।
सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

'दस्यु' (१०।४५) जातिवाला पुरुष 'आयोगव' (१०।१२) जातिवाली स्त्रीमें केश सँवारनेमें चतुर, (जूठा नहीं खानेसे) दास-भिन्न, (पाद-संवाहन-पैर दबाना—आदि सेवा कार्य करने से) दासकी जीविका वाला तथा (देवकार्य = यज्ञ और पितृकार्य = श्राद्धके लिए) मृगवधादि कार्यसे जीविका चलानेवाला 'सैरिन्ध्र' जातिका पुत्र उत्पन्न करता है ॥ ३२ ॥

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते ।
नॄन्प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये ॥ ३३ ॥

'वैदेह' (१०।११) जातिवाला पुरुष 'आयोगव' (१०।१२) जातिवाली स्त्रीमें 'मैत्रेयक' संज्ञक जातिवाले माधुरभाषी पुत्रको उत्पन्न करता है, जो प्रातःकाल घण्टा बजाकर राजा आदि बड़े लोगोंकी स्तुति करता हुआ जीविका करता है ॥३३॥

निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम् ।
कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥

'निषाद' (१०।८) जातिवाला पुरुष ('आयोगव' (१०।१२) जातिवाली स्त्रीमें) नावसे जीविका करनेवाले) 'मार्गव' या 'दास' संज्ञक पुत्रको उत्पन्न करता है, जिसे आर्यावर्तके निवासी लोग 'कैवर्त' (केवट-मल्लाह) कहते हैं ॥३४॥

मृतवस्त्रभृत्सु नारीषु गर्हितान्नाशनासु च ।
भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥ ३५ ॥

कफन (मृतकका वस्त्र) पहननेवाली, क्रूर और (जूठा आदि) निन्दित अन्न खानेवाली 'आयोगव' (२।१२) जातिवाली स्त्रियोंमें हीन जातीय ये तीनों (सैरिन्ध्र, मैत्रेयक और मार्गव) पृथक् पृथक् उत्पन्न होते हैं ॥ ३५ ॥

कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते ।
वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ३६

'निषाद' (१०।८) जातिवाला पुरुष ('वैदेह' (१०।१७) जातीवाली स्त्रीमें) 'कारावर' संज्ञक चर्मकार (चमार) जातिवाले पुत्रको उत्पन्न करता है और 'वैदेहक' (१०।१७) जातिवाला पुरुष ('निषाद' (१०।८) तथा 'कारावर' (१०।३६) जातिवाली स्त्रियोंमें क्रमशः) 'अन्ध्र' और 'मेद' संज्ञक जातिवाले पुत्रोंको उत्पन्न करता है, ये दोनों ग्रामके बाहर निवास करते हैं ॥ ३६ ॥

चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ।
आहिण्डिका निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥

'वैदेह' (१०।१७) जातिवाली स्त्रीमें 'चण्डाल' (१०।१२) जातिवाला पुरुष बांसके व्यवहारसे जीविका करनेवाले 'पाण्डुसोपाक' संज्ञक जातिवाले पुत्रको तथा 'निषाद' (१०।८) जातिवाला पुरुष 'आहिण्डक' संज्ञक जातिवाले पुत्रको उत्पन्न करता है ॥ ३८ ॥

विमर्श—इस 'आहिण्डक' की जीविका बन्धन-स्थान (जेल, हवालात आदि) की रक्षा करना होती है ऐसा उशना[1]का कथन है। कारावर (१०।३६) तथा इस 'आहिण्डक' के माता-पिताओंके समान होनेपर भी वृत्तिभेदसे व्यपदेश (जाति-भेद) समझना चाहिये।

---

१. 'अस्य च बन्धनस्थानेषु बाह्यसंरक्षणादाहिण्डिकानाम्' इत्यौशनसे वृत्तिरुक्ता। समानमातापितृकत्वेऽपि कारावराहिण्डकयोर्वृत्तिभेदश्रवणद्व्यपदेशभेदः।' इति (म० मु०)

चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान् ।
पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ३८ ॥
निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् ।
श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९ ॥

'चण्डाल' (१०।१२) जातिवाले पुरुषसे 'पुक्कस' (१०।१८) जातिवाली स्त्रीमें 'सोपाक' संज्ञक पुत्र उत्पन्न होता है, सज्जनोंसे निन्दित यह पापी 'जल्लाद' (अपराधियोंको राजाज्ञासे फांसी देनेवाले) का काम कर के जीविका करता है ॥ ३९ ॥

संकरे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः ।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ ४० ॥

'वर्णसङ्कर' के विषयमें इन जातियोंको 'इसकी यह माता है और यह पिता है तथा इसकी अमुक जाति है। यह माता-पिताके कहनेसे दिखाया गया है और छिपकर या प्रकट रूपसे उत्पन्न इनको इनके कर्मों (जीविकाओं) से जानना चाहिये ॥

यज्ञोपवीत संस्कारके योग्य पुत्र—

सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः ।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥

द्विजों (१०।४) से (विधिवत् विवाहित एवं) सजातीया (अपने समान जातिवाली) तथा अनन्तर (अपने बादकी जातिवाली) स्त्रियोंमें उत्पन्न ६ पुत्र (ब्राह्मणसे, ब्राह्मणीमें, क्षत्रियसे क्षत्रियामें और वैश्यसे वैश्यामें उत्पन्न तीन पुत्र, तथा ब्राह्मणसे क्षत्रिया तथा वैश्यामें, क्षत्रियसे वैश्यामें तीन-इस प्रकार ३+२+१= ६ पुत्र) द्विजधर्मा (द्विजके धर्मवाले यज्ञोपवीत संस्कारके योग्य) हैं तथा प्रतिलोमज (उच्चवर्णवाली स्त्रियोंमें नीच वर्णवाले पुरुषसे उत्पन्न 'सूत, मागध, वैदेह' (१०।११) आदि जातिवाले) जो पुत्र हैं; वे शूद्रोंके समान धर्मवाले (यज्ञोपवीत संस्कारके अयोग्य) कहे गये हैं ॥ ४१ ॥

तप तथा वीर्यके प्रभावसे जातिश्रेष्ठता—

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥

वे (१०।४१ में वर्णित सजातीय वर्णोंसे उत्पन्न तीन तथा अनन्तर जातीय वर्णोंसे अनुलोम क्रमसे उत्पन्न तीन—कुल ६ प्रकारके) पुत्र तपस्या तथा वीर्यके

प्रभावोंसे (तपस्याके प्रभावसे विश्वामित्रके समान तथा वीर्यके प्रभावसे ऋष्यशृङ्गके समान) मनुष्योंमें श्रेष्ठ तथा नीच जातिको प्राप्त करते हैं ॥ ४२ ॥

क्रियालोपसे जातिहीनता—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥

इन क्षत्रिय जातियोंने धीरे धीरे क्रिया (यज्ञोपवीत संस्कार तथा सन्ध्यावन्दनादि क्रिया) के लोप होने (छूट जाने) तथा ब्राह्मणोंके दर्शन (के विना यज्ञ, अध्ययन तथा प्रायश्चित्तादि) के अभाव होनेसे लोकमें शूद्रत्वको प्राप्त कर लिया है ॥ ४३ ॥

क्रियालोपसे शूद्रत्वप्राप्त जातियां—

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥

पौण्ड्रक, चौड, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, और शक (—ये भूतपूर्व क्षत्रिय जातियां क्रियालोपादिके कारण शूद्रत्वको प्राप्त हो गयी हैं) ॥ ४४ ॥

दस्यु जातियां—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंके (क्रियालोपादि होनेसे) म्लेच्छ भाषाभाषी या आर्य भाषाभाषी जो बाह्य जातियां हैं, वे सभी 'दस्यु' कहलाती हैं ॥ ४५ ॥

ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्मृताः।
ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥ ४६ ॥

द्विजोंमें (पिताके उच्चवर्ण होनेसे) जो 'अपसद' (१०।१०) अनुलोमज तथा (पिताके नीचवर्ण होनेसे) जो 'अपध्वंसज' प्रतिलोमज पुत्र हैं; उन सभीको द्विजोंके ही (उपकारक) निन्दित (वक्ष्यमाण—१०।४७-५६) कर्म अपनी वृत्तिके लिये करने चाहिये ॥ ४६ ॥

वर्णसङ्करोंके कर्म—

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम्।
वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥ ४७ ॥

'सूतो' (१०।११) का कोचवानी (रथ आदि हांकना) 'अम्बष्ठों' (१०।८) का चिकित्सा, 'वैदेहक' (१०।११) का अन्तःपुर रक्षा, 'मागधों (१०।११) का स्थल मार्गसे व्यापार करना (कर्म है) ॥ ४७ ॥

मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च ।
मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥ ४८ ॥

'निषादों' (१०।८) का मत्स्यकार्य (मछली मारना आदि), 'आयोगव' (१०।१२) का बढ़ईगिरी, 'मेद तथा आन्ध्र' (१०।३६) एवं 'चुञ्चु तथा मद्गु' जातिवालोंका जङ्गली पशुओंको मारना—(कर्म हैं) ॥ ४८ ॥

विमर्श—ब्राह्मणसे 'वैदहक' (१०।१०) की स्त्रीमें उत्पन्न पुत्र 'चुञ्चु' तथा 'वन्दी' (क्षत्रियसे शूद्रामें उत्पन्न) स्त्रीमें उत्पादनपुत्र 'मद्गु' कहलाता है, ऐसा बौधायनोक्त[1] मतको यहां ग्रहण करना चाहिये ।

क्षत्त्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम् ।
धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥ ४९ ॥

'क्षत्ता (१०।१२), उग्र (१०।९) और पुक्कसों' (१०।१८) का बिलमें रहनेवाले (गोह, खरगोश आदि) जीवोंको मारना या फसाना, 'धिग्वणों' (१०।१५) का चर्मकार्य, और 'वेणों' (१०।१६) का कांसे मुरज आदि बाजाओंको बजाना ये कर्म हैं ॥ ४७ ॥

इन वर्णसङ्करोंका निवास-स्थान—

चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च ।
वसेयुरेते विज्ञाना वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

इन वर्णसङ्कर जातियोंको चैत्यद्रुम (ग्रामके पासका प्रसिद्ध वृक्ष), श्मशान, पहाड़, और उपवनोंमें अपनी-अपनी जीविका (१०।४७-४९) के कर्म करते हुए निवास करना चाहिये ॥ ५० ॥

चण्डाल तथा श्वपाकके कर्मादि—

चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः ।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ ५१ ॥

---

१. 'चञ्चुर्मद्गुश्च' वैदेहक वन्दिस्त्रियोर्ब्राह्मणेन जातौ बौधायनोक्तौ बोद्धव्यौ । वन्दिस्त्री च क्षत्रियेण शूद्रायां जाता सोग्रैव ग्राह्या ।' इति । (म० मु०)

'चण्डाल' (१०।१२) तथा 'श्वपच' (१०।१९) गांवके बाहर निवास करें अपपात्र हों, उनका धन कुत्ते तथा गधे हों (बैल गाय घोड़ा आदि नहीं) ॥ ५१ ॥

वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्।
कार्ष्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ ५२ ॥

कफन इनका वस्त्र हो, फूटे बर्तनोंमें ये भोजन करें, इनके भूषण लोहेके बने हों और ये सर्वदा भ्रमण करते रहें (एक स्थानपर बहुत दिनोंतक निवास नहीं करें)॥

चण्डाल तथा श्वपचोंके साथ भाषणादिका निषेध—

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन्।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥ ५३ ॥

धर्माचरण करनेवाला मनुष्य इन (चण्डाल तथा श्वपाकको—१०।१२,१९) के साथ बातचित न करें, उन्हें मत देखें और उनका व्यवहार (लेन-देन तथा विवाह आदि) अपनी जातिवालोंके साथ ही होवे ॥ ५३ ॥

अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने।
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥

इन (चण्डाल तथा श्वपाककों—१०।१२,१९) का भोजन पराधीन (दूसरेके भरोसे) होवे, (नौकरोंके द्वारा) टूटे-फूटे बर्तनोंमें इनके लिए अन्न दिलवा दें, रातके समय गावों या नगरोंमें ये नहीं घूमें ॥ ५४ ॥

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः।
अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥

राजाज्ञासे चिह्नविशेष धारण किये हुए ये (चण्डाल तथा श्वपाक—१०।१२,१९) कामके लिए दिनमें घूमें और बन्धु-बान्धवोंसे रहित (लावारिस) मुर्देको गांवसे बाहर (श्मशानोंमें) ले जावें, यह (शास्त्रोक्त) मर्यादा है ॥ ५५ ॥

वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया।
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ५६ ॥

(ये) वध्य (प्राणदण्डकी आज्ञा पाये हुए) मनुष्योंको शास्त्रानुसार राजाज्ञासे मारें अर्थात् जल्लादका काम करें और उनके कपड़े शय्या तथा आभूषणादिको ग्रहण करें ॥ ५६ ॥

कर्मसे पुरुषज्ञान—

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥

वर्णभ्रष्ट (हीन वर्णवाले), अप्रसिद्ध, नीच जातिसे उत्पन्न, देखनेमें सज्जन (उच्च जातिवाले; किन्तु वास्तविकमें) नीच जातिवाले मनुष्यको उसके कर्मों (बर्तावों) से जानना चाहिये ॥ ५७ ॥

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥

इस लोकमें अनार्यता, निष्ठुरता, क्रूरता, क्रिया (यज्ञ सन्ध्यावन्दनादि कार्य—) हीनता, ये सब नीच जातिमें उत्पन्न पुरुषको मालूम करा देती हैं अर्थात् इन गुणोंसे युक्त मनुष्यको नीच जातिवाला जानना चाहिये ॥ ५८ ॥

स्वोत्पादक गुणका त्यागाभाव—

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।
न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ५९ ॥

(क्योंकि) ये नीच जातिमें उत्पन्न मनुष्य पिताके, माताके या दोनोंके शीलको प्राप्त करते हैं, वे अपने स्वभावको किसी प्रकार नहीं छिपा सकते ॥ ५९ ॥

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसंकरः ।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ॥ ६० ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न मनुष्य भी गुप्त रूपसे यदि वर्णसङ्कर (दोगला) होता है तो थोड़ा या बहुत अपने उत्पादक (पिता) के स्वभावको प्राप्त करता हीं है ॥६०॥

वर्णसङ्करकी निन्दा—

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः ।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥

जिस राज्यमें वर्णोंको दूषित करनेवाले ये वर्णसङ्कर (दोगले) उत्पन्न होते हैं, वह राज्य प्रजाओंके सहित शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, (अतएव राजाको इनकी उत्पत्ति रोकनी चाहिये) ॥ ६१ ॥

ब्राह्मणादिके लिए वर्णसङ्करोंका प्राणत्याग श्रेष्ठ—

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः ।
स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

ब्राह्मण, गौ, स्त्री या बालक इनमें-से किसीके लिए सद्भावनासे बाह्य (वर्णसङ्कर) जातिवाले मनुष्यका प्राणत्याग करना सिद्धि (स्वर्गादि प्राप्ति) का कारण होता है ॥

वर्णचतुष्टयके सामान्य धर्म—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

अहिंसा (दूसरेको किसी प्रकारका कष्ट न पहुंचाना), सत्य, अस्तेय (बिना पूछे किसीकी कोई वस्तु नहीं लेना), शुद्धता (आन्तरिक अर्थात् भीतरी मानसिक तथा बाह्य अर्थात् शरीर आदिकी स्वच्छता), इन्द्रियोंको (उनके विषयोंसे) रोकना—

[श्राद्धकर्मातिथेयं च दानमस्तेयमार्जवम्।
प्रजनं स्वेषु दारेषु तथा चैवानसूयता ॥ १ ॥]

[श्राद्धकर्म, अतिथिसत्कार, दान, अस्तेय, सरलता, अपनी स्त्रियोंमें सन्तानोत्पादन और अनसूया अर्थात् दूसरेके शुभमें द्वेषका न होना ॥ १ ॥]

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥

यह संक्षेपमें चारो वर्णों (तथा प्रकरण सामर्थ्यसे सङ्कीर्ण जातियों) का धर्म मनुने कहा है ॥ ६३ ॥

सप्तम जन्ममें नीच सन्तानको ब्राह्मणत्वादिकी प्राप्ति—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद् युगात् ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न ('पारशव'—१०।८) जातिकी कन्या ब्राह्मणसे विवाह कर कन्या उत्पन्न करे (इस प्रकार) वह सप्तम जन्म (पीढ़ी) में श्रेष्ठ जातिको प्राप्त करती है ॥ ६४ ॥

विमर्श—इस श्लोकका विशद आशय यह है कि—'पारशव' (१०।८) जातिकी कन्या ब्राह्मणसे विवाहकर कन्या उत्पन्न करे, वह उत्पन्न हुई कन्या पुनः, ब्राह्मणसे विवाह कर पुनः कन्या ही उत्पन्न करे; इसी क्रमसे छः जन्मतक उत्पन्न होती हुए कन्याएं ब्राह्मणसे विवाह करती हुई कन्याओंको उत्पन्न करती रहें तो वह कन्या सप्तम जन्म (सातवीं पीढ़ी) में ब्राह्मणसे जिस सन्तान (पुत्र या पुत्री) को उत्पन्न करती है, वह सन्तान नीच क्षेत्रज होकर भी वीर्यकी प्राधान्यतासे सप्तम जन्ममें उच्च वर्ण (ब्राह्मण) को प्राप्त करती है।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ६५ ॥

(पूर्व (१०।६४) श्लोकके अनुसार सातवें जन्ममें) शूद्र ब्राह्मण ('पारशव' १०।८) शूद्रत्वको प्राप्त करता है। इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्यसे शूद्रामें उत्पन्न सन्तान (पुत्र या पुत्री) क्रमशः क्षत्रियत्व तथा वैश्यत्व रूप उत्कर्षको तथा इसी क्रमसे अपकर्षको प्राप्त करती है ॥ ६५ ॥

विमर्श—शूद्रको सप्तम जन्ममें ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेका क्रम पहले (१०।६४) श्लोकके 'विमर्श' में स्पष्ट कर दिया गया है, अब यहांपर ब्राह्मणको शूद्रत्व पानेका क्रम कहते हैं—यदि ब्राह्मण केवल शूद्राके साथ विवाहकर पुरुषको ही उत्पन्न करे, वह पुरुष भी केवल शूद्राके साथ विवाहकर पुरुषको ही उत्पन्न करे, इस प्रकार वह ब्राह्मण पुरुष सप्तम जन्म (पीढ़ी) में केवल शूद्रत्वको प्राप्त करता है। इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्यसे शूद्रामें उत्पादित सन्तानको उत्कर्ष तथा अपकर्ष की प्राप्ति को जानना चाहिये, किन्तु 'जातिका उत्कर्ष सप्तम या पञ्चम जन्ममें जानना चाहिये' ('जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पञ्चमे सप्तमेऽपि वा'—या० स्मृ० ११९६) ऐसा महर्षि याज्ञवल्क्यके कहनेसे क्षत्रियसे (शूद्रामें) उत्पन्न सन्तानका पञ्चम जन्म (पीढ़ी) में जातिके उत्कर्ष तथा अपकर्षकी प्राप्ति को जानना चाहिये। और महर्षि याज्ञवल्क्यके उक्त वचनमें 'वा' शब्दके द्वारा' पक्षान्तरका संग्रह होनेसे वृद्ध व्याख्याके अनुरोधसे वैश्यसे शूद्रामें उत्पन्न सन्तानके तीसरे जन्ममें ही उत्कर्ष तथा अपकर्षकी प्राप्ति को समझना चाहिये। इसी न्यायसे ब्राह्मणसे वैश्यामें उत्पन्न सन्तानके पञ्चम जन्ममें, ब्राह्मणसे क्षत्रियामें उत्पन्न सन्तानका तृतीय जन्ममें और क्षत्रियसे वैश्यामें उत्पन्न सन्तानका भी तृतीय जन्ममें उत्कर्ष तथा अपकर्षकी प्राप्ति को जानना चाहिये। यह सब मनुस्मृतिके इसी श्लोककी 'मन्वर्थमुक्तावली' व्याख्यामें कुल्लूकभट्टने स्पष्ट किया है। यह जातिके उत्कर्ष तथा अपकर्षकी प्राप्ति उन-उन वर्णोंमें उत्पन्नकर अनापत्तिकालमें भी उन्हींकी जीविका करते रहनेपर होती है, यह 'जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः……(या० स्मृ० ११९६)' श्लोककी वीरमित्रोदय तथा मिताक्षरा व्याख्याओंमें सविस्तर प्रतिपादित है, उसे वहीं देखना चाहिये।

दो वर्णसङ्करोंसे श्रेष्ठत्वका निर्णय—

अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया।
ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं केति चेद्भवेत् ॥ ६६ ॥

ब्राह्मणमें यदिच्छासे अर्थात् अविवाहित शूद्रामें उत्पन्न (पारशव) तथा शूद्रसे अविवाहित ब्राह्मणीमें उत्पन्न (चण्डाल) इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? (ऐसी शङ्का उत्पन्न होनेपर) ॥ ६६ ॥

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद् गुणैः ।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥ ६७ ॥

ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न पुत्र गुणयुक्त होनेसे श्रेष्ठ है और शूद्रसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न पुत्र गुणहीन होनेसे श्रेष्ठ नहीं है, ऐसा (शास्त्र) का निर्णय है ॥ ६७ ॥

तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः ।
वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥

(किन्तु उन दोनोंमें उक्त निर्णयानुसार एकके श्रेष्ठ होनेपर भी) पूर्वोक्त दोनोंमें पहला ('पारशव'–१०।८) शूद्रामें उत्पन्न होनेके कारण जातिकी हीनतासे तथा दूसरा ('चण्डाल'—१०।१२) प्रतिलोम क्रमसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न होनेसे दोनों ही यज्ञोपवीत संस्कारके अयोग्य हैं, ऐसा शास्त्रनिर्णीत धर्म है ॥ ६८ ॥

उक्त विधानमें दृष्टान्त—

सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं सम्पद्यते यथा ।
तथार्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥

जिस प्रकार सुन्दर (उपजाऊ) खेतमें बोया गया श्रेष्ठ सुन्दर बीज श्रेष्ठ पौधा उत्पन्न करता है, उसी प्रकार आर्य (द्विज) से आर्या (द्विज स्त्री) में उत्पन्न पुत्र सब (श्रौत तथा स्मार्त) संस्कारके योग्य होता है, (अतः उक्त पाराशव तथा चण्डाल अनार्योत्पन्न होनेसे संस्कार के योग्य नहीं होते) ॥ ६९ ॥

बीज तथा क्षेत्रके बलाबलमें मतभेद तथा निर्णय—

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः ।
बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥

कोई आचार्य बीजकी, कोई आचार्य क्षेत्रकी तथा कोई आचार्य बीज और क्षेत्र दोनोंकी प्रशंसा करते (प्रधानता मानते) हैं, उनमें ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है ॥ ७० ॥

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति ।
अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ ७१ ॥

ऊसर खेतमें बोया गया बीज फल देनेसे पहले ही नष्ट हो जाता है (कुछ फल नहीं देता) और बिना बीज बोया हुआ उत्तम (उपजाऊ) खेत भी भूमिमात्र ही रह जाता है (इसलिये बीज तथा खेत दोनोंको ही श्रेष्ठ होना आवश्यक है)॥

बीजप्राधान्यमें दृष्टान्त—

यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥ ७२ ॥

जिस कारण बीजके प्रभावसे निर्यग् योनि (हरिणी आदि) में उत्पन्न (ऋष्य शृङ्ग आदि) पवित्रता से ऋषि, नमस्कारादिके योग्य होनेसे पूजित तथा ज्ञान प्राप्ति करनेसे श्रेष्ठ हुए ; इस कारण बीज (वीर्य) ही श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ७२ ॥

कर्मानुसार समानता और असमानताका अभाव—

अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम्।
सम्प्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥ ७३ ॥

द्विजोंका कार्य करनेवाले शूद्र तथा शूद्रोंका कर्म करनेवाले द्विजका विचारकर ये दोनों न तो समान है और न असमान हैं' ऐसा ब्रह्माने कहा है ॥ ७३ ॥

विमर्श—द्विजातिका कर्म करनेवाला शूद्र उस कर्मको करनेका अधिकारी नहीं होनेसे 'द्विजाति' के समान नहीं हो सकता, तथा शूद्रोंका कर्म करनेवाला द्विज भी निषिद्धाचरण करनेसे शूद्र के समान नहीं हो सकता, श्रेष्ठ कर्म करने पर भी शूद्र को द्विजातिकी समानता नहीं मानी गयी है और निषिद्धाचरण करनेवाले द्विजको श्रेष्ठ जाति (द्विजत्व) का नाश नहीं माना गया है, अतएव वे दोनों (द्विजकर्म कर्ता शूद्र तथा शूद्रकर्मकर्ता द्विज) निषिद्धाचरण करनेसे असमान भी नहीं है अर्थात् समान ही है, इस कारण जिसके लिए जिस कर्म का विधान किया गया है, उसे उसी कर्मको करना चाहिये।

षट् कर्म करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य—

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥

जो ब्राह्मण (ब्रह्मप्राप्तिके कारणभूत) ब्रह्म ध्यानमें लीन तथा अपने कर्ममें संलग्न हैं, उन्हें षट् कर्मों (१०।७५) का यथावत् पालन करना चाहिये ॥

ब्राह्मणोंके षट् कर्म—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥

(साङ्ग वेदोंका) अध्यापन, अध्ययन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणोंके हैं ॥ ७५ ॥

ब्राह्मण-जीविकार्थ कर्मत्रय—

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥ ७६॥

इन ६ (१०।७५) कर्मोंमें-से तीन कर्म (साङ्ग वेदाध्यापन, यज्ञ कराना और विशुद्धसे (द्विजमात्रसे शूद्रसे नहीं) दान लेना) ब्राह्मणकी जीविकाके लिये हैं॥

क्षत्रियोंके कर्म—

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः॥ ७७॥

ब्राह्मणकी अपेक्षा क्षत्रियोंके तीन कर्म (वेदाध्यापन, यज्ञ कराना तथा दान लेना) निवृत्त (वर्जित) होते हैं (अतः क्षत्रियोंको इन तीन कर्मोंको छोड़कर शेष तीन कर्म (वेदाध्ययन, यज्ञ करना तथा दान देना) ही करने चाहिये)॥७७॥

वैश्योंके कर्म—

वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः।
न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः॥ ७८॥

उसी (१०।७७) प्रकार वैश्योंके भी ये तीन कर्म (वेदाध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना) निवृत्त (वर्जित) होते हैं, ऐसी शास्त्र-मर्यादा है; क्योंकि उन दोनों (क्षत्रियों तथा वैश्यों) के प्रति उन धर्मों (वेदाध्यापन, यज्ञ कराना तथा दान लेना) को प्रजापति मनुने नहीं कहा है॥ ७८॥

क्षत्रियों तथा वैश्योंके जीविकार्थ कर्म तथा धर्म—

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः॥ ७९॥

जीविकाके लिये शस्त्र (हाथमें पकड़े हुए चलाने योग्य तलवार, भाला आदि) तथा अस्त्र (हाथसे फेंककर चलाने योग्य बाण आदि) क्षत्रियका और व्यापार, पशुपालन, खेती करना वैश्यका कर्म है। (और दोनोंका) दान देना, साङ्ग वेदका अध्ययन करना और यज्ञ करना धर्म है॥ ७९॥

ब्राह्मणादि वर्णत्रयके विशिष्ट कर्म—

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्।
वार्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु॥ ८०॥

ब्राह्मणका साङ्ग वेदाध्यापन, क्षत्रियका रक्षा करना और वैश्यका पशुपालन करना—ये कर्म इनकी जीविकार्थ अपने कर्मोंमें विशिष्ट कर्म कहे गये हैं ॥ ८० ॥

आपद्धर्मके—

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥

ब्राह्मण यदि अपने कर्म (१०।७५-७६) से जीवन-निर्वाह नहीं कर सके तो क्षत्रियका कर्म (१०।७७-७९) करता हुआ जीवन-निर्वाह करे, क्योंकि वह क्षत्रिय कर्म उस (ब्राह्मण कर्म) का समीपवर्ती है ॥ ८१ ॥

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥ ८२ ॥

दोनों (ब्राह्मणकर्म—१०।७५-७६) तथा (क्षत्रियकर्म—१०।७७-७९) से जीवन निर्वाह नहीं कर सकता हुआ ब्राह्मण किस प्रकार रहे ? ऐसा सन्देह उपस्थित हो जाय तो वह वैश्यके कर्म खेती, गोपालन और व्यापारसे जीविका करे ॥८२॥

कृषि आदिका बलाबल कथन—

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥ ८३ ॥

वैश्यवृत्ति (१०।७६) से जीविका करता हुआ भी ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय हिंसा प्रधान (बैल आदिके अधीन होनेसे) पराधीन कृषि कर्म (खेती) प्रयत्नपूर्वक छोड़ दे ॥ ८३ ॥

विमर्श—क्षत्रियके लिए भी वैश्यवृत्तिमें कृषि कर्मका त्याग करनेका विधान इस वचन द्वारा प्रतिपादित होनेसे अपने कर्म द्वारा जीविका नहीं कर सकनेवाले क्षत्रियको वैश्यवृत्तिसे जीविका-निर्वाह करना शास्त्र विहित समझना चाहिये।

कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता ।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥ ८४ ॥

कुछ लोग कृषि (खेती) को उत्तम कर्म मानते हैं, किन्तु वह जीविका सज्जनोंसे निन्दित हैं, क्योंकि लोहेके मुख (फार) वाला काष्ठ अर्थात् हल भूमि तथा भूमिमें स्थित जीवोंको मार डालता है ॥ ८४ ॥

इदं तु वृत्तिवैकल्यात् त्यजतो धर्मनैपुणम् ।
विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥

जीविकाके अभावसे धर्मकी निष्ठाको छोड़ते हुए ब्राह्मण तथा क्षत्रियको (आगे कहीं जानेवाली) वस्तुओंको छोड़कर वैश्योंसे बेची जानेवाली धनवर्द्धक शेष वस्तुओंको बेचना चाहिये ॥ ८५ ॥

ब्राह्मण-क्षत्रियों द्वारा अविक्रेय वस्तु—

सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह ।
अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥ ८६ ॥

सब रस, पक्वान्न, तिल, पत्थर, नमक, पशु और मनुष्य (दास-दासी आदि) को (आपत्तिकालमें भी ब्राह्मण क्षत्रिय नहीं बेचे) ॥ ८६ ॥

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च ।
अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले यथौषधीः ॥ ८७ ॥

सब प्रकारके सूत्र-निर्मित और रंगे गये सन, अलसी तथा ऊनके वस्त्र और विना रंगे हुए वस्त्र, फल, मूल तथा ओषधि (गुड्चि आदि दवाओं) को (आपत्तिकालमें भी ब्राह्मण क्षत्रिय नहीं बेचे) ॥ ८७ ॥

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः ।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥

जल, शस्त्र (सब प्रकारका हथियार या लोहा), विष, मांस, सोम नामक लतर, सर्वविध गन्ध (कपूर, कस्तूरी आदि), दूध, मधु (शहद), दही, घी, तेल, मोम, गुड और कुशा (को आपत्तिकालमें भी ब्राह्मण-क्षत्रिय नहीं बेचे) ॥

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च ।
मद्यं नीलिं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥ ८९ ॥

सब प्रकारके जङ्गली (हाथी आदि) पशु, दांतवाले (सिंह बाघ चित्ता कुत्ता आदि) पशु, पक्षी, जलजन्तु (मछली, मगर, कच्छप आदि), मदिरा, नील, लाख (चपड़ा लाही), एक खुरवाले (घोड़ा आदि पशु) को (आपत्तिकालमें पड़ा हुआ भी ब्राह्मण क्षत्रिय नहीं बेचे) ॥ ८९ ॥

[त्रपु सीसं तथा लोहं तैजसानि च सर्वशः ।
वालांश्चर्म तथास्थीनि सस्नायूनि विवर्जयेत् ॥ २ ॥]

[रांगा, सीसा, लोहा, सब प्रकारके तैजस पदार्थ, केश, चमड़ा, हड्डी, चर्बीको (आपत्तिकालमें पड़ा हुआ भी क्षत्रिय) छोड़ दे अर्थात् नहीं बेचे ॥ २ ॥]

स्वोत्पादित तिलका तत्काल विक्रय—

काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीबलः ।
विक्रीणीत तिलाञ्छूद्रान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥

(आपत्तिमें पड़नेके कारण) कृषि (द्वारा जीविकानिर्वाह) करनेवाला (ब्राह्मण-क्षत्रिय) खेतमें स्वयं तिलोंको पैदा करके दूसरे पदार्थोंके साथ मिलाकर (लाभार्थ) बहुत समय तक नहीं रखकर धर्म (यज्ञ-हवन आदि) के लिए बेच दे ॥ ९० ॥

तिल-विक्रयादिनिन्दा—

भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः ।
कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥

खाने (उबटन आदिके रूपमें), (शरीरमें) मलने तथा दान देनेके अतिरिक्त तिलोंसे जो-जो दूसरा कार्य (विक्रय, तेल निकालना आदि) मनुष्य करता है, वह (उस निषिद्ध कर्माचरणके कारण) पितरोंके साथ कीड़ा होकर कुत्तेकी विष्ठामें गिरता है ॥ ९१ ॥

लाक्षादि विक्रय-निन्दा—

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥

(आपत्तिमें पड़ा हुआ भी ब्राह्मण) मांस, लाख और नमकको बेचनेसे तत्काल पतित (के तुल्य) होता है और दूध बेचनेसे तीन दिनमें शूद्र (के तुल्य) होता है ॥

विमर्श—इस वचनमें मांस लाख तथा नमक बेचनेवाले ब्राह्मणको तत्काल पतित होना तथा दूध बेचनेवाले ब्राह्मणको तीन दिनमें शूद्र होनेका कथन प्रायश्चित्तके गौरव प्रदर्शनार्थ है, वस्तुतः पतित तथा शूद्र होनेके विधानार्थ नहीं ।

इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः ।
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥ ९३ ॥

शास्त्रवर्जित (१०।८६—८९) अन्य पदार्थोंको इच्छापूर्वक बेचनेवाला ब्राह्मण सात रात्रिमें वैश्यत्वको प्राप्त करता है ॥ ९३ ॥

विमर्श—प्रमादसे दूसरे पदार्थोंके साथ मिश्रित हुए इन पदार्थोंके बेचनेपर उक्त दोष नहीं होता । यह वैश्यत्वप्राप्ति परक वचन भी तुल्यन्यायसे प्रायश्चित्त गौरवार्थ ही समझना चाहिये ।

परस्पर बदलने योग्य पदार्थ—

रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः ।
कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥ ९४ ॥

(गुड आदि) रसोंको (घृत आदि) रसोंसे बदलना चाहिये, किन्तु नमक को किसी रससे नहीं बदलना चाहिये। पक्कान्न (पके हुए-सिद्ध-अन्नको) अपक्क-कच्चे-अन्नसे तथा तिलको (प्रस्थ परिमाण) धान्यसे बदलना चाहिये ॥

श्रेष्ठ जातीयवृत्तिका निषेध—

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ।
न त्वेवं ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥ ९५ ॥

(जीविका-साधन नहीं मिलनेसे) आपत्तिमें पड़ा हुआ क्षत्रिय इन सब (ब्राह्मणके लिए निषिद्ध रसादि विक्रय रूप) कार्योंसे (वैश्यके समान) जीविका कर ले, किन्तु (ब्राह्मणकी) श्रेष्ठवृत्ति (अध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना) को कदापि स्वीकार न करे ॥ ९५ ॥

विमर्श—यद्यपि इस वचनमें क्षत्रियमात्रके लिये निषेध किया गया है, तथापि वश्यादिके लिए भी यह निषेध समझना चाहिये ।

श्रेष्ठ जातिकी वृत्ति करनेवालेको दण्ड—

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ९६ ॥

नीच जातिवाला जो मनुष्य अपनेसे ऊंची जातिवालेकी वृत्तिको लोभसे ग्रहण कर जीविका करे तो राजा उसे निर्धनकर (उसकी सब सम्पत्ति छीनकर) राज्यसे बाहर निकाल दे ॥ ९६ ॥

परधर्मसेवन-निन्दा—

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥ ९७ ॥

अपना हीन धर्म भी श्रेष्ठ है, किन्तु दूसरेका अच्छा धर्म भी श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि दूसरेके धर्मसे जीविका करनेवाला तत्काल जातिभ्रष्ट हो जाता है ॥ ९७ ॥

विमर्श—यह जातिभ्रष्टत्व कथन भी दोषगौरव प्रदर्शनार्थ समझना चाहिये ।

वैश्य आपद्धर्म—

वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् ।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥ ९८ ॥

अपने धर्म (१०।७८, ७९) से जीवन निर्वाह नहीं कर सकनेवाला वैश्य निषिद्ध कर्मोंका त्याग करता हुआ अर्थात् द्विज-सेवादि करते समय जूठा आदि नहीं खाता हुआ शूद्रकी वृत्ति (द्विज-सेवा) से जीविका करे और समर्थ होकर अर्थात् आपत्कालके दूर हो जानेपर (उस शूद्र कर्मसे) निवृत्त हो जाय ॥ ९८ ॥

शूद्रके आपद्धर्म—

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ ९९ ॥

द्विजों (१०।४) की सेवा करनेमें असमर्थ शूद्र (भूख आदिसे) स्त्री-पुत्रादि के पीडित होनेपर सूप आदि बनानेके कार्योंसे जीविका करे ॥ ९९ ॥

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥ १०० ॥

जिन कर्मोंके करनेसे द्विजों (१०।४) की सेवा हो जाय, उन (बढ़ई तथा चित्रकार आदि के) कार्योंको शूद्र करे ॥ १०० ॥

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।
अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥

जीविकाके अभावसे पीडित होता हुआ भी अपने (धर्म) मार्गपर स्थित ब्राह्मण इस (आगे (१०।१०२-१०३) कहे जानेवाले) कर्मको करे ॥ १०१ ॥

आपत्तिमें ब्राह्मणकी हीनसे दानादि ग्रहण—

सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

(जीविका नहीं मिलनेसे) आपत्तिमें पड़ा हुआ ब्राह्मण सबसे (नीचसे भी) दान ग्रहण करे, क्योंकि आपत्तिमें पड़ा हुआ पवित्र (गङ्गाजल, ब्राह्मणादि) (नालीकी पानी या निषिद्धाचरणसे) दूषित होता है यह (शास्त्रसे) संगत नहीं होता है ॥१०२॥

आपद्गत ब्राह्मणका निषिद्धाध्यापनादिसे दोषहीनता—

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥ १०३ ॥

निन्दितों (अनधिकारियों) को अध्यापन करानेसे यज्ञ करानेसे और उनका दिया हुआ दान लेनेसे (आपत्तिमें पड़े हुए) ब्राह्मणोंको दोष नहीं होता; क्योंकि वे (ब्राह्मण) अग्नि तथा पानीके समान (पवित्र) हैं ॥ १०३ ॥

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ १०४ ॥

जीविकाके नहीं मिलनेसे संशयित प्राणोंवाला जो (ब्राह्मणादि) जहां-तहां (अनुलोम एवं प्रतिलोमज आदि हीन जातिवाले) से भी अन्नको खाता है, वह पङ्कसे आकाशके समान पापसे लिप्त (दूषित) नहीं होता है ॥ १०४ ॥

उक्त दोषाभावमें पुरातन दृष्टान्त—

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद् बुभुक्षितः।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥

(क्योंकि पूर्व समयमें) भूखसे पीडित 'अजीगर्त' नामक ऋषि ('शुनः शेप' नामक पुत्रको बेचकर पुनः यज्ञमें सौ गौओंको पानेके लिए यज्ञस्तम्भमें बंधे हुए) उसी पुत्रको मारनेके लिए तैयार हो गये और भूखकी निवृत्तिके लिए वैसा (अति निषिद्ध कर्म) करते हुए वे पापयुक्त नहीं हुए ॥ १०५ ॥

विमर्श—यह कथानक बह्वृच ब्राह्मणमें 'शुनः शेप'के आख्यानमें स्पष्ट रूपसे वर्णित है।

श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

धर्म तथा अधर्म (के गुण तथा दोष) को जाननेवाले 'वामदेव' ऋषि भूखसे पीडित होकर प्राणोंकी रक्षाके लिए कुत्तेके मांसको खानेकी इच्छा करते हुए भी (पापसे) लिप्त (दूषित) नहीं हुए ॥ १०६ ॥

भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥ १०७ ॥

निर्जन वनमें पुत्रसहित निवास करते हुए महातपस्वी 'भारद्वाज' मुनि भूखसे पीडित होकर 'वृधु' नामक बढ़ईसे सौ गौओंका प्रतिग्रह (दान) लिये (तथा हीन जातिसे दान लेकर भी निन्दित कर्मके आचरण करनेसे पाप दूषित नहीं हुए) ॥

क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम्।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥

धर्माधर्म (के गुण-दोष) को जाननेवाले 'विश्वामित्र' मुनि भूखसे पीडित होकर चण्डालके हाथसे कुत्तेकी जङ्घाके मांसको लेकर खानेकी इच्छा किये (तथा उस निषिद्ध मांस भक्षणके खानेकी इच्छासे पापदूषित नहीं हुए) ॥ १०८ ॥

प्रतिग्रह-निन्दा—

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि ।
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ १०९ ॥

ब्राह्मणके लिए नीचोंको पढ़ाना, यज्ञ कराना तथा उनसे दान लेना—इन तीनों कर्मोंमें नीचसे प्रतिग्रह (दान) लेना निकृष्ट है, और मरनेपर यही परलोकमें नरकका कारण होता है अतएव जीविका-निर्वाह नहीं होनेसे आपत्तिमें पड़े हुए ब्राह्मणको यदि नीचोंको अध्यापन तथा यज्ञ करानेसे भी जीवननिर्वाह नहीं हो सके तभी उसे उन नीचोंसे प्रतिग्रह लेना चाहिये ॥ १०९ ॥

प्रतिग्रह निन्दामें कारण—

याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।
प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥

यज्ञ कराना तथा पढ़ाना—ये दोनों कर्म संस्कारयुक्त आत्मावाले (द्विजों) को ही कराये जाते हैं तथा प्रतिग्रह तो निकृष्ट जन्मवाले शूद्रसे भी लिया जाता है (अतएव निकृष्ट-गत कर्म होनेसे प्रतिग्रह लेना निन्दित कर्म है, इस कारण यथाशक्य उसका त्याग करना चाहिये) ॥ ११० ॥

प्रतिग्रहादिका पापनाश—

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।
प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥ १११ ॥

नीचोंको पढ़ाने तथा यज्ञ करानेसे उत्पन्न पाप (गायत्री आदि मन्त्रोंके) जप तथा हवनसे नष्ट हो जाता है, किन्तु नीचके दान लेनेसे उत्पन्न पाप उस दान लिये गये पदार्थके त्याग तथा आगे (१०।११२) कहे जानेवाले तपसे नष्ट होता है ॥ १११ ॥

शिल तथा उञ्छसे जीविका—

शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः ।
प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥ ११२ ॥

अपनी जीविका (१०।७५-७६) से जीवन-निर्वाह नहीं होने पर ब्राह्मण जहां कहींसे भी 'शिल' तथा 'उञ्छ' को स्वीकार करे (किन्तु निन्दितसे दान न लेवे, क्योंकि उस दानसे 'शिल' तथा 'शिल' से 'उञ्छ' श्रेष्ठ है ॥ ११२ ॥

विमर्श—'शिल' तथा 'उञ्छ' के लक्षण-ज्ञानके लिए 'ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयं…' (४।५) का 'विमर्श' देखें ।

राजासे धन-याचना—

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धने वा पृथिवीपतिः।
याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥ ११३ ॥

धन-धान्यके अभावसे दुःखित परिवारवाले अत एव भोजन, वस्त्र तथा यज्ञादि कार्यके लिए सोना-चांदी आदि धन चाहनेवाले स्नातकको राजा (क्षत्रिय) से भी याचना करनी चाहिये और यदि वह (कृपणता आदिसे) नहीं देना चाहे तो उस (से याचना करने) का त्याग कर देना चाहिये ॥ ११३ ॥

भूमि गौ आदिमें पूर्व-पूर्वकी अल्पदोषता—

अकृतं च कृतात्क्षेत्राद्गौरजाविकमेव च।
हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥

जोती हुई भूमिकी अपेक्षा बिना जोती हुई भूमि, गौ, बकरी, भेंड, सोना, धान्य (कच्चा—विना सिद्ध हुआ—अन्न) और पकाया (सिद्ध) हुआ अन्न; इनमें से पूर्व-पूर्व निर्दोष अर्थात् कम दोषवाला है ॥ ११४ ॥

विमर्श—अत एव पूर्व-पूर्वकी वस्तुको दानमें मिलना सम्भव न हो तभी आगे-आगे वाली वस्तुको दानमें ग्रहण करना चाहिये। उदाहरणार्थ-विना जोती हुई भूमिके नहीं मिल सकनेपर जोती हुई भूमिको दानमें ग्रहण करना चाहिये, इसी प्रकार बिना जोती हुई भूमिको नहीं मिल सकनेपर गौको दानमें ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

सप्तविध धर्मयुक्त धनागम—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५ ॥

(१) दाय (धर्मयुक्त पितृ-सम्पत्तिका भाग) (२) लाभ (मूल धन या मित्रादिसे प्राप्त) (३) खरीदा हुआ, (४) जय (धर्मपूर्वक किये गये युद्धमें विजयसे प्राप्त), (५) प्रयोग (व्याज अर्थात् सूद आदिके द्वारा प्राप्त), (६) कर्मयोग (खेती तथा व्यापार आदि उद्योग करनेसे प्राप्त) (७) सत्प्रतिग्रह (शास्त्रोक्त दानसे प्राप्त); ये सात धनके लाभ होनेके स्थान धर्मयुक्त कहे गये हैं ॥ ११५ ॥

विमर्श—इनमें से प्रथम तीन चारो वर्णोंके लिए, चतुर्थ केवल क्षत्रियोंके लिए पञ्चम-षष्ठ वैश्योंके लिए और अन्तिम (सातवां) केवल ब्राह्मणोंके लिए विहित हैं। इन सात धनागमोंको धर्मयुक्त कहनेसे अपने लिए विहित धनागमके अभावमें दूसरेके लिए विहित धनागम करनेमें प्रवृत्त होना चाहिये।

जीवन के दश हेतु—

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ ११६ ॥

(१) विद्या (वेद-वेदाङ्गादिका तथा वैद्य तर्क विष-निराकरण आदिकी विद्या), (२) शिल्प (वस्त्र तैलादिको सुगन्धित करना), (३) भृति (दूतादि बनकर वेतन लेना), (४) सेवा (दूसरेकी दासता नौकरी करना), (५) गोरक्षण (गौ तथा अन्य पशुओंका पालन संवर्धन आदि), (६) व्यापार, (७) खेती, (८) धैर्य (थोड़े धनसे भी सन्तोषसे निर्वाह करना), (९) भिक्षा-समूह और (१०) सूद ; ये दश जीवन-निर्वाहके हेतु हैं ॥ ११६ ॥

विमर्श—इन जीवन-निर्वाहक कारणोंको इस आपद्धर्मके प्रकरणमें रहनेसे जिसके लिए जिस जातिका विधान किया गया है, यदि उससे जीवन-निर्वाह नहीं होता हो तो दूसरे वर्णके लिए विहित जीवन-निर्वाह साधक कार्यसे भी द्विजको जीवन निर्वाह करना चाहिये । उदाहरणार्थ—आपद्गत ब्राह्मणको भृति-सेवनादि ('विद्या' शब्दसे वेदवेदाङ्गादिसे भिन्न चिकित्सा, तर्क विद्या, विष दूर करनेकी विद्याको) पढ़ानेके द्वारा ब्राह्मण, भिन्न वर्णको भी जीवन-निर्वाह करना चाहिये ।

ब्राह्मण-क्षत्रियको सूद लेनेका निषेध—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् ।
कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥ ११७ ॥

ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सूदके लिए धनको कभी भी नहीं देवे, किन्तु इस निकृष्ट कर्मसे धर्मके लिए थोड़ी सूदपर ऋण रूपमें धनको देवे ॥ ११७ ॥

राजाओंके आपद्धर्म—

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ।
प्रजा रक्षन्परं शक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते ॥ ११८ ॥

(राजाको प्रजाके धान्यका षष्ठांश या अष्टमांश या द्वादशांश लेनेका शास्त्र-सम्मत (७।१३०) विधान होनेपर भी) आपत्तिकालमें (उतना कर लेनेसे राज्यकार्य चलना असम्भव होनेपर) प्रजाके धान्यका चतुर्थांश लेता हुआ और यथाशक्ति प्रजाओंकी रक्षा करता हुआ राजा अधिक कर लेनेके पापसे छूट जाता (दूषित नहीं होता) है ॥ ११८ ॥

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः ।
शस्त्रेण वैश्यान्रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्बलिम् ॥ ११९ ॥

विजय राजाओंका पाना अपना धर्म है (प्रजाकी रक्षा करते हुए भी यदि राजाको कहींसे भय-कारण उपस्थित हो जावे तो उसे) युद्धसे (डरकर) विमुख नहीं होना चाहिये और शत्रोंसे वैश्योंकी रक्षाकर उनसे आगे (१०।१२०) कहे हुए धर्मयुक्त करको (आप्त पुरुषोंके द्वारा) ग्रहण करना चाहिये ॥ ११९ ॥

आपत्तिमें वैश्योंसे ग्राह्य राजकर—

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम् ।
कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥ १२० ॥

राजाको आपत्तिकालमें वैश्यके धन्यामें-से आठवां भाग (विशेष आपत्तिकालमें पूर्व (१०।११८) वचनके अनुसार चौथा भाग) और सोने-चांदी आदिमें-से बीसवां भाग (आपत्तिकाल नहीं होनेपर (पूर्व (७।१३०) वचनके अनुसार पचासवां भाग) कर लेना चाहिये और शूद्र बढ़ई तथा अन्य कारीगरोंसे कोई कर नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वे तो काम (बेगार) के द्वारा ही राजाका उपकार करते हैं ॥ १२० ॥

शूद्रके आपद्धर्म—

शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि ।
धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ॥ १२१ ॥

ब्राह्मणकी सेवाद्वारा जीवन-निर्वाह नहीं होनेसे जीविकाको चाहनेवाला शूद्र क्षत्रिय अथवा धनिक वैश्यकी सेवा करता हुआ जीवन-निर्वाह करे ॥ १२१ ॥

शूद्रके लिए ब्राह्मणसेवा श्रेष्ठ—

स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः ।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १२२ ॥

वह (शूद्र) स्वर्ग अथवा स्वर्ग तथा जीविका दोनोंके लिए ब्राह्मणकी सेवा करे । 'यह ब्राह्मणाश्रित है' इतनेसे ही शूद्र कृतकृत्य हो जाता है ॥ १२२ ॥

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥ १२३ ॥

ब्राह्मणोंकी सेवा करना ही शूद्रोंका मुख्य कर्म कहा गया है, इसके अतिरिक्त वह शूद्र जो कुछ करता है, उसका कर्म निष्फल होता है ॥ १२३ ॥

शूद्रकी वृत्ति नियत करना—

प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः ।
शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥ १२४ ॥

ब्राह्मणोंको चाहिये कि—वे अपनी सेवा करनेवाले शूद्रके लिए उसके काम करनेकी शक्ति, उत्साह और परिवारके निर्वाहके प्रमाणको (विचारकर तदनुसार) उसकी जीविका निश्चित कर दे ॥ १२४ ॥

सेवक शूद्रके लिए उच्छिष्ट अन्नादि देना—

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥ १२५ ॥

सेवक शूद्रके लिए जूठा अन्न, पुराने वस्त्र, अन्नोंके पुआल तथा पुराने खाट बर्तन आदि ब्राह्मण देवें ॥ १२५ ॥

विमर्श—पहले (४।८०) जो शूद्रके लिए इष्टार्थक उपदेश तथा जूठा अन्नादि देनेका निषेध किया गया है, वह असेवक शूद्रके लिए है, ऐसा समझना चाहिये ।

शूद्रका मन्त्रहीन धर्मकार्य—

न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति ।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥ १२६ ॥

(लहसुन, प्याज आदि अभक्ष्य पदार्थ खानेपर भी) शूद्रको कोई पातक (दोष) नहीं होता, क्योंकि इसका (यज्ञोपवीत आदि) संस्कार नहीं होता, इसे (अग्निहोत्र आदि) धर्म-कार्य करनेका अधिकार नहीं है और (पाकयज्ञ आदि) धर्म-कार्य करनेका निषेध भी नहीं है ॥ १२६ ॥

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।
मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥

(अतएव) धर्मके इच्छुक और जाननेवाले तथा द्विजोंके अविरुद्ध आचरण करनेवाले शूद्र मन्त्रहीन (नमस्कारमात्र करके[1]) पञ्चमहायज्ञोंको करते हुए निन्दित नहीं होते, अपितु प्रशंसाको प्राप्त करते हैं ॥ १२७ ॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ १२८ ॥

परगुणोंकी निन्दा नहीं करनेवाला शूद्र जैसे जैसे शास्त्रानुकूल द्विजाचरणको करता है, वैसे वैसे लोकमें प्रशंसित होकर परलोक (स्वर्ग) को प्राप्त करता है ॥

---

१. इदं 'नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्' इति याज्ञ० स्मृ० (१।१२१) वचनानुसारेण बोद्धव्यम् ।

शूद्रको धनसंग्रह करनेका निषेध—

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः ।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥ १२९ ॥

(धनोपार्जनमें) समर्थ भी शूद्रको धनसंग्रह नहीं करना चाहिये, क्योंकि धनको प्राप्तकर (शास्त्रका वास्तविक ज्ञान नहीं होनेके कारण धनमदसे शास्त्र-विरुद्धाचरण तथा ब्राह्मण-सेवाके त्याग करनेसे) वह ब्राह्मणोंको ही पीडित करने लगता है॥

अध्यायका उपसंहार—

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः ।
यान् सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥ १३० ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) चारो वर्णोंके लिए आपत्तिकालके इस (१०।८१–१२९) धर्मको कहा, इसका यथायोग्य पालन करते हुए वे (ब्राह्मणादि चारो वर्ण) श्रेष्ठ गतिको प्राप्त करते हैं ॥ १३० ॥

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ १३१ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे पुनः कहते हैं कि मैंने) चारो वर्णोंके सम्पूर्ण धर्मको कहा, इसके बाद (एकादश अध्यायमें) शुभ प्रायश्चित्त-विधान को कहूंगा ॥१३१॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् वर्णधर्मा हि सर्वशः ।
सिद्धेश्वर्याः प्रसादेन दशमे पूर्णतां गताः ॥ १० ॥

इति मणिप्रभाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ।

नवविध स्नातकके लिए दान देना—

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् ।
गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनः ॥ १ ॥

सन्तानार्थ विवाहेच्छुक, यज्ञ करनेका इच्छुक, पथिक, विश्वजित् आदि यज्ञमें अपनी समस्त सम्पत्तिको दान किया हुआ, गुरु-पिता-माताके लिए भोजन-वस्त्र देनेका इच्छुक, पढ़नेके लिए भोजन वस्त्रका इच्छुक और रोगी ॥ १ ॥

नवैतान्स्नातकान्विद्याद् ब्राह्मणान्धर्मभिक्षुकान् ।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥

इन नव स्नातक ब्राह्मणोंको धर्मभिक्षुक जानना चाहिये तथा निर्धन इनके लिए विद्या-विशेषके अनुसार (गौ, सोना, अन्न और वस्त्र आदि) दान देना चाहिये ॥२॥

नवविध स्नातकोंको वेदीके भीतर सिद्धान्न देना—

एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् ।
इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥

इन नव (११।१) ब्राह्मणस्नातकोंके लिए वेदी (चौके) के भीतर सिद्ध (पक्व—पका हुआ) अन्न देना चाहिये तथा अन्य वर्णवालोंके लिए वेदीके बाहर सिद्धान्न देना चाहिये ॥ ३ ॥

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

राजाको वेदज्ञाता ब्राह्मणोंके लिये यज्ञविधानार्थ (मोती माणिक्य आदि) सब प्रकारके रत्न और दक्षिणाके लिए धन देना चाहिये ॥ ४ ॥

भिक्षाप्राप्त धनसे द्वितीय विवाहका निषेध—

कृतदारोऽपरान्दारान्भिक्षित्वा योऽधिगच्छति ।
रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु संततिः ॥ ५ ॥

एक बार विवाहकर सस्त्रीक जो ब्राह्मण दूसरोंसे धन मांगकर द्वितीय विवाह करता है, उसे केवल रति (स्त्रीसम्भोग) मात्र ही फल होता है, क्योंकि उस स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान तो धन देनेवालेकी होती है) ॥ ५ ॥

विमर्श—अतएव विवाहित स्त्रीयुक्त ब्राह्मणको धन मांगकर द्वितीय विवाह नहीं करना चाहिये और न ऐसे विवाहेच्छुकके लिये दाताको धन ही देना चाहिये ।

परिवारवाले वेदज्ञ ब्राह्मणको दान देना—

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

जो मनुष्य वेदज्ञाता तथा पुत्र स्त्री आदि परिवारसे युक्त ब्राह्मणके लिए धन (गौ, भूमि, सुवर्ण, अन्न आदि) को देता है, वह मरकर स्वर्गको भोगता है ॥

सोमयागके अधिकारी—

यस्य त्रिवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ७ ॥

जिसके पास अपने परिवार तथा भृत्योंके तीन वर्षतक या इससे भी अधिक समयतक पालन-पोषणके लिए अन्न हो, वह मनुष्य काम्य सोमयज्ञ करनेके योग्य (अधिकारी) होता है ॥ ॥ ७ ॥

अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः।
स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

अतएव (अपने परिवार तथा भृत्योंके तीन वर्षसे कम पालन-पोषणके लिए अन्न रहनेपर) जो सोमपान (सोमयज्ञ) करता है, वह नित्य सोमयागके फलको भी नहीं पाता है ॥ ८ ॥

परिवारका पालन विना किये दान देनेसे दोष—

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥ ९ ॥

दान देनेमें समर्थ जो मनुष्य अपने परिवारवालोंके दुःखित रहनेपर (अपने यश तथा प्रसिद्धिके लिए) दान देता है, वह (समाजमें यश एवं प्रसिद्धि होनेसे) पहले मधु (शहद) के समान मीठा और बादमें (परिवारवालोंके दुःखित होनेके कारण नरक पानेसे) विषके समान कटु धर्मका पाखण्डी है (अतएव ऐसे दानको नहीं करना चाहिये) ॥ ९ ॥

भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥

जो मनुष्य स्त्री-पुत्रादि पालनीय परिवारको पीडितकर पारलौकिक सुखकी इच्छासे श्राद्धादि दान करता है, उस मनुष्यका वह दान जीते हुए तथा मरनेपर भी दुःखदायी होता है ॥ १० ॥

विमर्श—पहले (११।९) लौकिक दृश्यमान यश तथा प्रसिद्धिके लिए और इस श्लोकसे पारलौकिक अदृष्ट सुखके लिए कुटुम्बपालन नहीं कर सकनेपर दानको निषेध किया गया है।

[वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥ १ ॥]

[वृद्ध माता-पिता, पतिव्रता स्त्री और बालक पुत्र; इनका सैकड़ों अकार्य करके भी पालन-पोषण करना चाहिये, ऐसा मनुने कहा है ॥ १ ॥]

एकाङ्गहीन यज्ञपूर्त्यर्थ वैश्य आदि से धन लाना—

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥
यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥

यज्ञ करते हुए क्षत्रियका, विशेषकर ब्राह्मणका यज्ञ यदि एक अङ्गसे (धनाभावके कारण) पूरा नहीं हो रहा हो तो राजाके धर्मात्मा रहनेपर वह ब्राह्मण या क्षत्रिय यज्ञकर्ता बहुत पशुवाले, पाक यज्ञादि नहीं करनेवाले तथा सोमयज्ञसे भी हीन जो वैश्य हो; उसके परिवारसे बाकी यज्ञके पूर्ण होनेके लिए (याचनासे नहीं देनेपर बलात्कार या चोरीसे भी) धन लावे । (ऐसे करनेवाले क्षत्रिय या विशेष कर ब्राह्मण यज्ञकर्ताको धर्मात्मा राजा उक्तापराधमें दण्डित नहीं करे) ॥ ११-१२ ॥

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः ।
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥ १३ ॥

यज्ञ दो या तीन अङ्गोंसे (धनाभावके कारण) पूरा नहीं हो रहा हो तो उसकी पूर्णताके लिए वैश्यके यहांसे धन नहीं मिलनेपर (बलात्कार या चोरीसे धनवान् शूद्रके) यहांसे धन लावे; क्योंकि शूद्रका यज्ञसे कोई सम्बन्ध नहीं होता है ॥

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥

जो ब्राह्मण या क्षत्रिय सौ यज्ञ करने योग्य धन होनेपर भी अग्निहोत्र नहीं करता हो तथा एक सहस्र गौ या उतना धन होनेपर भी सोमयज्ञ नहीं करता हो, ऐसे ब्राह्मण या क्षत्रियके परिवारसे (धनाभावके कारण) यज्ञ दो या तीन अङ्गोंसे पूर्ण नहीं होता हो तो यज्ञकर्ता ब्राह्मण (बलात्कार या चोरीसे) धन लावे ॥ १४ ॥

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः ।
तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५ ॥

सर्वदा दान आदिका धन लेनेवाला तथा इष्टापूर्त और दान आदि नहीं करनेवाला (ब्राह्मण) यज्ञके दो या तीन अङ्गोंकी पूर्णताके लिए यदि याचना करनेपर

भी यजमान (यज्ञकर्ता) को धन नहीं दे तो यजमान उसके धनको (बलात्कार या चोरीसे) लावे, ऐसा करनेसे धन लानेवाले यज्ञकर्ताकी ख्याति और धर्मकी वृद्धि भी होती है ॥ १५ ॥

विमर्श—'अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदरक्षण, अतिथिसत्कार, वैश्वदेव; अथवा किसी एक अग्निमें या त्रेताग्निमें हवन करना तथा वेदीके भीतर ब्राह्मणको दान देना 'इष्ट' कहलाता है। पोखरा, तडाग, बावली, देवमन्दिर बनवाना, अन्नदान करना, और बगीचा लगाना 'पूर्त' कहलाता है।

छः उपवासके बाद नीचसे भी अन्न लाना—

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

छः जून (तीन दिन-तीन रात) जिसने भोजन नहीं किया हो, वह मनुष्य चौथे दिन भी (कहीं भोजन का ठिकाना नहीं लगनेपर) हीन (दानादि शुभकर्मसे वर्जित) कर्मवाले पुरुषके यहांसे भी एक दिन भोजन करने योग्य अन्न (चोरी या बलात्कारसे भी) लावे ॥ १६ ॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाऽप्युपलभ्यते।
आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥ १७ ॥

खलिहानसे, खेतसे, घरसे अथवा जहां कहींसे भी मिल सके वहींसे यागादि सत्कर्मसे वर्जित और हीन कर्म करनेवालेके भी धान्य (अन्न) को (छः सामका उपवास किया हुआ मनुष्य चौथे दिन भी उपायान्तरसे अन्न प्राप्त होनेका ठिकाना नहीं लगने पर चोरी आदिसे) लावे और यदि उस धान्यका स्वामी पूछे कि

---

१. हेमाद्रौ दानखण्डे शङ्खोक्तमिष्टलक्षणम्—
'अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानाञ्चैव पालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च 'इष्ट'मित्यभिधीयते ॥' इति।
यद्वा—एकाग्निकादौ यत्कर्म त्रेतायां यच्च हूयते।
अन्तर्वेद्याञ्च यद्दान'मिष्टं' तदभिधीयते ॥'
तत्रैव व्यासोक्तं पूर्तलक्षणम्—
'पुष्करिण्यस्तथा वाप्यो देवतायतनानि च।
अन्नदानमथारामाः 'पूर्त'मित्यभिधीयते ॥' इति
(हेमाद्रौ दानखण्डे पृष्ठे २१)

'तूने मेरा धान्य क्यों लिया ?' तो उस पूछनेवाले धान्य-स्वामीसे कह दे कि 'मैंने खानेके लिए लिया' ॥ १७ ॥

ब्राह्मणके धन लेनेका निषेध—

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन ।
दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन् हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

इन आपत्तियों (११।११-१७) के उपस्थित होनेपर भी क्षत्रिय ब्राह्मणके धनको कदापि नहीं लावे, किन्तु निषिद्ध (चोरी आदि) कार्य करनेवाले तथा विहित (यज्ञ, वेदाध्ययन, दानादि) कार्य नहीं करनेवाले ब्राह्मणके भी धनको क्षत्रिय लावे ॥ १८ ॥

विमर्श—तुल्यन्यायसे उक्तापत्तिमें पड़ा हुआ वैश्य-अपनेसे उच्चवर्ण ब्राह्मण और क्षत्रियके तथा शूद्र-ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके धनको नहीं लावे, किन्तु वे निषिद्ध कर्मको करने तथा विहित कर्मको नहीं करनेवाले हों तो अपनेसे उच्च वर्णवाले ऐसे लोगोंके धनको नीच वर्ण लावे। उक्त प्रकार (११।११-१७) से चोरी या बलात्कारसे धन लानेवाला आपत्तिमें पड़ा हुआ व्यक्ति धर्मात्मा राजाके द्वारा दण्डनीय नहीं होता।

दुष्टोंसे धन लेकर सज्जनोंको देना—

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति ।
स कृत्वा प्लवमात्मानं सन्तारयति तावुभौ ॥ १९ ॥

जो मनुष्य (उक्त निमित्त (११।११-१८) के आनेपर) दुष्टोंसे धन लाकर सज्जनों (यज्ञाङ्गसाधक ऋत्विक् आदि) के लिए देता है, वह अपनेको नाव बनाकर उन दोनोंको (धनवालेके धनको पुण्यकर्ममें लगानेसे उसके पुण्यको बढ़ाकर धनस्वामीको तथा दान लेनेवालेके यज्ञादिको पूरा होनेसे उसकी आपत्तिको दूरकर दान लेनेवालेको, दुःखसे) पार कर देता है ॥ १९ ॥

यज्ञशीलके धनकी प्रशंसा—

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ।
अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥

नित्य यज्ञ करनेवालोंका जो धन है, उसे विद्वान् लोग 'देवोंका धन' कहते हैं और यज्ञ नहीं करनेवालोंका जो धन है, उसे 'असुरोंका धन' कहते हैं (अतएव उस 'असुरोंके धन'को लेकर यज्ञ में लगानेसे 'देवोंका धन' बनाना चाहिये) ॥२०॥

यज्ञादिके लिये चोरी करनेवाले ब्राह्मणको दण्ड निषेध—

न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
क्षत्रियस्य हि बालिश्याद् ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥ २१ ॥

धार्मिक राजा पहले (११।११-१८) आपत्तिकालोंमें दूसरेके धनको (चोरी या बलात्कारसे भी) लेनेवाले ब्राह्मणको दण्डित न करे, क्योंकि क्षत्रिय अर्थात् राजाकी मूर्खतासे ही ब्राह्मण क्षुधापीडित होता है । (अतः उसका उक्त प्रकारसे धन लाना अपराध नहीं है) ॥ २१ ॥

क्षुधापीडित ब्राह्मणके लिए वृत्ति कल्पना—

तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः ।
श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥

(इस कारणसे) राजा उस ब्राह्मणके पालन पोषण करने योग्य (स्त्री-पुत्र आदि) तथा उसके आचरण एवं शीलको मालूमकर तदनुसार धर्मयुक्त जीविकाको अपने कुटुम्बसे नियत करे ॥ २२ ॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ।
राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥ २३ ॥

राजा इस (क्षुधा-पीडित ब्राह्मण) की जीविका नियतकर चोर आदि सब प्रकारसे उसकी रक्षा करे, क्योंकि सुरक्षित उस ब्राह्मणके धर्मका षष्ठांश (छठा भाग) राजा प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

यज्ञार्थ शूद्रसे भिक्षाका निषेध—

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् ।
यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥

ब्राह्मणको यज्ञके लिए (भी) शूद्रसे कभी भी धन नहीं मांगना चाहिये, क्योंकि (शूद्रसे धनको मांगकर उससे) यज्ञ करनेवाला ब्राह्मण मरकर चण्डाल होता है (अतः यहांपर मांगनेका निषेध करनेसे विना मांगे यज्ञके लिए शूद्रसे धन मिल जानेपर शास्त्रविरुद्ध नहीं होता) ॥ २४ ॥

यज्ञार्थ धन लेकर बचानेका निषेध—

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति ।
स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ २५ ॥

जो मनुष्य यज्ञके लिए धन मांगकर सब धनको दान नहीं कर देता है, वह (मरकर) सौ वर्षोंतक भास या कौएका जन्म पाता है ॥ २५ ॥

देव तथा ब्राह्मणके धनहरणका निषेध—

देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ।
स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥

जो मनुष्य लोभसे देवता (प्रतिमा आदि) तथा ब्राह्मणके धनको लेता है, वह पापी (मरकर) परलोकमें गीधका जूठा खाकर जीता है ॥ २६ ॥

सोमयाग नहीं कर सकनेपर वैश्वानर याग करना—

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।
क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसंभवे ॥ २७ ॥

वर्ष (संवत्) के बदलनेके समय अर्थात् चैत्र शुक्लके आरम्भमें शास्त्र-विहित सोमयज्ञको नहीं कर सकनेपर उसके दोषकी शान्तिके लिए (शूद्रादिसे धन लेकर भी) वैश्वानर यज्ञ करना चाहिए ॥ २७ ॥

यज्ञमें समर्थको अनुकूल करनेका निषेध—

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।
स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥

जो द्विज आपत्तिकालके नहीं रहनेपर भी आपत्तिकालके विधानसे धर्म (यज्ञादि कर्म) करता है, वह (मरकर) परलोकमें उस यज्ञके फलको नहीं पाता है अर्थात् उसका वह यज्ञ करना निष्फल होता है, ऐसा (मनु आदि महर्षियोंने) कहा है ॥

सोमयागका प्रतिनिधि—

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥

विश्वेदेव, साध्यगण (देवयोनि-विशेष) और महर्षि ब्राह्मणोंने मृत्युसे डरकर आपत्तिकालमें विधि (शास्त्रोक्त प्रधान विधि सोमयज्ञादि) के प्रतिनिधि (वैश्वानर यज्ञ आदि) को किया है (अतः समर्थ नहीं होनेपर ही मुख्य विधि सोमयज्ञादिको छोड़कर उसके प्रतिनिधि वैश्वानर यज्ञादिको करना चाहिये) ॥ २९ ॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।
न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

जो मनुष्य मुख्य यज्ञको करनेमें समर्थ होकर भी अनुकल्प (मुख्यका प्रतिनिधि) आपत्तिकालके लिए सम्मत अप्रधान पक्ष से यज्ञको करता है, उस दुर्बुद्धिको पारलौकिक वृद्धि तथा पापनाशरूप फल प्राप्त नहीं होता ॥ ३० ॥

ब्राह्मणादिको स्वशक्तिसे शत्रुविजय करना—

न ब्राह्मणोऽवेदयेत किंचिद्राजनि धर्मवित्।
स्ववीर्येणैव ताञ्छिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१ ॥

धर्मज्ञाता ब्राह्मण किसीके किसी अपराधको राजासे न कहे (किसीपर राजाके यहां मुकदमा न करे), किन्तु उन अपराधी मनुष्योंको अपने पराक्रम (आगे कहे जानेवाली शक्ति) से दण्डित करे ॥ ३१ ॥

विमर्श—इस वचनके अनुसार अपने धर्मके विरोधके कारण नीचके अपराध करनेपर अभिचार आदि कर्मसे उसे (अपराधीको) दण्डित करनेमें ब्राह्मणको दोष नहीं होता, अतएव इस वचनसे न तो ब्राह्मणके लिए अभिचार प्रयोग करनेका विधान ही किया गया है और न राजाके पास अपराधीके अपराध निवेदन करनेका निषेध ही किया गया है ऐसा समझना चाहिये।

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम्।
तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्विजः ॥ ३२ ॥

(ब्राह्मणके लिए) अपने (ब्राह्मणके) पराक्रम तथा राजाके पराक्रमसे अपना (ब्राह्मणका) पराक्रम ही अधिक बलवान् है, अतएव ब्राह्मण अपने पराक्रमसे ही शत्रुओंका निग्रह करे ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणके लिए शत्रु निग्रहका उपाय—

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन्।
वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः ॥ ३३ ॥

ब्राह्मण अपने वेदके आङ्गिरस श्रुति (दुष्ट मन्त्रों) को बिना विचारे ही (शीघ्र ही, शत्रुपर) प्रयोग करे, क्योंकि ब्राह्मणका (अभिचारमन्त्रोच्चारणरूप) वचन ही शस्त्र है, अतएव उस (वचनरूपी शस्त्र) से ब्राह्मण शत्रुओंको नष्ट करे (राजाके यहां उसके अपराधको कहकर दण्डित न करावे, किन्तु अभिचार प्रयोगसे उसे स्वयं दण्डित करे) ॥ ३३ ॥

[तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्यं च शक्तितः।
तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते ॥ २ ॥]

[तपोबलके प्रभावसे वह अस्त्र अवध्योंको भी पीडित करता है, शक्तिके द्वारा वह सब वर्णोंसे अनिवार्य (नहीं रोका जानेवाला) है ॥ २ ॥]

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ।

क्षत्रिय अपने बाहुबलसे (शत्रुकृत पराभवसे उत्पन्न) अपनी आपत्तिको पार करे ।

[तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ३ ॥]

[शक्तिके अनुसार वह कार्य करता हुआ (वह क्षत्रिय) परम गतिको पाता है ॥]

धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥

वैश्य तथा शूद्र (प्रतिकार करनेवालेके लिए) धन देकर और ब्राह्मण (अभिचार-संबन्धी) जप तथा हवनोंसे (शत्रुकृत पराभवसे उत्पन्न) अपनी विपत्तिको पार करे ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणसे दूषित वचन कहनेका निषेध—

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥ ३५ ॥

शास्त्रोक्त कर्मोंको करनेवाला, पुत्र-शिष्यादिका शासन करनेवाला, प्रायश्चित्त विधि आदिको कहनेवाला ब्राह्मण सबका मित्ररूप है; अत एव उससे ('इसको पकड़ो, दण्डित करो' इत्यादि) अशुभ वचन तथा रूखी बात नहीं कहना चाहिये ॥ ३५ ॥

कन्या तथा मूर्खादिको अग्निहोत्र करनेका निषेध—

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥ ३६ ॥

अविवाहित कन्या, विवाहित भी युवति, थोड़ा पढ़ा हुआ, मूर्ख, रोगी और यज्ञोपवीत संस्कारसे हीन मनुष्योंको अग्निहोत्रका हवन नहीं करना चाहिये ॥ ३६ ॥

नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत् ।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥

हवन करते हुए ये लोग (११।३६) तथा जिसकी तरफसे हवन करते हैं वे नरकमें पड़ते हैं, अत एव वैदिक कर्ममें प्रवीण तथा वेदके परागामीको ही हवन-कर्ता बनाना चाहिये ॥ ३७ ॥

दक्षिणामें अश्वको देना—

प्राजापत्यमदत्त्वाऽश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् ।
अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥

सम्पत्ति रहनेपर भी जो द्विज अग्न्याधानके समय प्रजापति देवताको (प्रजापति हैं देवता जिसके ऐसा) घोड़ा दक्षिणामें न देकर अग्निहोत्र ग्रहण करता है, उसे अग्निहोत्रका फल नहीं मिलता (इस कारण सामर्थ्य रहनेपर अग्न्याधान करते समय घोड़ेको दक्षिणामें अवश्य देना चाहिये) ॥ ३८ ॥

कम दक्षिणा देनेका निषेध—

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथञ्चन ॥ ३९ ॥

श्रद्धालु तथा जितेन्द्रिय मनुष्यको दूसरे पुण्यकार्य (तीर्थयात्रा आदि) करने चाहिये, परन्तु शास्त्रोक्त विधानसे कम दक्षिणा देकर यज्ञ कभी नहीं करना चाहिये ॥

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून् ।
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥ ४० ॥
[अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः ।
दीक्षितं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः ॥ ४ ॥]

शास्त्रोक्त विधानसे कम दक्षिणा देकर किया गया यज्ञ इन्द्रिय, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्ति, प्रजा और पशु ; इन सबोंको नष्ट कर देता है, इस कारणसे थोड़े धनवालेको यज्ञ नहीं करना चाहिये ॥ ४० ॥

विमर्श—जीवित रहनेपर लोकप्रसिद्धि होनेको 'यश' तथा मरनेपर लोकप्रसिद्धि होनेको 'कीर्ति' कहते हैं ।

अग्निहोत्र नहीं करनेपर प्रायश्चित्त—

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन्ब्राह्मणः कामकारतः ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥

जो अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छापूर्वक प्रातःकाल तथा सायंकाल अग्निहोत्र नहीं करे, उसे एक मास चान्द्रायण व्रत (११।२१६) करना चाहिये ; क्योंकि अग्निहोत्रका त्याग वीरहत्या (पुत्रहत्या) के समान है ॥ ४१ ॥

विमर्श—कुछ लोग एक मासतक अग्निहोत्र नहीं करनेपर उक्त प्रायश्चित्त विधान मानते हैं ।

शूद्रसे धन लेकर अग्निहोत्र करनेका निषेध—

ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ।
ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥

जो शूद्रसे धन लेकर अग्निहोत्र करता है, वह शूद्रका ही याजक (शूद्रको यज्ञ करानेवाला है अर्थात् उस यज्ञका फल अग्निहोत्र करनेवालेको नहीं मिलता है) और वह वेदपाठियोंमें निन्दित होता है ॥ ४२ ॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् ।
पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥

शूद्रसे धन लेकर अग्निहोत्र करनेवाले उन अग्निहोत्रियोंके मस्तकपर पैर रखकर (धनको देनेवाला) शूद्र दुःखोंको पार करता है ।(और उन अग्निहोत्रियोंको अग्निहोत्रका फल कुछ भी नहीं मिलता) ॥ ४३ ॥

प्रायश्चित्तके योग्य मनुष्य—

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥

शास्त्रोक्त कर्म (नित्य सन्ध्योपासन, शवस्पर्श करनेपर स्नान आदि) को नहीं करता हुआ तथा शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्म (हिंसा, चोरी, मद्यपान, द्यूत आदि) को करता हुआ और इन्द्रियोंके विषयोंमें अत्यन्त आसक्त होता हुआ मनुष्य प्रायश्चित्त करनेके योग्य होता है ॥ ४४ ॥

कर्तव्य प्रायश्चित्तमें मतभेद—

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥

कुछ पण्डित लोग अज्ञानसे किये गये पापमें प्रायश्चित्त करनेको कहते हैं और कुछ आचार्य ज्ञानसे किये गये पापमें भी [1]श्रुतिको देखनेसे प्रायश्चित्त करनेको कहते हैं ॥ ४५ ॥

विमर्श—उस श्रुतिका आशय यह है कि—'इन्द्रने एक समय ज्ञानपूर्वक यतियोंको कुत्तोंके लिए दिया, फिर अश्लील वाणीने आकर उनको कहा तो वे इन्द्र ब्रह्माके पास दौड़े गये, ब्रह्माने 'उपहव्य' नामक कर्मको इन्द्रके लिए प्रायश्चित्त

---

१. तथा च सा श्रुतिः—'इन्द्रो यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छत्, तमश्लीला वागेत्यावदत्स प्रजापतिमुपाधावत्तस्मात्तमुपहव्यं प्रायच्छत्' इति । (म० मु०)

बतलाया'। इससे ज्ञात होता है कि ज्ञानपूर्वक किये गये पापकी निवृत्तिके लिए भी प्रायश्चित्त करना चाहिये।

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति।
कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः॥ ४६॥

अनिच्छापूर्वक किया गया पाप वेदाभ्याससे नष्ट हो जाता है तथा राग-द्वेषादि मोहवश इच्छापूर्वक किया गया पाप अनेक प्रकारके प्रायश्चित्तोंसे नष्ट होता है॥४६॥

प्रायश्चित्तीसे संसर्गका निषेध—

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा।
न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः॥ ४७॥

भाग्यवश (या प्रमादवश) पूर्वजन्मकृत पापोंसे प्रायश्चित्तके योग्य द्विज विना प्रायश्चित्त किये सज्जनोंके साथ (याजन-यजनादि) सम्बन्ध न करे॥ ४७॥

प्रायश्चित्त शब्दका अर्थ—

[प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥ ५॥]

['प्रायः' तपको कहते हैं और 'चित्त' निश्चयको कहते हैं, अत एव तपका निश्चयके साथ संयुक्त होना 'प्रायश्चित्त' कहा जाता है॥ ५॥]

कुरूप होनेमें कारण—

इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम्॥ ४८॥

कुछ दुष्ट लोग इस जन्मके दुराचरणोंसे तथा कुछ दुष्ट लोग पूर्व जन्ममें किये गये दुराचरणोंसे कुरूपताको पाते हैं॥ ४८॥

सुवर्णचौर्यादिसे कुनखित्वादि होना—

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम्।
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः॥ ४९॥

सुवर्णको चुरानेवाला कुनखी (खराब नखोंवाला), मद्य-पानकर्ता काले दाँतों वाला, ब्राह्मणका हत्यारा क्षयरोगी, गुरुपत्नीसे सम्भोग करनेवाला दुश्चर्मरोगी॥४९॥

पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम्।
धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः॥ ५०॥

विद्या आदिके दोषको कहनेवाला दुर्गन्धित नाकवाला, चुगलखोर दुर्गन्धित मुखवाला, धान्यका चोर अङ्गहीन, शुद्ध अन्नादिमें दूषित अन्नादि मिलाकर विक्रय आदि करनेवाला अधिक अङ्गवाला (छांगुर-आदि) ॥ ५० ॥

अन्नहर्ताऽऽमयावित्वं मौक्यं वागपहारकः ।
वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पङ्गुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥

अन्नका चोर मन्दाग्नि रोगी, गुरुके विना पढ़ाये पढ़नेवाला मूक (गूंगा), कपड़ेका चोर श्वेतकुष्ठ रोगी, घोड़ेका चोर लंगड़ा होता है ॥ ५१ ॥

[दीपहर्ता[1] भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत् ।
हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसया ॥ ६ ॥]

[दीपक चुरानेवाला अन्धा, दीपक बुझानेवाला काना, हिंसा करनेवाला अधिक रोगी और अहिंसासे नीरोगी होता है ॥ ६ ॥]

एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः ।
जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥

इस प्रकार कर्मविशेषसे सज्जनोंसे निन्दित जड, गूंगे, अन्धे, बहरे और कुरूप उत्पन्न होते हैं ॥ ५२ ॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।
निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५३ ॥

(प्रायश्चित्तके द्वारा) पापनाश नहीं किये हुए मनुष्य (११।४९-५१) निन्द्य लक्षणोंसे युक्त होते हैं, अतएव पाप-निवृत्तिके लिए प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ५३ ॥

पांच महापातक—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५४ ॥

---

१. अत्र 'दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापकस्तथा ।
हिंसारुचिः सदा रोगी वाताङ्गः पारदारिकः ॥'
इत्ययं श्लोको म० मु० उपलभ्यमानः सम्यक् प्रतिभाति, 'अरोगित्वमहिंसया' इत्येतस्य 'सद्विगर्हिताः' (११।५२) इति पदेन विरोधात् प्रकृतानुपयुक्तस्य चतुर्थपादस्य स्थाने 'वाताङ्गः पारदारिकः' इत्येतस्य चतुर्थपादस्य प्रकृतोपयुक्तत्वात् ।

(१) ब्रह्महत्या करना, (२) निषिद्ध मद्यका पीना, (३) (ब्राह्मणके) सुवर्णको चुराना, (४) गुरु (२।१४२) की भार्याके साथ सम्भोग करना, और (५) इन (चारोंमेंसे किसी एक) के साथ भी एक वर्षतक संसर्ग-ये पांच महापातक हैं ॥ ५४ ॥

ब्रह्महत्याके समान कर्म—

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ५५ ॥

जातिश्रेष्ठताके लिए असत्य-भाषण, राजासे (दूसरेके मृत्युकारक) चुगलखोरी, गुरुसे असत्य कहना—ये ब्रह्महत्याके समान हैं ॥ ५५ ॥

मद्यपानके समान कर्म—

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ५६ ॥

पढ़े हुए वेदका (अभ्यास नहीं करनेसे) विस्मरण, (असत् शास्त्रका आश्रयकर) वेदकी निन्दा करना, गवाहीमें असत्य कहना, (अब्राह्मण भी) मित्रकी हत्या, निन्दित (लहसुन, प्याज आदि) तथा अभक्ष्य (मल-मूत्रादि) पदार्थोंका भोजन—ये ६ मद्यपानके समान हैं ॥ ५६ ॥

सुवर्ण चुरानेके समान कर्म—

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च ।
भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥

ब्राह्मणके सुवर्णके अतिरिक्त धरोहरको हड़पनेवाला और मनुष्य (दास-दासी), घोड़ा, चांदी, भूमि, हीरा, मणी चुरानेवाला सुवर्ण चुरानेके समान हैं ॥ ५७ ॥

गुरुपत्नी सम्भोगके समान कर्म—

रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५८ ॥

स्वयोनि (सहोदर बहन), कुमारी, चाण्डाली तथा मित्र तथा पुत्रकी स्त्री में वीर्यपात अर्थात् उनके साथ सम्भोग करना, ये गुरु (२।१४२) की पत्नीके साथ सम्भोग करनेके समान हैं ॥ ५८ ॥

विमर्श—इन (११।५६-५८) वचनोंसे जिस कर्मको जिसके समान बतलाया है, वह उस कर्मके उस प्रधान पापकर्मके समान प्रायश्चित्तके लिए है। गवाहीमें

असत्य बोलने तथा मित्रवध करनेको मद्यपानके समान कहकर आगे (११।८८) इनका प्रायश्चित्त कहा है, उसे पाक्षिक समझना चाहिये। गुरुसे असत्य कहनेको ब्रह्महत्याके समान बतलाना और फिर उससे निवृत्यर्थं ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त बतलाना मुख्य पापकी अपेक्षा उसके समान कहे गये अप्रधान पापके करनेपर प्रायश्चित्तकी लाघवता-प्रदर्शनार्थ है, क्योंकि लोकमें भी 'राजाके समान मन्त्री है' कहनेपर राजासे मन्त्रीको हीन ही माना जाता है। यहां औपदेशिक प्रायश्चित्तोंसे आतिदेशिक तथा समीकृत प्रायश्चित्तका हीन प्रायश्चित्त होता है।

उपपातककथन—

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः।
गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥ ५९ ॥

गोवध, अयाज्य-याजन, परस्त्री-गमन, आत्मविक्रय; गुरु, माता और पिताका त्याग अर्थात् उनकी सेवा-शुश्रूषा नहीं करना; ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन), स्मार्त अग्नि और पुत्रका त्याग (पुत्रको संस्कृत तथा भूषणादिसे अलङ्कृत नहीं करना) ॥५९॥

परिवित्तिताऽनुजेऽनूढे परिवेदनमेव च।
तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६० ॥

परिवित्ति तथा परिवेत्ता (३।१७१) को कन्यादान देना और यज्ञ कराना ॥

कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम्।
तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥

कन्यादूषण (कन्याकी योनिमें अङ्गुल्यादि डालकर कन्याको क्षतयोनि करना), सूद लेना, व्रत (ब्रह्मचर्य आदि) को (मैथुनकर्मादिसे) नष्ट करना, तडाग, उद्यान (बगीचा, फुलवाड़ी आदि), स्त्री और सन्तानको बेचना ॥ ६१ ॥

व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च।
भृत्या चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥ ६२ ॥

व्रात्यभाव (२।३९), (चाचा-ताऊ आदि) बान्धवोंका त्याग (उनके अनुकूल नहीं रहना), वेतन लेकर पढ़ाना, वेतन देकर पढ़ना, अविक्रेय (नहीं बेचने योग्य) सौदोंको बेचना॥ ६२ ॥

सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम्।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥ ६३ ॥

सब आकरों (खान-सुवर्ण आदिकी खानों) में राजाज्ञासे अधिकार होना, (ठेका लेना), बड़े-बड़े यन्त्रों (नदी आदिके प्रवाहको रोकनेवाले आदि मशीनों)

को चलाना, ओषधियोंकी हिंसा, स्त्रीकी कमाई (अध्यापना, शिल्प आदि विहित तथा परपुरुष सम्भोग, नृत्य, गायन आदि निषिद्ध कर्मोंसे स्त्रीका उपार्जित धन) खाना, (श्येनादि यज्ञके द्वारा मारण आदि) अभिचार कर्म करना, (मन्त्र प्रयोगसे) वशीकरण ॥ ६३ ॥

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम्।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥ ६४ ॥

इन्धनके लिए हरे पेड़ोंको (काट या कटवाकर) गिराना, (स्वस्थ रहते हुए) अपने लिए (देवता या पितरोंके उद्देश्यसे नहीं) क्रियारम्भ (पाक क्रियादि) करना और निन्दित (५।५-२०) त्याज्य लहसुन आदि पदार्थको इच्छापूर्वक खाना ॥

अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया।
असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया ॥ ६५ ॥

(शास्त्रानुसार) अधिकार होनेपर भी यज्ञ नहीं करना, चोरी करना, ऋण नहीं चुकाना, निन्दित शास्त्रोंको पढ़ना और कुशीलवका (नाचना गाना, बजाना आदि) कर्म करना ॥ ६५ ॥

धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम्।
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥ ६६ ॥

धान्य, सुवर्ण आदि धातु तथा पशुओंकी चोरी करना, मद्यपान करनेवाली द्विज-स्त्रीके साथ सम्भोग करना, स्त्री, शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रियका वध करना, और नास्तिकता—ये (१-१ भी) उपपातक हैं ॥ ६६ ॥

जातिभ्रंशकारक कर्म—

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः।
जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

ब्राह्मणको (डण्डा या थप्पड़ आदिसे) पीडित करना (मारना), नहीं सूंघने योग्य (लहसुन, प्याज, विष्ठा आदि) वस्तु तथा मद्यको सूंघना, कुटिलता और (गुदा या मुखमें) मैथुन करना-ये (प्रत्येक कर्म) मनुष्यको जातिभ्रष्ट करनेवाले हैं ॥

वर्णसङ्कर करनेवाले कर्म—

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा।
संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

गधा, कुत्ता, मृग (हिरण), हाथी, अज (खसी), भेंड़, मछली, साँप और भैंसा, इनमेंसे प्रत्येकको मारना भी मनुष्यको वर्णसङ्कर करनेवाला है ॥ ६८ ॥

अपात्र करनेवाले कर्म—

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६६ ॥

जिससे दान नहीं लेना चाहिये उससे दान लेना, व्यापार, शूद्रकी सेवा और असत्य बोलना (प्रत्येक) मनुष्यको अपात्र करनेवाले हैं ॥ ६६ ॥

मलिन करनेवाले कर्म—

कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।
फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

कृमि (अत्यन्त छोटे कीड़े), कीट (कृमिसे कुछ बड़े कीड़े) तथा पक्षियोंका बध करना, मद्यके साथ (एक पात्रमें) लाये गये पदार्थका भोजन; फल, लकड़ी तथा फूलको चुराना और (साधारण अनिष्ट-कारक कष्टादिमें भी) अधीरता— ये (प्रत्येक कर्म) मनुष्यको मलिन करनेवाले हैं ॥ ७० ॥

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् ।
यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ् निबोधत ॥ ७१ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) ये सब (११।५४-७०) पृथक्-पृथक् कहे गये पाप जिन-जिन व्रतों (प्रायश्चित्तों) से नष्ट होते हैं, उन्हें (आपलोग मुझसे अच्छी तरह सुनें ॥ ७१ ॥

ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त—

ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

ब्राह्मणका वधकरनेवाला मनुष्य अपने पापकी शुद्धि (निवृत्ति) के लिए कुटिया बनाकर उस (मृत ब्राह्मणके तथा नहीं मिलनेपर दूसरे किसी) के शिरको चिह्न स्वरूप लेकर भिक्षान्नके भोजनको करता हुआ (अग्रिम (११।७८) वचनके अनुसार मुण्डित मस्तक होकर) बारह वर्षोंतक वनमें निवास करे ॥ ७२ ॥

विमर्श—इस प्रायश्चित्तका विधि यह है कि—ब्रह्महत्या करनेवाला जिन घरोंमें पहले कभी नहीं गया हो तथा जिन घरोंमें जानेका पहलेसे निश्चय भी नहीं कर

लिया हो, ऐसे अपूर्व तथा जिन घरोंसे धूंआं नहीं निकल रहा हो और जिन घरोंके सभी लोग खा-पी चुके हों, ऐसे सात घरोंमें धीरेसे जाकर 'मुझ ब्रह्महत्यारेके लिए भिक्षा दीजिये' इस प्रकार अपने पापकर्मको कहकर भिक्षा मांगे तथा एक साम भोजन करे और यदि भिक्षा नहीं मिले तो उस दिन केवल पानी पीकर ही रह जायँ[1]।

यह प्रायश्चित्तविधि वक्ष्यमाण (११।८९) वचनानुसार गुणवान् ब्राह्मणने यदि अकामपूर्वक निर्गुण ब्राह्मणकी हत्याकी हो उसके लिये है और यदि गुणवान् क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रने अकामपूर्वक निर्गुण ब्राह्मणकी हत्या की हो तो उनके लिए क्रमशः द्विगुणित, त्रिगुणित और चतुर्गुणित अर्थात् चौबीस, छत्तीस और अड़तालिस वर्ष इसी प्रकार रहकर प्रायश्चित्त करनेके लिये भविष्यपुराणमें[2] तथा विश्वामित्रसे कहा गया है। कामपूर्वक ब्राह्मणकी हत्या करनेपर तो द्विगुणित (चौबीस वर्ष) प्रायश्चित्त करनेके लिए अङ्गिराने[3] कहा है।

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः॥ ७३॥

'यह ब्रह्मघाती है' यह जाननेवाले शस्त्रधारियोंके (बाणका) स्वेच्छासे

---

१. तथा च यमः—

'सप्तागाराण्यपूर्वाणि यान्यसङ्कल्पितानि च।
संविशेत्तानि शनकैर्विधूमे भुक्तवज्जने॥
भ्रूणघ्ने देहि मे भिक्षामेनो विख्याप्य सञ्चरेत्।
एककालं चरेद्भैक्ष्यं तदलब्ध्वोदकं पिबेत्॥' इति (म० मु०)

२. यथोक्तं भविष्यपुराणे—

'द्विगुणाः क्षत्रियाणान्तु वैश्यानां त्रिगुणाः स्मृताः।
चतुर्गुणास्तु शूद्राणां पर्षदुक्ता महात्मनाम्॥
पर्षदुक्तव्रतं प्रोक्तं शुद्धये पापकर्मणाम्।' इति।

एतद्व्याख्यानं म० मु० अस्य श्लोकस्य व्याख्याने द्रष्टव्यम्। विश्वामित्रवचनञ्च तत्रैव द्रष्टव्यम्।

३. तदाहाङ्गिराः—

'अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं नकामतः।
स्यात्त्वकामकृते यत्तु द्विगुणं बुद्धिपूर्वके॥' इति (म० मु०)

(मरने या मरनेके समान होनेतक[1]) निशाना बने, या जलती हुई अग्निमें नीचे शिर करके तीन बार अपनेको डाले (जिससे मर जावे[2]) ॥ ७३ ॥

यजेत वाऽश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा ।
अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुताऽपि वा ॥ ७४ ॥

अथवा अश्वमेध यज्ञ करे । तथा स्वर्जित्, गोमेध, अभिजित्, विश्वजित्, त्रिवृत्, और अग्निष्टुत् ; इनमें से कोई एक यज्ञ (अज्ञानसे[3]) ब्रह्महत्या करनेवाला द्विजाति[4] (१०।४) करे ॥ ७४ ॥

विमर्श—पूर्वोक्त दो श्लोकों (११।७३-७४) के द्वारा विहित प्रथम तीन प्रायश्चित्त (शस्त्रधारियोंका निशाना बनना, अग्निमें नीचे शिर करके अपनेको डालना तथा अश्वमेध यज्ञ करना) कामपूर्वक क्षत्रियके ब्राह्मणवध करनेपर हैं ।

---

१. तदाह याज्ञवल्क्यः—

'सङ्ग्रामे वा हतो लक्ष्यभूतः शुद्धिमवाप्नुयात् ।
मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्धयति ॥' इति (या० स्मृ० ३।२४८)

२. 'तथा प्रास्येत् यथा म्रियेत' इत्यापस्तम्बवचनात्तथा प्रक्षिपेत्' (म० मु०)

३. एतत्प्रायश्चित्तद्वयमनन्तरं वक्ष्यमाणञ्च 'यजेत वाऽश्वमेधेन (११।७४)' इत्येवं प्रायश्चित्तत्रयमिदं कामतः क्षत्रियस्य ब्राह्मणवधविषयम् । मनुश्लोकमेव लिखित्वा यथा व्याख्यानं भविष्यपुराणे—

'लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः ।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥
यजेत वाऽश्वमेधेन क्षत्रियो विप्रघातकः ।
प्रायश्चित्तत्रयं ह्येतत्क्षत्रियस्य प्रकीर्तितम् ॥
क्षत्रियो निर्गुणो धीरं ब्राह्मणञ्चाग्निहोत्रिणम् ।
निहत्य कामतो वीरलक्ष्यः शस्त्रभृतो भवेत् ॥
चतुर्वेदविदं धीरं ब्राह्मणञ्चाग्निहोत्रिणम् ।
निहत्य कामादात्मानं क्षिपेदग्नाववाक्शिराः ॥
निर्गुणं ब्राह्मणं हत्वा कामतो गुणवान् गुहः ।
यष्ट्वा वा अश्वमेधेन क्षत्रियो यो महीपतिः ॥' इति (म० मु०)

४. 'एतानि चाज्ञानतो ब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानि त्रैवर्णिकस्य विकल्पितानि । तदुक्तं भविष्यपुराणे—

'स्वर्जितादेश्च यद्वीर कर्मणा पृतनापते ।
अनुष्ठानं द्विजातीनां वधे ह्यमतिपूर्वके ॥' इति (म० मु०)

जपन्वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्।
ब्रह्महत्याऽपनोदाय मितभुङ् नियतेन्द्रियः॥ ७५॥

अथवा स्वल्पाहार करता हुआ जितेन्द्रिय होकर किसी एक वेदको जपता हुआ ब्रह्महत्या (के दोष)के विनाश के लिए सौ योजन (४०० कोश) तक गमन करे॥

सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्।
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम्॥ ७६॥

अथवा वेदज्ञाता ब्राह्मणके लिए सर्वस्व (समस्त सम्पत्ति) को दे देवे, या उसके जीवनपर्यन्त खाने-पहननेके लिये या सब सामग्रियोंके सहित घरको देवे॥

विमर्श—दो श्लोकों (११।७५-७६) में कथित यह प्रायश्चित्त-विधान अज्ञानपूर्वक ब्राह्मणादि वर्णत्रय द्वारा किये गये जातिमात्रसे ब्राह्मणके वधकी निवृत्तिके लिए है[1]।

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम्।
जपेद्वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम्॥ ७७॥

अथवा (नीवार-तीनी आदि) हविष्यान्नको खाता हुआ प्रसिद्ध सोतेसे लेकर (पश्चिम) समुद्र तक (जहांतक सरस्वती नदी बहती है वहां तक) जावे, अथवा नियमित (अत्यन्त थोड़ा) भोजन करता हुआ वेदकी संहिताको तीन बार जपे॥

विमर्श—ज्ञानपूर्वक जातिमात्रसे ब्राह्मण (विद्वान् एवं गुणवान् ब्राह्मण नहीं) के वध करनेवाले द्विजातियोंके लिए यह प्रायश्चित्त-विधान है[2]।

कृतवापनो निवसेद् ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा।
आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः॥ ७८॥

अथवा मुण्डन कराकर गौओं तथा ब्राह्मणोंका हित करता हुआ गांवके पास गोशालामें पवित्र (साधु आदिके) आश्रममें या पेड़के नीचे निवास करे॥ ७८॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत्।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च॥ ७९॥

(पूर्व (११।७२ या ७८) वचनानुसार किसी स्थानमें रहकर बारह वर्षतक प्रायश्चित्त करनेका नियम लिया हुआ ब्रह्मघाती मनुष्य (अग्नि, व्याघ्र आदि हिंसक या जल आदि से आक्रान्त) ब्राह्मण या गौ (की रक्षा) के लिए तत्काल प्राणोंको छोड़ दे, अथवा उनकी रक्षार्थ प्राणपणसे चेष्टा करता हुआ वह मनुष्य जीकर भी

१-२. भविष्यपुराणोक्तमेतत्सर्वं तत्र मन्वर्थमुक्तावल्यां वा द्रष्टव्यम्।

बारह (या अपने वर्णके अनुसार नियत) वर्षके समाप्त नहीं होनेपर भी (वह ब्राह्मण रक्षक) ब्रह्महत्याके दोषसे छूट जाता है ॥ ७९ ॥

त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा ।
विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥ ८० ॥

ब्राह्मणके धनके चुरानेवालोंसे निष्कपट तथा यथाशक्ति तीन वार उस धनको छुड़ानेका प्रयत्न करनेपर, या एक वा दो वारमें ही उन चोरोंको जीतकर उस चोरित धनको उसके स्वामी ब्राह्मणके लिए देनेपर, अथवा चुराये हुए अपने धनको बचानेके लिए चोरोंसे लड़कर मरनेके लिए तत्पर ब्राह्मणके लिए चुराये हुए धनके बराबर धन देकर उस ब्राह्मणकी प्राणरक्षा करनेसे वह ब्रह्मघाती ब्रह्महत्याके दोषसे छूट जाता है ॥ ८० ॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः ।
समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१ ॥

इस प्रकार (११।७२-८०) सर्वदा नियमयुक्त ब्रह्मचर्य धारण किया हुआ, सावधान चित्तवाला (ब्रह्मघाती मनुष्य) बारह (और क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र क्रमशः २४, ३६, ४८) वर्षपर 'ब्रह्महत्यासे छूट जाता है ॥ ८१ ॥

शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे ।
स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥

अथवा अश्वमेध यज्ञमें ब्राह्मणों तथा राजाओंके समागम (एकत्रित) होनेपर अपने पापको ('मैंने ब्रह्महत्या की है' इस प्रकार) बतलाकर अवभृथ (यज्ञ समाप्तिके बाद किया जानेवाला) स्नान करके (ब्रह्महत्या करनेवाला उस पापसे) छूट जाता है ॥ ८२ ॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्तविधान भविष्यपुराणके अनुसार गुणवान् ब्राह्मणकी अज्ञानपूर्वक हत्या करनेपर है। 'अश्वमेधविवर्जित सम्पूर्ण प्रायश्चित्तोंके शेष होनेसे प्रकरण प्राप्त बारह वर्षवाले इस प्रायश्चित्तके बीचमें अवभृथ स्नान करनेपर उसीसे शुद्धि (पापनिवृत्ति) हो जाती है' यह गोविन्दराजका कथन उक्त भविष्यपुराणके वचनसे विरुद्ध होनेसे ठीक नहीं है।

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते ।
तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥

क्योंकि ब्राह्मणको धर्मका मूल तथा क्षत्रियको धर्मका अग्रभाग (मनु आदि महर्षियोंने) कहा है, इस कारण (वह ब्रह्मघाती पुरुष) उनके एकत्रित होनेपर अपने पापको निवेदनकर (अवभृथ स्नान करनेसे) शुद्ध हो जाता है ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि दैवतम् ।
प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

ब्राह्मण जन्मसे ही देवताओंका भी देवता (पूज्य) है, मनुष्योंका (प्रत्यक्षयुक्त) प्रमाण है, क्योंकि इसमें वेद ही कारण है ॥ ८४ ॥

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनः सुनिष्कृतम् ।
सा तेषां पावनाय स्यात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥ ८५ ॥

(इस कारण अर्थात् ब्राह्मणकी पूज्यता होनेसे) उन ब्राह्मणोंमेंसे वेदज्ञाता तीन ब्राह्मण पापशुद्धिके लिए जो प्रायश्चित्त कहें, वह उन पापियोंको शुद्ध (पाप रहित) करनेवाला है; क्योंकि विद्वानोंका वचन पवित्र होता है ॥ ८५ ॥

अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः ।
ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८६ ॥

अत एव ब्राह्मण (आदि पापकर्ता) सावधान होकर आत्मवान् होनेसे (पूर्वोक्त ११।७२-८३) प्रायश्चित्तोंमें-से किसी एक प्रायश्चित्तको करके शुद्ध (पापहीन) हो जाता है ॥ ८६ ॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त-विधान एक ब्राह्मणकी हत्या करनेपर है, अधिक ब्राह्मणोंकी एक साथ या अनेक बारमें हत्या करनेपर, घरमें आग आदि लगानेसे अनेक ब्राह्मणोंकी हत्या करनेपर भविष्यपुराणमें 'ब्राह्मणो······'इत्यादि प्रायश्चित्त-विधान कहा गया है । यह सब वहींपर तथा मन्वर्थमुक्तावलीमें देखना चाहिये ।

गर्भ, तथा यजमान क्षत्रिय वैश्यादिकी हत्याका प्रायश्चित्त—

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।
राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥

अज्ञात (स्त्रीपुरुष या नपुंसकका ज्ञानरहित) गर्भ, यज्ञ करते हुए क्षत्रिय तथा वैश्य और आत्रेयीकी हत्या करके (इसी ब्रह्महत्याके) प्रायश्चित्तको करे ॥ ८७ ॥

विमर्श—'आत्रेयी' शब्दसे ऋतुमती ब्राह्मणीका ग्रहण है, इसकी हत्या करनेपर

---

१. 'रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीम्' इति वसिष्ठस्मरणात् ।
२. 'तथाऽऽत्रेयीं च ब्राह्मणीम्' इति यमस्मरणात् ।

तीन वर्णका उपपातक पहले (११।६६) कह चुके हैं। आगेका '......कृत्वा च स्त्री-सुहृद्वधम्।' इस अङ्गिराके वचनके अनुसार अग्निहोत्री ब्राह्मणकी स्त्रीकी हत्या करनेपर प्रायश्चित्तविधायक है।

आत्रेयीका लक्षण—

[जन्मप्रभृतिसंस्कारैः संस्कृता मन्त्रवाचया।
गर्भिणी त्वथवा स्यात्तामात्रेयीं च विदुर्बुधाः ॥ ७ ॥]

[जन्मसे लेकर मन्त्रपूर्वक संस्कारोंसे संस्कृत स्त्री या गर्भिणीको विद्वान् लोग 'आत्रेयी' कहते हैं ॥ ७ ॥]

साक्षीमें असत्यभाषणादि करनेपर प्रायश्चित्त—

उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा।
अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८८ ॥

सुवर्ण या भूमि आदिकी गवाहीमें असत्य बोलनेपर, गुरुपर मिथ्या दोष लगानेपर, धरोहरका अपहरणकर तथा (अग्निहोत्री ब्राह्मणकी) स्त्री और मित्रकी हत्या करनेपर (ब्रह्महत्याके समान प्रायश्चित्त करे) ॥ ८८ ॥

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्।
कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥

यह प्रायश्चित्त अनिच्छा (अज्ञान) से ब्राह्मणकी हत्या करनेपर कहा गया है, इच्छासे (जानबूझकर) ब्राह्मणकी हत्या करनेपर निस्तार नहीं है ॥ ८९ ॥

विमर्श—पूर्व (११।४८) वचनसे विरोध होनेके कारण यह वचन प्रायश्चित्तका अभावसूचक नहीं है, किन्तु प्रायश्चित्तका आधिक्यसूचक है।

सुरापानका प्रायश्चित्त—

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ ९० ॥

द्विज मोहवश मदिराको पीकर अग्निके समान गर्म मदिराको पीवे, उस (अग्निके समान जलती हुई मदिरा) से शरीर अर्थात् मुखके जलने (के कारण मर जाने) पर मनुष्य उस (मदिरा पीनेसे उत्पन्न पाप) से छूट जाता है ॥९०॥

विमर्श—आटेके बने मदिराको पीनेवाले द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) और आटे, महुए तथा गुड़से बने मदिराको पीनेवाले ब्राह्मणके लिए यह प्रायश्चित्त है, ऐसा 'मन्वर्थमुक्तावली' कार पहले (९।२३५) कह चुके हैं, तथा इस श्लोककी

व्याख्यामें भी भविष्यपुराणके वचनका प्रमाण देते हुए आटेसे बनी हुई मदिराके पीनेपर ही प्रायश्चित्त करनेके लिए कहा गया है। बृहस्पतिके मतके अनुसार यह वचन ज्ञानपूर्वक मदिरापान करनेपर प्रायश्चित्त-विधायक है।

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा।
पयो घृतं वाऽऽमरणाद् गोशकृद्रसमेव वा॥ ९१॥

अथवा (सन्तप्त होनेसे) अग्निके समान वर्णवाले गोमूत्र, पानी, दूध, घी या गोबरके रसको मरनेतक पीवे॥ ९१॥

कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि।
सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी॥ ९२॥

अथवा बालसे बने वस्त्रको पहनता हुआ, जटाधारण करता हुआ और सुरापात्रके चिह्नको धारण करता हुआ मदिरा पीनेवाला मनुष्य मदिरा पीनेके दोषसे छूटनेके लिए एक वर्षतक कण (अन्नकी चुन्नी खुद्दी) या खलीको रातमें एक बार खावे॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त वचन अप्रधान (गुड़ या महुआका बना हुआ) मदिरा अज्ञानपूर्वक पीनेपर समझना चाहिये।

मदिरा पीनेमें दोषका कारण—

सुरां वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥ ९३॥

सुरा (मदिरा) अन्नों (खाद्य पदार्थों) का मल है और पापी भी मल कहा जाता है, इस कारणसे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंको सुरा नहीं पीना चाहिये॥९३॥

सुरा-भेद तथा उसे पीनेका निषेध—

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः॥ ९४॥

---

१. तद्वचनं यथा—
'सुरा च पैष्टी मुख्योक्ता न तस्यास्त्वितरे समे।
पैष्ट्याः पापेन चैतासां प्रायश्चित्तं निबोधत॥
यमेनोक्तं महाबाहो समासव्यासयोगतः।' इति।

२. तथा च बृहस्पतिः—
'सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिःक्षिपेत्।
मुखे तया स निर्दग्धो मृतः शुद्धिमवाप्नुयात्॥' इति।

(१) गौडी, (२) पैष्टी और (३) माध्वी अर्थात् क्रमशः गुड, आटे और महूएके फूलसे बनी हुई तीन प्रकारकी सुरा (मदिरा) होती है; जिस प्रकारकी एक है, उसी प्रकारकी सभी हैं, इस कारण द्विजोत्तमों (श्रेष्ठ द्विजों—ब्राह्मणादि वर्णत्रय) को उसका पान नहीं करना चाहिये ॥ ९४ ॥

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुराऽऽसवम् ।
तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥ ९५ ॥

मद्य, मांस, सुरा और आसव ये चारो यक्ष-राक्षसों तथा पिशाचोंके अन्न (भक्ष्य पदार्थ) हैं, अतएव देवताओंके हविष्य खानेवाले ब्राह्मणोंको उनका भोजन (पान) नहीं करना चाहिये ॥ ९५ ॥

विमर्श—'मद्य' से पुलस्त्य-सम्मत नव प्रकारके मद्यका,[1] 'सुरा' से पूर्वोक्त (११।९४) तीन प्रकारकी सुराका-इस प्रकार कुल १२ प्रकारकी मदिराका तथा 'आसव' से दाख, गन्ना आदिके रससे तत्काल सन्धानकर[2] बनाये हुए भक्ष्य विशेषका ग्रहण है। कुछ व्याख्याकारोंका मत है कि—'देवानामश्नता हविः' इस चतुर्थ पादमें पुँल्लिङ्गके 'अश्नता' पदसे ब्राह्मण पुरुषके लिए ही सुरादि पीनेका निषेध है, ब्राह्मणीके लिए नहीं किन्तु मद्य पीनेवाली ब्राह्मणीके लिए पतिलोककी प्राप्तिका निषेध तथा इसी जन्ममें कुतिया, गीधिन और सूकरी होनेका महर्षि याज्ञवल्क्य-[3]प्रोक्त वचन मिलनेसे उक्त व्याख्याकारोंका मत ठीक नहीं है।

अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाऽप्युदाहरेत् ।
अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ९६ ॥

(क्योंकि मदपानसे मतवाला) ब्राह्मण अपवित्र (मल-मूत्रादिसे अशुद्ध

---

१. तदुक्तम्—'पानसद्राक्षमाध्वीकं खार्जूरं तालमैक्षवम् ।
माध्वीकं टाङ्कमार्द्वीकमैरेयं नारिकेलजम् ॥
सामान्यानि द्विजातीनां मद्यान्येकादशैव च ।
द्वादशन्तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम् ॥' इति ।

२. तथाहि—द्राक्षेक्षुटङ्कखर्जूरपनसादेश्च यो रसः ।
सद्यो जातं च पीत्वा च त्र्यहाच्छुद्धयेद् द्विजोत्तमः ॥' इति ।

३. तदुक्तम्—'पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ।
इहैव सा शुनी गृध्री सूकरी चोपजायते ॥' इति
(याज्ञ० स्मृ० ३।२५६)

नाली आदि) में गिरेगा, वेदवाक्यका उच्चारण करेगा और निषिद्ध कर्म (अहिंस्य-हिंसा आदि) करेगा (अतएव उसे मद्यपान नहीं करना चाहिये) ॥९६॥

मद्य-पानसे ब्राह्मणत्वनाशादि—

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत्।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ ९७ ॥

जिस ब्राह्मणका शरीरस्थ ब्रह्म (वेद-संस्कार रूपसे अवस्थित एक शरीर होनेसे जीवात्मा) एक बार भी मद्यसे आप्लावित होता है अर्थात् जो ब्राह्मण एक बार भी मद्य पीता है, तो उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है तथा वह शूद्रत्वको प्राप्त करता है ॥ ९७ ॥

एषा विचित्राऽभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ९८ ॥

(महर्षियोंसे भृगुजी कहते हैं कि—) यह (११।९०-९७) सुरा पीनेकी शुद्धि (मैंने) कही, अब इसके आगे (११।९९-१०१) सोना चुरानेकी शुद्धि (प्रायश्चित्त) को मैं कहूंगा ॥ ९८ ॥

सुवर्ण चुरानेका प्रायश्चित्त—

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु।
स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥ ९९ ॥

(ब्राह्मणका) सुवर्ण चुरानेवाला ब्राह्मण अपने अपराधको कहता हुआ राजाके पास जाकर कहे कि—'आप मुझे दण्डित करें' ॥ ९९ ॥

विमर्श—यद्यपि इस वचनमें केवल 'विप्र'के लिए ही यह प्रायश्चित्त कहा गया है, किन्तु दूसरे किसी प्रायश्चित्तका विधान नहीं करनेसे तथा '......प्रायश्चित्तीयते नरः' (११।४४) वचनमें सबका सामान्यतः निर्देश होनेसे और अग्रिम श्लोकके विवेचनसे यह प्रायश्चित्त क्षत्रियादि वर्णोंके लिए भी है। उस ब्राह्मणके सुवर्णके चोरको पूर्व (८।३१५) वचनके अनुसार स्वयं कन्धेपर मुसल लिए हुए जाना चाहिये।

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्।
वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ १०० ॥

तब राजाको चाहिये कि (पूर्व (८।३१५) वचनके अनुसार उक्त चोर जिस मुसलको कन्धेपर रखकर लाया है, उस) मुसलको लेकर उससे चोरको स्वयं मारे, उसे मारने (या मारनेके कारण मृततुल्य होने) से (वह चोर) शुद्ध (पापहीन)

हो जाता है और ब्राह्मण आगे (११।१०१) कही हुई तपस्यासे ही शुद्ध हो जाता है ॥ १०० ॥

विमर्श—'ब्राह्मणस्तपसैव तु' इस चतुर्थ पादमें 'एव' पद देनेसे तथा सब पापोंमें ब्राह्मणको मारनेका पहले (८।३८०) निषेध करनेसे उक्त चोर यदि ब्राह्मण हो तो उसको मुसलसे मारनेका विधान नहीं है। भविष्य पुराणमें इसी प्रायश्चित्तको कहते समय 'वा' शब्दसे क्षत्रियादिके लिए भी तपका निषेध नहीं है, किन्तु वैकल्पिक पक्ष है। यह सब मन्वर्थमुक्तावलीकारने स्पष्ट लिखा है, अतः जिज्ञासुओंको वहीं देखना चाहिये।

तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम्।
चीरवासा द्विजाऽरण्ये चरेद् ब्रह्महणो व्रतम् ॥ १०१ ॥

(ब्राह्मणके) सुवर्णको चुरानेसे उत्पन्न दोषको दूर करनेका इच्छुक द्विज (ब्राह्मण आदि तीनो वर्ण) पुराने वस्त्रको धारण करता हुआ वनमें जाकर ब्रह्महत्याके लिए कहे गये (११।७२) प्रायश्चित्तको करे ॥ १०१ ॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त पांच रत्ती या अधिक ब्राह्मणके सुवर्ण को चुरानेपर है। भविष्यपुराणमें तो गुणहीन तथा पापकर्ममें तत्पर क्षत्रिय आदि तीनो वर्णों द्वारा गुणवान् ब्राह्मणके पांच या ग्यारह निष्क (असर्फी या तोला) सुवर्णको चुराने पर आत्मशुद्धिके लिए अग्निमें प्रवेश करके जलकर मरनेसे उस चोरकी शुद्धि कही गयी है।

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः।
गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) द्विज इन (११।९९-१०१) व्रतोंसे (ब्राह्मणके) सुवर्णको चुरानेसे उत्पन्न पापको दूर करे और गुरु-स्त्रीसम्भोगसे उत्पन्न पापको इन (११।१०३-१०६) व्रतोंसे दूर करे ॥ १०२ ॥

गुरुस्त्री-गमनका प्रायश्चित्त—

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये।
सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

गुरु (२।१४२) की स्त्रीके साथ सम्भोग करनेवाला मनुष्य अपना पाप कहकर तपाये गये लोहेकी शय्यापर सोवे तथा जलती हुई लोहमयी स्त्री-प्रतिमाको आलिङ्गनकर मरनेसे वह पापी शुद्ध (पापहीन) होता है ॥ १०३ ॥

स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ ।
नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः ॥ १०४ ॥

अथवा अपने लिङ्ग तथा अण्डकोषको स्वयं काटकर उन्हें अञ्जलिमें लेकर सीधा होकर (कुटिल भावनाका त्यागकर) जब तक गिरे अर्थात् मरे नहीं तबतक नैर्ऋत्य दिशाकी ओर चले ॥ १०४ ॥

विमर्श—ये दोनों (११।१०३–१०४) प्रायश्चित्त-वचन सवर्ण (समान-जातीय) गुरुपत्नीमें ज्ञानपूर्वक वीर्यक्षरण तक सम्भोग करनेपर हैं ।

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने ।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ १०५ ॥

अथवा खट्वाङ्ग धारण करता हुआ पुराना वस्त्र पहने एवं केश तथा नख बढ़ाये हुए उस (गुरुपत्नी-सम्भोगकर्ता) को निर्जन वनमें सावधान होकर एक वर्ष तक प्राजापत्य नामक (११।२११) कृच्छ्र व्रत करना चाहिये ॥ १०५ ॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त लघु होनेसे अपनी स्त्री-आदिके भ्रमसे अज्ञानपूर्वक गुरुपत्नीके साथ सम्भोग करनेपर है ।

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः ।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

अथवा—गुरुपत्नी-सम्भोगजन्य पापकी निवृत्तिके लिए जितेन्द्रिय होकर हविष्यान्नसे या नीवार आदिकी यवागू (लपसी) से तीन मासतक चान्द्रायण व्रत (१०।२१६–२२०) करे ॥ १०६ ॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त पूर्व प्रायश्चित्तकी अपेक्षा लघुतम होनेसे असाध्वी या असवर्णा गुरुपत्नीके साथ सम्भोग करनेपर है ।

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् ॥
उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥

भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि) इन (११।१०८–११९) व्रतोंसे महापातकी (११।५४) लोग अपने पापोंको नष्ट करें तथा उपपातकी लोग इन (११।५९–६६) अनेक प्रकारके व्रतोंसे अपने पापको दूर करें ॥ १०७ ॥

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत् ।
कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥

उपपातकसे युक्त गोघातक शिखासहित मुण्डन कराकर उस (मारी हुई) गायके चमड़ेसे शरीरको ढककर एक मास (पतले) यवको पीता हुआ गोशालामें निवास करे ॥ १०८ ॥

चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् ।
गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ १०९ ॥

इसके बाद दो मासतक (द्वितीय तथा तृतीय मासमें) गोमूत्रसे स्नान करता हुआ जितेन्द्रिय होकर चौथे साम (आज प्रातःकाल भोजनकर फिर दूसरे दिन सायङ्काल-इसी क्रमसे सर्वदा) कृत्रिम नमकसे रहित (सेंधा नमक खाया जा सकता है) थोड़ा हविष्यान्न भोजन करे ॥ १०९ ॥

दिवाऽनुगच्छेद् गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत् ।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ ११० ॥

दिनमें प्रातःकाल (चरनेके लिए वन आदिको जाती हुई) गायोंके पीछे-पीछे जाय और रुककर उनके खुरोंके आघातसे उड़ती हुई धूलिका पानकरे तथा (मच्छर हांकने आदिसे) उनकी सेवा तथा नमस्कार करके रात्रिमें (उनकी रक्षार्थ) वीरासनसे बैठे ॥ ११० ॥

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ।
आसीनासु तथाऽऽसीनो नियतो वीतमत्सरः ॥ १११ ॥

पवित्र तथा क्रोधरहित होकर उन गायोंके खड़ा होनेपर खड़ा होवे, चलनेपर चले तथा बैठनेपर बैठे[1] ॥ १११ ॥

आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥

रोग या चोर अथवा व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओंसे भयभीत या गिरी हुई या कीचड़ आदिमें फंसी हुई गौको सब उपायोंसे रक्षा करे[2] ॥ ११२ ॥

उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ११३ ॥

१-२. तथा च दिलीपकर्तृकनन्दिनीसेवाप्रसङ्गे महाकविकालिदासः—
'स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥' इति (रघु० २।६)

गर्मी, वर्षा या शीत रहनेपर या आंधी चलनेपर यथाशक्ति गौकी विना रक्षा किये अपनी रक्षा न करे[1] ॥ ११३ ॥

आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले।
भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ११४ ॥

अपने या दूसरेके घर, खेत या खलिहानमें खाती हुई गायको तथा पीते हुए बछवेको (किसीसे रोकनेके लिए) न कहे ॥ ११४ ॥

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥

इस विधि (११।१०८–११४) से जो गोघातक तीन मासतक गौका अनुसरण (सेवन) करता है, वह गोहत्यासे उत्पन्न पापको नष्ट कर देता है ॥ ११५ ॥

वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥ ११६ ॥

इस प्रकार (११।१०८–११४) व्रतको समाप्तकर दश गाय तथा एक बैल ब्राह्मणके लिए दान कर देवे तथा इनकी सम्पत्ति नहीं होनेपर अपना सर्वस्व (सब धन) वेदज्ञाता ब्राह्मणके लिए दान करदे ॥ ११६ ॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः।
अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ ११७ ॥

अवकीर्णी (११।१२०) छोड़कर शेष उपपातक (११।५९–६६) करनेवाला मनुष्य गोहत्या-निवारक इसी (११।१०८–११५) व्रतको करे अथवा चान्द्रायण व्रत (११।२१६–२१९) को करे ॥ ११७ ॥

अवकीर्णीका प्रायश्चित्त—

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥

'अवकीर्णी' (११।१२०) पुरुष रातमें काने गधे (की चर्बी) से चौरास्तेपर पाकयज्ञकी विधिसे 'निर्ऋति' नामक देवताके उद्देश्यसे यज्ञ करे ॥ ११८ ॥

---

१. नन्दिन्याः सेवापरायणो दिलीपो मायाकृतसिंहात्तां रक्षितुं स्वशरीरमेवार्पयामासेति रघुवंशद्वितीयसर्गकथा (२।२६–५९) द्रष्टव्या।

हुत्वाऽग्नौ विधिवद्धोमानन्ततश्च समेत्य वा ।
वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाऽऽहुतीः ॥ ११९ ॥

(पूर्व (११।११८) वचनके अनुसार काने गधेकी चर्बीसे) विधिपूर्वक 'निर्ऋति' नामक देवताके उद्देश्यसे हवनकर 'समासिञ्चन्तु मरुतः····' इस मन्त्रसे वायु, इन्द्र, गुरु तथा अग्निके उद्देश्यसे घीकी आहुति देकर हवन करे ॥ ११९ ॥

अवकीर्णीका लक्षण—

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः ।
अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यावस्थामें रहनेवाला जो द्विज इच्छापूर्वक (स्त्रीके साथ सम्भोग करता हुआ) वीर्यपातकर (ब्रह्मचर्य) व्रतको भङ्ग करता है, उसे 'अवकीर्णी' कहते हैं[1] ॥

वायु आदिके उद्देश्यसे हवन करनेमें कारण—

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च ।
चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥ १२१ ॥

व्रती (ब्रह्मचर्य व्रतवाले) का नियमानुष्ठान तथा वेदाध्ययन आदिसे उत्पन्न तेज वायु, इन्द्र, गुरु तथा अग्नि; इन चारोंके पास जाता है (अत एव इन चारोंके उद्देश्यसे 'अवकीर्णी'को आहुति देनेका पूर्व (११।११९) वचनसे विधान किया गया है) ॥ १२१ ॥

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ।
सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥

इस (११।१२०) पापके करनेपर (पूर्वोक्त (११।११८–११९) विधिसे याग तथा हवन करके वह क्षतव्रत ब्रह्मचारी) गधेका चमड़ा ओढ़कर अपने पापको कहता हुआ सात घरोंमें भिक्षा मांगे ॥ १२२ ॥

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुद्ध्यति ॥ १२३ ॥

उन सात घरोंसे मिले हुए भिक्षान्नको एक साम खाता हुआ तथा त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल) स्नान करता हुआ वह 'अवकीर्णी' एक वर्षमें शुद्ध (पापरहित) हो जाता है ॥ १२३ ॥

---

१. तदुक्तम्—'अवकीर्णी भवेद् गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् ।' इति ।

जातिभ्रंशकर कर्मका प्रायश्चित्त—

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वाऽन्यतममिच्छया ।
चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४ ॥

जातिभ्रंशकर कर्मों (११।६७) में-से किसी एकको ज्ञानपूर्वक करनेवाला मनुष्य सान्तपन कृच्छ्र (११।२१२) तथा अज्ञानपूर्वक करनेवाला प्राजापत्य (११।२११) व्रतको करे ॥ १२४ ॥

सङ्करीकरणादिका प्रायश्चित्त—

सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ।
मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥ १२५ ॥

(ज्ञानपूर्वक) सङ्करीकरण (११।६८) तथा अपात्रीकरण (११।६९) कर्मोंमें-से किसी एक कर्मको करनेवाला एक मासतक चान्द्रायण (११।२१६–२२०) व्रत करे और अपात्रीकरण (११।६९) कर्मोंमें-से किसी एक कर्मको करनेवाला तीन दिनतक गर्म यवागू (लपसी) खावे ॥ १२५ ॥

क्षत्रियादिके वधका प्रायश्चित्त—

तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ।
वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥ १२६ ॥

ब्रह्महत्याका चौथाई भाग क्षत्रियके वध करनेपर, आठवां भाग सदाचारी वैश्यका वध करनेपर और सोलहवां भाग शूद्रके वध करनेपर पाप होता है ॥१२६॥

विमर्श—उक्त पाप सदाचारी क्षत्रियादिका इच्छापूर्वक वध करनेपर होता है, अतएव उसकी शुद्धि भी क्रमशः तीन वर्ष, डेढ़ वर्ष तथा नव मासतक ब्रह्महत्याके प्रायश्चित्तसे होती है।

अनिच्छासे क्षत्रियघाती ब्राह्मणको प्रायश्चित्त—

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।
वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितव्रतः ॥ १२७ ॥

अनिच्छापूर्वक क्षत्रियका वध करनेवाला ब्राह्मण अच्छी तरह व्रतकर एक बैलके साथ सहस्र गायोंको ब्राह्मणके लिए देवे ॥ १२७ ॥

क्षत्रियवधका अन्य प्रायश्चित्त—

त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम् ।
वसन् दूरतरे ग्रामाद् वृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥

अथवा संयमी तथा जटाधारी होकर ग्रामसे अधिक दूर पेड़के नीचे निवास करता हुआ तीन वर्ष तक ब्रह्महत्याके प्रायश्चित्तको करे ॥ १२८ ॥

वैश्य वधका अन्य प्रायश्चित्त—

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।
प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥ १२९ ॥

(अनिच्छापूर्वक) सदाचारी वैश्यका वध करनेवाला ब्राह्मण इसी (११।१२८) प्रायश्चित्तको करे तथा एक बैलके साथ सौ गायोंको (ब्राह्मणके लिए) दे ॥१२९॥

शूद्रवधका प्रायश्चित्त—

एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान् शूद्रहा चरेत् ।
वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥ १३० ॥

(अनिच्छापूर्वक सदाचारी) शूद्रका वध करनेवाला ब्राह्मण छः मासतक इसी (११।१२८) व्रतको करे तथा एक बैलके साथ ग्यारह गायोंको ब्राह्मणके लिए दे ॥

विमर्श—अनिच्छापूर्वक क्षत्रिय आदिका वध करनेपर इस व्रतके लघु होनेसे पूर्व (११।१२६) वचनके साथ इन तीनो वचनों (११।१२८-१३०) की पुनरुक्ति नहीं होती ।

बिल्ली आदिके वधका प्रायश्चित्त—

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।
श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १३१ ॥

बिल्ली, नेवला, चाष (नीलकण्ठ) पक्षी, मेढ़क, कुत्ता, गोह, उल्लू और कौवा ; इनमेंसे किसीको मारकर शूद्रहत्याके व्रत (प्रायश्चित्त) को करे ॥ १३१ ॥

पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत् ।
उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाऽब्दैवतं जपेत् ॥ १३२ ॥

अथवा (उक्त ११।१३१) मार्जार आदिको मारनेवाला तीन रात दूध पीवे, या एक योजन (चार कोश) गमन करे, या नदीमें स्नान करे अथवा 'अब्दैवत' सूक्त (वरुण है देवता जिसका ऐसा 'आपो हिष्ठा मयो भुवः………' इस मन्त्र) को जपे ॥ १३२ ॥

विमर्श—पूर्व (११।१३१) श्लोकोक्त प्रायश्चित्त इच्छापूर्वक वध करनेपर करना चाहिये और अनिच्छापूर्वक (भूलसे) वध करनेपर इस (११।१३२) श्लोकमें वर्णित प्रायश्चित्तको करना चाहिये । इसमें वर्णित चारो प्रायश्चित्तोंमें-से पहलेको करनेके

लिए सामर्थ्य नहीं रहनेपर दूसरा तथा दूसरेको करनेके लिए सामर्थ्य नहीं रहनेपर तीसरा इसी क्रमसे आगेवाले चौथे प्रायश्चित्तको करना चाहिये इन चारो प्रायश्चित्तोंको तीन-तीन रात अर्थात् तीन-तीन दिन करना चाहिये।

सांप तथा नपुंसक मारनेका प्रायश्चित्त—

अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः।
पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैकमाषकम् ॥ १३३ ॥

द्विजश्रेष्ठ सांपको मारकर काले लोहेका बना तीक्ष्णाग्र डण्डा तथा नपुंसकको मारकर एक भार (१ गाड़ी—२० मन) पुआल और एक मासा सीसा ब्राह्मणके लिए दान करे ॥ १३३ ॥

सूअर आदिके वधका प्रायश्चित्त—

घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ।
शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायनम् ॥ १३४ ॥

सूअरका वध करनेपर घीसे भरा घड़ा, तीतरके वध करनेपर एक द्रोण[१] (सेर) तिल, तोतेका वध करनेपर दो वर्षका बछवा और क्रौञ्च पक्षीका वध करनेपर तीन वर्षका बछवा दान करे ॥ १३४ ॥

हंसादिके वधका प्रायश्चित्त—

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च।
वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद् ब्राह्मणाय गाम् ॥ १३५ ॥

हंस, बलाका, बगुला, मोर, वानर, बाज़ और भासको मारकर तीन वर्षका बछवा दान करे ॥ १३५ ॥

घोड़ा आदिके वधका प्रायश्चित्त—

वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम्।
अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३६ ॥

घोड़ेका वधकर कपड़ा, हाथीका वधकर पांच नीले बैल, अज (खसी) तथा भेंड़का बधकर बैल और गधेका बधकर एक वर्षका बछवा दान करे ॥ १३६ ॥

बाघ आदिके वधका प्रायश्चित्त—

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम्।
अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥ १३७ ॥

---

१. एतदर्थममरकोषस्थ 'अस्त्रियामाढकद्रोणौ' (२।९।८८) श्लोकस्य मत्कृतामरकौमुदीटिप्पणीद्रष्टव्या।

क्रव्याद (कच्चे मांस खानेवाले बाघ आदि) पशुका वधकर दुधार गाय, अक्रव्याद (मांस नहीं खानेवाले मृग आदि) पशुका वधकर प्रौढतर बछिया तथा ऊँटका बधकर एक कृष्णल (रत्ती—८।१३४) सोना दान करे ॥ १३७ ॥

व्यभिचारिणी ब्राह्मणी स्त्री आदिके बधका प्रायश्चित्त—

जीनकार्मुकबस्तावीन्पृथग्दद्याद्विशुद्धये ।
चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥ १३८ ॥

लोभसे ऊंच-नीच पुरुषके साथ व्यभिचार करनेवाली ब्राह्मणादि चारो वर्णोंकी स्त्रियोंका वध करनेपर क्रमशः चर्मपुट (चमड़ेका कुप्पा), धनुष, बकरा और भेंड़ दान करे ॥ १३८ ॥

[वर्णानामानुपूर्व्येण त्रयाणामविशेषतः ।
अमत्या च प्रमाप्य स्त्रीं शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ ८ ॥]

[क्रमशः तीनों वर्णोंमें से किसी स्त्रीका भूलसे बधकर शूद्रहत्याका व्रत (प्रायश्चित्त ११।१३०) करे ॥ ८ ॥]

सर्पादिवधका अन्य प्रायश्चित्त—

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् ।
एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १३९ ॥

साँप आदिके वधका निवारण पूर्वोक्त (११।१३३-१३८) दानोंको करनेमें असमर्थ द्विज एक-एक पापकी निवृत्तिके लिए एक-एक कृच्छ्र (प्राजापत्य) (११।२१२) व्रत करे ॥ १३९ ॥

हड्डीवाले आदि जीवोंके वधका प्रायश्चित्त—

अस्थिमतां तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमापणे ।
पूर्णे चानस्थ्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४० ॥

हड्डीवाले (गिरगिट आदि) एक सहस्र क्षुद्र जीवोंको तथा विना हड्डीवाले (खटमल, लीख, जूं, मच्छड़, ढील, चीलर आदि) एक गाड़ी क्षुद्र जीवोंको मारकर शूद्रहत्याका व्रत (११।१३०) करे ॥ १४० ॥

किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ।
अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्धयति ॥ १४१ ॥

हड्डीवाले (गिर्गिट आदि) क्षुद्रजन्तुओंमें से किसी एकका वध करनेपर ब्राह्मणके लिए कुछ दान करे और बिना हड्डीवाले (खटमल आदि) में से किसी एकका वध करनेपर मनुष्य प्राणायाम[1]से शुद्ध (दोषरहित) हो जाता है ॥१४१॥

पेड़ लता आदि काटनेपर प्रायश्चित्त—

फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम्।
गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ १४२ ॥

फल देनेवाले (आम जामुन आदिके) पेड़, गुल्म, (गुडूची आदि), वल्ली, (पेड़की डालियों पर चढ़ी हुई) लता और फूली हुई (कद्दू-काशीफल आदिकी) बेलके काटनेपर सावित्र्यादि ऋक्थशतका जप करे ॥ १४२ ॥

विमर्श—पहले (११।६४) इन्धनके लिए पेड़ काटनेको उपपातकमें कहकर यहां पुनः अज्ञानसे एक वार फल देनेवाले वृक्ष आदिके काटनेपर यह लघु प्रायश्चित्त कहना पूर्वापर विरुद्ध नहीं है।

अन्न आदिमें होनेवाले जीवोंके वधका प्रायश्चित्त—

अन्नाद्यजानां सत्त्वानां रसजानां च सर्वशः।
फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम् ॥ १४३ ॥

सब अन्न, (गुड आदि) रस, फल तथा फूलोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंको मारकर पापनिवृत्तिके लिए घी खाना चाहिये ॥ १४३ ॥

खेती आदिसे ओषधिनाशादिका प्रायश्चित्त—

कृष्णजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने।
वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४४ ॥

खेतीसे उत्पन्न (साठी आदि) तथा वन आदिमें स्वयं उत्पन्न (नीवार आदि) ओषधियों (१।४६) को निष्प्रयोजन नष्ट करनेपर केवल दूधका आहार लेकर (पूर्वोक्त (११।१००-११४) विधिसे) एक दिन गौका अनुगमन (सेवन) करे ॥

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम्।
ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥ १४५ ॥

---

१. अत्र प्राणायामश्च—'सव्याहृतिकां सप्रणवां साबित्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥'
इति वसिष्ठोक्तो ग्राह्यः।

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) ज्ञान या अज्ञानसे की गयी हिंसासे उत्पन्न सब पाप इन (१२।७२-११४) व्रतोंसे नष्ट होते हैं। अब अभक्ष्य-भक्षणके प्रायश्चित्तको (आप लोग) सुने ॥ १४५ ॥

अमुख्य सुरापानका प्रायश्चित्त—

अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुद्ध्यति ।
मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥ १४६ ॥

द्विज अज्ञानसे वारुणीको पीकर पुनः संस्कार (११।१५१) से ही शुद्ध (पाप-रहित) होता है तथा ज्ञानसे पीकर मरकर ही शुद्ध होता है, ऐसी (शास्त्रकी) मर्यादा है ॥ १४६ ॥

विमर्श—इस वचनका विशदार्थ यह है—अज्ञानसे गौडी तथा माध्वी (क्रमशः गुड़ तथा महुएसे बनी हुई मदिराको पीकर तप्तकृच्छ्र (११।२१४) करके पुनः संस्कार[1] करनेसे द्विज शुद्ध होता है, तथा ज्ञानसे पीकर पूर्व (११।९२) कथित कण[2]-भक्षणादिरूप प्रायश्चित्त करनेसे शुद्ध होता है। पैष्टी, गौडी तथा माध्वी (क्रमशः आटे, गुड़ तथा महुएसे बनी) मदिरासे भिन्न पुलस्त्यकथित ९ प्रकारकी मदिराओंमें-से किसी एकको अज्ञानसे पीकर केवल संस्कार (११।१५१) करनेसे तथा ज्ञानसे पीकर कृच्छ्र तथा अतिकृच्छ्र[3] (११।२११-२१३) व्रत करके पुनः संस्कारसे द्विज शुद्ध होता है।

सुराके बर्तनका जल पीनेपर प्रायश्चित्त—

अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा ।
पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रितं पयः ॥ १४७ ॥

---

१. तदुक्तं गौतमेन—'अमत्या मद्यपाने पयो घृतमुदकं वायुं प्रत्यहं तप्तकृच्छ्रस्ततः संस्कारः' इति ।

२. अत एव गौडीमाध्व्योः कामतः पानानुवृत्तौ भविष्यपुराणे—

'यद्वाऽस्मिन्नेव विषये मानवीयं प्रकल्पयेत् ।
कणान् वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ॥
सुरापापापनुत्त्यर्थं बालवासा जटी ध्वजी ॥' इति (म० मु०)

३. तदुक्तं भविष्ये—

'मतिपूर्वं सुरापाने कृते वै ज्ञानतो गुह ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ भवतः पुनः संस्कार एव हि ॥' इति ।

पैष्टी (आटेकी बनी हुई) सुरा तथा दूसरे प्रकारसे बनी हुई मदिराके बर्तन का जल पीकर शङ्खपुष्पी (शङ्खाहुली-कबडेना) नामक ओषधिको डालकर पकाये हुए दूधको पीना चाहिये ॥ १४७ ॥

सुरा स्पर्शादि करनेपर प्रायश्चित्त—

स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च।
शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारि पिबेत्त्र्यहम् ॥ १४८ ॥

मदिराको छूकर, देकर, ('स्वस्ति' कथनपूर्वक) विधिवत् दान लेकर और शूद्रका जूठा पानी पीकर तीन दिन तक कुश (को उबालकर उस) का पानी पीवे ॥

मद्यपके मुखका गन्ध सूंघनेपर प्रायश्चित्त—

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः।
प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ १४९ ॥

सोमयाजी (सोमयज्ञ करनेवाला) ब्राह्मण मद्य पीनेवाले (के मुख) का गन्ध सूंघकर जलमें तीन वार प्राणायामकर घीका भक्षण करनेसे शुद्ध होता है ॥ १४९॥

मल-मूत्र-भक्षणादिका प्रायश्चित्त—

अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च।
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ १५० ॥

(मनुष्यके) मल, मूत्र या मद्यसे स्पृष्ट अन्नादि रसको अज्ञानपूर्वक खाकर तीनों वर्णके द्विज फिरसे (यज्ञोपवीत) संस्कार करने (११।१५१) के योग्य होते हैं ॥ १५० ॥

पुनः संस्कारमें त्याज्य—

वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥ १५१ ॥

द्विजोंके पुनः संस्कार करनेमें मुण्डन, मेखला, (पलाश आदिका) दण्ड, भिक्षा मांगना, (मधु मांस स्त्रीत्यागादि) व्रत नहीं होते हैं ॥ १५१ ॥

अभक्ष्य-भक्षणादिका प्रायश्चित्त—

अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च।
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् ॥ १५२ ॥

जिनका अन्न नहीं खाना चाहिये उन (४।२०५-२२०) का अन्न, (द्विजातियोंकी)

स्त्रियोंका तथा शूद्रका जूठा, अभक्ष्य (११।१५६) मांसको खाकर सात रात तक (पतलाकर) यवको पीवे ॥ १५२ ॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त पूर्वोक्त (४।२२२) प्रायश्चित्तके करनेमें असामर्थ्य होनेपर करना चाहिये ।

शुक्तपानादिका प्रायश्चित्त—

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वा मेध्यान्यपि द्विजः ।
तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥ १५३ ॥

पवित्र भी शुक्त तथा (उबाले हुए बहेड़े, हर्रे आदि) कसैले पदार्थको पीकर द्विज तबतक अपवित्र रहता है, जबतक ये पदार्थ पच नहीं जाते ॥ १५३ ॥

विमर्श—जो पदार्थ स्वभावतः मधुर हों, किन्तु अधिक समय तक रखने आदिके कारण उनका रस-परिवर्तन हो गया हो उन्हें 'शुक्त' कहते हैं, जैसे-गन्ने जामुन आदिका सिरका आदि ।

सूकरादिके मलमूत्रादिके भक्षणका प्रायश्चित्त—

विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ।
प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ १५४ ॥

ग्राम्य सूकर, गधा, ऊँट, सियार, वानर और कौवा; इनके मलमूत्रको खाकर द्विज चान्द्रायण (११।२१६-२२०) व्रत करे ॥ १५४ ॥

विमर्श—ग्राम्यसूकर मुर्गा आदिके भक्षण करनेपर पहले (५।१९-२०) कहा गया प्रायश्चित बुद्धिपूर्वक अनेक बार भक्षण करनेपर है, और यह प्रायश्चित्त अबुद्धिपूर्वक एकबार भक्षण करनेपर है, अतः दोनोंमें विरोध नहीं होता ।

शुष्क मांसादि-भक्षणका प्रायश्चित्त—

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ।
अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥

सूखा मांस, भूमिपर उत्पन्न कवक (छत्राक यह बर्सातमें भूमि या पेड़ आदिपर श्वेत-कृष्ण वर्णका छत्राकार उत्पन्न होता है), अज्ञात मांस (यह हरिण आदि भक्ष्य जीवका मांस है या अभक्ष्य गधे आदिका, ऐसा नहीं मालूम हुआ मांस) और कसाईखाने या वधिकके यहांका मांस खाकर द्विज इसी चन्द्रायण व्रत (११।२१६-२२०) को करे ॥ १५५ ॥

विमर्श—यद्यपि भूमिमात्रमें उत्पन्न 'कवक' का निषेध इस वचनमें किया गया है, तथापि यमोक्त[1] वचनके अनुसार वृक्ष आदिपर उत्पन्न कवकका भी भक्षण नहीं करना चाहिये।

व्याघ्रादि भक्षणका प्रायश्चित्त—

क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे।
नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम्॥ १५६॥

क्रव्याद (कच्चा मांस खानेवाले बाघ, सिंह, भेंड़िया आदि) ग्राम्य सूअर, ऊँट, मुर्गा, मनुष्य, कौवा और गधा, इनको खाकर द्विज पापनिवृत्तिके लिए तप्तकृच्छ्र व्रत (११।२१४) करे॥ १५६॥

विमर्श—ग्राम्य सूकर आदि भक्षण करनेपर द्विजको पतित होने तथा सान्तपन कृच्छ्र करनेको पहले (५।१९-२०) जो प्रायश्चित्त कहा है, वह बुद्धिपूर्वक अनेकबार करनेपर तथा यह प्रायश्चित्त अबुद्धिपूर्वक एक बार भक्षण करनेपर है, अतः दोनों वचनोंमें विरोध नहीं है।

ब्रह्मचारीको मासिक श्राद्धान्न खानेपर प्रायश्चित्त—

मासिकान्नं तु योऽश्नीयादसमावर्तको द्विजः।
स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत्॥ १५७॥

मासिक श्राद्धान्नको खानेवाला ब्रह्मचर्याश्रमस्थ द्विज तीन दिन उपवास करे तथा एक दिन पानीमें रहे॥ १५७॥

ब्रह्मचारीको मधुमांसादि खानेपर प्रायश्चित्त—

ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसं कथंचन।
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत्॥ १५८॥

जो ब्रह्मचर्यावस्थामें रहनेवाला द्विज किसी प्रकार (अज्ञानसे या आपत्तिकालमें) मधु (शहद) या मांसका भक्षण कर ले तो वह प्राजापत्य व्रत (११।२११) करके अपने शेष ब्रह्मचर्य व्रतको पूरा करे॥ १५८॥

मार्जार आदिका जूठा आदि खानेपर प्रायश्चित्त—

बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च।
केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुवर्चलाम्॥ १५९॥

---

१. तदुक्तं यमेन—'भूमिजं वृक्षजं वापि छत्राकं भक्षयन्ति ये।
ब्रह्मघ्नांस्तान् विजानीयात्—' इति।

मार्जार, कौवा, चूहा, कुत्ता, नेवला; इनका जूठा तथा बाल और कीड़े आदिसे दूषित अन्न आदिको खाकर उष्ण पानी पीवे ॥ १५९ ॥

अभक्ष्यभक्षित पदार्थका वमन करना—

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता ।
अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाप्याशु शोधनैः ॥ १६० ॥

अपनी शुद्धि चाहनेवालेको अभक्ष्य अन्नादि नहीं खाना-पीना चाहिये, अज्ञानपूर्वक खाये हुए उन पदार्थोंका वमन कर देना चाहिये (और उसके असम्भव होनेपर) शुद्धिकारक प्रायश्चित्तोंसे शुद्धिकर लेनी चाहिये ॥ १६० ॥

एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः ।
स्तेयदोषापहर्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः ॥ १६१ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) अभक्ष्य भक्षण करनेपर प्रायश्चित्तोंके इस (११।१४६-१६०) विविध विधानको (मैंने) कहा, अब चोरीके दोषको नष्ट करनेवाले प्रायश्चित्तोंके विधानको (११।१६२-१६६) आप लोग सुनें ॥१६१॥

धान्यादि चुरानेपर प्रायश्चित्त—

धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद् द्विजोत्तमः ।
स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुध्यति ॥ १६२ ॥

ब्राह्मण ब्राह्मणके घरसे धान्य, अन्न आदि धनको ज्ञानपूर्वक चुराकर एक वर्षतक प्राजापत्य व्रत (११।२११) करनेसे शुद्ध (दोषरहित) होता है ॥१६२॥

विमर्श—यह प्रायश्चित्त देश, काल, चोरित द्रव्यका परिमाण, मूल्य तथा स्वामी एवं चोरके गुणागुणका विचारकर न्यूनाधिक करना चाहिये। तथा सजातीय द्विज (ब्राह्मणादि तीनों वर्ण) का धान्यादि चुरानेपर भी यही प्रायश्चित्त समझना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये।

मनुष्य आदिके चुरानेपर प्रायश्चित्त—

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च ।
कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ १६३ ॥

मनुष्य, स्त्री, खेत, घर कूए तथा बावड़ी (अहरा, पोखरा आदि सिंचाईके साधनभूत जलाशय) का सम्पूर्ण पानीकी चोरी करनेपर (मनु आदि महर्षियोंने) चान्द्रायण (११।२१६-२२०) व्रतसे शुद्धि बतलायी है ॥ १६३ ॥

अल्पमूल्यकी वस्तु चुरानेपर प्रायश्चित्त—

द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मतः ।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥ १६४ ॥

दूसरेके घरसे थोड़े मूल्य (तथा प्रयोजन) की वस्तुको चुराकर अपनी शुद्धि के लिए चुरायी हुई वस्तु उसके स्वामीको देकर सान्तपन कृच्छ्र (११।२१२) व्रत करे ॥ १६४ ॥

मिठाई सवारी आदि चुरानेपर प्रायश्चित्त—

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च ।
पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥ १६५ ॥

भक्ष्य (मिठाई लड्डू आदि), भोज्य (खीर आदि), सवारी (गाड़ी, रथ, पालकी, रेक्सा, सायकिल, मोटर आदि), शय्या, आसन, फूल, मूल और फल; इन्हें चुराकर पञ्चगव्य पीनेसे शुद्धि (पापनिवृत्ति) होती है ॥ १६५ ॥

विमर्श—चोरित पदार्थके मूल्य तथा उपयोग आदिके अनुसार पूर्वोक्त (११। १६२) विमर्शके अनुसार यहां भी प्रायश्चित्तमें (न्यूनाधिक रूप) परिवर्तन होगा।

तृण काष्ठ आदि चुरानेपर प्रायश्चित्त—

तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ।
चेलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥ १६६ ॥

तृण, लकड़ी, पेड़, सूखा अन्न (गेंहू, चना, चावल आदि), गुड, कपड़ा चमड़ा और मांस; इनके चुरानेपर तीन रात उपवास करे ॥ १६६ ॥

मणि, मोती आदि चुरानेपर प्रायश्चित्त—

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च ।
अयःकांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता ॥ १६७ ॥

मणि (पन्ना, माणिक्य आदि), मोती, मूंगा, तांबा, चांदी, लोहा, काँसा और पत्थर, इनको चुराकर बारह दिन तक अन्नका कण (खुद्दी) ही खावे ॥१६७॥

रूई रेशम आदि चुरानेपर प्रायश्चित्त—

कार्पासकीटजोर्णानां द्विशफैकशफस्य च ।
पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥ १६८ ॥

रूई, रेशम, ऊन (या सूती, रेशमी, ऊनी कपड़ा) दो खुरोंवाले (गाय, बैल, भैस आदि), एक खुरवाले (घोडा, गधा आदि) पशु, पक्षी, गन्ध (कर्पूर,

कस्तूरी, चन्दन आदि), ओषधि, रस्सी ; इन्हें चुराकर तीन दिन तक केवल दुग्धपान करे ॥ १६८ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।
अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १६९ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) द्विज इन (११।१६२-१६८) व्रतोंसे चोरीके पापको दूर करे और अगम्यागमन (सम्भोगके अयोग्य स्त्रीके साथ सम्भोग करने) के पापको इन (११।१७०-१७८) व्रतों (प्रायश्चित्तों) से दूर करे ॥

सोदर भगिनी आदिके साथ सम्भोग करनेका प्रायश्चित्त—

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु ।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥ १७० ॥

सोदर भगिनी (सगी बहन), मित्र-स्त्री, पुत्र-स्त्री, कुमारी तथा चण्डालीके साथ (सम्भोगमें) वीर्यपातकर गुरुपत्नीके साथ सम्भोग करनेका (११।१०३-१०६) प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ १७० ॥

विमर्श—इस प्रायश्चित्तको भी एकबार तथा अनेकबार और ज्ञानपूर्वक तथा अज्ञानपूर्वक करनेपर प्राणत्याग पर्यन्त करना चाहिये ।

फूआकी पुत्री आदिसे सम्भोग करनेका प्रायश्चित्त—

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च ।
मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १७१ ॥

फूआकी, मौसीकी और मामाकी पुत्रीसे सम्भोगकर (मनुष्य दोष निवृत्तिके लिए) चन्द्रायण (११।२१६-२२०) व्रत करे ॥ १७१ ॥

उक्त तीनों बहनोंसे विवाहका निषेध—

एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान् ।
ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः ॥ १७२ ॥

उन तीनों (११।१७१) प्रकारकी बहनोंको विद्वान् पुरुष भार्याके रूपमें स्वीकार (उनके साथ विवाह) न करे क्योंकि बान्धव होनेसे विवाहके अयोग्य उनके साथ विवाह करता हुआ मनुष्य नरकको जाता है ॥ १७२ ॥

विमर्श—यद्यपि पहले (३।५) ऐसी कन्याओंसे विवाह करनेका निषेध कर चुके हैं, तथापि दाक्षिणात्योंमें प्रसिद्ध इस विवाहाचारके निषेधकी दृढताके लिए पुनः यह वचन है ।

अमानुषीके साथ सम्भोग करनेपर प्रायश्चित्त—

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥ १७३ ॥

अमानुषी (गायको[1] छोड़कर घोड़ी, बकरी, भेंड़ आदि), राजस्वला स्त्री, अयोनि (मुख गुदा आदि), तथा पानीमें वीर्यपात करके पुरुषको कृच्छ्रसान्तपन (११।२१२) व्रत करना चाहिये ॥ १७३ ॥

पुरुषादिके साथ मैथुन करनेपर प्रायश्चित्त—

मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः।
गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥ १७४ ॥

पुरुषके साथ मैथुनकर तथा बैलगाड़िपर, पानीमें और दिनमें स्त्रीके साथ मैथुनकर द्विजको सवस्त्र स्नान करना चाहिये ॥ १७४ ॥

चाण्डाली आदिके साथ सम्भोग करनेपर प्रायश्चित्त—

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥ १७५ ॥

चण्डाली तथा अन्त्यज (म्लेच्छ आदि) की स्त्रीके साथ अज्ञानपूर्वक सम्भोगकर, भोजनकर और उनसे दान लेकर मनुष्य पतित होता है और ज्ञानपूर्वक उक्त कार्योंको करनेपर उनके समान (भ्रष्ट) हो जाता है ॥ १७५ ॥

व्यभिचारिणी स्त्रीका विरोध और प्रायश्चित्त—

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि।
यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद् व्रतम् ॥ १७६ ॥

अत्यन्त दूषित (स्वेच्छापूर्वक यत्र-तत्र व्यभिचार करनेवाली) स्त्रीको पति एक घरमें रोके और पुरुषके लिए परस्त्रीसम्भोगमें जो प्रायश्चित्त है, वह प्रायश्चित्त इस (व्यभिचारिणी एवं घरमें रोकी गयी) स्त्रीसे करावे ॥ १७६ ॥

विमर्श—इस वचनके कहनेसे 'स्त्रीणामर्द्धं प्रदातव्यम्' यह वसिष्ठोक्त स्त्रियोंके लिए आधा प्रायश्चित्त करानेका विधान अनिच्छापूर्वक व्यभिचार करनेपर है।

---

१. 'गोष्ववकीर्णो संवत्सरं प्राजापत्यं चरेत्' इति शङ्खलिखितादिवचनादत्र 'अमानुषी' शब्देन गोस्त्यागः कर्तव्यः।

सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिता ।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥ १७७ ॥

सजातीय पुरुष (के साथ सम्भोग करने) से दूषित वह स्त्री (प्रायश्चित्त करनेके बाद) पुनः सजातीयके कहने (पर उसके साथ सम्भोग करने) से दूषित हो जाय तो उसे पवित्र करनेवाले कृच्छ्र तथा चान्द्रायण (क्रमशः ११।२१२,२१६–२२०) व्रत कहे गये हैं ॥ १७७ ॥

[ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेऽपसंगताः ।
अप्रजाता विशुध्येयुः प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥ ६ ॥]

[ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यकी स्त्रियां शूद्रके साथ सम्भोग करनेसे दूषित होकर यदि सन्तान उत्पन्न नहीं करें तो प्रायश्चित्तसे शुद्ध (पापहीन) होती हैं, दूसरी (सन्तान उत्पन्न करनेवाली) नहीं ॥ ९ ॥]

चण्डाली सम्भोगका प्रायश्चित्त—

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद् द्विजः ।
तद्भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ १७८ ॥

द्विज एक रात चण्डाली-सम्भोग करके जो पाप उपर्जित करता है, उसे वह तीन वर्षतक भिक्षा मांगकर भोजन तथा गायत्री जपसे नष्ट करता है ॥ १७८ ॥

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः ।
पतितैः सम्प्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥ १७९ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) यह (११।१७०–१७८ मैंने आगम्यागमनपर) पाप करनेवाले चारो वर्णोंका निस्तार (प्रायश्चित्त) कहा, (अब आप लोग) पतितोंके साथसे हुए पापोंके निस्तारको सुनिये ॥ १७९ ॥

पतित संसर्गादिसे पतित होना—

सम्वत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात ॥ १८० ॥

पतितके साथ संसर्ग (सवारी करने, एक आसन पर बैठने और एक पङ्क्तिमें बैठकर भोजन करने) से एक वर्षमें तथा यज्ञ कराने समन्त्र यज्ञोपवीत संस्कारकर गायत्रीका उपदेश देने और योनि-सम्बन्ध (विवाह आदि) करनेसे तत्काल पतित हो जाता है ॥ १८० ॥

विमर्श—गोविन्दराजका मत है कि 'यज्ञ कराने आदि तीनों कर्योंसे एक वर्षमें पतित होता है और संसर्ग करनेसे एक वर्षके बाद पतित होता है' किन्तु उक्त मत देवल[1], विष्णु[2] और बौध्यायन[3]के मतसे विरुद्ध होनेसे मान्य नहीं है।

उक्त कर्मका प्रायश्चित्त—

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः।
स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८१ ॥

इन पतितोंमें-से जिस पतितके साथ जो मनुष्य संसर्ग करे, वह उन्हीं पतितोंके पापके (चतुर्थांश कर्म[4]) प्रायश्चित्त उस संसर्गजन्य पापकी शुद्धिके लिए करे ॥

महापातकीके जीते ही उदकक्रिया—

पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः।
निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥ १८२ ॥

महापातकी (११।५४) के जीवित रहनेपर ही उसके निमित्त जलदान (तर्पण) को (अग्रिम श्लोकोक्त विधिसे) गांवके बाहर जाति, ऋत्विक् तथा गुरुओंके समक्षमें निन्दित दिन (नवमी तिथि) में सायङ्काल करे ॥ १८२ ॥

दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा।
अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह ॥ १८३ ॥

उन सपिण्डों तथा समानोदक बान्धवोंसे प्रेरित दासी जलसे भरे तथा काममें लाये गये अर्थात् पुराने घड़ेको दक्षिण दिशाकी ओर मुखकर पैरसे ठोकर मार दे

---

१. यथाह देवलः—
'याजनं योनिसम्बन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम्।
कृत्वा सद्यः पतन्त्येते पतितेन न संशयः॥' इति।

२. तथा च विष्णुः—
'आसंवत्सरात्पतति पतितेन सहाचरन्।
सहयानासनाभ्यासाद्यौनात्तु सद्य एव हि॥' इति।

३. तदुक्तं बौधायनेन—
'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।
याजनाध्ययनाद्यौनात्सद्यो न शयनासनात्॥' इति।

४. तथा च व्यासः—
'यो येनं संसृजेद्वर्षं सोऽपि तत्समतामियात्।
पादन्यूनं चरेत्सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः॥' इति।

(जिससे घड़ेका पानी गिर जाय), फिर वे सपिण्ड समानोदकोंके साथ दिन रात अशौच मनावें ॥ १८३ ॥

निवर्तेरंश्च तस्मात्तु सम्भाषणसहासने ।
दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥

उस महापातकीके साथ बात चित करना, बैठना, हिस्सा लेना, देना तथा लोक-व्यवहार (वार्षिक आदि कार्योंमें निमन्त्रित करना आदि) को छोड़ दे ॥ १८४ ॥

ज्येष्ठ महापातकीका 'उद्धार' छोटे भाईको मिलना—

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम् ।
ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः ॥ १८५ ॥

यदि वह महापातकी ज्येष्ठ (बड़ा भाई) हो तो उसकी ज्येष्ठता नहीं रहती (अतः उसके लिए अभ्युत्थानादि न करे) और ज्येष्ठके लिए प्राप्य पैतृक धनमें से भाग तथा 'उद्धार' (९।११२-११४ अतिरिक्त हिस्सा) उसे नहीं मिलता, किन्तु ज्येष्ठ होनेके कारण मिलनेवाला 'उद्धार' भाग उस (महापातकी) का गुणवान् छोटा भाई प्राप्त करता है ॥ १८५ ॥

प्रायश्चित्त किये हुएसे संसर्ग—

प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम् ।
तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥ १८६ ॥

पतितके प्रायश्चित्त कर लेनेपर उसके सपिण्ड तथा समानोदक बन्धु उसके साथ शुद्ध जलाशय (तडाग, नदी आदि) में स्नानकर जलसे पूर्ण नये घड़ेको (उस जलाशयमें) छोड़ दें ॥ १८६ ॥

स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् ।
सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥ १८७ ॥

(प्रायश्चित्त किया हुआ) वह उस घड़ेको फेंककर अपने घर जाकर जाति-सम्बन्धी सब कार्योंको पहलेके समान करे ॥ १८७ ॥

पतित-स्त्रियोंके लिए अन्नादि देना—

एतदेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।
वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १८८ ॥

पतित हुई स्त्रियोंके साथ भी यही (११।१८२-१८७) विधि करे, तथा उसके बान्धव लोग उस (पतित स्त्री) के लिए भोजन-वस्त्र और रहनेके लिए घरके पास स्थान देवें ॥ १८८ ॥

प्रायश्चित्त नहीं करनेवालेसे संसर्गत्यागादि—

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किंचित्सहाचरेत्।
कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ १८९ ॥

प्रायश्चित्त नहीं किये हुए पापियों (पतितों) के साथ कुछ भी व्यवहार (लेन-देन, भोजन, सहवास आदि) नहीं करे, तथा जिस पापीने प्रायश्चित्त कर लिया है, उसकी कभी भी (पूर्व दुष्कर्मोंके सम्बन्धमें) निन्दा न करे ॥ १८९ ॥

बालघाती आदिका त्याग—

बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः।
शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

बालककी हत्या करनेवाला, कृतघ्न, शरणागतकी हत्या करनेवाला और स्त्रीकी हत्या करनेवाला; इनके साथ प्रायश्चित्त द्वारा इनके शुद्ध हो जानेपर भी संसर्ग न करे ॥ १९० ॥

विमर्श—पूर्व (११।१८९) वचनसे कृतप्रायश्चित्त पापियोंके साथ संसर्गादिका विधानकर इस वचन द्वारा इनके साथ संसर्गका त्याग कहनेसे उक्त (११।१८९) वचनका अपवाद इस वचनको समझना चाहिये।

व्रात्यादि प्रायश्चित्त—

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि।
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥ १९१ ॥

जिन द्विजोंका यज्ञोपवीत संस्कार अनुकल्पिक समय (ब्राह्मणका १६ वें, क्षत्रियका २२ वें तथा वैश्यका २४ वें वर्ष) में भी नहीं हुआ हो, उनसे तीन कृच्छ्र (प्राजापत्य ११।२११) व्रत कराकर विधिपूर्वक उनका यज्ञोपवीत संस्कार करना चाहिये ॥

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः।
ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १९२ ॥

निषिद्ध (शूद्रसेवा आदि) कार्य करनेवाले यज्ञोपवीत संस्कारसे युक्त भी वेदको नहीं पढ़े हुए जो द्विज प्रायश्चित्त करना चाहें, उनके लिए भी इसी (तीन प्राजापत्य व्रत ११।२११) प्रायश्चित्तको करनेका उपदेश देना चाहिये ॥ १९२ ॥

निन्दितके उपार्जित धनका त्याग—

यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ।
तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥ १९३ ॥

ब्राह्मण लोग जिस निषिद्ध (अग्राह्य दानादि लेना, व्रात्यों (२।३९) का यज्ञ कराना, दूसरोंका श्राद्ध कराना, मारण-मोहन-उच्चाटनादि अभिचार कर्म करना आदि) कर्मोंके आचरणसे धनका उपार्जन करते हैं, उस धनका त्याग तथा आगे (११।१९४-१९७) कहे जानेवाले जप और तपसे वे ब्राह्मण शुद्ध (दोषरहित) होते हैं ॥ १९३ ॥

असत्प्रतिग्रहका प्रायश्चित्त—

जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।
मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ १९४ ॥

ब्राह्मण तीन सहस्र गायत्री जपकर तथा एक मास तक गोशालामें केवल दुग्धाहारकर असत्प्रतिग्रह (नीच या शूद्रसे दान लेने) के दोषसे छूट जाता है ॥१९४॥

उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतम् ।
प्रणतं प्रति पृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ? ॥ १९५ ॥

(गोशालामें केवल दुग्धाहार लेनेसे) दुर्बल तथा गोशालासे वापस लौटे हुए उस (प्रायश्चित्तकर्ता) ब्राह्मणसे 'हे सौम्य ! क्या हम लोगोंकी समानता चाहते हो ?' ऐसा ब्राह्मणलोग पूछें ॥ १९५ ॥

सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम् ।
गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १९६ ॥

फिर 'हां' (पुनः 'निन्दित दान नहीं लूंगा') ऐसा प्रश्नकर्ता ब्राह्मणोंसे कहकर वह प्रायश्चित्तकर्ता ब्राह्मण गौओंके लिए घास डाल दे तथा गौओंके घास खानेसे पवित्र तीर्थरूप उस भूमिमें वे ब्राह्मण लोग उस ब्राह्मणको अपने व्यवहारमें ग्रहण करना स्वीकार कर लें ॥ १९६ ॥

व्रात्ययाजनादिका प्रायश्चित्त—

व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।
अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९७ ॥

व्रात्यों (२।३९) का यज्ञ कराकर, (पिता, माता, गुरु आदिसे) अन्य लोगोंका और्ध्वदेहिक दाह श्राद्धादि कर्म करके अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटनादि कर्म) और अहीन अर्थात् यागविशेष करके (द्विज) तीन कृच्छ्र (प्रजापत्य ११।२११) व्रत करके शुद्ध होता है ॥ १९७ ॥

शरणागत-त्याग आदिका प्रायश्चित्त—

शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः।
सम्वत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥

शरणागतका त्यागकर तथा वेद पढ़नेके अनधिकारीको वेद पढ़ाकर द्विज एक वर्ष तक यवका आहार कर उस पापको दूर करता है ॥ १९८ ॥

कुत्ता आदिके काटनेपर प्रायश्चित्त—

श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च।
नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति ॥ १९९ ॥

कुत्ता, सियार, गधा, कच्चे मांस खानेवाले ग्राम्य पशु (बिल्ली आदि), मनुष्य, घोड़ा, ऊँट और सूअर-इनके काटनेपर (द्विज) प्राणायाम करनेसे शुद्ध होता है ॥

कुत्तेके सूंघे आदि पदार्थोंकी शुद्धि—

[शुनाऽऽघ्रातावलीढस्य दन्तैर्विदलितस्य च।
अद्भिः प्रक्षालनं प्रोक्तमग्निना चोपचूलनम् ॥ १० ॥]

[कुत्तेके सूंघे, चाटे और दांतोंसे काटे गये पदार्थकी शुद्धि पानीसे धोने और आगमें जलाने (तपाने) से कही गयी है ॥ १० ॥]

अपाङ्क्त्यकी शुद्धि—

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा।
होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम् ॥ २०० ॥

पङ्क्तिबाह्य (३।१५०-१६६) मनुष्यों (तथा जिनके लिये कोई पृथक् प्रायश्चित्त नहीं कहा गया है, उन) की शुद्धि एक मासतक छठें साम (दो दिन दो रात तथा तीसरे दिन पूर्वाह्णमें कुछ न खाकर साम) को भोजन, वेद संहिताका जप और 'दैवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि' इत्यादि आठ मन्त्रोंसे हवन करनेसे होती है ॥

ऊंटगाड़ी आदिपर चढ़नेका प्रायश्चित्त—

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः।
स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुध्यति ॥ २०१ ॥

ब्राह्मण ऊंटगाड़ी या गधागाडी पर इच्छापूर्वक (ज्ञानपूर्वक) चढ़कर जलमें नग्न स्नानकर प्राणायाम करके शुद्ध होता है ॥ २०१ ॥

जलरहित होकर तथा जलमें मूत्रादि त्याग करनेका प्रायश्चित्त—

विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरं सन्निवेश्य च ।
सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुध्यति ॥ २०२ ॥

मल-मूत्र त्याग करनेके वेगसे युक्त मनुष्य जलरहित हो (पासमें जल नहीं ले) कर या जलमें मल-मूत्रका त्याग (पेशाब या टट्टी) करके वस्त्रसहित स्नानकर गांवके बाहरमें गौका स्पर्शकर मनुष्य शुद्ध होता है ॥ २०२ ॥

वेदोक्त कर्मादिके त्यागका प्रायश्चित्त—

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३ ॥

वेदोक्त कर्म (अग्निहोत्र आदि) का उल्लङ्घन होने (बीचमें छूट जाने) पर तथा ब्रह्मचर्य व्रतका लोप होनेपर एक दिन उपवास करना चाहिये ॥ २०३ ॥

ब्राह्मणको धिक्कारने आदिका प्रायश्चित्त—

हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः ।
स्नात्वाऽनश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥ २०४ ॥

ब्राह्मणसे 'हूँ' (थोड़ा क्रुद्ध होकर 'चुप रहो') ऐसा कहनेपर और विद्या एवं आयुमें बड़े लोगोंको 'तू' कहनेपर स्नान करके शेष दिन उपवास कर उन्हें प्रणाम कर प्रसन्न करना चाहिये ॥ २०४ ॥

ब्राह्मणको अपमानित करनेका प्रायश्चित्त—

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाऽऽबध्य वाससा ।
विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥ २०५ ॥

ब्राह्मणको तिनकेसे भी मारकर, उसके गलेमें कपड़ा (गमछा आदि, घसीटने-आगे खैंचनेके लिए) डालकर और विवादमें जीतकर प्रमाण करनेसे उस (ब्राह्मण) को प्रसन्न करना चाहिये ॥ २०५ ॥

ब्राह्मणको मारनेके लिए उद्यत होनेपर दोष—

अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च ।
जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥

ब्राह्मणको मारनेके लिए डण्डा उठाकर सौ वर्ष तथा डण्डेसे मारकर सहस्र वर्षतक मनुष्य नरकमें वास करता है ॥ २०६ ॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥ २०७ ॥

आहत (पीटे गये) ब्राह्मणके शरीरसे गिरे हुए रक्तके द्वारा धूलिके जितने कण पिण्डित होते (साने जाते-गीले होते अर्थात् भींगते) हैं, वह रक्त बहानेवाला मनुष्य उतने सहस्र वर्षोंतक नरकमें निवास करता है ॥ २०७ ॥

ब्राह्मणको गुरेरने आदिका प्रायश्चित्त—

अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥ २०८ ॥

ब्राह्मणको मारने (पीटने) की इच्छासे डण्डा उठाकर कृच्छ्र (प्राजापत्य ११।२११) व्रत, डण्डेसे मारकर अतिकृच्छ्र (११।२१३) व्रत और मारनेसे उसका रक्त बहाकर कृच्छ्र तथा अतिकृच्छ्र-दोनो-व्रत पापनिवृत्तिके लिए करना चाहिये ॥ २०८ ॥

प्रायश्चित्तका विधान नहीं कहे गये दोषोंपर—

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये।
शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥

जिनका प्रायश्चित्त नहीं कहा गया है (जैसे प्रतिलोमजका वध करने आदि पर) उनसे उत्पन्न दोषकी निवृत्तिके लिए शक्ति (शरीर, धन, सामर्थ्य आदि) और पाप (ज्ञानपूर्वक, अज्ञानपूर्वक इत्यादि कारणोंसे पापोंका गौरव लाघव आदि) का विचारकर प्रायश्चित्तकी कल्पना (धर्मशास्त्रियोंको) करनी चाहिये ॥

यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति।
तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥ २१० ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) मनुष्य जिन उपायोंसे पापोंको नष्ट करता है; देव, ऋषि तथा पितरोंसे सेवित उन उपायोंको (मैं) आप लोगोंसे कहूंगा ॥

प्राजापत्य (कृच्छ्र) व्रतकी विधि—

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः ॥ २११ ॥

प्राजापत्य व्रत करनेवाला द्विज पहले तीन दिन प्रातःकाल (मध्याह्नके पूर्व दिनके[1] भोजनकालमें), तीन दिन सायङ्काल (सन्ध्याके बीतनेपर रात्रिके[2] भोजन कालमें), तीन दिन बिना मांगे (जो कुछ मिल जाय उसे ही) भोजन करे और तीन दिन उपवास करे ॥ २११ ॥

विमर्श—इस प्रकार बारह दिनोंमें यह 'प्राजापत्य कृच्छ्र' व्रत पूर्ण होता है। इसमें विशेषता यह है कि प्रातःकाल २६-२६ ग्रास, सायङ्काल ३२-३२ ग्रास और अयाचित हविष्यान्नको २४-२४ ग्रास भोजन करना चाहिये। यहाँ मुर्गेके अण्डेके बराबर एक ग्रासका प्रमाण समझना चाहिये[3]।

कृच्छ्रसान्तपन व्रतकी विधि—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम् ॥ २१२ ॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशाका जल; इनमें-से प्रत्येकको १-१ दिन भोजन करे, इस प्रकार ६ दिन इन्हें भोजनकर सातवें दिन उपवास करे, यह 'कृच्छ्र सान्तपन' व्रत कहा गया है ॥ २१२ ॥

अतिकृच्छ्र व्रतकी विधि—

एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः ॥ २१३ ॥

१-२. तदुक्तं वसिष्ठेन—'त्र्यहं दिवा भुङ्क्ते नक्तमत्ति च त्र्यहं त्र्यहयाचितव्रतं त्र्यहं न भुङ्क्ते' इति आपस्तम्बोऽपि—

'.........त्र्यहं नक्ताशी दिवाशी च ततस्त्र्यहम् ।
त्र्यहमयाचितव्रतस्त्र्यहं नाश्नाति किञ्चन ॥' इति ।

३. ग्रासपरिमाणापेक्षायां पाराशरः—

'सायं द्वात्रिंशतिर्ग्रासाः प्रातः षड्विंशतिस्तथा ।
अयाचिते चतुर्विंशत्परं चानशनं स्मृतम् ॥
कुक्कुटाण्डप्रमाणञ्च यावांश्च प्रविशेन्मुखम् ।
एतं ग्रासं विजानीयाच्छुद्ध्यर्थं ग्रासशोधनम् ॥
हविष्यञ्चान्नमश्नीयाद्यथा रात्रौ तथा दिवा ।
त्रींस्त्रीण्यहानि शास्त्रीयान् ग्रासान् सङ्ख्याकृतान् यथा ॥
अयाचितं तथैवाद्यादुपवासस्त्र्यहं भवेत् ।' इति ।

'अतिकृच्छ्र' व्रतको करनेवाला द्विज पूर्ववत् (११।२११) तीन दिन प्रातःकाल, तीन दिन सायङ्काल तथा तीन दिन अयाचित (बिना मांगे मिला हुआ) १-१ ग्रास भोजन करे और अन्तमें तीन दिन उपवास करे ॥ २१३ ॥

विमर्श—यह 'अतिकृच्छ्र' व्रत 'प्राजापत्य (कृच्छ्र)' व्रतके समान ही है, केवल ग्राससङ्ख्या उसकी अपेक्षा इसमें बहुत कम है।

तप्तकृच्छ्र व्रतकी विधि—

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः॥ २१४ ॥
[अपां पिबेच्च त्रिपलं पलमेकं च सर्पिषः।
पयः पिबेत्तु त्रिपलं त्रिमात्रं चोक्तमानतः॥ ११ ॥]

'तप्तकृच्छ्र'को करता हुआ ब्राह्मण (द्विज) तीन दिन गर्म जल, तीन दिन गर्म दूध, तीन दिन गर्म घी और अन्तमें तीन दिन केवल गर्म वायुको पीकर रहे तथा एक बार प्रतिदिन स्नान करता रहे ॥ २१४ ॥

विमर्श—इस 'तप्तकृच्छ्र' व्रतमें ६ पल (२४ तोला) गर्म जल, ३ पल (१२ तोला) गर्म दूध और १ पल (४ तोला) गर्म घी पीना चाहिये ऐसा पाराशरका[1] मत है। किन्तु यह पराशरमत अग्रिम क्षेपक (११।११) रचनसे कुछ विरुद्ध है।

पराककृच्छ्र व्रतकी विधि—

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापपनोदनः॥ २१५ ॥

सावधान तथा जितेन्द्रिय होकर बारह दिनतक भोजन नहीं करना 'पराक' नामक कृच्छ्रव्रत है, यह व्रत सब प्रकारके (क्षुद्र, मध्यम तथा महान्) पापोंको नष्ट करनेवाला है ॥ २१५ ॥

(पिपीलिकामध्य) चान्द्रायण व्रतकी विधि—

एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्॥ २१६ ॥

---

१. अत्र पाराशरोक्तो विशेषः—
'षट् पलं तु पिबेदम्भस्त्रिपलं तु पयः पिबेत्।
पलमेकं पिबेत्सर्पिस्तप्तकृच्छ्रं विधीयते॥' इति।

त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न तथा सायङ्काल) स्नान करता हुआ (पूर्णिमाको १५ ग्रास भोजनकर) कृष्णपक्षमें प्रतिदिन १-१ ग्रास भोजन घटाता जाय तथा शुक्लपक्षमें प्रतिदिन १-१ ग्रास भोजन बढ़ाता जाय, यह 'चान्द्रायण' (पिपीलिका-मध्य चान्द्रायण) व्रत है ॥ २१६ ॥

यवमध्य चान्द्रायणकी विधि—

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे ।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥

यवमध्य चान्द्रायण व्रतको करता हुआ व्रती (त्रिकाल स्नान करता हुआ) शुक्लपक्षको पहले तथा कृष्णपक्षको बादमें करके इसी समस्त विधि (११।२१६) को करे ॥ २१७ ॥

विमर्श—इसका आशय यह है कि अमावस्याके बाद शुक्लपक्षमें प्रतिदिन १-१ ग्रास भोजन बढ़ाता जाय और पूर्णिमाको १५ ग्रास भोजन करे तथा कृष्णपक्षमें १-१ ग्रास भोजन घटाता जाय, इस प्रकार अमावस्याको कुछ भी भोजन नहीं करे तथा प्रतिदिन त्रिकाल स्नान करता रहे, यह 'यवमध्य' (दोनों भागमें—आदि तथा अन्तमें क्रमशः भोजन कम तथा मध्यमें (पूर्णिमाको) अधिक होनेसे यवके समान दोनो छोरमें सूक्ष्म तथा मध्यमें स्थूल—इस प्रकार अन्वर्थ 'यवमध्य' नामक) चान्द्रायण व्रत है ।

यतिचान्द्रायण व्रतकी विधि—

अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते ।
नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन् ॥ २१८ ॥

'यति चान्द्रायण' व्रतको करता हुआ संयतेन्द्रिय द्विज (शुक्लपक्ष या कृष्णपक्षसे आरम्भकर) एक मासतक प्रतिदिन मध्याह्नकालमें ८-८ ग्रास हविष्यान्न भोजन करे ॥

शिशुचान्द्रायण व्रतकी विधि—

चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१९ ॥

सावधानचित्त ब्राह्मण (द्विज) चार ग्रास प्रातःकाल तथा चार ग्रास सूर्यास्त होनेपर एक मासतक प्रतिदिन भोजन करे तो यह 'शिशुचान्द्रायण' व्रत कहा गया है ॥

यथाकथंचित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः ।
मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ २२० ॥

सावधानचित्त द्विज (नीवारादि) हविष्यान्नके तीन अस्सी अर्थात् दो सौ चालिस ग्रासोंको एक मासमें जिस किसी प्रकार (कभी १०, कभी ५ तो कभी १६ ग्रास खाकर और कभी उपवास कर एक मासमें कुल २४० ग्रास) भोजनकर चन्द्रलोकको प्राप्त करता है ॥ २२० ॥

चान्द्रायण व्रतका महत्त्व—

एतद्रुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन्व्रतम् ।
सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥

इस चान्द्रायण व्रतको रुद्र, सूर्य, वसु, वायु तथा महर्षियोंने सब पापोंके नाशके लिए किया था ॥ २२१ ॥

उपर्युक्त व्रतोंमें सामान्यतः कर्तव्य कार्य—

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥

द्विज महाव्याहृतियों (भूः भुवः स्वः) से प्रतिदिन घृतसे स्वयं हवन करे तथा अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोधत्याग और सरलताका आचरण करे ॥ २२२ ॥

त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ।
स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥ २२३ ॥

पिपीलिकामध्य (११।२१६) तथा यवमध्य (११।२१७) नामक चान्द्रायण व्रतको करता हुआ दिन तथा रात्रिमें तीन-तीन वार सवस्त्र स्नान करे तथा व्रत पूर्ण होनेतक स्त्री, शूद्र तथा पतितोंके साथ कभी बातचित न करे ॥ २२३ ॥

स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा ।
ब्रह्मचारी व्रती च स्याद् गुरुदेवद्विजार्चकः ॥ २२४ ॥

और रात तथा दिनमें खड़ा रहे, टहलता रहे या बैठे (किन्तु सोवे (लेटे) नहीं), अथवा इतनी शक्ति नहीं रहनेपर भूमिपर सोवे, ब्रह्मचारी तथा व्रती रहे और गुरु, देव तथा ब्राह्मणोंकी पूजा (आदर-सत्कार) करे ॥ २२४ ॥

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥

सावित्री तथा पवित्र (अघमर्षण आदि) मन्त्रोंका सर्वदा जप करे। इस (११।२२२-२२४) विधिको चान्द्रायण व्रतके समान अन्य (प्राजापत्य आदि) व्रतोंमें भी यत्नपूर्वक करे ॥ २२५ ॥

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः ।
अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥ २२६ ॥

सर्वविदित पापवाले द्विजातियोंको इन पूर्वोक्त (११।२११–२२५) प्रायश्चित्तोंके द्वारा आगे वक्ष्यमाण परिषद् अर्थात् विद्वत्समिति शुद्धि करे तथा जनतामें अविदित पापवाले द्विजातियोंको मन्त्रोंके जप तथा हवनोंके द्वार शुद्ध करे ॥ २२६ ॥

पाप कहने आदिसे पापनिवृत्ति—

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥

अपने पापको सर्वसाधारणमें कहनेसे, पश्चात्ताप ('ऐसे कुकर्ममें प्रवृत्त होनेवाले मुझ पापीको वार-वार धिक्कार है' इत्यादि प्रकारसे निरन्तर पछतावा) करनेसे, कठिन तपश्चरणसे, (वेद आदिके) अध्ययन (पाठ, जप आदि) से और (इन सब कार्योंकी शक्ति नहीं रहनेपर) दान करनेसे पापी मनुष्य पापसे छूट जाता है ॥

विमर्श—प्रजापत्य व्रत (११।२११) का आचरणकर पापयुक्त होनेकी शक्ति नहीं रहनेपर 'त्रिपुराणीय' या 'पञ्चपुराणीय' एक गौको दान करनेका शास्त्रीय विधान है । इस प्रकार ब्रह्महत्या करनेवाले मनुष्यको पूर्व प्रायश्चित्त विधान (११। ७०) के अनुसार १२ वर्षतक व्रतनियम पालन करनेकी शक्ति नहीं रहे तो वह ३६० गौओंका दान करे क्योंकि (१ वर्ष = ३६० दिन, इसलिए १२ वर्ष ३६० × १२ = ४३२० दिन, और १२ दिनमें एक प्राजापत्यव्रतकी पूर्ति, इसलिए ४३२० दिनमें (४३२० ÷ १२ = ३६०) ३६० प्राजापत्यव्रत हुए, अतः प्रतिप्राजापत्य व्रतके लिए १ गौके दान करनेका विधान होनेसे ब्रह्महत्या करनेवालेको ३६० गौओंका दान करनेका विधान कहा गया है । पापाधिक्यके कारण प्रायश्चित्तके बढ़नेपर गोदान-संख्यामें भी वृद्धि होगी ।

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते ।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥

पापी मनुष्य पाप करके जैसे-जैसे अपने पापको लोगोंसे कहता है, वैसे-वैसे कांचलीसे साँपके समान वह मनुष्य उस पापसे छूटता (अलग होता) जाता है ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥

और उस पापीका मन जैसे-जैसे उस दूषित कर्मकी निन्दा करता है, वैसे-वैसे उस पापीका शरीर उस पापसे छूटता जाता है ॥ २२९ ॥

पापानुतापसे पापनिवृत्ति—

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥ २३०॥

पापी मनुष्य पाप कर्म करके उसके लिए अनुताप (पछतावा) कर पापसे छूट जाता है, तथा 'फिर मैं ऐसा निन्दित कर्म नहीं करूंगा' इस प्रकार सङ्कल्परूपसे उसका त्यागकर वह पवित्र हो जाता है॥ २३०॥

शुभ कर्म करनेका उपदेश—

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम्।
मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत्॥ २३१॥

मनुष्य इस प्रकार मनसे शुभ तथा अशुभ कर्मोंको परलोकमें (क्रमशः) इष्ट तथा अनिष्ट (भला-बुरा) फल देनेवाला विचारकर मन वचन तथा कर्मसे सर्वदा अच्छे कर्मोंको करे॥ २३१॥

पापकर्मकी निन्दा—

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्द्वितीयं न समाचरेत्॥ २३२॥

ज्ञान या अज्ञानसे पाप कर्म करनेपर उससे मुक्ति (छुटकारा) चाहता हुआ मनुष्य फिर दुबारा उस निन्दित कर्मको मत करे, अन्यथा दुबारा पाप करनेपर उसका प्रायश्चित्त भी दुगना[1] करना पड़ता है॥ २३२॥

मनको प्रसन्न होनेतक प्रायश्चित्त करना—

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम्।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत्॥ २३३॥

पापी मनुष्यका मन जिस प्रायश्चित्तको करनेपर हलका (सुप्रसन्न—'इतना व्रत नियमादि प्रायश्चित्त करनेसे मेरा पाप अवश्य दूर हो गया होगा' इस प्रकार दृढ आत्मविश्वास) न हो, तब तक वह व्रत नियम आदि तपका आचरण करता रहे॥

तपकी प्रशंसा—

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः॥ २३४॥

---

१. अत एव देवलः—
'विधेः प्राथमिकादस्माद्द्वितीये द्विगुणं भवेत्।' इति।

देवों तथा मनुष्योंके सुखकी जड़ तप ही है, वह सुख तपसे ही स्थिर रहता है और उस सुखका अन्तिम लक्ष्य तप ही है; ऐसा वेद (मन्त्रों) के द्रष्टा महर्षियोंका कथन है ॥ २३४ ॥

वर्णक्रमसे तप—

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥ २३५ ॥

ब्राह्मणका तप ज्ञान (ब्रह्मचर्यरूप वेदान्तज्ञान), क्षत्रियका तप प्रजा तथा आर्तका रक्षण, वैश्यका तप वार्ता (खेती, व्यापार और पशुपालनादि) और शूद्रका तप ब्राह्मणकी सेवा करना है ॥ २३५ ॥

ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः ।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३६ ॥

(काय, वचन और मनसे) संयम रखनेवाले तथा फल-मूल एवं वायुका भक्षण करनेवाले महर्षिलोग तपसे ही चराचरसहित त्रैलोक्यको देखते हैं ॥ २३६ ॥

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः ।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥ २३७ ॥

औषध, नीरोगता, (वेदादि ज्ञानरूप) विद्या, देवोंको (स्वर्ग आदि) अनेक लोगोंमें स्थितिः ये सब तपसे ही प्राप्त होते हैं; अत एव तप ही इनकी प्राप्तिका कारण है ॥ २३७ ॥

यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ २३८ ॥

जो दुस्तर (कठिनतासे पार होने योग्य ग्रहबाधा आदि है), जो दुर्लभ (कठिनतासे प्राप्त होने योग्य—यथा क्षत्रिय होकर भी विश्वामित्रका ब्राह्मण होना आदि) है, जो दुर्गम (कठिनतासे चलने योग्य सुमेरु-शिखर आदि) है, जो दुष्कर (कठिनतासे करने योग्य गौ, भूमि, धन आदिका अपरिमित मात्रामें दान करना आदि) है; वह सब तपसे ही सिद्ध हो सकता है; क्योंकि तप उल्लङ्घनके योग्य नहीं होता है ॥ २३८ ॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ २३९ ॥

इस कारणसे (११।२३४-२३८) महापातकी (ब्रह्महत्या आदि करनेवाले—११।५४) तथा शेष अकार्यकारी (गोहत्या आदि उपपातक करनेवाले—११।५९-६६) अच्छी तरह किये गये तपके द्वारा ही पापसे छूट जाते हैं ॥ २३९ ॥

कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च।
स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥ २४० ॥

कीट (क्षुद्र जीव), सर्प, पतङ्ग (फुनंगे—उड़नेवाले फतिङ्गे), पशु, पक्षी तथा सम्पूर्ण चराचर (वृक्ष, लता, गुल्म आदि) जीव तपके बलसे ही स्वर्गको जाते हैं॥

विमर्श—इतिहास-पुराणादिमें कबूतरी तथा कबूतरकी कथा है कि अतिथि-सत्कारार्थ अग्निप्रवेशकर वे स्वर्गको प्राप्त किये तथा नहुष नृग आदि कीट योनि पाकर पूर्वजन्मकृत तपसे अन्तमें स्वर्गको गये।

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ २४१ ॥

मनुष्य मन, वचन तथा कायसे जो कुछ पाप करते हैं; उन सब पापोंको वे तपस्वी लोग तपसे ही भस्म कर देते हैं ॥ २४१ ॥

तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः।
इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥ २४२ ॥

तपसे ही अत्यन्त शुद्ध ब्राह्मणके यज्ञमें देवतालोग हविष्यको लेते और उनके मनोरथको पूर्ण करते हैं ॥ २४२ ॥

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥

तपसे ही (सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि, पालन तथा नाश करनेमें) समर्थ ब्रह्माने इन शास्त्रको बनाया तथा तपसे ही (वसिष्ठ आदि) ऋषियोंने (मन्त्र तथा ब्राह्मण-रूप) वेदको प्राप्त किया ॥ २४३ ॥

इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते।
सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ २४४ ॥

इन समस्त प्राणियोंके दुर्लभ एवं पुण्यमय जन्मको प्राप्त होता हुआ देखकर देवता लोग तपके बड़े भारी महात्म्यको कहते हैं ॥ २४४ ॥

तपका लक्षण—

[ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धाल्पभोजनम् ।
अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयम्भुवा ॥ १२ ॥]

[ब्रह्मचर्य, जप, हवन, यथासमय शुद्ध तथा स्वल्प भोजन; राग-द्वेष तथा लोभका त्याग; इनको ब्रह्माने तप कहा है ॥ १२ ॥]

वेदाभ्यासादिसे महापातकादिका नाश—

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥ २४५ ॥

प्रतिदिन यथाशक्ति वेदका अभ्यास, पञ्चमहायज्ञ (३।७०) तथा क्षमा; ये सब महापातकसे भी उत्पन्न पापोंको नष्ट कर देते हैं (फिर साधरण पापोंके विषयमें क्या कहना है, अतः इनका आचरण यथाशक्ति करते रहना चाहिये) ॥ २४५ ॥

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥

जिस प्रकार अग्नि अपने तेज (दाहकर शक्ति) से काष्ठादि समीपवर्ती पदार्थोंको तत्काल जला देती है, उसी प्रकार वेदज्ञाता ब्राह्मण अपने ज्ञानरूप अग्निसे सब पापोंको नष्ट कर देता है ॥ २४६ ॥

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि ।
अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४७ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि-ब्रह्महत्या आदि) पापोंका यह (११।७२-२४६) प्रायश्चित्त विधिपूर्वक (मैंने) कहा, यहांसे आगे (११।२४८-२६५) रहस्यों (गुप्त पापों) के प्रायश्चित्तको (आपलोग) सुनें ॥ २४७ ॥

विमर्श—'इस श्लोकको गोविन्दराजने नहीं लिखा है, किन्तु मेधातिथिने तो लिखा है' ऐसा मन्वर्थमुक्तावलीकारका कथन है ।

गुप्त पापोंका प्रायश्चित्त—

सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥

व्याहृति तथा प्रणव (ओंकार) से युक्त सोलह प्राणायाम प्रतिदिन एक मास तक करनेसे ब्रह्मघातीको भी ('अपि' शब्दसे आतिदेशिक ब्रह्महत्याके प्रायश्चित्तके अधिकारीको भी) शुद्ध कर देते हैं ॥ २४८ ॥

मद्यपानका प्रायश्चित्त—

कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् ।
माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुध्यति ॥ २४९ ॥

कौत्स ऋषिसे देखा गया 'अप नः शोशुचदघम्' यह सूक्त, वसिष्ठ ऋषिसे देखा गया 'प्रतिस्तोमेभिरुषसं वसिष्ठाः' यह ऋचा, माहित्र 'माहित्रीणामवोऽस्तु' यह सूक्त तथा शुद्धवती 'एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धम्…' इन तीन ऋचाओंको प्रतिदिन १६-१६ वार (एक मास तक) जपकर मदिरा पीनेवाला भी ('अपि' शब्दसे आतिदेशिक मदिरापानके प्रायश्चित्तका अधिकारी भी) शुद्ध हो जाता है ॥

सुवर्णस्तेयका प्रायश्चित्त—

सकृज्जप्त्वास्य वामीयं शिवसंकल्पमेव च ।
अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥ २५० ॥

सुवर्णको चुरानेवाला ब्राह्मण 'अस्य वामीय' 'अस्य वामस्य पलितस्य……' इस सूक्तको, और वाजसनेयकमें पठित 'यज्जाग्रतो दूरमुदैति……' इस शिवसङ्कल्प को एकवार भी (एक मास तक) जपकर तत्काल दोषरहित हो जाता है ॥२५०॥

गुरुपत्नीसम्भोगका प्रायश्चित्त—

हविष्पान्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च ।
जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥ २५१ ॥

'हविष्पान्तीय' (हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि) इत्यादि उन्नीस ऋचाओंको, 'नतमंह' (नतमंहो न दुरितम्) इत्यादि आठ ऋचाओंको, 'इति' ('इति वा इति मे मनः' तथा 'शिवसङ्कल्पमस्तु' यह सूक्तद्वय) और पुरुषसूक्त ('सहस्रशीर्षा पुरुषः' आदि १६ मन्त्र) को एक मासतक प्रतिदिन (१६-१६ वार) जपकर गुरुपत्नीके साथ सम्भोग करनेवाला पापसे छूट जाता है ॥ १५१ ॥

स्थूल तथा सूक्ष्म पापोंका प्रायश्चित्त—

एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ।
अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किंचेदमितीति वा ॥ २५२ ॥

स्थूल (ब्रह्महत्यादि महापातक-११।५४) तथा सूक्ष्म (गोहत्यादि उपपातक-११।५९-६६) पापोंकी शुद्धि चाहनेवाला मनुष्य 'अव' 'अव ते हेलो वरुण नमोभिः' इस ऋचाको, या 'यत्किञ्चेदं' 'यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जने' इस ऋचाको, या 'इति' 'इति वा इति मे मनः' इस सूक्तको एक वर्ष तक प्रतिदिन १-१ वार जपे ॥२५२॥

अग्राह्य दान लेने आदिका प्रायश्चित्त—

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् ।
जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥ २५३ ॥

अग्राह्य दान लेकर तथा अभक्ष्यका भक्षणकर मनुष्य 'तरत्समन्दीयं' 'तरत्समन्दी धावति' इन चार ऋचाओंको तीन दिनतक जपकर उस पापसे छूट जाता है ॥

विविध पापोंका प्रायश्चित्त—

सोमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य शुध्यति ।
स्रवन्त्यामाचरन्स्नानमर्यम्णामिति च तृचम् ॥ २५४ ॥

बहुत पापोंको करनेवाला मनुष्य 'सोमारौद्र' (सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यम्) इन चार ऋचाओंको, 'अर्यमणम्' (अर्यमणं वरुणं मित्रं च) इन तीन ऋचाओंको नदीमें स्नानकर (एक मास तक प्रत्येकका जपकर) शुद्ध हो जाता है ॥ २५४ ॥

विमर्श—बहुत-से पापोंको करके इस प्रायश्चित्तको एक वार नहीं करना चाहिये, किन्तु जितने पाप हों, उतनी वार इस प्रायश्चित्तको करना चाहिये ।

जलमें मल-मूत्र त्याग करने आदिका प्रायश्चित्त—

अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत् ।
अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥ २५५ ॥

पापी (किसी पाप-विशेषका उल्लेख नहीं होनेसे सर्वविध पापको करनेवाला) मनुष्य 'इन्द्रं' (इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्) इत्यादि सात ऋचाओंको ६ मासतक प्रतिदिन जप करे तथा जलमें मल-मूत्रका त्यागकर एक मासतक भिक्षा मांगकर भोजन करे ॥ २५५ ॥

मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः ।
सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् ॥ २५६ ॥

द्विज ('देवकृतस्य' इत्यादि) शाकल होममन्त्रोंसे एक वर्ष तक प्रतिदिन घीका हवनकर, अथवा 'नमः' (नम इन्द्रश्च) इस ऋचाको एक वर्ष तक जपकर बड़े पापको भी नष्ट कर देता है ॥ २५६ ॥

महापातकादिका प्रायश्चित्त—

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः ।
अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुध्यति ॥ २५७ ॥

महापातक (ब्रह्महत्यादि—११।५४) से युक्त मनुष्य जितेन्द्रिय होकर एक वर्षतक गौओंके पीछे-पीछे चलते (११।१०८-११४ के अनुसार उनकी सेवा करते) हुए भिक्षान्नका भोजन करनेसे तथा 'पवमानी' (यः पवमानीरध्येति इत्यादि) ऋचाओंका प्रतिदिन अभ्यास (जप) करनेसे शुद्ध (पापरहित—निर्दोष) हो जाता है ॥ २५७ ॥

अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम्।
मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥ २५८ ॥

अथवा तीन 'पराक' कृच्छ्रव्रत (११।२१५) से शुद्ध होकर वनमें (मन्त्र-ब्राह्मणरूप) वेदसंहिताका तीन वार अभ्यास (पाठ) कर बाह्य (शारीरिक) तथा आभ्यन्तर (मानसिक) शुद्धियुक्त मनुष्य सब महापातकोंसे मुक्त हो जाता है ॥

त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः।
मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥ २५९ ॥

तीन दिनतक उपवास तथा त्रिकाल (प्रातः मध्याह्न तथा सायंकाल) स्नान करता हुआ और जलमें डूब (गोता लगा) कर ही 'अघमर्षण' (ऋतञ्च सत्यं च) इस सूक्तका तीन वार जप कर मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ॥ २५९ ॥

अघमर्षण मन्त्रकी प्रशंसा—

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः।
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥

जिस प्रकार सब यज्ञोंका राजा अश्वमेध यज्ञ सब पापोंको नष्ट करनेवाला है, उसी प्रकार 'अघमर्षण' सूक्त ('ऋतं च सत्यं च' यह मन्त्र) सब पापोंको नष्ट करनेवाला है ॥ २६० ॥

ऋग्वेदप्रशंसा—

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः।
ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किंचन ॥ २६१ ॥

इन तीनों (स्वर्ग, मृत्यु तथा पाताल) लोकोंकी हत्याकर तथा जहां कहीं (महापातकी आदि वर्जित लोगोंके यहां) भी भोजन करनेवाला ऋग्वेदको धारण (अभ्यास) करता हुआ ब्राह्मण किसी भी दोषसे लिप्त नहीं होता ॥ २६१ ॥

ऋग्वेदादिके अभ्याससे सर्वपापमुक्ति—

ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ।
साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६२ ॥

मन्त्र-ब्राह्मणात्मक (ब्राह्मण-सहित मन्त्रभागको, केवल मन्त्रभागको ही नहीं) ऋग्वेदको, अथवा (मन्त्र-ब्राह्मणसहित) यजुर्वेदको, अथवा ब्राह्मणोपनिषद्के सहित सामवेदको समाहितचित्त होकर तीन वार अभ्यास (पाठ) करके सब पापोंसे छूट जाता है ॥ २६२ ॥

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ २६३ ॥

जिस प्रकार महाह्रद (बड़े जलाशय) में गिरा हुआ (मिट्टीका) ढेला (पिघकर) नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार 'त्रिवृत्' (११।२६४) वेदमें सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ २६३ ॥

'त्रिवृत्' का लक्षण—

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥ २६४ ॥

ऋग्वेदके मन्त्र, यजुर्वेदके मन्त्र और (बृहद्रथन्तर आदि) अनेकविध सामवेद; इन तीनोंके पृथक्-पृथक् मन्त्र तथा ब्राह्मण भागरूप 'त्रिवृत्' वेदको जानना चाहिये, जो इसे जानता है, वही वेदज्ञाता है ॥ २६४ ॥

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥

सब वेदोंका आदि सारभूत जो तीन अक्षरों (अकार उकार तथा मकार) वाला ब्रह्म (प्रणव अर्थात् 'ॐ') है और जिसमें त्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद) प्रतिष्ठित हैं; वही दूसरा 'त्रिवृत्' वेद अर्थात् प्रणव 'ॐ' गोपनीय है, जो उसको (स्वरूप तथा अर्थसे) जानता है, वही वेदज्ञाता है ॥ २६५ ॥

[एष वोऽभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः ।
निःश्रेयसं धर्मविधिं विप्रस्येमं निबोधत ॥ १३ ॥

[(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) यह (मैंने) प्रायश्चित्तके समस्त निर्णयको आपलोगोंसे कहा, अब ब्राह्मणके इस मोक्षविधानको (आपलोग) सुनें ॥१३॥

पृथक् ब्राह्मणकल्पाभ्यां स हि वेदस्त्रिवृत्स्मृतः ॥ १४ ॥]

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

ब्राह्मण तथा कल्पसे पृथक् यह 'त्रिवृत्' वेद कहा गया है ॥ १४ ॥]

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् प्रायश्चित्तादिनिर्णयः ।
त्रिपाठिनः कृपादृष्टयैकादशे पूर्णतां गतः ॥ ११ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें एकादश अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

महर्षियोंका भृगुजीसे प्रश्न—

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ ।
कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥ १ ॥

(महर्षियोंने भृगुजीसे पूछा कि—) हे निष्कल्मष भृगुजी ! (आपने अवान्तर भेदोंके सहित) चारो वर्णोंके समस्त धर्मको कहा, (अब जन्मान्तरके शुभाशुभ) कर्मोंके परमार्थ रूपसे फलकी प्राप्तिको हमलोगोंसे आप कहिये ॥ १ ॥

भृगुजीका महर्षियोंको उत्तर—

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।
अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥

धर्मात्मा मनुपुत्र भृगुजीने उन (महर्षियों) से कहा कि—इन सब कर्म-सम्बन्धके निर्णयको (आपलोग) सुनिये ॥ २ ॥

शुभाशुभ कर्मोंके फल—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥

मनुष्योंके कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म शुभाशुभ फल देनेवाले होते हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाली मनुष्योंकी उत्तम (देव), मध्यम (मनुष्य आदि) तथा अधम (तिर्यक् आदि) गतियां (जन्म) भी होती हैं ॥ ३ ॥

मनको कर्मप्रवर्तकत्व—

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

(उत्तम, मध्यम तथा अधम भेदसे) तीन प्रकारके तथा (मन, वचन तथा शरीरके आश्रित होनेसे) तीन अधिष्ठानवाले दश लक्षणों (१२।५-७) से युक्त देही (जीव) के मनको (कर्ममें) प्रवृत्त करनेवाला जानो ॥ ४ ॥

दश लक्षणवाले कर्मोंमें त्रिविधमानसिक कर्म—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥

(१) दूसरेके द्रव्यको अन्यायसे भी लेनेका विचार करना, (२) मनसे निषिद्ध कार्य (ब्रह्महत्यादि पाप कर्म) करनेकी इच्छा करना, (३) असत्य हठ (परलोक आदि कुछ भी नहीं है, यह देह ही आत्मा है, इत्यादि रूपसे दुराग्रह) करना; ये तीन प्रकारके मानसिक (अशुभ) कर्म हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—इनके विपरीत (१) न्यायपूर्वक दूसरेके द्रव्यको लेनेका विचार करना, (२) शास्त्रविहित (यज्ञादि) कर्म करनेकी इच्छा करना, (३) आस्तिक बुद्धि रखना; ये तीन मानसिक शुभ कर्म हैं ।

चतुर्विधवाचिक कर्म—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

(४) कटु बोलना, (५) झूठ बोलना (६) परोक्षमें किसीका दोष कहना और (७) निष्प्रयोजन (बेमतलबकी) बातें करना; ये चार प्रकारके वाचिक (अशुभ) कर्म हैं ॥ ६ ॥

विमर्श—इनके विपरीत (४) मधुर बोलना, (५) सत्य बोलना, (६) परोक्षमें भी दूसरेका दोष छिपाना या गुणको ही बतलाना और (७) मतलबकी बाते करना; ये चार प्रकारके वाचिक शुभ कर्म हैं ।

त्रिविध शारीरिक कर्म—

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥

(८) विना दी हुई (दूसरेकी) वस्तुको लेना, (९) शास्त्र-वर्जित हिंसा करना और (१०) परस्त्रीके साथ सम्भोग करना; ये तीन प्रकारके शारीरिक (अशुभ) कर्म हैं (इस प्रकार ये १० प्रकारके (अशुभ) कर्म हैं) ॥ ७ ॥

विमर्श—इनके विपरीत (८) न्यायपूर्वक दी हुई वस्तुको लेना, (९) शास्त्र-विहित अश्वमेधादि यज्ञमें हिंसा करना और (१०) शास्त्र प्रतिपादित समयों (रजस्वलावस्था तथा पर्वदिन, दिन, सन्ध्याकाल आदिको छोड़कर शेष समयों) में स्वस्त्रीके साथ सम्भोग करना; ये तीन प्रकारके शारीरिक शुभ कर्म हैं।

मानसिक आदि कर्मोंका फलभोक्ता मन आदि—

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥

यह (देही-जीव) मानसिक कर्मोंके फलको मनसे, वाचिक कर्मोंके फलको वचनसे और शारीरिक कर्मोंके फलको शरीरसे ही भोगता है ॥ ८ ॥

[त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं कर्म दश धर्मपथांस्त्यजेत् ॥ १ ॥]

[शरीरसे त्रिविध (१२।७), वचनसे चतुर्विध (१२।६) और मनसे त्रिविध (१२।५) अधर्म-मार्गों (अशुभ कर्मों) को छोड़ देना चाहिये ॥ १ ॥]

शारीरिक आदि कर्मोंके फल—

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥

मनुष्य शारीरिक (१२।७) कर्मके दोषोंसे स्थावर (वृक्ष, लता, गुल्म पर्वत आदि) योनिको, वाचिक (१२।६) कर्मके दोषोंसे पक्षी, मृग (पशु, कीट, पतङ्ग आदि) योनिको और मानसिक (१२।५) कर्मके दोषोंसे अन्त्य जाति (चण्डाल आदि हीन जाति) को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

[शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत्।
अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते ॥ २ ॥

[मनुष्य शुभ कर्मोंसे देवयोनिको, मिश्रित (शुभ तथा अशुभ-दोनों) कर्मोंसे मनुष्ययोनिको और केवल अशुभ कर्मोंसे तिर्यग्योनि (पशु, पक्षी, वृक्ष, लतादि) योनिको प्राप्त करता है ॥ २ ॥

वाग्दण्डो हन्ति विज्ञानं मनोदण्डः परां गतिम्।
कर्मदण्डस्तु लोकांस्त्रीन्हन्यादपरिरक्षितः ॥ ३ ॥

अरक्षित वाग्दण्ड विज्ञानको, मनोदण्ड उत्तम (स्वर्ग, मोक्ष आदि) गतिको और कर्मदण्ड तीनों लोकोंको नष्ट कर देता है ॥ ३ ॥

वाग्दण्डोऽथ भवेन्मौनं मनोदण्डस्त्वनाशनम् ।
शारीरस्य हि दण्डस्य प्राणायामो विधीयते ॥ ४ ॥

मौनको वाग्दण्ड, अनशनको मनोदण्ड और प्राणायामको शरीरदण्ड कहा जाता है ॥ ४ ॥

त्रिदण्डं धारयेद्योगी शारीरं न तु वैष्णवम् ।
वाचिकं कायिकं चैव मानसं च यथाविधि ॥ ५ ॥]

योगी मनुष्य वाग्दण्ड, मनोदण्ड और शरीरदण्ड—अर्थात् मौन, अनशन और प्राणायामरूप शरीर सम्बन्धी त्रिदण्डको धारण करे, बांसके 'त्रिदण्ड' (तीन डण्डों) को नहीं ॥ ५ ॥]

त्रिदण्डीका परिचय—

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥

जिसकी बुद्धि (विचार-मन) में वाग्दण्ड, मनोदण्ड और शरीरदण्ड; ये तीनों स्थित हैं, वही (सच्चा) 'त्रिदण्डी' (तीन दण्डोंवाला—संन्यासी) कहा जाता है, (केवल बांसका तीन दण्ड धारण करनेवाला ही संन्यासी नहीं है) ॥ १० ॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ११ ॥

जब मनुष्य काम तथा क्रोधको रोककर सब जीवोंमें इस त्रिदण्ड (कायिक, वाचिक तथा मानसिक दण्ड) को व्यवहृत करता है, तब वह सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

क्षेत्रज्ञ आदि परिचय—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥

जो इसे (शरीरको) कार्यों में प्रवृत्त करता है, उसे पण्डित लोग 'क्षेत्रज्ञ' और जो कार्यों को करता है उसे 'भूतात्मा' कहते हैं ॥ १२ ॥

जीवात्माका परिचय—

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३ ॥

सब प्राणियोंका सहज (एक साथमें उत्पन्न) 'जीव' नामका दूसरा ही आत्मा अर्थात् 'जीवात्मा' है, जो प्रतिजन्ममें सब सुख-दुःखका अनुभव करता है ॥ १३ ॥

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च ।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

पञ्च महाभूत (पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश) से मिले हुए वे दोनों-महान् तथा क्षेत्रज—छोटे-बड़े सब भूतात्माओंमें स्थित उस परमात्मामें व्याप्त होकर रहते हैं ॥ १४ ॥

[उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्ययमीश्वरः ॥ ६ ॥]

[उत्तम पुरुष तो दूसरा ही है, जो 'परमात्मा' कहलाता है तथा अविनाशशील एवं सर्वसमर्थ जो तीनों लोकोंको आविष्ट होकर पालन करता है ॥ ६ ॥]

जीवोंकी असङ्ख्यता—

असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः ।
उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥ १५ ॥

उस (परमात्मा) के शरीरसे असङ्ख्य जीव उत्पन्न (अग्निसे चिनगारीके समान प्रकट) होते हैं, जो छोटे-बड़े प्राणियोंको कर्मोंसे प्रवृत्त करते रहते हैं ॥१५॥

परलोकमें पाञ्चभौतिक शरीरका होना—

पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् ।
शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

पञ्च महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) से ही पापी मनुष्योंकी यातनाओं (पापजन्य नरकादि पीडाओं) को भोगनेके लिए दूसरा (जरायुजसे भिन्न) शरीर निश्चित रूपसे उत्पन्न होता है ॥ १६ ॥

उनका भोगके बाद अन्तरात्मामें लीन होना—

तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः ।
तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥ १७ ॥

उस शरीरसे यमसम्बन्धिनी यातनाओंको भोगकर वे यथायोग्य उन्हीं पञ्च-महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) में लीन हो जाते हैं ॥ १७ ॥

सोऽनुभूयासुखोदर्कान्दोषान्विषयसङ्गजान् ।
व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥

वे शरीर विषय-संसर्गसे उत्पन्न असुख फलोंको भोगकर निष्पाप हो महा-बलवान् उन्हीं दोनों (महान् तथा परमात्मा) का आश्रय करते हैं। (उसमें लीन होते) हैं ॥ १८ ॥

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह ।
याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥ १९ ॥

वे दोनों (महान् तथा परमात्मा) निरालस होकर उस जीवके (भोगनेसे बचे हुए) धर्म तथा पापको एक साथ देखते (विचार करते) हैं, जिनसे संयुक्त जीव मरकर (परलोकमें) तथा इस लोकमें (धर्मसे) सुख तथा (पापसे) दुःखको पाता है ॥ १९ ॥

धर्मके अधिक होनेसे स्वर्गसुख होना—

यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः ।
तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥ २० ॥

यदि प्राणी मनुष्य-शरीरमें अधिक धर्म तथा थोड़ा पाप करता है तो स्थूल शरीरसे परिणत उन्हीं पञ्चमहाभूत (पृथ्वी आदि) से स्वर्गमें सुखको भोगता है ॥

पापके अधिक होनेसे यमयातना होना—

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः ।
तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥ २१ ॥

यदि प्राणी मनुष्य-शरीरमें अधिक पाप तथा थोड़ा पुण्य करता है तो (मनुष्य-शरीरसे परिणत) उन्हीं पञ्चभूतों (पृथ्वी आदि) से त्यक्त होकर अर्थात् मरकर यम-यातनाओंको भोगता है ॥ २१ ॥

यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः ।
तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

यम-यातनाओंको भोगकर निष्पाप वह जीव उन्हीं पञ्च महाभूतों (पृथ्वी आदि) के भागोंको प्राप्त करता है अर्थात् मानवजन्म लेता है ॥ २२ ॥

धर्ममें मनको लगाना—

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा ।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥

(मनुष्य) इस जीवकी धर्म तथा अधर्मके कारण हुई इन गतियोंको अपने ही मनसे देख (विचार) कर सर्वदा धर्मके तरफ मनको लगावे ॥ २३ ॥

त्रिविध गुणकथन—

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥

आत्मा (महान्) के सत्त्व, रज तथा तम; ये तीन गुण हैं, जिनसे युक्त यह महान् (आत्मा) सम्पूर्ण (चराचर पदार्थों) में व्याप्त होकर स्थित है ॥ २४ ॥

अधिक गुणके अनुसार देहका होना—

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥

(यद्यपि यह सम्पूर्ण जगत् इन तीनों ही गुणों (सत्त्व, रज और तम) से व्याप्त है, तथापि) इन गुणोंमें-से जो गुण सबसे अधिक होता है, वह गुण उस देहधारीको उस गुणकी (अपनी) अधिकतासे युक्त कर देता है ॥ २५ ॥

सत्त्वादि गुणत्रयके लक्षण—

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥

(वस्तुका यथार्थ) ज्ञान सत्त्वगुण, प्रतिकूल ज्ञान तमोगुण और राग-द्वेष (रूप मानसिक कार्य) रजोगुण कहलाता है । सब प्राणियोंका आश्रित शरीर इन गुणोंका आश्रित है ॥ २६ ॥

विमर्श—सत्त्वादि गुणत्रयका स्वरूप क्रमशः प्रीति, अप्रीति और विषाद है; सामर्थ्य क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति (क्रिया) तथा नियम (स्थिति) है और वे परस्पराभिभव, परस्पराश्रय, परस्परजनन, परस्परमिथुन और परस्परवृत्तिवाले हैं[1] । विशेष जिज्ञासुओंको साङ्ख्यकारिका आदि ग्रन्थ देखना चाहिये ।

सत्त्वगुणका लक्षण—

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २७ ॥

उस आत्मामें जो कुछ प्रीति (सुख) से युक्त, क्लेशरहित एवं प्रकाशमान लक्षित हो; उसे 'सत्त्वगुण' जानना चाहिये ॥ २७ ॥

---

१. 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥' इति (सां० का० १२)

रजोगुणका लक्षण—

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥

जो दुःखयुक्त, अप्रीतिकारक तथा शरीरियोंको विषयोंकी ओर आकृष्ट करनेवाला प्रतीत हो; उसे तत्त्वज्ञानका प्रतिपक्षी (विरोधी) 'रजोगुण' जानना चाहिये ॥

तमोगुणका लक्षण—

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥

जो मोहयुक्त (सत्-असत् अर्थात् भले-बुरे विचारसे शून्य) हो, जिसके विषयका आकार अस्पष्ट हो तथा जो तर्कसे शून्य एवं (अन्तःकरण और बहिष्करण द्वारा) दुर्ज्ञेय हो; उसे 'तमोगुण' समझना चाहिये ॥ २९ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) इन (१२।२४) तीनो गुणोंका (क्रमशः) उत्तम, मध्यम और जघन्य (तुच्छ) जो फलोदय है, उसे अशेषतः (सम्पूर्ण रूपसे, मैं) कहूंगा ॥ ३० ॥

सात्त्विक गुणका लक्षण—

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥

वेदोंका अभ्यास, (प्राजापत्यादि) तप, (शास्त्रोंके अर्थका) ज्ञान, (मिट्टी जल आदिके द्वारा) शुद्धि, इन्द्रियसंयम, (दान आदि) धर्मकार्य और आत्मा (परमात्मा) का चिन्तन; ये सब 'सत्त्वगुण'के लक्षण (कार्य) हैं ॥ ३१ ॥

राजसिक गुणका लक्षण—

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

(फलप्राप्त्यर्थ) आरम्भ किये गये काममें रुचि होना धैर्यका अभाव, शास्त्रवर्जित कर्मका आचरण, तथा सर्वदा (रूप, रस, शब्द आदि) विषयोंमें आसक्ति, ये 'राजसिक गुण' के लक्षण हैं ॥ ३२ ॥

तामसिक गुणका लक्षण—

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥

लोभ, निद्रा, अधैर्य, क्रूरता, नास्तिकता, नित्य कर्मका त्याग, मांगनेका स्वभाव होना और प्रमाद ; ये, 'तामसिक' गुणके लक्षण हैं ॥ ३३ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥

तीनों (भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान) कालमें रहनेवाले इन तीनों गुणों (१२। २४) के गुणलक्षणको क्रमशः संक्षेपमें यह (१२।३५-३८) जानना चाहिये ॥

संक्षेपमें तामस गुणका लक्षण—

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥

मनुष्य जिस कामको करके, करता हुआ तथा भविष्यमें करनेवाला होकर लज्जित होता है ; उन सबको विद्वान् 'तामस गुण'का लक्षण समझे ॥ ३५ ॥

संक्षेपमें राजस गुणका लक्षण—

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥

इस लोकमें मनुष्य जिस काममें अत्यधिक प्रसिद्ध (नामवरी) को चाहता है और उस कामके असफल होनेपर शोक नहीं करता, उसे 'राजस गुण'का लक्षण समझे ॥

संक्षेपमें सात्त्विक गुणका लक्षण—

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥

मनुष्य जिस काम (वेदार्थ) को सम्पूर्ण आत्मासे अर्थात् सब प्रकार मन लगाकर जानना चाहता है तथा जिस कामको करता हुआ लज्जित नहीं होता और जिस कामसे आत्मा प्रसन्न होता है; उसे 'सात्त्विक गुण'का लक्षण समझना चाहिये ॥

पुनः सत्त्वादि गुणत्रयका अतिसंक्षिप्त लक्षण—

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

तमोगुणका लक्षण काम, रजोगुणका लक्षण अर्थ और सत्त्वगुणका लक्षण धर्म होता है; इनमें-से पहलेवालेकी अपेक्षा आगेवाला श्रेष्ठ होता है अर्थात् तमोगुणकी अपेक्षा रजोगुण तथा रजोगुणकी अपेक्षा सत्त्वगुण श्रेष्ठ होता है ॥ ३८ ॥

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते ।
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) इन तीनों गुणोंमें-से जो मनुष्य जिस गुणके द्वारा जिन संसारों अर्थात् गतियोंको प्राप्त करता है, उन सबको संक्षेपसे इस संसारके क्रमसे कहूंगा ॥ ३९ ॥

गुणत्रयसे त्रिविध गतियोंकी प्राप्ति—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥

सात्त्विक (सत्त्वगुणका व्यवहार करनेवाले) देवत्वको, राजस (रजोगुणका व्यवहार करनेवाले) मनुष्यत्वको और तामस (तमोगुणका व्यवहार करनेवाले) तिर्यक्त्व (पशु-पक्षी, वृक्ष-लता-गुल्म आदिकी योनि) को प्राप्त करते हैं; ये तीन प्रकारकी गतियां हैं ॥ ४० ॥

कर्मादिवश अप्रधान नवधा गतियां—

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ।
अधमा मध्यमाऽग्र्या च कर्मविद्या विशेषतः ॥ ४१ ॥

(सत्त्वादि तीनों गुणोंके कारण तीन प्रकारकी ये गतियां (देवगति, मनुष्य गति तथा तिर्यग्गति) कर्म तथा विद्या आदिकी विशेषतासे जघन्य मध्यम तथा उत्तम—पुनः तीन प्रकारकी अप्रधान गतियां होती हैं। (इस प्रकार ३ × ३ = ९ अप्रधान गतियां होती हैं) ॥ ४१ ॥

जघन्य तामसी गति—

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः ।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥ ४२ ॥

स्थावर (वृक्ष, लता, गुल्म, पर्वत आदि अचर), कृमि (सूक्ष्म कीड़े), कीट (कुछ बड़े कीड़े), मछली, सर्प, कछुवा, पशु, मृग; ये सब जघन्य (हीन) तामसी गतियां हैं ॥ ४२ ॥

मध्यम तामसी गति—

हस्तिनश्च तुरंगाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥

हाथी, घोड़ा, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ, सिंह, बाघ और सूअर; ये मध्यम तामसी गतियां हैं ॥ ४३ ॥

उत्तम तामसी गति—

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥

चारण (बन्दी-भाट आदि), सुपर्ण (पक्षि-विशेष), कपटाचारी मनुष्य, राक्षस और पिशाच; ये उत्तम तामसी गतियां हैं ॥ ४४ ॥

जघन्य राजसी गति—

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥

झल्ल, मल्ल (१०।२२), नट (रङ्गमञ्चपर अभिनयकर जीविका करनेवाले), शस्त्रजीवी (सिपाही, सैनिक आदि), जुआरी तथा मद्यपी पुरुष; ये जघन्य (हीन) राजसी गतियां हैं ॥ ४५ ॥

विमर्श—व्रात्य (२।३९) क्षत्रियसे सवर्णा स्त्रीमें 'झल्ल' तथा 'मल्ल' संज्ञक सन्तान होती हैं, इनमेंसे 'झल्ल' लाठी चलानेवाले तथा 'मल्ल' कुस्ती लड़नेवाले होते हैं।

मध्यम राजसी गति—

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥

राजा, क्षत्रिय, राजाओंके पुरोहित, शास्त्रार्थ आदिके विवादको पसन्द करनेवाले; ये सब मध्यम राजसी गतियां हैं ॥ ४६ ॥

उत्तम राजसी गति—

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गति ॥ ४७ ॥

गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवानुचर (विद्याधर आदि) और अप्सराएं; ये सब उत्तम राजसी गतियां हैं ॥ ४७ ॥

जघन्य सात्त्विकी गति—

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥ ४८ ॥

तपस्वी (वानप्रस्थ), यति (संन्यासी-भिक्षु) ब्राह्मण, वैमानिक गण (पुष्पक आदि देव-विमानोंसे गमन करनेवाले देवगण), नक्षत्र और दैत्य (प्रह्लाद, बलि आदि); ये जघन्य सात्त्विकी गतियां हैं ॥ ४८ ॥

मध्यम सात्त्विकी गतियां—

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ४९ ॥

यज्वा (विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान किये हुए), ऋषि, देव, वेद (इतिहास-प्रसिद्ध शरीरधारी वेदाभिमानी देव विशेष), ज्योति (ध्रुव आदि), वर्ष (इतिहास प्रसिद्ध शरीरधारी संवत्सर), पितर (सोमप आदि) और साध्य (देव-योनि-विशेष); ये मध्यम सात्त्विकी गतियां हैं ॥ ४९ ॥

उत्तम सात्त्विकी गति—

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेनां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥

ब्रह्मा (चतुर्मुख), विश्वस्रष्टा (मरीचि आदि), (शरीरधारी) धर्म, महान्, अव्यक्त (साङ्ख्यप्रसिद्ध दो तत्त्व-विशेष); इनको विद्वान् उत्तम सात्त्विक गतियां कहते हैं ॥ ५० ॥

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) मन, वचन तथा शरीरके भेदसे तीन प्रकारके कर्मोंको, (सत्त्व, रज और तम रूप) तीन प्रकारके गुणोंको और उनके भी सब प्राणि-सम्बन्धी (जघन्य, मध्यम तथा उत्तम भेदसे) तीन-तीन प्रकारकी सब गतियोंको (मैंने) कहा ॥ ५१ ॥

पापसे निन्दित गति पाना—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥

इन्द्रियोंकी (अपने अपने विषयोंमें) अत्यधिक आसक्ति होनेसे, (निषिद्ध कर्म करनेपर भी उसकी निवृत्तिके लिए विहित प्रायश्चित्त आदि) धर्मकार्य नहीं करनेसे मूर्ख तथा अधम मनुष्य निन्दित गतियोंको पाते हैं ॥ ५२ ॥

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा ।
क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥ ५३ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे पुनः कहते हैं कि—) यह जीव इस लोकमें जिस-जिस कर्म (के करने) से जिस-जिस योनिको प्राप्त करता है, उस सबको (आप लोग) सुनें ॥

पापविशेषसे गतिविशेषकी प्राप्ति—

बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात् ।
संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥ ५४ ॥

महापातकी (ब्रह्महत्या आदि महापातक (११।५४) करनेवाले) बहुत वर्ष-समूहोंतक भयङ्कर नरकोंको पाकर उनके उपभोगके क्षयसे इन (आगे (१२।५५–८०) कही जानेवाली गतियोंको प्राप्त करते हैं ॥ ५४ ॥

ब्रह्मघातीको कुत्ते आदिकी योनि मिलना—

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।
चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥

ब्रह्मघाती मनुष्य कुत्ता, सूअर, गधा, ऊँट, गौ, बकरी, भेंड़, मृग, पक्षी, चण्डाल (१०।१६) तथा पुक्कस (१०।१८) की योनिको प्राप्त करता है ॥५५॥

मद्यप ब्राह्मणको कृमि आदिकी योनि मिलना—

कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् ।
हिंस्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ ५६ ॥

सुरा पीने वाला ब्राह्मण कृमि (बहुत सूक्ष्म कीड़े), कीट (कृमियोंसे कुछ बड़े कीड़े), पतङ्ग (उड़नेवाले फतिङ्गे यथा-शलभ, टिड्डी आदि), विष्ठा खानेवाले (कौवा आदि) तथा हिंसक (बाघ, सिंह, भेंड़िया आदि) जीवोंकी योनिको प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

चोर ब्राह्मणको मकड़ी आदिकी योनि मिलना—

लूताहिसरटानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् ।
हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ ५७ ॥

सोनेको चुराने वाला ब्राह्मण मकड़ी, साँप, गिर्गिट, जलचर जीव (मगर आदि), हिंसाशील तथा प्रेतोंकी योनिको हजारों बार प्राप्त करता है ॥ ५७ ॥

गुरुतल्पगको तृणादि योनि मिलना—

तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ।
क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

गुरुतल्पग (गुरु (२।१४२) की स्त्रीके साथ सम्भोग करनेवाला) मनुष्य तृण, गुल्म, लता, कच्चे मांसको खानेवाले (गीध आदि) तथा दंष्ट्री (बाघ, सिंह, कुत्ता आदि) जीव और क्रूर कर्म करनेवाले (बाघ, सिंह या जल्लाद आदि) की योनिको सैकड़ों बार प्राप्त करते हैं ॥ ५८ ॥

हिंसावृत्ति आदिको मार्जारादि योनि मिलना—

हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः ।
परस्परादिनः स्तेनाः प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥

हिंसक (सदा हिंसा करनेवाले बहेलिया, शिकारी आदि) मनुष्य क्रव्याद (कच्चे मांस खानेवाले बिलाव आदि) होते हैं, अभक्ष्य पदार्थोंको खानेवाले मनुष्य कृमि (विष्ठादिके बहुत छोटे-छोटे कीड़े) होते हैं, (महापातकसे भिन्न) चोर परस्परमें एक दूसरेको खानेवाले होते हैं और चण्डाल आदि हीनतम जातियोंकी स्त्रियोंके साथ सम्भोग करनेवाले प्रेत होते हैं ॥ ५९ ॥

विमर्श—इस श्लोकके चतुर्थ पादमें 'प्रेताः + अन्त्य स्त्री······' ऐसी सन्धिच्छेद कर स्मृतियोंके वेदतुल्य होनेसे 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' अर्थात् 'वेदमें सूत्रविहित सब कार्य वैकल्पिक होते हैं, इस नियमानुसार विसर्गका वैकल्पिक लोप करके, अथवा 'प्रेतास् + अन्त्य स्त्री······' ऐसी स्थितिमें 'ससजुषो रुः' (पा० सू० ८।२।६६) से सकारका रु आदेशकर उसका 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (पा० सू० ८।३।१७) से य् आदेश करके 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० सू० ८।३।१९) इस सूत्रसे उस 'य्' का लोपकर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (पा० सू० ६।१।१०१) इस सूत्रसे सवर्ण दीर्घ एकादेश करनेपर उक्त प्रयोगकी सिद्धि मन्वर्थमुक्तावलीकारने की है, परन्तु यह सवर्ण दीर्घ कार्य भी छान्दस प्रयोग मानकर ही होगा अन्यथा 'य' लोप विधायकसूत्रके त्रिपादी तथा सवर्णदीर्घविधायक सूत्रके सपादसप्ताध्यायीस्थ होनेसे 'पूर्वत्रासिद्धम्' (पा० सू० ८।२।१) की प्रवृत्ति होकर यलोपके असिद्ध होनेसे सवर्ण दीर्घ नहीं हो सकेगा।

पतित संसर्गी आदिको ब्रह्मराक्षस-योनि मिलना—

संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ।
अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

पतितोंके साथ संसर्ग (११।१८०) कर, परस्त्रीके साथ सम्भोग कर और ब्राह्मणके (सुवर्ण-भिन्न) धनका अपहरण कर मनुष्य ब्रह्मराक्षस होता है ॥ ६० ॥

मणि आदिके चोरको हेमकारकी योनि मिलना—

मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः ।
विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥

मनुष्य मणि, मोती, मूँगा और अनेक प्रकारके रत्नोंको लोभसे (आत्मीय होनेके भ्रमसे नहीं) हरणकर सुनार (या 'हेमकार' पक्षी) की योनिमें उत्पन्न होता है ॥ ६१ ॥

धान्यादिचोरको चूहे आदिकी योनि मिलना—

धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः ।
मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥ ६२ ॥

मनुष्य धान्य चुराकर चूहा, काँसा चुराकर हंस, जल चुराकर प्लव नामक पक्षी, शहद चुराकर दंश (डांस), दूध चुराकर कौवा, (विशिष्ट रूपसे कथित गुड नमक आदिके अतिरिक्त) गन्ने आदिका रस चुराकर कुत्ता और घी चुराकर नेवला होता है ॥ ६२ ॥

मांसादि चोरको गीध आदिकी योनि मिलना—

मांसं गृध्रो वपां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः ।
चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि ॥ ६३ ॥

मांस चुराकर गीध, चर्बी चुराकर मद्गु नामक जलचर, तैल चुराकर तैलपक नामक पक्षी (या 'तेलचवटा' नामक उड़नेवाला कीड़ा), नमक चुराकर झींगुर और दही चुराकर बलाका पक्षी होता है ॥ ६३ ॥

रेशमी वस्त्रादिके चोरको तित्तिर आदिकी योनि मिलना—

कौशेयं तित्तिरिर्हृत्वा क्षौमं हृत्वा तु दर्दुरः ।
कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥ ६४ ॥

रेशमी वस्त्र (या सूत) चुराकर तीतर पक्षी, क्षौम (तीसी आदिके छालसे बना) वस्त्र चुराकर मण्डूक (मेढक), रूईसे बना अर्थात् सूती वस्त्र चुराकर क्रौञ्च पक्षी, गौको चुराकर गोह और गुड चुराकर वाग्गुद पक्षी होता है ॥ ६४ ॥

कस्तूरी आदिके चोरको छुछुन्दरी आदिकी योनि मिलना—

छुच्छुन्दरिः शुभान्गन्धान्पत्रशाकं तु बर्हिणः ।
श्वावित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥ ६५ ॥

उत्तम गन्ध (कस्तूरी, कर्पूर आदि) चुराकर छुछुन्दरी, पत्तोंवाला (बथुआ पालक आदि) शाक चुराकर मोर, सिद्धान्न (मोदक, लड्डू, सत्तू , भात आदि) चुराकर शाही (काँटेदार सम्पूर्ण शरीरवाला छोटे कुत्तोंके बराबर ऊँचा पशु-विशेष), कच्चा अन्न (चावल, धान, गेहूँ, जौ, चना, दाल आदि) चुराकर शल्यक होता है ॥ ६५ ॥

अग्नि आदिके चोरको बगुला आदिकी योनि मिलना—

बको भवति हृत्वाऽग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् ।
रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥ ६६ ॥

अग्नि चुराकर बगुला, गृहोपयोगी (सूप, चालन, ओखली, मूसल आदि) साधन चुराकर लोहनी नामक कीडा (जो मिट्टीसे लम्बा या गोल आकारवाले अपने घरको दिवालों या धरन आदि काष्ठोंपर बनाता है) और (कुसुम्भ आदि से) रंगा गया वस्त्र चुराकर चकोर पक्षी होता है ॥ ६६ ॥

मृग आदिके चोरको भेंड़िया आदिकी योनि मिलना—

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः ।
स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥ ६७ ॥

मृग (हरिण) या हाथी चुराकर भेडिया, घोड़ा चुराकर बाघ, फल तथा मूल चुराकर वानर, स्त्री चुराकर भालू, (पीनेके लिए) पानी चुराकर चातक पक्षी, (एक्का, तांगा, रेक्सा गाडी आदि) सवारी चुराकर ऊँट और (इस प्रकरणमें अकथित) पशुओंको चुराकर छाग होता है ॥ ६७ ॥

बलपूर्वक साधारण वस्तु लेनेपर भी तिर्यक् योनि मिलना—

यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः ।
अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥ ६८ ॥

मनुष्य दूसरेकी निःसार (साधारणतम) भी वस्तुको बलात्कारसे लेकर तथा विना हवन किये (पुरोडाश आदि) हविष्यको खाकर अवश्य ही तिर्यग्योनिको पाता है ॥ ६८ ॥

उक्त वस्तु चुरानेवाली स्त्रियोंको स्त्रीरूपमें उक्त योनि मिलना—

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः।
एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥ ६९ ॥

इसी प्रकार स्त्रियां भी इच्छापूर्वक (इन वस्तुओंको) चुराकर दोषभागिनी होती हैं और वे इन्हीं (१२।६२–६८) जीवोंकी स्त्रियां होती हैं ॥ ६९ ॥

नित्यकर्मके त्यागसे शत्रुओंका दास होना—

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि।
पापान्संसृत्य संसारान्प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥ ७० ॥

(इस प्रकार शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंके आचरण करनेपर फलोंको कहकर अब शास्त्र-विहित कर्मोंके नहीं करनेपर होनेवाले फलोंको कहते हैं—) वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) आपत्तिकाल नहीं होनेपर भी अपने-अपने कर्मोंसे भ्रष्ट होकर (शास्त्रविहित पञ्चमहायज्ञ आदि कर्मोंको छोड़कर) निन्दित योनियोंको पाकर जन्मान्तरमें शत्रुओंके यहां दास होते हैं ॥ ७० ॥

स्वकर्मभ्रष्ट ब्राह्मणादिको प्रेत होना—

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः।
अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥ ७१ ॥

अपने धर्मसे भ्रष्ट ब्राह्मण वान्तभोजी (वमन किये हुए अन्नादिको खानेवाला) तथा ज्वालायुक्त (ज्वलनशील–जलते हुए) मुखवाला प्रेत होता है और (अपने धर्मसे भ्रष्ट) क्षत्रिय अपवित्र (विष्ठा) तथा शवको खानेवाला 'कटपूतन' नामक प्रेत होता है ॥ ७१ ॥

मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ॥ ७२ ॥

अपने कर्मसे भ्रष्ट हुआ वैश्य पीब खानेवाला 'मैत्राक्षज्योतिष्क' नामक प्रेत होता है (इसका गुद ही कर्मेन्द्रिय होता है) और अपने धर्मसे भ्रष्ट शूद्र 'चैलाशक' (वस्त्रोंकी 'जूं' को खानेवाला) नामक प्रेत होता है ॥ ७२ ॥

विमर्श—गोविन्दराजने वस्त्र खानेवाला कीड़ा होना स्वधर्मभ्रष्ट शूद्रको कहा है, किन्तु प्रेतयोनिमें जन्म लेनेका प्रकरण होनेसे वह कथन ठीक नहीं है।

विषयसेवनसे नरकप्राप्ति—

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥

विषयी मनुष्य विषयोंको जैसे-जैसे (जितनी अधिक मात्रामें) सेवन करते हैं, उन (विषयों) में वैसे वैसे (उतनी अधिक मात्रामें) कुशलता (प्रवीणता अर्थात् वृद्धि-आसक्ति) होती जाती है ॥ ७३ ॥

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥

(अतः) वे मन्दबुद्धि उन पाप कर्मोंके अभ्यास (निरन्तर सेवन) से उन-उन योनियोंमें दुःखोंको प्राप्त करते हैं ॥ ७४ ॥

तामिस्रादिषु चाग्रेषु नरकेषु विवर्तनम्।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥ ७५ ॥

(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) (४।८८-९०) तामिस्र आदि घोर नरकोंमें दुःख पाते हैं तथा असिपत्रवन आदि नरकोंको और बन्धन, छेदन आदि दुःखोंको पाते हैं ॥

विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम्।
करम्भबालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥

(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) अनेक प्रकारकी पीडाओंको भोगते हैं, उन्हें कौवे और उल्लू खाते हैं, वे सन्तप्त बालू (रेत) में सन्तापको पाते हैं और कुम्भीपाक आदि दारुण नरकोंको भोगते हैं ॥ ७६ ॥

संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः।
शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥

(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) अधिक दुःखदायी (तिर्यक् आदि) निषिद्ध योनियोंमें उत्पत्ति (जन्म) को और शीत तथा आतप (ठंडक तथा धूप) की भयङ्कर विविध पीडाओंको प्राप्त करते हैं ॥ ७७ ॥

असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम्।
बन्धनानि च काष्ठानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) अनेक वार गर्भमें निवास, जन्मग्रहण, अनेक प्रकारके कष्टकारक बन्धन (जन्य पीडाओं) को पाते हैं तथा दूसरोंके दास बनते हैं ॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः।
द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥ ७९ ॥

(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) प्रियबन्धुओंके वियोग, दुष्टोंके सहवास, धनोपार्जनका प्रयास, नाश, कष्टसे मित्रोंका लाभ और शत्रुओंका प्रादुर्भाव (नये-नये शत्रुओंका होना) को प्राप्त करते हैं ॥ ७९ ॥

जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम्।
क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ८० ॥

(वे क्षुद्रबुद्धि पापी मनुष्य) प्रतिकाररहित बुढ़ापा, व्याधियोंसे उपपीडन (भूख-प्यास आदिसे) अनेक प्रकारके क्लेश और दुर्जय मृत्युको पाते हैं ॥८०॥

भावानुसार फलभोग—

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ८१ ॥

मनुष्य जिस प्रकारके (भले या बुरे) भावोंसे जिन-जिन (भले या बुरे) कर्मोंका सेवन करता है, वह वैसे (भले या बुरे) शरीरसे उन-उन (भले या बुरे) कर्मफलोंको प्राप्त करता है ॥ ८१ ॥

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः।
निःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) आपलोगोंसे इस (१२।५५-८१) कर्मोंके फलकी सम्पूर्ण उत्पत्तिको कहा, अब मोक्षके लिए ब्राह्मणके कर्मको आपलोग सुनें ॥ ८२ ॥

मोक्षसाधक षट्कर्म—

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥

(उपनिषद्के सहित) वेदका अभ्यास, (प्राजापत्य आदि) तप, (ब्रह्मविषयक) ज्ञान, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा और गुरुजनोंकी सेवा; ये ब्राह्मणके लिए श्रेष्ठ मोक्षसाधक छः कर्म हैं ॥ ८३ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ।
किंचिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥

इन सब (१२।८३) शुभ कर्मोंमें भी मनुष्यके लिए अधिक शुभकारक कोई कर्म है ॥ ८४ ॥

ब्रह्मज्ञानकी मुख्यता—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥

इन सब (१२।८३) कर्मोंमें भी उपनिषद्वर्णित ब्रह्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, वही सब विद्याओंमें प्रधान है, इस कारण उससे अमृत (मोक्ष) की प्राप्ति होती है ॥ ८५ ॥

वेदोक्त कर्मकी श्रेष्ठता—

षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च ।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

इन (१२।८३) सब छः कर्मोंमें से मरनेके बाद (परलोकमें) तथा (जीवित रहनेपर) इस संसारमें वैदिक कर्मको सर्वदा कल्याणकारक समझना चाहिये ॥८६॥

विमर्श—पूर्व वचन (१२।८५) से आत्मज्ञानको मोक्षसाधक कहा है तथा इस वचन (१२।८६) से ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याणकारक कहा है, अत एव पुनरुक्ति नहीं होती। 'इन पूर्व (१२।८३) श्लोकोक्त वेदाभ्यासादि छः कर्मोंमें-से स्मार्त कर्मोंकी अपेक्षा वैदिक कर्मोंका सर्वदा (इस लोक तथा परलोकमें) अतिशय-युक्त होनेसे कीर्ति, स्वर्ग एवं मोक्षका साधन जानना चाहिये' ऐसी व्याख्या गोविन्द राजने की है, किन्तु वेदाभ्यासादि छः कर्मोंमें—से प्रत्येक कर्मके वेदविहित होनेसे स्मार्त कर्मकी अपेक्षासे 'कुछ ऐसा है और कुछ नहीं है' ऐसी सम्भावना हो सकती है, तब निर्धारण अर्थमें षष्ठी विभक्ति किस प्रकार होगी ? अतः गोविन्द राजकी व्याख्या ठीक नहीं है।

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन्क्रियाविधौ ॥ ८७ ॥

(परमात्मोपासनारूप) वैदिक कर्मयोगमें ये सभी (ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण) उस उपासना विधिमें सम्पूर्ण भावसे क्रमशः अन्तर्भूत हो जाते हैं। अथवा—वैदिक कर्मयोगमें ये (१२।८३) सभी वेदाभ्यासादि षट्कर्म परमात्मज्ञानमें अन्तर्भूत हो जाते हैं ॥ ८७ ॥

द्विविध वैदिक कर्म—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

वैदिक कर्म दो प्रकारके होते हैं—पहला स्वर्गादि सुखसाधक संसारमें प्रवृत्ति करानेवाला (ज्योतिष्टोमादिरूप) प्रवृत्त कर्म तथा दूसरा निःश्रेयस (मुक्ति) साधक संसारसे निवृत्ति करानेवाला (प्रतीकोपासनादिरूप) निवृत्त कर्म ॥ ८८ ॥

प्रवृत्त तथा निवृत्त कर्मका लक्षण—

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥

इस लोकमें या परलोकमें इच्छापूर्वक (सकाम भावसे) किया गया (ज्योतिष्टोमादि यज्ञरूप) कर्म (संसार-प्रवृत्तिसाधक होनेसे) 'प्रवृत्त कर्म' कहा जाता है और इच्छारहित (निष्काम भावसे) ब्रह्मज्ञानके अभ्यासपूर्वक किया गया कर्म (संसार-निवृत्ति-साधक होनेसे) 'निवृत्त कर्म' कहा जाता है ॥ ८९ ॥

[अकामोपहतं नित्यं निवृत्तं च विधीयते।
कामतस्तु कृतं कर्म प्रवृत्तमुपदिश्यते ॥ ७ ॥]

[सदा निष्काम किया गया कर्म 'निवृत्त कर्म' कहा जाता है और सकाम किया गया कर्म 'प्रवृत्त कर्म' कहा जाता है ॥ ७ ॥

प्रवृत्त-निवृत्त कर्मोंके फल—

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥

(मनुष्य) प्रवृत्तकर्मका सेवनकर देवोंकी समानता (स्वर्ग) पाता है और निवृत्त कर्मका सेवन करता हुआ पञ्चभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) का अतिक्रमण करता अर्थात् पुनर्जन्मरहित होकर मोक्ष पाता है ॥ ९० ॥

समदर्शी होनेसे ब्रह्मत्वप्राप्ति—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥

सम्पूर्ण (चराचर) जीवोंमें आत्माको तथा आत्मामें सम्पूर्ण (चराचर) जीवोंको देखता हुआ आत्मयाजी (ब्रह्मार्पण न्यायसे ज्योतिष्टोमादि करनेवाला) ब्रह्मत्व अर्थात् मुक्तिको पाता है ॥ ९१ ॥

वेदाभ्यासादिमें प्रयत्नवान् होना—

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥ ९२॥

द्विजोत्तम (ब्राह्मण) शास्त्रोक्त (अग्निहोत्रादि) कर्मोंका त्यागकर भी ब्रह्म-ध्यान, इन्द्रियनिग्रह और (प्रणव, उपनिषद् आदि) वेदके अभ्यासमें प्रयत्नशील रहे॥

वेदाभ्यास-प्रशंसा—

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा॥ ९३॥

यही (आत्मज्ञान, वेदाभ्यासादि ही) द्विजको, विशेषकर ब्राह्मणके जन्मकी सफलता है; क्योंकि इसे पाकर द्विज कृतकृत्य हो जाता है, अन्यथा (दूसरे किसी प्रकारसे कृतकृत्य) नहीं होता॥ ९३॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥ ९४॥

पितर, देव तथा मनुष्योंका सनातन नेत्र वेद ही है, यह वेद अपौरुषेय (किसी पुरुषका नहीं बनाया हुआ) और अप्रमेय (मीमांसा, न्याय आदिसे निरपेक्ष) है; ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है॥ ९४॥

वेदबाह्य स्मृत्यादिकी निन्दा—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥ ९५॥

जो स्मृतियां वेदबाह्य (अवेदमूलक) हैं तथा जो कोई कुदृष्टि (चार्वाकादि-कृत शास्त्र) हैं वे सब परलोकमें निष्फल हैं; क्योंकि उन्हें (मनु आदि महर्षियोंने) तमःप्रधान कहा है॥ ९५॥

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥ ९६॥

इस (वेद) से भिन्न जो शास्त्र रचे जाते तथा नष्ट होते हैं, वे सब अर्वाचीन (आधुनिक अर्थात् इस समयके रचे हुए) होनेसे निष्फल तथा असत्य हैं॥९६॥

वेद-प्रशंसा—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥ ९७॥

पृथक्-पृथक् चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र), तीनों लोक (स्वर्ग, मृत्यु और पाताल), चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) और भूत, भविष्य तथा वर्तमान (क्रमशः जो कुछ हुआ, होगा तथा हो रहा है) वह सब वेदसे ही प्रसिद्ध होते हैं ॥ ९७ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

(इस लोक तथा परलोकमें) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पांचवाँ गन्ध; ये सब, गुण (सत्व, रज और तम) निमित्तक वैदिक कर्महेतुक होनेसे वेदसे ही प्रसिद्ध होते हैं ॥ ९८ ॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥

सनातन (नित्य) यह वेदशास्त्र सम्पूर्ण भूतोंको धारण करता है, इस कारणसे (मैं) इस जीवका उत्तम पुरुषार्थ-साधन वेदको मानता हूं ॥ ९९ ॥

वेदज्ञाताको सेनापति आदि होना—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १०० ॥

वेदज्ञाता मनुष्य सेनापतित्व, राज्य, दण्डप्रणेतृत्व (न्यायाधीश—जज आदि होने) और सम्पूर्ण लोकोंके स्वामित्वके योग्य है ॥ १०० ॥

वेदज्ञाताकी प्रशंसा—

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ १०१ ॥

जिस प्रकार प्रबल (धधकती हुई) अग्नि गीले (नहीं सूखे हुए) वृक्षोंको भी जला देती है, उसी प्रकार वेदज्ञाता मनुष्य अपने निषिद्ध कर्मों (से उत्पन्न पापों) को भी नष्ट कर देता है ॥ १०१ ॥

[न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर्भवेत्।
अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म नेतरत् ॥ ८ ॥]

[मनुष्यको वेदबलका आश्रयकर पापकर्म करनेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, (क्योंकि वह वेद) अज्ञान और प्रमादसे किये गये कर्म (पाप) को जलाता (नष्ट करता) है, दूसरे (ज्ञानपूर्वक किये गये) कर्मको नहीं जलाता ॥ ८ ॥]

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥

वेदशास्त्रके वास्तविक अर्थको जाननेवाला जिस किसी आश्रममें रहता हुआ इसी लोकमें ब्रह्मभावके लिए समर्थ होता है ॥ १०२ ॥

वेदव्यवसायीकी श्रेष्ठता—

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥ १०३ ॥

अज्ञों (कुछ अंश पढ़े हुए) से सम्पूर्ण ग्रन्थ पढ़े हुए लोग श्रेष्ठ हैं, उन (सम्पूर्ण ग्रन्थको पढ़े हुए लोगों) से उस सम्पूर्ण ग्रन्थको धारण करनेवाले श्रेष्ठ हैं, उन (सम्पूर्ण ग्रन्थ धारण करनेवालों) से ज्ञानी (पढ़े हुए सम्पूर्ण ग्रन्थके अर्थको जाननेवाले) श्रेष्ठ हैं और उन (ज्ञानियों) से व्यवसायी (वेदविहित कर्मोंका आचरण करनेवाले) श्रेष्ठ हैं ॥ १०३ ॥

तप तथा विद्यासे मुक्ति—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ १०४ ॥

तप (ब्रह्मचर्य, गृहस्थादि आश्रमोक्त धर्म) और विद्या (आत्मज्ञान) ये दोनों ब्राह्मणके लिए उत्तम मोक्षसाधन हैं; उनमें वह तपसे पापको नष्ट करता है तथा विद्यासे मोक्षको प्राप्त करता है ॥ १०४ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शास्त्ररूप प्रमाणका ज्ञान—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥

धर्मके तत्त्वको जाननेके इच्छुकको (धर्म-साधनभूत द्रव्य-गुण-जातित्वके ज्ञानके लिए) प्रत्यक्ष तथा अनुमानका और अनेकविध धर्मस्वरूपके ज्ञानके लिए वेदमूलक विविध स्मृत्यादिरूप शास्त्रका ज्ञान अच्छी तरह करना चाहिये; ये ही तीनो (प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शास्त्र) मनु-सम्मत प्रमाण हैं। (उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंका अनुमानमें अन्तर्भाव समझना चाहिये) ॥ १०५ ॥

धर्मज्ञका लक्षण—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

जो मनुष्य ऋषिदृष्ट वेद तथा तन्मूलक स्मृति शास्त्रोंको वेदानुकूल तर्कसे विचारता है, वही धर्मज्ञ है, दूसरा नहीं ॥ १०६ ॥

नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः ।
मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ १०७ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—) मुक्तिसाधक इस (१२।८३–१०६) सम्पूर्ण कर्मको (मैंने) यथावत् कहा, अब (मैं) इस मानव (मनु भगवान्‌के रचे हुए) शास्त्रके रहस्य (गोपनीय विषय) को (१२।१०८–११५) कहता हूं, (उसे आपलोग सुनें) ॥ १०७ ॥

अकथित धर्मस्थलमें शिष्टवचनानुसार कर्तव्य—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १०८ ॥

(सामान्य रूपसे कथित, किन्तु विशेष रूपसे) अकथित धर्मस्थलमें किस प्रकारका आचरण करना चाहिये ऐसा सन्देह होनेपर जिस धर्मको शिष्ट (१२।१०९) ब्राह्मण बतलावें, वही धर्म सन्देहरहित है (अतएव उसी शिष्टोक्त धर्मका आचरण करना चाहिये) ॥ १०८ ॥

शिष्टके लक्षण—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ १०९ ॥

धर्मसे (ब्रह्मचर्यादि आश्रममें निवासकर, व्याकरण–मीमांसादि शास्त्रोंसे) परिस्फुट वेदको जिन्होंने पढ़ा है, वेद (के तत्त्व) को प्रत्यक्ष करनेवाले उन ब्राह्मणोंको 'शिष्ट' जानना चाहिये ॥ १०९ ॥

परिषद्वर्णन—

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥

कमसे कम दश (१२।१११) सदाचारी ब्राह्मणोंकी सभा (कमेटी) या (उतना नहीं मिलनेपर) तीन (१२।११२) ब्राह्मणोंकी सभा जिस धर्मका निर्णय करे, उस धर्मका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये ॥ ११० ॥

[पुराणं मानवो धर्मो साङ्गोपाङ्गचिकित्सकः ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ ६ ॥]

[पुराण, मानव (मनु भगवान् द्वारा प्रतिपादित) धर्म, साङ्गोपाङ्ग चिकित्सक और (सज्जनोंकी) आज्ञासे सिद्ध कार्य; इन चारोंका हेतु अर्थात् तर्कसे नाश (उल्लङ्घन) नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥]

दश ब्राह्मणोंकी सभा—

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥

तीनों वेदकी तीनों शाखाओं, श्रुति-स्मृतिके अविरुद्ध न्यायशास्त्र, मीमांसा शास्त्र, निरुक्त और मनु आदि महर्षियोंद्वारा प्रणीत धर्मशास्त्रोंको पढ़े हुए, प्रथम तीन (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ) आश्रममें रहनेवाले दश ब्राह्मणोंकी परिषद् (सभा-कमेटी, धर्म-निर्णय करनेमें समर्थ) होती है ॥ १११ ॥

तीन ब्राह्मणोंकी सभा—

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेदको पढ़ने और उनके तत्त्वको जाननेवाले कमसे कम तीन ब्राह्मणोंकी सभा धर्म-सम्बन्धी सन्देहके निश्चय करनेमें समर्थ होती है ॥

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥

(अथवा तीन विद्वान् ब्राह्मणों (१२।११२) के नहीं मिलनेपर) वेदतत्त्व-ज्ञाता एक भी ब्राह्मण जिसको धर्म निश्चित करे, उसे ही श्रेष्ठ धर्म समझना चाहिये, दश सहस्र मूर्खोंसे कहा हुआ धर्म नहीं है ॥ ११३ ॥

मूर्खपरिषद्‌को धर्मनिर्णयका निषेध—

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥

(सावित्री ब्रह्मचर्यादि) व्रतोंसे हीन; मन्त्र (वेदाध्ययनसे) रहित और जातिमात्रसे ब्राह्मण कहलाकर जीनेवाले एकत्रित सहस्रों ब्राह्मणोंकी भी परिषद् (सभा, धर्मनिर्णायक) नहीं होती है ॥ ११४ ॥

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥ ११५ ॥

अधिक तमोगुणवाले मूर्ख वेदोक्त धर्मज्ञानसे शून्य (ब्राह्मण नामधारी व्यक्ति) जिस पुरुषको प्रायश्चित्त आदि धर्मका उपदेश देते हैं, उस पुरुषका वह पाप सौगुना होकर उन धर्मोपदेशकोंको लगता है ॥ ११५ ॥

एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम्।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ११६ ॥

(भृगुजी महर्षियोंसे कहते हैं कि—मैंने) आप लोगोंसे परमकल्याणकारक यह (१२।१०८–११५) धर्म कहा, इस धर्मसे भ्रष्ट नहीं होनेवाला अर्थात् सर्वदा इसका पालन करनेवाला विप्र श्रेष्ठ गतिको प्राप्त करता है ॥ ११६ ॥

एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥ ११७ ॥

(भृगुजी पुनः महर्षियोंसे कहते हैं कि—) इस प्रकार भगवान् मनु देवने संसारके हितकी कामनासे धर्मका सब परम रहस्य मुझ (भृगु) से कहा ॥ ११७ ॥

आत्मज्ञानको पृथक् करके उपदेश—

सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥

ब्राह्मण सावधान चित्त होकर समस्त सत् तथा असत्को आत्मामें वर्तमान देखे, सब (सत् तथा असत्) को आत्मामें वर्तमान देखता (जानता) हुआ वह ब्राह्मण अधर्ममें मनको नहीं लगाता है ॥ ११८ ॥

आत्माकी प्रशंसा—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ ११९ ॥

(इन्द्र आदि) सब देवता आत्मा अर्थात् परमात्मा ही है, सब संसार आत्मा में ही अवस्थित है और आत्मा ही इन देहियों (जीवों) के कर्मसम्बन्धको उत्पन्न करता है ॥ ११९ ॥

वायु, आकाश आदिका लयकथन—

खं सन्निवेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम्।
पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु ॥ १२० ॥

(इस समय आगे (१२।१२१) कहे जानेवाले ब्रह्मध्यानके विशेषोपयोगी होनेसे दैहिक आकाशादिका बाह्य आकाशादिमें लय होना कहते हैं—) नासिका, उदर आदि सम्बन्धी शारीरिक आकाशमें बाह्य आकाशको, चेष्टा तथा स्पर्शरूप शारीरिक वायुमें बाह्य वायुको, उदरसम्बन्धी और नेत्र-सम्बन्धी शारीरिक तेजमें उत्कृष्ट (सूर्य—चन्द्र-सम्बन्धी) बाह्य तेजको, शारीरिक स्नेह (जल) में बाह्य जलको, शारीरिक पार्थिव (पृथ्वी—सम्बन्धी) भागोंमें बाह्य पृथ्वीको ॥ १२० ॥

मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम् ।
वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥ १२१ ॥

मनमें चन्द्रमाको, कानोंमें दिशाओंको, चरणोंमें विष्णुको, बल (सामर्थ्य) में शिवको, वचनमें अग्निको, गुदामें मित्रको, शिश्नमें प्रजापतिको लीन (हुआ समझ कर) एकत्वकी भावना करे ॥ १२१ ॥

आत्माका स्वरूप—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥

इस प्रकार (१२।१२०-१२१) आत्मामें लीन बाह्य भूतों (आकाशादिकों) की भावना करके) सम्पूर्ण चराचर जगत्का शासक, सूक्ष्मसे भी अधिक सूक्ष्मतम[1], (उपासना (ध्यान) के लिए) सुवर्णके समान (देदीप्यमान), स्वप्न—बुद्धिके (प्रसन्न मनसे) ग्रहण करने योग्य उस श्रेष्ठ पुरुष (परमात्मा) का चिन्तन (ध्यान) करे ॥ १२२ ॥

विमर्श—ब्रह्म-स्तम्बपर्यन्त चेतनाचेतन जातिका, अग्नि आदिके उष्ण होने एवं सूर्य—चन्द्र आदिके नित्य भ्रमण करनेका जो नियम है, तथा कर्मोंका जो फल नियम है, वह सब कुछ परमात्माके अधीन है; अत एव वह परमात्मा ही चराचर समस्त जगत्का शासक है। यद्यपि वह परमात्मा शब्द, स्पर्श, रूप आदिसे रहित है, तथापि उपासनाके लिए वह तपाये गये शुद्ध सुवर्णके सदृश देदीप्यमान माना गया है। जिस प्रकार स्वप्नबुद्धि नेत्रादि बाह्य इन्द्रियोंके क्रियाशून्य होनेपर

---

१. तथा च श्रुतिः—

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवेति विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥' इति ।

केवल मनसे उत्पन्न होती है, इसी प्रकार परमात्मबुद्धि भी। अत एव व्यासने[1] परमात्माको नेत्रादि इन्द्रियोंसे अग्राह्य तथा सूक्ष्मदर्शियों द्वारा केवल प्रसन्न मनसे ग्राह्य बतलाया है।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥

इस (परम पुरुष परमात्मा) को कुछ लोग (याज्ञिक-अध्वर्यु) अग्नि, कुछ लोग (सृष्टिकर्ता) प्रजापति मनु, कुछ लोग (ऐश्वर्यसम्पन्न होनेसे) इन्द्र, कुछ लोग प्राण तथा कुछ लोग शाश्वत (सनातन अर्थात् नित्य) ब्रह्म कहते हैं ॥ १२३ ॥

विमर्श—इस प्रकार परमात्माकी मूर्त तथा अमूर्त (क्रमशः सगुण तथा निर्गुण) सर्वविध उपासना वेदोंमें प्रसिद्ध है।

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥

यह (परमात्मा) सम्पूर्ण प्राणियोंमें शरीरोंको आरम्भ करनेवाली पञ्चमूर्तियों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाशरूप पञ्चमहाभूतों) से व्याप्त होकर उत्पत्ति, स्थिति और विनाश (क्रमशः—जन्म, स्थिति तथा मरण) के द्वारा (निरन्तर परिवर्तनशील रथके) पहियेके समान संसारियोंको सर्वदा बनाता रहता है ॥१२४॥

परमात्मदर्शनकी अवश्यकर्त्तव्यता—

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥

इस प्रकार (१२।११८-१२४) सम्पूर्ण जीवोंमें स्थित आत्मा (परमात्मा) को आत्माके द्वारा जो देखता है, वह सबमें समानता प्राप्तकर ब्रह्मरूप परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥ १२५ ॥

[चतुर्वेदसमं पुण्यमस्य शास्त्रस्य धारणात्।
भूयो वाऽप्यतिरिच्येत पापनिर्यातनं महत् ॥ १० ॥]

[इस (मानव-मनुप्रतिपादित) शास्त्रके धारण (अध्ययन) करने अर्थात् जाननेसे चारों वेद (के अध्ययन) के समान पुण्य होता है, अथवा महान् तथा

---

१. तदुक्तं व्यासेन—
'नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न च शिष्टैरपीन्द्रियैः।
मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः ॥' इति।

पापनिवारक यह उससे भी अतिरिक्त (श्रेष्ठ) होता है। (वास्तविकमें वेदसे अधिक श्रेष्ठ किसी वचनके नहीं होनेसे प्रशंसार्थ यह वचन कहा गया है) ॥ १० ॥]

इस शास्त्रके पढ़नेका फल—

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥ १२६ ॥

भृगुजीके द्वारा कहे गये इस मानव (मनु द्वारा प्रतिपादित) शास्त्रको पढ़ता हुआ द्विज (इसमें विहित कर्मोंका आचरण तथा वर्जित कर्मोंका त्याग करनेसे) सदाचारी होता है और यथेष्ट (अपनी इच्छाके अनुसार, स्वर्ग तथा मोक्ष आदि) गतिको प्राप्त करता है ॥ १२६ ॥

[मनुः स्वायंभुवो देवः सर्वशास्त्रार्थपारगः ।
तस्यास्यनिर्गतं धर्मं विचार्य बहुविस्तरम् ॥ ११ ॥

[स्वयम्भू (ब्रह्मा) के पुत्र, देव (प्रकाशशील) मनु सम्पूर्ण शास्त्रोंके तत्त्वोंके पारदर्शी हैं, उनके मुखसे निकले हुए अर्थात् उनके द्वारा कहे हुए बहुत विस्तृत (विशद रूपसे वर्णित) धर्मको विचार करके ॥ ११ ॥

ये पठन्ति द्विजाः केचित्सर्वपापोपशान्तिदम् ।
ते गच्छन्ति परं स्थानं ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ १२ ॥]

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाले इस (धर्मशास्त्र) को जो कोई द्विज पढ़ते हैं, वे शाश्वत (नित्य) ब्रह्मलोकरूप परमपद अर्थात् मोक्षको जाते हैं ॥१२॥]

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिंल्लोकगत्यादिवर्णनम् ।
पितृपादप्रसादेन द्वादशे पूर्णतामगात् ॥ १२ ॥

चतुर्भुजोऽपि द्विभुजत्वमाप्य श्रीरामनाम्ना नरतां गतो यः ।
विजित्य विंशद्भुजमत्र धर्मं संस्थापयामास स शं करोतु ॥

श्लोकानुक्रमणिका

भ

प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय,

पो० बाक्स नं० ८, बनारस—१

प्रक्षिप्त-श्लोकानुक्रमणिका

अस्मत्प्रकाशित-धर्मशास्त्र-कर्मकाण्ड-ग्रन्थाः—

१ अन्त्यकर्मदीपकः । अशौचकालनिर्णय सहितः । प्रेतकर्म-ब्रह्मीभूत यतिकर्मनिरूपणात्मकः । नित्यानन्दपन्तपर्वतीयकृतः २॥)
२ अशौचनिर्णयः । म. म. वाचस्पति-रुद्रधरकृतः । भाषा टीका ॥)
३ आपस्तम्बगृह्यसूत्रम् । अनाकुला-तात्पर्यदर्शन-व्याख्याद्वययुतम् ७)
४ आपस्तम्बधर्मसूत्रम् । उज्ज्वलावृत्ति सहितम् ६)
५ कातीयेष्टिदीपकः । दर्शपौर्णमासपद्धतिः । नित्यानन्दपन्तपर्वतीयकृतः १॥)
६ कात्यायनश्रौतसूत्रम्-कर्कभाष्य सहितम् । सम्पूर्णम् १३)
७ कृत्यसारसमुच्चयः । गंगाधरमिश्रकृत टिप्पणी सहितः ४॥)
८ गोभिलगृह्यसूत्रम् । म. म. मुकुन्दशर्मकृत 'मृदुला' व्याख्यायुतम् ३॥)
९ तिथिनिर्णयः । भट्टोजिदीक्षितकृतः, नागोजिभट्टकृतश्च १॥)
१० निर्णयसिन्धुः । कृष्णंभट्टकृत व्याख्या सहितः २२)
११ पारस्करगृह्यसूत्रम् । हरिहर-गदाधर-जयरामभाष्यत्रययुतम् ८)
१२ बोधायनधर्मसूत्रम् । श्रीगोविन्दस्वामिप्रणीतविवरणसमेतम् ७)
१३ याज्ञवल्क्यस्मृतिः । 'वीरमित्रोदय' 'मिताक्षरा' व्याख्या द्वयोपेता ८)
१४ याज्ञवल्क्यस्मृतिः । 'बालम्भट्टी' 'मिताक्षरा' टीका व्यवहाराध्यायः १६॥)
१५ लाट्यायनश्रौतसूत्रम् । अग्निष्टोमान्तम् । सटीकम् २॥)
१६ वर्षकृत्यदीपकः । म० म० श्रीनित्यानन्दपन्त पर्वतीयकृतः ७)
१७ वीरमित्रोदयः । म. म. श्री मित्रमिश्र कृतः १-१२ प्रकाशः ८५॥)
१८ श्राद्धकल्पलता । श्रीनन्दपण्डितकृता ४॥)
१९ श्राद्धपद्धतिः । म० म० वाचस्पतिमिश्रकृता परिशिष्ट सहिता १॥।)
२० श्राद्धविवेकः । म. म. रुद्रधरकृतसटिप्पणः २)
२१ श्राद्धचन्द्रिका । भारद्वाज दिवाकरभट्टनिर्मिता ३)
२२ श्रौतसूत्रम् । कात्यायनप्रणीतं देवयाज्ञिकपद्धति सहितम् १२)
२३ षडशीतिः । शुद्धिचन्द्रिका व्याख्यया समलंकृता २)
२४ संस्कारदीपकः-म० म० पण्डित श्रीनित्यानन्दपन्त पर्वतीय विरचितः । प्र० भाग ४) द्वि० भाग ५॥) तृ० भाग ५॥) १-३ भाग संपूर्ण १५)
२५ संस्कारगणपतिः । पारस्करगृह्यसूत्रस्यातिविस्तृतव्याख्यानस्वरूपा १५)
२६ स्मृतिसारोद्धारः । अत्युत्तमोऽयं धर्मशास्त्रग्रन्थः ६)

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस—१